

भक्तिवत्सर्वति विघ्नध्वान्तविदारकभगवद्बनानलावतार  
महाप्रभु-श्रीमद्-वल्लभाचार्यचरण-प्रकटितः

## तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

(सप्रकाशः)

तत्र

### भागवतार्थप्रकरणम्

(प्रथमस्कन्धादारभ्य पञ्चमस्कन्धस्य विंशतितमाध्यायं यावत्)



गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतेन  
आचरणभंगाख्येन व्याख्यानेन  
सहितम्



द्वितीयो भागः



१. अधिनश्यामभट्टकृतया प्रकरणविभागसूचिकया
२. श्रीगोकुलरायकृतेन प्रकरणाध्यायार्थेन च  
विभूषितः

प्रस्तुत द्वितीय संस्करणके प्रकाशनमें सहयोगी महानुभावों तथा संस्थाओं की सूची :

- (१) गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दरायजी महाराज नाथद्वारा, राजस्थान ।
- (२) तृतीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीब्रजेशकुमारजी महाराज तृतीयपीठ, कांकरोली, राजस्थान ।
- (३) चतुर्थपीठाधीश गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनाचार्य द्वारा श्रीपावती बहुजी ए. ट्रस्ट, चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा, उत्तर प्रदेश ।
- (४) पञ्चमपीठाधीशात्मज गोस्वामी श्रीगिरधर गोविन्दरायजी, पञ्चमपीठ, कामां, भरतपुर, राजस्थान ।
- (५) गोस्वामी श्रीराजकुमार गोपीनाथजी महाराज, बडामन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२ ।
- (६) श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुकरणाश्रम हो. ट्रस्ट वैभव कोओपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, पूना बेंगलोर रोड, कोल्हापुर-४१६ ००१ ।
- (७) गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराज बडामन्दिर ट्रस्ट श्रीजीवनजी महाराज लेन, भुलेश्वर बम्बई-४०० ००२ ।

प्रथम संस्करण: वि. सं. १९९१

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण: वि. सं. २०४०

**मुद्रक :**

वी. वरदराजन  
एसोसिएटेड एडवर्टाइजिंग एण्ड प्रिंटिंग  
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,  
बम्बई, ४०० ०३४.

## आमुस

जयति श्रीवल्लभायों जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।  
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निविष्टा पृष्टिपद्धतिर्जयति ॥

आत्मरमणशील सच्चिदानन्द ब्रह्मकी आनन्दमयी अखण्ड अद्वैत सत्ता तथा चेतना ही इन अनन्तविध नाम-रूपोंके द्वैतमें अभिव्यक्त हुई हैं । नाम-रूपकी तथा नामरूपविहीन व्यक्तिचेतनाकी यह विविधता या द्वैत स्वयं पार-मायिक होनेपर भी ब्रह्मके तात्विक अद्वैतसे विरुद्ध नहीं है । उदाहरणतया सच्चिदानन्द ब्रह्मके धर्मभूत सत्ता चेतना तथा आनन्द ये तीनों पृथक्-पृथक् होनेपर भी सच्चिदानन्द धर्मों ब्रह्ममें अखण्डाद्वैतात्मना अवस्थित रहते हैं । इसी तरह उत्पत्ति-स्थिति-लय रूप क्रियायें भी एक अनादि-अविकारी-अनन्त उपादान-कारण तथा कर्ता रूप ब्रह्ममें अविरोधेन ही रहती हैं । इसे ही नाम-रूपका आविर्भाव-तिरोभाव भी कहा जाता है । जैसे लहरें सागरमें आविर्भूत-तिरोहित होती रहती हैं । कार्य-कारणके बीच आत्यन्तिक द्वैतकी कल्पना उपादान-कारणके स्वरूपके अज्ञानसे जैसे प्रयुक्त होती है, वैसे ही जड़-जीवात्मक जगत तथा ब्रह्मके बीच मायिक द्वैतकी कल्पना भी ब्रह्मके स्वरूपके अज्ञानसे ही प्रयुक्त होती है ।

ब्रह्मके अखण्डाद्वैतमें माया यदि ब्रह्मसे भिन्न होनेपर पारमायिक नहीं हो सकती, तो वह निश्चय ही सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्ता चेतना या आनन्द मेंसे किसी एक धर्मकी अन्तःपातिनी सहज शक्ति ही होनी चाहिए सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा ।

इस सर्वभवनसामर्थ्यके कारण तथा अप्रतिहत संकल्पशक्तिके कारण एकमेवाद्वितीय तत्त्व भी अनेकविध मूर्त नाम-रूपोंमें तथा अमूर्त व्यक्तिचेतनाओंमें अपने-आपको परिणत कर सकता है, तत्त्वतः अपने स्वरूपसे प्रख्युत हुए बिना । जैसे विविध आभूषणोंमें परिणत होनेपर सुवर्णके सुवर्णत्वका नाश नहीं होता,

इसी तरह नामरूपात्मना परिणत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्ता अथवा अंशात्मना उद्गत इस ब्रह्मकी चेतना या आनन्दका भी नाश नहीं होता है। अतएव उपनिषद्में कहा गया है : “त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म, ब्रह्मतद्वि सर्वाणि नामानि विभक्ति. . . ब्रह्मतद्वि सर्वाणि रूपाणि विभक्ति. . . . ब्रह्मतद्वि सर्वाणि कर्माणि विभक्ति, तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमारता, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्” (बृहद्. उप. १-६-३)।

नामरूप तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयरूप कर्म तीन होनेपर भी एकात्मक हैं अर्थात् ब्रह्मात्मक हैं; तथा ब्रह्म एकमेवाद्वितीय होनेपर भी त्रितयात्मक है अर्थात् नाम-रूप-कर्मत्मक बन जाता है, सर्वभवनसामर्थ्यके कारण। फिरभी इन अनन्तविधि नाम रूप-कर्मोंको धारण करनेवाला ब्रह्म एकमेवाद्वितीय ही रहता है। श्रोत दर्शनमें, अतएव, माया आदि कोई भी पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकते : “ब्रह्मतद्वि सर्वाणि विभक्ति।”

अब ब्रह्म यदि आनन्दात्मक हो तो सिद्ध हो जाता है कि यह नाम-रूपात्मक जगत् भी आनन्दमें से प्रकट हुआ है, आनन्दमें ही स्थित है तथा लीन भी पुनः आनन्दमें ही होनेवाला है : “आनन्दाद्बोधे खल्विमानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” (तैत्ति. उप. ३-६)।

ब्रह्म परमात्मा भगवान् या श्रीकृष्णके अस्तित्वमें किसीको विश्वास हो सकता है अथवा नहीं भी। कोई आस्तिक हो या नास्तिक; अथवा मानव हो या मानवैतर चेतन प्राणी, सभीके लिये जिज्ञास्य काम्य तथा प्राप्य तो केवल वही आनन्द होता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

चेतनामें आनन्दको खोजनेकी वृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। आनन्दके सर्वथा अनुभूत या सर्वथा अनुभूत होनेपर यह शक्य नहीं है। सभीको अतः आनन्दकी कुछ अव्यक्त अनुभूति है यह भी स्वीकारना पड़ता है : “को ह्येवात्मात् । कः प्राप्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्” (तैत्ति. उप.-२-७)

जगतके जिन नाम-रूप-कर्मोंमें सच्चिदानन्द ब्रह्मकी केवल सत्ता ही अनुभूत होती है, अर्थात् चेतना भी जहाँ तिरोहित सी लगती है, ऐसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि विषयोंमें हमारी चेतना जब आनन्दको खोजनेकी उलझनमें फंस जाती है, तो वह प्रयास सफल नहीं हो पाता। बच्चे, उदाहरणतया, माताके स्तन्यकी खोजमें अपने अंगूठेको चूसने लग जाते हैं। इस मोहमें कुछ देरके लिये अपनी भूखको भूलकर रोना-धोना भी बन्द कर देते हैं। फिर भी स्तन्यकी भूख तो मिट नहीं पाती। जिस आकारसाम्यके कारण भ्रान्तिवश बालक अपना अंगूठा चूसना शुरू कर देता है, उसे वहाँसे दूध तो मिल सकता नहीं। फलतः पुनः-पुनः निराश होनेपर कभी न कभी वह भ्रान्ति तूट जाती है। यही हमारी गति रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषयोंमें आनन्दके खोजकी भी होती है। विषयभोगके अतिरेकसे विषयवितुष्णा पनपती ही है। एक बालक जब निराश होकर अंगूठा चूसना छोड़ देता है तो वह शनैः-शनैः विकसित हो रही बुद्धि तथा व्यवहार की एक सहजता है। परन्तु स्तनभ्रान्तिसे उभरनेके प्रयासमें कभी कोई बालक यदि निजके अंगूठेसे घृणा करने लग जाये, या फिर कहीं ज्ञानी बनकर उसे मिथ्या ही मानने लग जाये, तो ऐसी धारणाको अस्वस्थ कुष्ठातिरेक ही कहना पड़ेगा। इसी तरह ब्रह्मके सदंश-नाम-रूप-कर्मोंमें आनन्दांशके तिरोधानवश आनन्दकी अनुपलब्धिके कारण पनपी निराशा या कुष्ठा के अतिरेकमें नाम-रूप-कर्मोंको मिथ्या मान लेना भी एक आध्यात्मिक असहजता तथा अस्वस्थता ही है। यह ठीक उतनी ही असहजता तथा अस्वस्थता है, जितनी कि स्तन्यके मोहातिरेकवश किसी बालकको अंगूठा चूसनेका ऐसा व्यसन हो जाये कि वह स्तनपानकी वयक व्यतीत हो जानेपर भी इस लतसे छुटकारा न पा सके।

ऐसे मोहातिरेकवश लगी लतको छुड़ानेके लिये मातापिताको अनेक उपाय अपनाने पड़ते हैं बालकके उपहास-निन्दा-भत्सना-प्रताडन आदिके। ठीक इसी तरह शास्त्रोंमें भी कभी-कभी रूप-रसादिमें हमारे मोहातिरेकको तोड़नेके लिये उनकी उन्हें ‘मायिक’ या ‘असत्’ कह कर निन्दा की गई है। इस मनोवैज्ञानिक सुझाव या उपाय का लाभ लेकर मोहभ्रमसे उभर जाना

एक अच्छी बात है। परन्तु इसकी प्रतिक्रियाके रूपमें सदंशके बजाय केवल चिदंशमें अर्थात् निजचेतनामें या जीवात्मामें ही पुनः आनन्दको खोजने लग जाना तो और भी एक गहरी भ्रान्ति है। भागवतमें कहा गया है: “येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः स्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततो पतन्त्यघोऽनादृत्युभ्रमदंध्यः” (भाग. १०-२-३२)। अतः आनन्द तो चेतनामें भी तिरोहित ही रहता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह आनन्दको खोजनेकी वृत्ति ही हमारी चेतनामें क्यों प्रकट हो पाती ?

विषयासक्तिकी पीड़ा घटानी हो तो अफीमके जैसे मादक तत्वोंसे बनी ओषधीके जैसे जगतके मायिक होनेका सिद्धान्त समुचित निदान हो सकता है। परन्तु अनुपातकी सावधानीके बिना ऐसी ओषधियोंका सेवन बहुधा इनके व्यसनमें दुष्परिणत हो जाता है। फलतः भाषणबाज साधक गुरु-शिष्य या श्रोता-वक्ता के द्वैतसे तो छुटकारा पा नहीं सकता, परन्तु भक्त-भगवानके द्वैतको मिथ्या-मायिक मान कर भगवानकी भक्तिसे कतराने लग जाता है। कभी भक्तिको अज्ञानियोंका कृत्य मानकर, तो कभी ज्ञानोत्तर दशामें अवशिष्ट द्वैतवासना मानकर, अथवा कभी लोकसंग्रहार्थ आहार्यवृत्ति मान कर भी। परिणामतः आनन्दकी वास्तविक खोजके मार्गपरसे वह साधक भटक जाता है।

जगत यदि भगवत्कृति है तो उसमें उसके नश्वर दुःखरूप मिथ्या या मायिक आदि होनेके दोषदर्शनकी मनोवृत्ति अन्ततः जगत्कर्ताकी निन्दामें पर्यवसित हो जाती है। भगवन्निन्दा तो कभी भगवद्भक्तिकमें फलित हो नहीं सकती। मुक्तिकी तो कथा कुछ और भी हो सकती है। भागवतके अनुसार मुक्तिके तो कंस-शिशुपाल आदिको भी भगवान् दे देते हैं, भय-द्वेष आदिकी वृत्तिके एकाग्र बन जानेपर। परन्तु अपनी भक्तिक तो नहीं देते !

भगवद्भक्तिकी एक प्रमुख आवश्यकता यह है कि जगतको भगवत्कार्य-भगवत्कृति अर्थात् भगवान्के अनन्तविध नाम-रूपोंका विस्तार माना जाये। इसे भगवान्का माहात्म्य माना जाये। मायाके सानिध्यमें ब्रह्मकी दुःखद विवशता नहीं।

वैसे ‘माया’ कहो या ‘लीला’ दोनों ही शब्द अद्भुतरसका भाव प्रकट करते हैं। परन्तु नाक-भों सिकोड कर विस्मित होना तो अद्भुतरसको बीभत्सरसमें रूपान्तरित कर देता है। तब विस्मयका स्थान जुगुप्सा ले लेती है। ठीक इसी तरह ब्रह्मकी दिव्यसामर्थ्यके वाचक ‘माया’ पदका निन्दाके अर्थमें प्रयोग जगत्कर्ताके सर्वभवनसामर्थ्यपर विस्मित होनेके बजाय जुगुप्साका भाव प्रकट करता है।

अधुनाप्रचलित अर्थमें जगतको भगवानकी ‘माया’ कहना अवश्य ही भगवन्निन्दा है। ‘पिताकी पत्नी’ कहो अथवा ‘माता’ कहो तथ्यमें कोई अन्तर न होनेपर भी वक्ताके भावमें तो अनादर या आदर का अन्तर झलक ही जाता है। वही बात जगतको ‘माया’ अथवा ‘लीला’ कहने-मानने पर भी बनती है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार, अतएव, श्रीभद्रभागवतका वर्ण्य-विषय सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊर्ति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति एवम् आश्रय यों भगवानकी दशविध लीला हैं। यदि भगवद्वर्णन प्रसंगमें इन्हें कहीं ‘माया’ भी कहा गया हो तो वह भगवानके सर्वभवनसामर्थ्यरूप माहात्म्यके छोटानाथ है। तथा इसी सर्वभवनसामर्थ्यवश परिगृहीत अनेक रूपोंके आकर्षणवश, यदि रूपधारण करनेवाले भगवानको कोई द्रष्टा भूल जाता है, तो रूपमोहके निरसनार्थ उसे निन्दाके रूपमें भी कहीं ‘माया’ ‘असत्’ या ‘दुःख’ कहा गया है। आशय इसमें यह नहीं कि माया ब्रह्मसे कोई भिन्न पदार्थ है। अर्थात् ब्रह्म सत्य है और माया मिथ्या। किन्तु माया स्वयं ब्रह्मका ही कोई दिव्य पारमार्थिक सामर्थ्य है। भगवद्विस्मृति होनेपर भगवन्माया निन्द्य बन जाती है। अन्यथा ब्रह्मज्ञानी या भगवद्भक्त के लिये माया भगवानका एक सर्वथा पारमार्थिक दिव्य सामर्थ्य ही है। “तदक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति” (छांदो. उप. ६-२-३) “इन्द्रो मायाभिः पुरुष इयते” (बृह, उप. २-५-१५) सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके द्वारा परिगृहीत अनेकविध रूप, भक्तके लिये, भगवल्लीला रूप ही होते हैं। वह उसे भगवानका असाधारण माहात्म्य मानता है। भक्त भगवानका गुणज्ञ है। चाहे वह विद्वान् हो या न हो, भक्त परन्तु दोषज्ञ नहीं होता !

श्रीमद्भागवत भक्तिप्रधान शास्त्र है अतएव यह भागवतका असाधारण माहात्म्य है कि ज्ञान-वैराग्य, यहाँ भक्तिके वृद्ध पुत्र माने गये हैं। अर्थात् भक्ति सिद्ध हो तो ये अकिञ्चित्कर बन जाते हैं और भक्ति न हो तो ये पैदा ही नहीं हो पाते, सच्चे अर्थोंमें ! यह तो श्रीमद्भागवतका ही माहात्म्य है कि कलियुगमें प्रबल शिष्यवर्षणा (जिसमें लोक-वित्त-गुणैषणायें तीनों ही छीपी रहती हैं)के वश भलभले विरक्त-ज्ञानियोंके भी ज्ञान-वैराग्य जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं। फिरभी श्रीमद्भागवतके कारण भगवद्भक्ति चिरयुवतीका सा नित्य तथा दिव्य यौवन धारण किये हुए है।

मूलतः ब्रह्मज्ञानकी तन्मयताके कारण जो वैराग्य पनपता है ऐसा वैराग्य ज्ञानका अनुज होनेके कारण स्वस्थ वैराग्य है। परंतु विषयभोगकी कुण्ठासे किये गये विषयत्याग, ऐसे दोषदर्शनमूलक त्यक्त विषयोंमें वैराग्य और अन्तमें अगतिकतया प्रकट हुआ ज्ञान केवल दोषज्ञताका ही रंग पकड़ेगा। ऐसे त्याग, वैराग्य और ज्ञान तीनों ही शुष्क असहज अस्वस्थ मनोवृत्तिके द्योतक होते हैं। विरक्तकी त्यागसाधना तथा त्यागीकी वैराग्यसाधनामें महान् अन्तर पड़ जाता है। इसी तरह ब्रह्मज्ञानकी तन्मयतासे पनपे विषयवैराग्य और विषय-वैराग्यवश अपनी बुद्धिपर हठात् थोपे गये ब्रह्मज्ञानमें भी महान् अन्तर स्वीकारना पड़ता है। सोह्मकी साधनाके सच्चे प्रकारके बारेमें उपनिषद्में एक सुन्दर वचन आता है "योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा" (म. नारा. उप. ५/१०)। सच्चा ज्ञानी अपने अहम्की आहूति ब्रह्माग्निमें देता है। परंतु विफल साधक अपने अहम्की घघकती ज्वालामें ब्रह्मकी आहूति देना चाहता है ! दोषज्ञ ज्ञानीकी सोह्मसाधनामें प्रायः यही गडबड हो जाती है।

भक्तिसे प्रसूत ज्ञानमें परन्तु ऐसी गडबड संभव नहीं। सन्ततिके युवा होते-होते माताका वृद्धा होना एक सहज नियम है। परन्तु ज्ञानभक्तिके परस्पर पुत्रमातृभावमें ज्ञानके वृद्ध होनेपर भी उसकी जननी भक्ति युवती ही बनी रहती है। यह श्रीमद्भागवतकी भक्तिका माहात्म्य है कि ज्ञानके प्रसवके बाद भागवती भक्ति युवती हो जानेसे ज्ञानपर निर्भर नहीं रहती। "तस्मा-

न्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" (भाग. ११-२०-३१)।

भागवती भक्तिसे प्रसूत ज्ञान जिस साधकमें प्रकट होता है वह या तो अपने अहम्का होम ब्रह्माग्निमें कर देता है, या फिर अपने 'सोह्म' को पुनः 'दासोह्म' के रूपमें संवार लेता है।

कर्म ज्ञान तथा भक्ति की लयोंमें जबतक देहाभिमान बना हुआ हो, तब तक न तो ज्ञानमार्गीय साधक और न भक्तिमार्गीय साधक ही, तत्तद् देहाभिमानोंकी लक्ष्यमें रखकर दिये गये कर्मोपदेशका उल्लंघन कर सकते हैं। किन्तु ज्ञान या भक्ति की तन्मयतामें देहाभिमानके शिथिल हो जानेपर ज्ञानीसे भी और भक्तसे भी देहाभिमानमूलक कर्म छूट जायें तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं मानी जाती।

विषय-संसारसे भयभीत ज्ञानी तो स्वयम्को ज्ञेय-परमात्मामें लीन कर देना चाहता है अभयार्थ। जबकि परमानन्दके सागर भगवानमें अपने चित्त-को तल्लीन कर देनेके बाद भक्त तो न स्वर्गकी चाहना रखता है न नरकका भय ही। न उसे अपवर्गकी लालसा आती है और न जन्म-मरणके चक्रसे वितुष्टा ही। यही तो भागवती भक्तिका प्रमुख स्वरूप है।

"नारायणपरा सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति

स्वर्गापवर्गनरकेचपि तुल्यार्णवशिः"। (भाग. ६-२७-२८)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका यह परमाग्रह है कि ऐसे भगवत्प्रेमवश गायी गयी भगवल्लीलारूप भागवतका श्रवण-स्मरण-कीर्तन केवल भगवत्प्रेमके उद्बोधनार्थ अथवा भगवत्प्रेमके अभिवृद्धयर्थ ही करना चाहिये। यह भगवत्प्रेमका ही प्रभाव है कि उपनिषद्-ब्रह्मसूत्रमें बणित अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणरूप ब्रह्मका वर्णन जगतके जन्म-स्थिति-लय कतकि रूपमें केवल त्रिधा करना भक्तकेलिये सन्तोषप्रद नहीं हो पाता। भगवद्भक्त तो भागवतके बारह स्कन्धोंमें उन्हें चतुर्गुणित कर इन लीलाओंका गान करना चाहता है।

महाप्रभु कहते हैं "आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा । अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमृतयः मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः" (निब. भा. प्र. १/३-४) ।

भागवतका भक्त उत्पत्तिके वर्णनसे नहीं किन्तु सर्ग-विसर्गलीलाओंके कर्ता भगवानकी लीलाके गानसे ही सन्तुष्ट हो सकता है । भागवत भक्तकेलिये शुद्ध स्थितिवर्णन पर्याप्त नहीं किन्तु स्थान-पोषण-ऊर्ति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोधलीलाका वह भगवानके षड्विध ऐश्वर्यके रूपमें गान करना चाहता है । भागवत भक्त केवल लयके वर्णनसे सन्तुष्ट नहीं होता वह तो लयका भी वर्णन मुक्ति-आश्रय लीलाके रूपमें ही करना चाहता है । भगवान्से जगतकी उत्पत्ति भक्तको समझमें आता भगवान्का माहात्म्य है । भगवान्में पुनः व्यष्टिका लय अथवा समष्टीका प्रलय, भक्तोंके साथ क्रीडा करनेवाले भगवान्का आत्मरमण हो सकता है । भवित उत्पत्ति-लयरूपा लीलामें शक्य नहीं । भवित तो विष्णुद्वारा की जाती स्थिति लीलामें प्रासंगिक बनती है । अतएव भगवद्-लीलाके अन्तर्गत स्थिति लीलाका विस्तार भागवतमें सर्वाधिक है । भक्त भगवन्माहात्म्यके ज्ञानको उत्पत्तिलीलाके श्रवण-कीर्तनद्वारा प्राप्त करके अटक नहीं जाता । और न सच्चे भक्तको कभी मुक्ति-आश्रय लीलाके प्रवचन द्वारा भक्तिमार्गपर से मुक्तिमार्गकी ओर भटकाया ही जा सकता है । अतएव उत्पत्ति-लयलीलाओंके वर्णनार्थ चार स्कन्ध हैं जबकि भगवद् भक्त्युपयोगी स्थितिलीलाके वर्णनार्थ भागवतमें छह स्कन्ध हैं । ऐश्वर्यादि छह गुणों सहित परमात्माको 'भगवान्' कहा जाता है । भगवद्भक्ति भगवन्माहात्म्यके ज्ञानके बाद प्रकट हुआ भगवत्प्रेम है । प्रियतमकी चर्चामें संक्षेपकी मनोवृत्ति प्रेमीका तो स्वभाव नहीं हो सकता !

महाप्रभु भी 'श्रीभागवतपूढार्थप्रकाशनपरायण' होकर अतएव श्रीभागवत-पीयूषसमुद्रका मन्थन सप्तधा करना चाहते हैं :

शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेषुऽप्याये वाक्ये पदक्षरे ।

एकार्थं सप्तधा जानन्नविराधेन भुञ्ज्यते ॥

(श्री भागवतार्थप्रकरण १/३-४)

समग्र शास्त्रके रूपमें भागवतार्थ क्या है ? पृथक्-पृथक् बारह स्कन्धोंके अर्थ क्या है ? तत्तत् स्कन्धोंके अन्तर्गत आते तत्तत् प्रकरणोंके अर्थ क्या हैं ? उन प्रकरणोंके अन्तर्गत तत्तत् अध्यायोंके क्या अर्थ हैं ? इन जिज्ञासाओंका समाधान निबन्धके इस भागवतार्थप्रकरणमें महाप्रभु करना चाहते हैं । भागवतके वाक्य-पद-अक्षरोंकी विवेचनाके लिये सूक्ष्मटीका, सम्भवतः, आद्योपान्त लिखी गयी थी । यह किन्तु महाप्रभुके समक्ष ही कहीं-कभी लुप्त हो गयी, कुछ पत्रोंको छोड़कर । बादमें प्रथमस्कन्धसे तृतीयस्कन्ध पर्यन्त तथा दशमस्कन्ध सम्पूर्ण कर चुकनेके बाद एकादश स्कन्धके कुछ अध्यायों तक सुबोधिनी लिखी जा सकी, परन्तु भगवद्विच्छावश सम्पूर्णतया नहीं । इस तरह एकार्थ ज्ञानमें सहायकीभूत सप्तधा अर्थोंमें से चार अर्थोंकी यहाँ विवेचना की गयी है । निबन्ध-कारिकायें स्वयं महाप्रभुकी लिखी हुयी हैं । किन्तु महाप्रभुविरचित प्रकाश चतुर्थस्कन्धके प्रथमाध्याय पर्यन्त ही उपलब्ध होता है । उसके बाद गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणविरचित प्रकाश पञ्चमस्कन्धके बीसवें अध्याय तक ही उपलब्ध होता है । जहाँ महाप्रभु अथवा प्रभुचरणका प्रकाश है वहाँ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके व्याख्यानका नाम आवरणभंग है । जहाँसे मूल कारिकाओंका व्याख्यान स्वयं गो. श्रीपुरुषोत्तमजीने किया है उसका वे 'योजना' नाम धरते हैं । श्रीपुरुषोत्तमजीसे पूर्व भी गो. श्रीकल्याणरायजी तथा धीलालभट्टजीकी व्याख्या भी इस भागवतार्थप्रकरणपर थी । परन्तु वह आजसे चालीस वर्ष पूर्व मुद्रित न हो पायी और आज वे या तो तिरोहित हो गयी हैं या हस्त-लिखित ग्रन्थोंके संग्रहकोंकी उदारता तिरोहित हो गयी है । अतः हमें खेद है कि यहाँ उन्हें हम वे नहीं पाये हैं । केवल मुद्रितार्थके पुनःप्रकाशनसे हमें हठात् सन्तुष्ट होना पड़ रहा है ।

पूर्वमें गो. श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी उदारतासे उनकी विद्यासभाके विद्वान् श्री चीमन ह. शास्त्री द्वारा संपादित श्रीघनश्याम भट्ट विरचित अध्याय-प्रकरणार्थविभागसूचिका तथा जेठानन्द आसनमल द्रष्ट द्वारा प्रकाशित श्रीहरिश्चंकर ओंकारजी शास्त्री द्वारा सम्पादित श्रीभागवतार्थ निबन्धानुसारी अध्यायार्थ जो अलग-अलग छपे थे, हमने उन्हें यहाँ संकलित कर पुनःप्रकाशित

कर दिया है। विश्वास है कि जिज्ञासु अध्येताओंका इससे समुचित उपकार होगा। इनके अवलोकनसे भागवतार्थनिबन्ध ग्रन्थमें प्रवेश सुलभ हो जाता है। ये विषयानुक्रमिका जैसे ही ग्रन्थ है अतः पृथक्तया विषयानुक्रमिका देना भी हम यहाँ अनावश्यक समझते हैं। परिशिष्टमें श्रीकल्याणरायजीकी तृतीयस्कन्धार्यटिप्पणीका श्रीहरिशंकरजी शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण भी समायोजित कर दिया है। तथा इस ग्रन्थके द्वितीय भागमें मुद्रित एक अज्ञातकर्तृक व्याख्यानका वह अंश जो इस प्रथम भागसे सम्बद्ध था उसे पुनः यहाँ समायोजित कर दिया है।

इन सभी ग्रन्थोंके सम्पादक-प्रकाशक महानुभावोंके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण उन्हीं पूर्वप्रकाशित संस्करणोंका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। यह द्वितीय संस्करण अनेक महानुभावोंके अभिनन्दनीय सहयोग तथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुग्रहयोग से ही प्रकाशित हो पाया है। अन्यथा महाप्रभुके नामपर चलते सम्प्रदायके अनुयाईओंकी श्रद्धाके कारण सम्पन्न बनी संस्थाओंके वणिकवृत्तिवाले अधिकारिगण हमसे पूछते हैं कि आज इन ग्रन्थोंकी उपयोगिता क्या है? हम भी पूछना चाहते हैं कि वल्लभसंप्रदायमें ऐसे निष्ठाविहीन व्यक्तियोंकी उपयोगिता क्या है? बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु! किमधिकम्?

माघकृष्ण द्वितीया

श्रीस्वामी श्याम मनोहर

दि. सं. २०४०

## तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

द्वितीय भाग में संकलित ग्रन्थोंकी

### अनुक्रमणिका

ग्रन्थशः	पृष्ठशः
१. आद्यसम्पादक लिखित गुर्जर भूमिका .. ..	१-२
२. आद्यसम्पादक लिखित संस्कृत-उदाहार .. ..	३-८
३. श्रीघनश्याम भट्टकृत विभागसूचिका .. ..	१-२०
४. श्रीगोकुलरायकृत प्रकरणाध्यायार्थ .. ..	२१-८३
५. सावरणभंग-संप्रकाश-भागवतार्थ प्रकरण (१-५) .. ..	८५-३९१
प्रथम स्कन्ध .. .. ..	८५-१४०
द्वितीय स्कन्ध .. .. ..	१४१-१६०
तृतीय स्कन्ध .. .. ..	१६१-२३८
चतुर्थ स्कन्ध .. .. ..	२३९-३४०
पञ्चम स्कन्ध .. .. ..	३४१-३९१
६. परिशिष्ट (१) श्रीकल्याणरायकृत तृतीयस्कन्धार्य टिप्पणी .. .. ..	३९२-४३६
७. परिशिष्ट (२) अज्ञातकर्तृक निबन्धकठिनांश विवेचन .. .. ..	४३७-४३८

## શ્રી મહાગવત.

ભક્તિમાર્ગમાં પ્રમાણ્યુર્ધ્વ-શ્રીમદ્ભગવત છે. ભક્તિમાર્ગમાં સર્વ સન્દેહ દૂર કરવાઈ શકે છે. પ્રસ્થાન ચતુષ્ટયમાં તેની ચતુર્થ પ્રમાણ્યુ તરીકે મહુના કરવામાં આવે છે. તેદમાં સન્દેહ થાય તે ગીતાણ દૂર કરે, ગીતાણને સંદેહ બ્યાસપ્તથી દૂર થાય, બ્યાસપ્તના સન્દેહો શ્રીમદ્ભગવત દૂર કરે છે. આ પ્રમાણે ચાર પ્રસ્થાનમાં અપ્રસ્થાન શ્રીમદ્ભગવતને આપવામાં આવ્યું છે.

આ ભાગવતમાં ત્રણ ભાષા છે. પરમતભાષા, લોકિકભાષા, સમાધિભાષા છે. આ ત્રણે ભાષામાં સમાધિભાષા, સર્વોચ્ચ પ્રમાણ્યુ છે. બાકીની બે આ સમાધિભાષાને (પૌષિકા) મદદમાર મહુમ છે.

ભક્તિમાર્ગમાં-પ્રમેયસ્વરૂપ આ શ્રીમદ્ભગવત છે. આ ભાગવતમાં બારરૂંધ છે, તે પરમાત્માની બાર અંગ છે. તે અંગ આ અન્યાના આરંભમાં દર્શાવ્યાં છે. અર્થાત્ પરમાત્મસ્વરૂપ આ ભાગવત છે. એતું સુખવાની બારરૂંધની સંખ્યા બાર છે. દ્વાદશાંગે વે પુસ્થ: । દ્વાદશ સ્વરૂ-સ્વરૂંધ પુરાણ હરિરેવ ઠ: । પુરાણં દ્વેઃ સ્વરૂંધં ચન્દોડ્યતેવ ।

પરમાત્મા દ્વાદશ અંગવાળા છે. માટે આ ભાગવત પણ દ્વાદશરૂંધામક છે. હરિરૂંધ છે. સ્વરૂંધથી અને અર્થથી પણ ભાગવત પુરાણ્યુ હરિસ્વરૂંધ છે.

અદીનલીલાદિતિલેશ્યામ્બદ્ભૂક્ષણંવલિતમૂર્ત્યુમદ્યમ ।

દેશેત ચિન્તામલનેભીષરં ચાકન્મનો ધારણ્યાલિષ્ટે । ૨-૨-૨૨

સર્વો મિતેરે દશ લીલાત્મક ભાગવતનાં અંગોથી ઉપપન્ન અંગી શ્રીમદ્ભગવત્સ્વરૂંધ છે. શ્રી-મદ્ભગવતમાં દશ લીલાત્તુ વર્ણન છે. જેમ કે સર્વ-વિસર્ગ-સ્થાન-પોષણ-વાસના-સદ્-મર્-ધકાલુ-કથા-નિરોધ-મુક્તિ અને આશય. આ દશ લીલા તૃતીય રૂંધથી આરંભી દ્વાદશ રૂંધ પર્વતમાં વર્ણવી છે. આ દશે લીલામક પ્રમુ છે.

પ્રમુમાં\* અદીનત્વ (સર્ગ) છે. વસ્તુ ન હોવાથી દીન થાય છે. પ્રમુ પોતે સર્વ વસ્તુરૂંધે પ્રકટ થઈ શકે છે. અભિલ્પિત વસ્તુ મળતાં દીન-કંમાળપણું જાય છે. એટલે પ્રમુમાં અદીન લીલા છે જેમ સર્વે કરવાથી સ્પષ્ટ સમન્બા. લીલાત્વ (વિસર્ગ) હસિતત્વ (સ્થાન) છે. હાસ્ય એ સ્થાનસ્વ છે. તે તે મર્ષાદામાં સર્વને મેજાડી પ્રમુ હસે છે. સ્વહાસ્ય માટે જ તે તે મર્ષાદામાં સ્થાય છે. સર્વ જ્યારે ભગવાનમાં એકલિત થાય ત્યારે કંઈ મર્ષાદાથી સ્થાપવાતું હોતું નથી. ઈલિષ્કત્વ (પ્રુષ્ટિ) ભગવાનનાથી રેખામલા છુગે જ પુષ્ટ-મૂંધાપાન છે. ઉલ્લસત્વ (વાસના) જૂવ (ચક્ર) બહુત્વ (ઈશાલકથા) સંપ્રસિતત્વ (નિરોધ) શરિત્વ (મુક્તિ) અતુમહત્વ (આશય)

આધન સ્વરૂંધે શ્રીમદ્ભગવત-પૂર્વરૂંધ ઉત્સરૂંધતું કારણ્યુ અથવા સાધન છે. બારરૂંધમાં જુદી જુદી વાતો કહી છે. તેને પરસ્પર અંગેની "પ્રક સર્વંધ છે.

\* સુભાષિની ૨-૭-૨૬





तृणशकलमिव विपरीतार्थाथ अयाकृत्य याथार्थिकार्यानां ग्रहणे विमतिपराहिताः सन्तः सन्तो भागवतपाठफलमापादयन्तिस्म । परन्तु—कलिकालस्य कालत्वाद् आसुरप्रज्ञालुपां सन्मार्गदूषकाणां प्राबल्येविष्याते “कोथेः श्रेयान्” इति निर्णये विमतिपन्नाः सन्तः स्वकीया अपि स्वधर्ममुत्पादुं न पारयामासुः। अर्थात्मकोपि भगवान् एवेति स्वस्वरूपात्मकस्य भागवतार्थस्य विंशोद्भवविशालं मत्ता “दृष्या निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः। बाण्या यदा तदा स्वात्मं प्रादुर्भूतं चकार हि” इति प्रसूक्तिरेव प्रमाणं तद्वचनोपजीविनामस्माकम् । एवं मानुषतन्तुं स्वीकृत्य प्रादुर्भूतैः श्रीमदाचार्य-चरणरुक्तम्,—“भागवतार्थे अज्ञाते अन्यथाज्ञाते च भक्तिर्न भवति, अधिकार-पि ज्ञाते फले न भविष्यति इति मयोपायः क्रियते, तच्चार्यो विविच्योच्यते, यस्मिन् ज्ञाते सर्वथा भक्तिर्भवत्येव । नापि जाता भक्तिरूपां विप्रति तादृशी भविष्यति या लतावत् प्रत्यहं वृद्धिमायान्ती शीघ्रं कृष्णात्म्यं फलित्यति । अतो भक्तीच्छायां सर्वथैतदनुसन्धेयम्” इति च प्रतिश्रुतम् । श्रीभागवतगृह्यार्थमकासनपरायणाः श्रीमदाचार्यचरणा भागवतार्थं सप्तधा व्याचिख्यासवः ‘शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे, एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन ब्रुच्यते” इति प्रथमचतुष्टयस्य निबन्धेऽन्तिमत्रयाणामर्थं सुबोधिन्प्राप्तुः । “अथैत्र्यं तु वक्ष्यामि निबन्धेस्ति चतुष्टयम्” इति सुबोधिनीपद्यादवगम्यते । तत्र शास्त्रं तलिलं भगवत्येवमजनकं भागवतम् । स्कन्धा द्वादशः । यथा “अधिकारिणां साधनानि प्रथमस्कन्धे, साधनयुक्तानां श्रवणं द्वितीयस्कन्धे । तत्रादौ सर्वेजीव्या तृतीयस्कन्धे । छष्टानां धर्मादिपुरुषार्थसाधनं चतुर्थस्कन्धे । सिद्धपुरुषार्थानां तज्जन्ममर्यादया संस्थापनं पञ्चमस्कन्धे । तन्मध्ये केवाञ्चिदनुग्रहः षष्ठस्कन्धे । पुष्टौ प्राप्तस्य वैषम्यदोषस्य निवृत्त्यर्थं वासनाः सप्तमस्कन्धे । ततो वासनानिवृत्त्यर्थं सद्धर्मा अष्टमस्कन्धे । ततो निवृत्तदोषाणां भक्तिः नवमस्कन्धे । ततो भक्तानामासक्तिः दशमस्कन्धे । आसक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थितरेकादशस्कन्धे । तथा व्यवस्थितानां भगवदाश्रयः द्वादशस्कन्धे, इति भक्तिमार्गीया स्कन्धव्यवस्था व्याहृता । प्रकरणानि कति वर्तन्ते इतिविशयवद्भिरस्मत्प्रकटीकृता श्रीभागवतप्रकरणविभाग-सूचिकात्रानुसन्धेया । तथापि प्रकरणानाम्नां प्रदर्शनत्रय सम्प्रतं भवामहे । प्रथमे हीन-मध्यमोत्तमार्थिकारभेदेन त्रीणि प्रकरणानि । द्वितीये तत्त्वध्यान-हृत्प्रसाद-मननभेदेन प्रकरणानि त्रीणि । तृतीये गुणानुभवः, सगुणसृष्टिः, कालसृष्टिः, तत्त्वसृष्टिः, जीवसृष्टिः, इति पञ्चप्रकरणात्मकसमेस्य बन्धमोक्षभेदेन द्विविधताद् दशप्रकरणानि । चतुर्थे धर्मार्थिकामोक्षभेदेन चत्वारि प्रकरणानि । पञ्चमे स्वरूपेशस्वित्यात्मकं

प्रकरणद्वयम् । स्वरूपस्थितौ तु १ भगवतः २ योगतः ३ ज्ञानतः स्थितिः इत्यवा-न्तरप्रकरणत्रयम् । देशस्थितौ अपि भूः भुवः स्वः इति त्रितयात्मकब्राह्मिणि अवान्तर-प्रकरणानि सन्ति । पृष्ठे नामध्यानार्चनभेदेन प्रकरणत्रयम् । सप्तमे प्रकरणत्रयम्, असद्वासनासद्वासनामिश्रवासनेति । अष्टमे हरिस्मरणं सर्वदानं स्वोक्तनिर्वाहो मत्स्यापतारथेतिप्रकरणचतुष्टयम् । नवमे सूर्यचन्द्रवृषभप्रकरणे उच्यते । दशमे-प्रथमं जन्मप्रकरणम् । प्रमाण-भय-साधन-फल-नि-तामसप्रकरणस्थानि । प्रमाण-भय-साधन-फलानि राजसस्थानि । प्रमेयसाधनफलानि सात्विकस्थानि । ततो गुण-प्रकरणमिति त्रयोदशप्रकरणानि सम्भूय भवन्ति । एकादशे च जीवसृष्टिक्रमसृष्टि-नामभ्यां प्रकरणद्वयम् । द्वादशे च कृष्णाश्रय-जगदाश्रय-वेदाश्रय-भक्तिमार्गाश्रय-याग-वताश्रयेतिपञ्चप्रकरणानि विजयन्ते । अथात्राध्यायस्वारस्ये प्रकटीकर्तुं समीहासीत् । परन्तु श्रीसुग्रीधरदासभगवदीयैभक्तिचिन्तामणौ द्वादशस्कन्धानां तात्पर्यार्थं निबन्ध-सुबोधिनीत उद्धृत्य सम्यक् विनिरूपित आस्ते एव । एवञ्चाध्यायार्थसङ्ग्रहनामान्यो ग्रन्थस्तु मदभ्यर्णं वर्तते । तौ चाचिरात् सम्भूय प्रकटीकरिष्यामः ।

एवं भागवतस्य चतुर्विधार्थानां निरूपणे श्रीमदाचार्यचरणाः १९२० विश्व-स्तुचरैकोनविंशतिशतकारिका रचयाञ्चक्रुः । तासामतिगभीरतात्तदप्येतुणामार्थवर्णयो न भवतीति श्रीमाधवभट्टगङ्गापरभट्टपद्मनाभहरिहरप्रह्लादानन्दकृष्णचन्द्रश्रीदामोदरदास-प्रभृतयो भागवताः श्रीमदाचार्यचरणान् व्यजिज्ञपन् । अत एव कृपापारावाराः कारि-कार्यावबोधमत्पूठतिमिरप्रथाख्यानमवलम्बं प्रकाशमाविश्रुक्तः ।

निबन्धस्य टीकास्तिल्लः समुपलभ्यन्ते । गो० श्रीकल्याणरायै रचिता टिप्पणी । गो० श्रीपुरुषोत्तमचरणैः प्रणीता आनन्दप्रभङ्गः । स च अस्मिन् विभागे प्रकटी-कृतः प्रकाशावधिको वर्तते । तदुत्तरं तु प्रकाशाभावायोजनेतिनाम्ना व्यवहृष्यते । तृतीया तु लालुभट्टोपनामकैः श्रीबालकृष्णभट्टैः संयोजिता निबन्धयोजनेति । एवं तासु शारदराकादयितप्रभाभारप्रतोपकमेयावरणवारणे मातृतमिव प्रकाशार्थीवरणभङ्गं विस्तृत-मतीवोपयुक्तपनुमाय तमेव निबन्धेन साकं युञ्जन्हे । श्रीमदाचार्यकृत्यवशिष्टस्याष्टभाष्य-स्वेवात्रापि प्रकाशस्वाविश्लेषागपुर्त्ये श्रीमद्भुक्तप्रकाशाधुर्पर्यस्कन्धस्य त्रयस्रिस्तकारिकातः प्रकाशं विरचयन्तिस्म, परन्तु पञ्चमस्कन्धस्य पञ्चत्रिंशदुत्तरैकशतकारिकापर्यन्तं विरचय्य विरेष्टुः । श्रीपुरुषोत्तमचरणा आनन्दप्रभङ्गं एतन्निरुद्धान्तं सञ्ज्ञापयन्तिस्म यद् ‘एतदन्तं श्रीमदाचार्यैः कृता व्याख्या एतदन्ते प्राञ्चवीया’ इति ।

अन्या अपि बहुष्य उपपत्तयो विद्यन्ते । प्रभवः पञ्चमस्कन्धस्य अश्रीतितमकारिकाप्रकाशे  
 “निगूढाक्षरैराचार्यैरुक्तम्” इति आचार्यैश्चन्द्रमाचख्युः । एवं “आसक्त्यभावाय  
 आचार्याः कालस्तत्त्वेषु प्रविष्टः इति” इति पञ्चमस्य षष्ठ्यकारिकाप्रकाशे आचार्यैश्चन्द्रं  
 पुनरुचुः । एवमन्तिमभागे द्वात्रिंशदुत्तरैकशतकारिकायामपि “तर्थाचार्यैरपोलोकरमानं  
 कृतो नोक्तम्” इति श्रीमधुचरणैत्रापि आचार्यैश्चन्द्रं चारुव्याय स्वरुक्तिर्विशदीकृतम् ।  
 अस्मिन् हायने विद्याविलासिगोस्वामिश्रीश्च श्रीव्रजरत्नलालचरणैरुत्तरश्रेण मद्रपुर्या  
 मद्रासे ग्रन्थान्वेषणकार्यमासादितम् । तदानीन्ते साम्प्रदायिकानेकाप्रतिद्वयग्रन्थात्प्रादुः ।  
 तेषां नामानि पश्चाद्द्रव्यन्ते । “संस्कृत-तामिल-हस्तलिखितग्रन्थसंशोधनकार्यविचारणे  
 निबन्धसम्बन्धी उल्लेखो वर्तते । तथाहि-

( Sanskrit-Tamil Manuscript Research Report of the year  
 1896-97 Vcl. I )

Bhagavatattvadiipika - also called Tattvadiipamibandha or Tat-  
 tavadiipa written by Vallabhaacharya who wrote the commentary on  
 the first three Skandhas, while the remaining part of the work was  
 taken up by his son Vitthalacharya, as we see from the colophon  
 of the fourth Skandha.

इति श्रीबलभामजचिद्वलदीप्तिविरचितायां श्रीभागवततत्त्वदीपिकायां  
 श्रीभागवतीयचतुर्थैकध्यायकरणम् ॥

The manuscript ends with a portion of the fifth Skandha. Bha-  
 gavatatvadiipaparakshavaranaabhangā-is a commentary on the  
 above by Pitambara, son of Yadupati, who pays homage to Valla-  
 bhacharya. The manuscript was transcribed by Vitthaladas, a pupil  
 of Murlidhardas in the year of Raudri, in the month of kumbha,  
 on the first day of the month, and in the town of Salivatapuri.

हा हन्त कथं प्रञ्चुरपुस्तकप्रचयो दक्षिणदेशे ताञ्जोरप्रान्ते गतः । कथं च  
 वैष्णवैतराणां हस्ते अगमत् । परेषां हस्तेषु पत्तिसम्पत्कं साधित्यं दृष्ट्वा कस्य  
 भगवदीयस्य मनो न तुयात् । केचन ग्रन्था दक्षिणदेशे प्रचलिततामिललिप्या  
 लिखिता वदन्ते । तेषां नामानि वैष्णवानां कर्णरन्ध्रे पतेयुञ्चत् साहित्यैतिह्यान्वेषणार्थं  
 तेषि सञ्चुत्सुक्ताः स्युरित्यथः प्रदर्शयन्तेऽस्माभिः ।

परमत्त्वाञ्जनम्	अङ्कः ४०	मुरलीधरदासाः	परमत्त्वविलासः	मुरलीधरदासाः
भगवत्प्रायश्चित्तम्	” ३८	”	श्रद्धाविद्याभरणम्	(अतीवोपयुक्तमिदम्)
भक्तिसिद्धान्तमणिः	” ३९	”	सम्पदायकुलदीपिका	अङ्कः ३५
सेवाकल्पतरुः	” २९	”	प्रेमभक्तिरसायनम्	” ३९
भक्तिचिन्तामणिः	” ३४	”	भक्तिमीमांसा	
भगवत्प्रायश्चित्तम्	” २७	”		

एते तु ग्रन्था न प्रसिद्धिमिताः । अन्ये प्रसिद्धा अप्यनेके लिखिता ग्रन्था  
 भौयकाराष्टहानिगदितभूमिनाथा इव तत्पुस्तकालयस्य कपाटे पिनक्ता वक्षन्ते । भक्तिहंसः,  
 भक्तिहेतुनिर्णयस्य विवृतिः श्रीरघुनाथानाम् अं० ३६ । श्रीमद्गुणाध्यायम् अं० ३८ ।  
 सुवर्णमृगम्, विद्वन्मण्डनस्योपरि अं० २८ । संन्यासनिर्णयः अं० ३० । पुष्टिप्रवाहमर्षादाः  
 अं० ३१ । बालबोधः अं० ३२ । प्रदर्शिताज्ञास्तत्रत्यमृषिपत्रस्यावगन्तव्याः । कतिपय-  
 ग्रन्थानां प्रतिकृतयो गो-श्रीव्रजरत्नलालजीचरणैरासादिताः ।

साहित्यप्रकाशने त्रिविधं साहाय्यमपेक्ष्यते । उपयुक्तमाचीनद्युद्धतमलिखित-  
 ग्रन्थानां दानम् । एतत्साहाय्यं केचिदेवादारवैतसो वितरन्ति न सर्वैः । प्रभ-  
 तायाससाध्यम् । द्वितीयं साहाय्यं द्रव्यात्मकं साहित्यशरीरे प्राणार्पणसमानम् । तृतीयम्  
 अनेकस्खलिताक्षरैर्दुर्वाच्यैः प्रतिकलकैः साकं संवादरूपम् । तत्तु विदुषां सीहार्दना-  
 भिगम्यते । तत्र प्रथमसाहाय्यविधौ श्रीमद्व्याख्यानैश्चरणैश्चिद्विद्याविलासिभिः श्री-  
 व्रजरत्नलालचरणैरितस्ततः पुस्तकानि आनीय स्वकीयान्यपि वितरितानि । अन्यान्यप्य-  
 न्यतः प्रभुत्वावशाद्दुपलब्धानि । द्वितीयं श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजानां निर्देशवशेन  
 परभवदान्येन भगवदीयेन “वेरागीवाक्यम्” इत्युपसङ्गनेन द्वाष्ट्याभाङ्गान्मा श्रेष्ठिना  
 सोत्साहं ग्रन्थप्रकाशनेपेक्षितो ज्योयो मया देय इति भागवतनिबन्धप्रकाशकाशनीसुक्तो  
 भागवतः स मुद्रासहस्रत्रयार्पणप्रतिज्ञामकरोत् । परं प्रकाशनात् पूर्वमेव भगवत्प्रणयमधि-  
 गतवान् । ततः तत्सूनुना श्रीयुतचौमनलालेन पितृमतिह्लापूत्तिः सम्पाद्यते । आशास्वहे  
 च तथैवानुपालयिष्यति ।

तृतीयमविच्छिन्नसाहाय्यं सीहार्दवाचकैः श्रीयुतपरमभगवदीयैरीश्वरलाल-  
 मदलालसाहैर्भुद्रदासैरतिलालः प्रभृतिभिः सततं नियतकालं समुपस्थाप्य अन्यका-  
 र्यातिपातान् अविगणय्य आदर्शसंवादरूपमिदं मध्ये साहाय्यं वितरितम् । तेषां साम्प्र-  
 दायिकसाहित्यनिष्ठां पुनः पुनः प्रशंसामहे । भागवतनिबन्धस्य विज्ञतिपरिकौनविज्ञति-

શતકારિકાસુ પશ્ચચતારિશદુત્તરસમ્પત્તકારિકાઃ પ્રથમભાગે આર્ચિર્ભવિતાઃ । પશ્ચસત-  
તિપરેકાદશશતકારિકાઃ શ્રીપુરુષોત્તમાચાર્યઃ પ્રણીતયા યોજનયા સાકં દ્વિતીયભાગે  
પ્રાદુર્ભવિભેષ્યન્તિ ।

પ્રાકટ્યવિલમ્બહેતોરાવેદને નિર્વિચયે સ્વલ્પ મથેતઃ । તતોપ્યધિકં માં દુઃસ્વાકરોતિ  
યદવિભાષ્યમન્યો વિભાગેનાવિષ્કયતે ઇતિ । વિપશ્ચિતામાશ્રયનિષાનૈઃ સુનામયેયશ્રીબ્રજ-  
રત્નલાલજીમહારાજચરણૈઃ સાકં ભારતેઽવિરતે પંથેઽત્નસ્થેનાનેન જનનાસાયતે યાત્વત્સર્વેયં  
તાયદેવૈતદ્વિયાદું શક્યતે ઇતિ તત્કાર્યક્રમાં સદ્ગુણાત્વાં વિદિતચરમેવ । પરમકઠિને-  
સ્મિન્ શ્રીમદાચાર્યવચનામૃતવારિષિસંગ્રોયને મલ્લઘૃષ્ટિં હિમ્મસાહસસ્ત્રવાં મન્યે ।  
તથાપિ પ્રશ્નશ્રીવલ્લખનલચન્દ્રછટ્યાધિગતસુદ્ધિચલઃ પારમેષ્યામિ ઇત્યુદારવિશ્વાસપરેણ  
મદ્વત્તોસ્મિ । શતકૃત્યઃ સંશોધિતમપિ જીવશેષ્યુષીસહજં સ્વલિતંભવત્યેવેતિ પ્રમાદજાતવ્ય-  
ત્વાસં નિરાકૃત્ય શુદ્ધિમાહ્યાલત્વો દયાલત્વો મનીષિણઃ કૃપાવનીયકં ક્ષમાં દાસ્યન્તિ  
ભવન્તો વિપશ્ચિદ્રારાઃ । સમ્પૂર્ણધ્વં-શુદ્ધિપત્રકં દ્વિતીયભાગે એકીકૃત્ય દિત્સામિ । આશાસે ચ  
મગવલ્લીલામૃતાકૃપારસમં પુસ્તકપિદં ભાગવતપીયુષિપાસાત્વતો વિપશ્ચિત્સાર્થસ્ય તુવોપ-  
શમં કરિષ્યતીતિ । શ્રીમદાચાર્યવચનાશ્રયાશંસુરદે ભાગવતસ્ય મગવત્સ્વરૂપસાત્ તદીયમિદં  
તત્પ્રાદપ્તેષુ નિવેદયામિ ।

સં ૧૯૯૧

કાર્તિકચુદ્ધમતિપદ્મ

શાસ્ત્રી-શ્રીમનલાલઃ ।  
'સાહિત્યશૃષ્ણ' શુદ્ધાદૈતરત્ને'તિ ।



શ્રીકૃણ્ણા ॥

પ્રા સ્તા વિ ક્ષ.

શ્રીમદોસ્વામિકૃષ્ણકોરુભ વિવાનિષિ શ્રી. ૬. શ્રીમજ્જલલાલજી મહારાજે સામ્પ્રદાયક  
પ્રાચીન સાહિત્યોદાર કરવા માટે બા. શુદ્ધાદૈત મહાશયમાં એક સાહિત્ય સંશોધન અને મન્યુદસ્ય  
વિભાગ ખોલ્યો, આપશ્રીએ પોતાના મનન્ય સેવક વેરાળીવાળા શેઠજી મીનલાલ ડાહ્યાભાષને  
આદા આપી ચાર હમ્દરના ખર્ચે ભાગવતાર્થ નિબંધ પ્રકટ કરવાની યોજના કરી આપી.  
નેનો એક ભાગ થોડા જ વખતમાં પ્રકટ થનાર છે. આ ભાગવતાર્થ નિબંધ પ્રકટ થતાં  
પહેલાં અથવા તે સાથે અમારે તેનું આનુબંધિક સાહિત્ય પ્રકટ કરવું જ જોઈએ, એ અમારી  
દરજ હતી અને છે. તેવા અન્યે પૈટી અન્ય નહિ તો આ પ્રકરણવિભાગમુખિકા, ચોમ શ્રીચક્ર-  
રાયછટ્ટ અધ્યાયાર્થ, (આ અન્યે પ્રેસ કોપી અમારી પાસે તેવાર છે.) નિવંધ નામાવલ્લે, શ્રીમદાચાર્યચરણ્યુત અનુક્રમણિકા, આટલા અન્યે તો સાથે હાપવા જોઈએ. તે પૈટી આ  
અન્ય ભાગવતાર્થ નિબંધને અધિક સંબંધ ધરાવનાર છે. વસ્તુતસ્તુ નિબંધની જ પંક્તિએ કે  
તટ્ટીકા આવરણ્યુત-યોજના-માંથી ઉદત કરેલી પંક્તિઓનો કે તેના આકર્યથી રચાયેલો આ  
“પ્રકરણવિભાગ” છે. અને તેથી તે ધણે જ ઉપયુક્ત છે. મૂલ નબંધમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીના  
સાહાય વિના પ્રકરણ વિભાગ સમજવા કઠિનમ છે. તે બને સાથે હોય તે પછુ ડુંકામાં પ્રકર-  
ણનું નામ પ્રકરણમાં અધ્યાયસંખ્યા આટલી કેમ? તેનું સમ્પલ કારણ વિગેરે ભણવાનું સુખ  
સાધન આ પ્રકરણ વિભાગ છે. આ અન્ય જેટલો ભાગવતાર્થનિબંધ વચનારને મદદનાર છે  
તેથી વધારે ઉપયોગી ભાગવતના પાઠ કરનારને છે. ભાગવતનો પાઠ કે પારાયણ-કે કથા-  
વાચન-કરનારા બદ્ધ-બ્યાસ-પુરાણીઓને આ અન્યે ઉત્સવમાં (ગિણામાં) રાખી વાચનારંબ  
કરવો જોઈએ, એનું કહીએ તો જરામ અતિશયેદિત નથી.

દાખલા તરીકે હાલકરંધે ચાલતો હોય તેમાં પાંચ પ્રકારના આશય છે. ૧-કૃષ્ણાશય  
૨-જન્મદાશય ૩-વેદાશય ૪-વૈકલિતમાર્ગશય ૫-ભાગવતાશય આવા પાંચ પ્રકારે અમુક અમુક  
અધ્યાયમાં આશયનાં પાંચ પ્રકરણ કલાં છે. તે અધ્યાય આવતાં જ પાઠકે સમજવું જોઈએ  
અને કથનું જોઈએ કે હવે કૃષ્ણાશય પ્રકરણ ચાલ્યું કે જન્મદાશય કે વેદાશય પ્રકરણ ચાલ્યું. તે  
પ્રમાણે સમજી શ્રીમદ્ભાગવતનો પાઠ થાય તો ઈષ્ટ યોગ પાઠક અને શ્રીતાને આનંદ આપે  
એવો આ ઉપયોગી અન્ય છે.

આ અન્યમાં પ્રકરણ વિભાગ એકદમ પદકાપ તે માટે નવી પ્રજ્ઞાસ્મનુસાર કેટલક સંકલના  
કરી છે. અન્યના કેટલાક પ્રકરણમાં અધ્યાય સંખ્યાના હેતુએ કહોવતાં અન્યકારે ડુંકામાં પતાવી  
દીધું છે, તેને માટે અનુવાદ વખતે મૂળનિબંધ-આવરણ્યુત-યોજનાનો આશય સૈષ તેને વધારે  
સુસ્પષ્ટ કર્યું છે. તે ઉપરાન્ત પછુ ભ્યાં ભ્યાં ટૂંટનોટદારા વિષદ કરવાની જરૂર પડી ભ્યાં ટૂંટનોટ  
મુટી ભગવતલીલા સ્વાદમાં શુદ્ધિ કરી છે.

આ અન્યના કર્તા યોગીશાલ શીવનરયામબદ્ધ છે. તેમ અમારી પાસે એક પ્રાચીન પ્રતિ  
ઉપરથી માત્ર પડે છે. તેમના મિતુચરણનું નામ રામચન્દ્રબદ્ધ છે, તે શ્રીયુત-તેલીવાળાએ શુદ્ધિત  
તામસાદમપ્રકરણ સુખોપિનીશમાં આ અન્યની તદ્દિભાગની કલા ખાર પંક્તિ સુદિત કરી છે.

ते उपरथी विदुनाम अख्युषे उ. आ अन्धकार क्यारे यद्य नया ते मटे हुं जते अग्रदावादाना श्रीगोवर्धनलाभाद्यु क ज्येष्ठा गोष्ठीशास्य अचरंठना छे, तेभने भज्ये, परंतु तेभने पञ्च स्वर्गकनी नामावली यथास्थित उपस्थित नहि होवायची निश्चय न करी शक्या, भारी पासि आग्नीन पुस्तक छे. तं संवत् १८८३ नी शाल्वं उत्तरावेळुं छे. तेथी पञ्च लक्षणय इत वर्षे के ते उपरताने शाल श्रीधरप्रभासप्रहृष्टनी हरे, ज्येष्ठ अनुग्रह्य छे, ते उपरान्त साधारण्य रीते आ लहंछ श्रीतिबलां-मितश्रीना आश्रित हवा ज्येष्ठ अच्युतपरप यथुं छे. तेथी यदि श्रीनायदायरी इंध ज्येष्ठिब हस्तप्रत धाय तो नवाधि नहि.

अन्य शुद्धय वपते आर प्रति आभारी पासि हनी. तेभां अन्धकारप्रख्योषीप्रख्युष जे० श्री ६ श्रीगोपुष्पनायाद्यु भद्राशरणी ज्ये प्रति हनी, ज्येष्ठ प्रति आ अन्धकारके जे० श्री ६ श्रीनन्दनलासल्यु भद्राशरणी, अने ज्येष्ठ प्रति डोटारथनी हनी. आ आर प्रतिभां शुभधनी ज्येष्ठ प्रति अच्युषुं हनी, याधी तज्जे पञ्च अशुद्ध हनी. परंतु आरे प्रति जेगी यती लारे ज्येष्ठ शुद्ध प्रतिजुं काम हरे छे. अन्धदावानो हुं मथी हुं.

आ अन्धतेा सर्व अन्य आपनार अनेना सुरतना परमभजनवदीय श्रीयुत शैठ प्राणुल्यन-दास धन्वशास्य शा. वेरभावाणाना अमरख्ये तेभना यि. शा. सुनीशास्य प्राणु-ल्यनदास. तथा विदुलदास प्राणुल्यनदासना आर्थिक साहाय्यी प्रकट यथुं छे. आ अन्धमां आची रीते सोत्साह भद्र करनार सद्गुरुवर्यने वेणुवेा अतुसरतां शीमे तो यदासना तरङ्गी उपरेशर आहुं अमोहुं साक्षिय अविदंभे प्रकट धाय.

आ शुद्धितभदासनाना कार्यालयमां अन्धना संशोधन समये अन्यय श्रीयुत प्रखुलालाभाधुं हेमभारत (स्य. पा. नं. १) तथा श्रीयुत छंदिरेलास भगवन्दास शाह तथा श्रीयुत रतिसाल-भाधुं अनेक प्रतिनी सह संवाद करवा विजेरेमां आत्मभोज आपी साहाय्य हरे छे. आची निःस्वार्थ सेना भवन्वनारंतु अतुकरण्य सुरतना युधेठा हरे अने साग्राधायिक साहित्यभां रस लेता धाय ज्येष्ठ अने धन्वजी ज्येष्ठ.

आ अन्ध नायुक्त छे पञ्च अच्युष्योगी छे. अशुद्ध रङ्गु होय तो ते ल्यवेद्य सहज्य आनी क्षमा हरेशे.

आवा भक्तिरस-वीलासवादाना रहस्यथी भरेला अन्धो आरे हावे प्रकट कसवन्धर विवा-विलासरी-जे० श्रीनन्दनलासल्युनी कृपांतु अर्ध विनारी आयास श्रीगालकृष्णप्रभुना अरखुभयमां अर्षण्य हरे हुं.

श्रीदायाचरखुभयरेण्य-अनुरागी  
श्रीभनशाश्री  
“साक्षियप्रख्युषु” “शुद्धितरतनी”

पर्वरंभ,  
संवत् १८८५

# अथ निबन्धोक्तरीत्या श्रीभागवतशास्त्रस्कन्धार्थप्रकरणाध्याय- विभागसूचिका ।



( श्रीधरप्रभासप्रहृष्टता )

उपक्रमः ।

अथ निबन्धोक्तरीत्या श्रीभागवतीयद्वादशस्कन्धानां प्रकरणाध्यायविभागसूचिका क्रियते । तत्र ‘श्रोतव्यः कीर्तितव्यः’ इत्यादिना श्रीभागवते श्रवणादिविषयत्वेन भगवानुक्तः । श्रवणादि तु शब्दस्य सम्भवति, न स्वरूपस्येति भगवल्लीङानां शब्दात्मकत्वात्प्रकाशाश्रयणायाने भवदूत्वाच्च तासां श्रवणादि कर्तव्यमिति निर्द्धारितं सुशोभिष्यां निबन्धे च । तथा च, लीङानां सर्गादिपदेनेन दशविधत्वाच्छृण्वणं चाधिकारसाधनापेक्षमिति तृतीयदिदशस्कन्धानां सर्गादिश्रवलीङानिरूपकत्वम् । तदङ्गत्वेनाधिकारसाधनानां निरूपणीयत्वाच्चनिरूपकत्वेन प्रथमद्वितीयोरधिकारसाधननिरूपकत्वाच्चतुस्योगे लीङानिरूपकत्वम्, तथा च प्रथमस्कन्धेऽधिकारनिरूपणं क्रियते ।

स्कन्धः प्रथमः ।

(प्रथमं प्रकरणम्, अ० १-२-३)

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अधिकारस्य हीनमध्यमोचमभेदेन त्रिविधत्वात्प्रकरणत्रयम् । तत्र हीनाधिकारस्य जिज्ञासुत्वाभावात्तथैश्रवणादरत्वरूपश्रोतुगुणशुभभागवत्स्व-चातुर्यगुणशानवचनरूपकगुणसापेक्षत्वात्प्रथमध्यायत्रयेण श्रोतव्यत्रैकैकगुणस्य निरूपितत्वाद् अध्यायत्रयेण हीनाधिकारप्रकरणनिरूपणम् ।

(द्वितीयं प्रकरणम्, अ० ४-५-६)

एवं मध्यमाधिकारस्य भगवत्कृपाभगवदीयत्वमभवेदकत्वरूपश्रोतुवकृगुणत्रयसा-पेक्षत्वात्प्रथमध्यायत्रैकैकगुणस्य निरूपितत्वाद्ध्ययत्रयेण मध्यमाधिकारप्रकरणनिरूपणम् । ( प्र० तृतीयम्, सप्तमाध्यायादारभ्य एकोनविंशत्याध्यायपर्यन्तम् । )

एवं उत्तमाधिकारस्य हृद्द्वैताग्योपदेशाद् वैराग्यस्य भगवद्देकतानत्यरूपस्यैव हृद-स्याङ्गवत्तत्र पुरुषोत्तमरूपत्वात्पदेकताननाद्योतकदादासाङ्गुषाधिक्यवयातनाथं प्रयोदशा-ध्यायिनोत्तमाधिकारप्रकरणनिरूपणम् । एवं प्रथमस्कन्धनिरूपणे एकोनविंशत्यध्यायाः ।

## स्कन्धो द्वितीयः ।

(प्र० प्रथमम्, अ० १-२)

अतः परं द्वितीयस्कन्धे साधननिरूपणं क्रियते । तत्र एवं प्रकरणविभागः । तत्र साधनस्य तत्त्वध्यानहृत्प्रसादधननभेदेन त्रिविधत्वात्प्रकरणत्रयम् । तत्र तत्त्वध्यानस्य स्पृहसूक्ष्मभेदेन द्विविधत्वाद्ध्यायद्वयेन निरूपणम् ।

(प्र० द्वितीयम्, अ० ३-४)

हृत्प्रसादस्यापि श्रद्धारूपत्वात् श्रद्धायाः ओषधकृत्भेदेन द्विविधत्वाद्धारणद्वयेन हृत्प्रसादप्रकरणनिरूपणम् ।

(प्र० तृतीयम्, अ० ५-६-७-८-९-१०)

धननस्योत्प्रेरणयुगपत्त्रिविधेन द्विविधत्वादुत्प्रेषणा अपि "अनित्ये जननमि"तिवाक्यो-  
क्तरीत्या त्रिविधत्वादुत्प्रेषणा अपि आशङ्क्योत्तरफलभेदेन त्रिविधत्वात् पश्चिन्ध्यायैर्धनन-  
प्रकरणनिरूपणम् । एवं द्वितीयस्कन्धनिरूपणे दशाध्यायाः ।

## स्कन्धस्तृतीयः ।

(प्र० प्रथमम्, अ० १-२-३-४-५-६)

अतः परं साधने श्रवणाधिकारे सिद्धे श्रवणादिरूपाणां लीलानां तृती-  
यादिदशास्कन्धनिरूपणं क्रियते । तत्र तृतीयस्कन्धे सर्गनिरूपणं क्रियते ।  
सर्गस्य द्विविधत्वाच्छौकिकाशौकिकभेदेन उभयरूपस्यापि त्रयस्त्रिंशत्स्वकारकत्वात् त्रय-  
स्त्रिंशत्त्रयैर्निरूपणम् । अशौकिकसर्गस्य त्रयस्त्रिंशद्विधत्वे वेदे बृहदारण्ये उक्तम् । त्रय-  
स्त्रिंशद्देवाः, अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशारे पृथिवीदित्यथैव मन्वापतिश्च त्रय-  
स्त्रिंशदाविति । (बृ. ३-९-२) शौकिकसर्गस्यापि अष्टात्रिंशत्तत्त्वानि चतुर्विधभूतबी-  
जानि कालभेदेन त्रयस्त्रिंशद्विधत्वं । तत्रैवं प्रकरणविभागः शुक्रमतानुसारेण । गुणाती-  
तसृष्टिः सगुणसृष्टिः कालसृष्टिः तत्त्वसृष्टिः जीवसृष्टिः, एवं ( नामाभिमतत्त्वसृष्टिभेदेन )  
पञ्चप्रकारस्य समस्य बन्धमोक्षभेदेन द्विविधत्वाद्दशप्रकरणानि । तत्र गुणातीतप्रकरणे  
षडध्यायाः गुणातीतसर्गस्य तत्त्वकार्यभेदेन द्विविधत्वात्तस्य चात्र साधिकारनिरूपणेनो-  
त्तमोत्तमाधिकारस्य भैतबन्धनद्विष्टुद्धिदीर्घाटनश्रवणासक्तिभेदेन चतुर्विधत्वात् ।

(प्र० द्वितीयम्, अ० ७-८-९)

सगुणसृष्टिप्रकरणेऽध्यायत्रयम्, तस्य सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधत्वात् ।

(प्र० ३, अ० १०-११)

कालसृष्टिनवरणेऽध्यायद्वयं, स्थूलसूक्ष्मभेदेन कालस्य द्विविधत्वात् । तत्र तत्त्वानाम्  
अमुक्तजीवानां कालाधीनत्वात् कालप्रकरणान्तर्गतत्वेनैव निरूपणम् ।

(प्र० ४, अ० १२)

ततो मुक्तजीवसृष्टिनिरूपणम् एकेनाध्यायेन ।

(प्र० ५ अ० १३-१४-१५-१६-१७-१८-१९)

ततो मुक्तजीवसृष्ट्युपद्रवतात्तन्निरूपणम् सप्तधिरध्यायैः क्रियते ।

एवं एकोनविंशत्तथायैः पञ्चधा बन्धप्रकारेण सृष्टिनिरूपणम् ।

(प्र० ६ अ० २०-२१-२२-२३-२४)

तत एकेन मोक्षोपोद्घातः, चतुर्भिः पुम्मुक्तिः । एवं पञ्चभिस्तत्त्वमुक्तिप्रकरणम् ।

त्यक्तानां तत्त्वानां स्वस्वरूपापादकत्वात्तेषां मुक्तिरूपाः ।

(प्र० ७, अ० २५)

तत एकेन मुख्यभक्तिनिरूपणम् । का कालस्य मुक्तिशीलाप्रकरणम् । ( गुणा-  
तीतस्य ) तदधीनस्य वा भक्त्यैव मोक्ष इतिवैशिक्यम् ।

(प्र० ८, अ० २६-२७)

ततोऽध्यायद्वयेन ज्ञाननिरूपणम् । सा गुणातीतमुक्तिलीलाप्रकरणम् । " भेदेऽस-  
न्तामिवात्मानमि"त्याकारकाज्ञाननिष्ठस्वरूपाः ।

(प्र० ९, अ० २८)

तत एकेन योगनिरूपणम् । सगुणस्य मुक्तिशीलाप्रकरणम् । सगुणो हि तेन  
तेन भावेन सजन् भूयादि प्राप्नोति, तद्भाववर्पां स्वस्वोऽपतियुते । तत्र चित्तस्य-  
निरोधस्यैव कारणत्वाद्योगनिरूपणरूपात्तस्य मुक्तिशीलेति ।

(प्र० १०, अ० २९-३०-३१-३२-३३)

तत एकेन योगशेषभूतभक्तिनिरूपणम् । ततो द्वाभ्यां वैराग्यं, जिवस्य मुक्ति-  
शीलाप्रकरणम् । ततो द्वाभ्यां स्त्रीमुक्तिः, तस्याः पूर्वाङ्गत्वात् पूर्वप्रकारेण जीवस्युक्तिप्रक-  
रणे अन्तर्भावः ।

एवं चतुर्दशभिर्भाक्षप्रकारेण सर्गनिरूपणम् । एवं दशप्रकरणानि  
भवन्ति ।

मैत्रेयमतानुसारेणैवं प्रकरणविभागः । अधिकारप्रकरणं, सृष्टिप्रकरणं, उपपत्तिप्रकरणं, फलप्रकरणम् । तत्र सृष्टेः पञ्चविधत्वं गुणातीतसमुगकाकृतत्वबीजभेदेन । उपपत्तिर्दिवा, बन्धमोक्षभेदेन । फलं युक्तिः । सा त्रिधा, भक्तिसाङ्ख्ययोगभेदेन । एवं दशधा विभागः । अधिकारेण सह सृष्टिनिरूपणे पूर्ववदेवाध्यायनिरूपणम् । द्वादशाध्यायपर्यन्तं पञ्चधा सृष्टिनिरूपणम् । एवमेकेन मोक्षोपपत्तिः । ततः सप्तभिर्बन्धोपपत्तिः । एवं अष्टभिर्दिवा उपपत्तिः । ततश्चतुर्भिः पुद्गुक्तिः, साङ्ख्यफलरूपभन्तयङ्गभूता । तत एकेन सफलं युक्तिः । ततो द्वाभ्यां साङ्ख्यै, ततो द्वाभ्यां योगै, ततश्चतुर्भिर्वैराग्यसर्वनिर्दारी सवेत्तैषी योगफलभूता देवहृतिमुक्तिश्चेति प्रकरणत्रयं, दशभेदाः । शुकाधिमायेण स्पृकविचारे पञ्च प्रकरणानि । सूर्यविचारे दश । मैत्रेयाधिमायेण स्पृके चतुष्टयं, सूर्ये दश, एवं द्विभेदः । एवं तृतीयस्कन्धे प्रकरणविभागो निरूपितः ।

### स्कन्धश्चतुर्थः ।

अतः परं चतुर्थस्कन्धे विसर्गनिरूपणं कियते ।

तत्राद्यौकिकविसर्गस्यैकत्रिंशदेवतात्मकत्वात् तन्निरूपणे एकत्रिंशदध्यायाः । द्वादशादित्यैकादशरुद्राष्टवसूनां निरूपकत्वात् । तत्र भगवन्माहात्म्यज्ञापकत्वस्य विसर्गफलत्वात् "द्विसर्गः पौरुषः स्मृतः" इतिवाक्यात् । माहात्म्यज्ञापनं च पुरुषार्थचतुष्टयदानेन सम्बन्धवर्तितधर्मार्थकाममोक्षरूपपुण्यचतुष्टयनिरूपणेन चत्वारि प्रकरणानि ।

प्र० १ अ० १. २. ३. ४. ५. ६. ७.

तत्र दशस्य धर्मसिद्धिः । धर्मस्योद्दिष्टोपदेवधर्मप्रतिरोधोपार्थोपैषाजपेयभेदेन सप्तसंस्थत्वात् सप्तभिरध्यायैर्भगवत्प्रकरणनिरूपणम् ।

प्र० २ अ० ८. ९. १०. ११. १२.

ध्रुवस्वार्थसिद्धिः, साधनेन साध्येन राक्षसाङ्गपक्षादिवधरूपदोषेण मनुपदेवेन तन्निरूपणा फलमाप्त्वा चेति पञ्चप्रकरणे जातेति पञ्चभिरध्यायैर्यत्रप्रकरणनिरूपणम् ।

प्र० ३ अ० १३ आरभ्य अ० २३ पर्यन्तम्

पृथोः कामसिद्धिः, कामस्यैकादशेन्द्रियजन्यत्वसूचनार्थैकादशभिरध्यायैः कामप्रकरणनिरूपणम् । तत्र कामेन पृथ्वाविधोवसर्वैकामस्वकामरूपाणि कामप्रकरणानि ।

१ "युक्तमिति" पाठः ।

प्र० ४ अ० २४ आरभ्य अ० ३१ पर्यन्तम्

प्रचेतसां मोक्षसिद्धिः । मोक्षस्य ब्रह्मभावसायुज्यभेदेन मोक्षस्य द्विविधत्वात् । ब्रह्मभावस्य विद्याकारणकत्वाद् एतस्याः पञ्चपूर्वात्मकत्वसूचकाध्यायपञ्चकं ब्रह्मभावनिरूपणे । तस्मिन्निः । प्राचीनवर्षिषदः प्रचेतसां मोक्षाङ्गभूता । सायुज्यस्य साधनमसादफलभेदेन प्रचेतसः सृष्टिस्त्वात्सायुजनिरूपणे अध्यायत्रयम् । एवं अष्टभिरध्यायैर्भोक्ष्यप्रकरणनिरूपणम् । एवं विसर्गनिरूपणे एकत्रिंशदध्याया भवन्ति, प्रकरणचतुष्टयं च ।

### स्कन्धः पञ्चमः ।

अतः परं पञ्चमस्कन्धे स्थानलीलानिरूपणम् ।

(पद्यः १) प्र० १ अ० १ आरभ्य २४ पर्यन्तम्

तत्र 'स्थितिवैकुण्ठविजय' इतिवाक्याद् विजयस्य स्वाधीनीकरणरूपत्वाच्चत्सदार्थमर्थोदयैव तत्तत्पदार्थस्वापनं स्थानमित्यर्थो भवति । तथा च, प्राकृतेषु चतुर्विंशतिधा जपः, प्राकृतानां चतुर्विंशतितत्त्वात्मकत्वात् ।

(पद्यः १) प्रकरणम् २ अ० २५. २६

आत्मनि च द्वेषा जीवब्रह्मभेदेन द्विविधत्वात् । एवं स्थाननिरूपणे चतुर्विंशत्यध्याया भवन्ति ।

(प्र० १ अ० १ आरभ्य ६ पर्यन्तम्)

स्थीयतेरिमञ्जिति योगेन स्थानपदार्थग्रहेणेपि देशस्य लोकत्रयात्मकत्वेन त्रिविधत्वम् । द्वादशभासाः पञ्चतैवस्य इमे लोका असौ आदित्यशेखरविंशः काष्ठ इति आत्मा द्विविध इति चतुर्विंशत्यध्यायैर्निरूपणम् । अस्मिन्पक्षे त्रिष्वपि युगपत् स्थितिर्भगवतैव कर्तुं शक्येति स्थानस्य भगवलीलात्वम् । तत्रैवं प्रकरणविभागः । स्पृकविचारे प्रकरणद्वयम् । स्वरूपस्थितदेशस्थिरिथात्मकम् । तत्रः कृष्णेन स्वरूपस्थितिनिरूपणे षडध्यायाः । कृष्णस्य बह्गुणशुतत्वमोक्षकयोगेन ।

प्र० २ अ. ७ आरभ्य १४ पर्यन्तम्

स्वरूपस्थितिनिरूपणे अष्टाध्यायाः, योगस्थादाङ्गत्वबोधकाः ।

प्र० ३ अ० १५

ज्ञानेन स्वरूपस्थितिनिरूपणे एकोऽध्यायः । एवं स्वरूपस्थितेः त्रिविधत्वात्पञ्चदशाध्याया भवन्ति स्वरूपस्थितौ ।

प्र० ४ अ० १६ अक्षरस्य २० पर्वन्तम्

देशस्य भूर्भुवःस्वरितिभिविषभेदेन त्रिविधत्वात्तत्रावान्तरप्रकरणत्रयम् । तत्र भूमौ पञ्चभूतमाधान्यात्तन्निरूपणे पञ्चाध्यायाः ।

प्र० ६ अ० २१. २२. २३

भुवलोके त्रिगुणमाधान्यात्तन्निरूपणेऽध्यायत्रयम् ।

प्र० ६ अ० २४. २५. २६

स्वर्लोकेऽपि त्रिगुणमाधान्याद् अध्यायत्रयम् । एवं देशस्थितौ एकादशाध्याया भवन्ति । एवं स्वरूपस्थितिदेशस्थित्योः प्रत्येकं त्रिविधत्वात्सूरूपविचारे पदप्रकरणानि भवन्ति । एवं चर्चित्वातिभिरध्यायैः स्थानहीलानिरूपणम् ।

### स्कन्धः षष्ठः

प्र० १ अ० ३ नाम	प्र० २ अ० १४ ध्यानम्	प्र० ३ अ० २ अर्थनम्
-----------------------	----------------------------	---------------------------

अतःपरं षष्ठस्कन्धे पुष्टिलीलानिरूपणम् ।

“तत्र पोषणं तदनुग्रहः” इतिवाक्यात् । काळादिबाधकोतुग्रहापरनामा ( वीर्यविशेषरूपो ) भगवद्गर्भः पुष्टिरिति सिद्धम् । तत्रैवं प्रकरणविभागः । नामध्यानार्चनभेदेन प्रकरणत्रयम्, नामादीनां तत्र व्यापाररूपत्वात् । तत्र श्रवणकीर्चनस्मरणभेदेन नान्तस्त्रिविधत्वात्प्रथमप्रकरणे अध्यायत्रयम् । ध्याने रूपस्यैव मुख्यत्वात्, रूपस्य चतुर्दशगुणत्वात् । तत्रं तु “रूपेण मोक्षदः” ( भा० नि० ) इत्यादिकारिकाभिर्निबन्धे उक्तत्वात् ज्ञेयम् । तस्माच्चतुर्दशभिरध्यायैः ध्यानप्रकरणनिरूपणम् । अर्चनस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधत्वाद्दश्यायद्वयेन तदर्थेनप्रकरणनिरूपणम् । एवमेकोनविंशत्यध्यायाः पुष्टिलीलानिरूपणे भवन्ति । पुष्टेः कर्मकाळस्वभाववाचकत्वात्, कर्मण ‘अधिष्ठानं तथा कर्त्तृ’तिवाक्यात्पञ्चविधत्वात्, काळस्य द्वादशभासात्मकत्वात् स्वभावस्य देवासुरभेदेन द्विविधत्वाच्चन्द्राभक्तवद्योतकत्वात्पुष्टेरैकोनविंशत्प्रकारकत्वादेकोनविंशत्या निरूपणम् । एवं स्कन्धार्थविचारे एकोनविंशत्यध्यायाः । प्रकरणार्थविचारे नामादिभेदेन एकोनविंशत्यध्यायाः ।

### स्कन्धः सप्तमः ।

प्र० १ अ० ५ असद्वासना	प्र० २ अ० ५ सद्वासना	प्र० ३ अ० ५ मिश्रवासना
-----------------------------	----------------------------	------------------------------

अतःपरं सप्तमस्कन्धे ऊतिलीलानिरूपणं क्रियते । ‘तत्र उतयः कर्मवासना’ इतिवाक्यात्कर्मवासना निरूप्यन्ते । पुष्टौ पक्षपातकरणरूपं वैषम्यदोषपरिहाराय स्वकृत-पर्यादात्सुराणेन वासनानुरूपफलदानमिति बोधनाय कर्मवासनानिरूपणम् । तत्र कर्मण आध्यात्मिकादिभेदेन त्रिविधत्वात्पुनः प्रत्येकं कर्मणोऽविद्याजन्यत्वात्तस्याः पञ्चपर्वरूपत्वात्पञ्चविधत्वम्, अथवा ‘अधिष्ठानं तथा कर्त्तृ’तिवाक्यात्पञ्चविधत्वम् । एवं आध्यात्मिकादित्रिविधेऽपि पक्षेषु प्रत्येकं पञ्चविधत्वात्पञ्चदशविधत्वम् । वासनानामपि कर्मजन्यत्वात्पञ्चदशविधत्वम् । एवं वासनानिरूपणे पञ्चदशाध्याया भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अध्यायपञ्चकेन असद्वासनाप्रकरणनिरूपणम् । पञ्चभिरध्यायैः सद्वासनाप्रकरणनिरूपणम् । पञ्चभिरैव मिश्रवासनाप्रकरणनिरूपणम् । एवं प्रकरणार्थविचारे पञ्चदशाध्याया भवन्ति । ऊतिलीलानिरूपणं प्रकरणत्रयं च ।

### स्कन्धोद्यमः ।

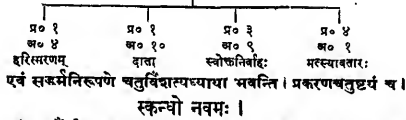
अतःपरमष्टमस्कन्धे मन्वन्तरलीला निरूप्यन्ते । तत्र ‘मन्वन्तराणि सद्गर्भ’ इतिवाक्यात् मन्वन्तरधर्मप्रवर्त्तकत्वेन सद्गर्भनिरूपकत्वम् । एवं निरूपितवासनादासर्ग सद्गर्भनिरूपणम् । प्राकृतो गणधनुर्विशतिक इति तथोत्पन्नास्ते तत्रत्यां वासनां सर्वथा नाशयन्त्येवेति धोतनाय सद्गर्भनिरूपणे चतुर्विंशत्यध्याया भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । त्रयाणां महद्गर्भत्वादापस्तु हरिसंस्मरणम् । सम्पत्सु सर्वदानानि स्वोक्तनिर्वाहश्रेति त्रयाणां मुख्यत्वात्प्रकरणत्रयम् । त्रितपधर्मवक्तृत्वेन भगवतो यस्यावतारचरित्रनिरूपणमिति प्रकरणचतुष्टयं भवति । तत्र हरिसंस्मरणस्य पुनश्चतुष्टयदात्त्वाच्चत्वरूपं चतुर्भिरध्यायैः क्रियते । दानस्य कर्तुः पात्रस्य च त्रिगुणत्वात् गुणानां मिश्रणेन नवविधत्वाद् गुणातीतस्य एकविधत्वात् स-गुणानिर्गुणभेदेन दानस्य साधनत्वेन प्रविष्टत्वाच्चत्वरूपं दशभिरध्यायैः क्रियते । स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणेऽपि बलिप्रकरणे दानस्य साधनत्वेन प्रविष्टत्वादानस्य सगुणस्य नवविधत्वात् स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणनिरूपणं नवभिरध्यायैः क्रियते । पूर्वप्रकरणे दानस्यैव मुख्यत्वेन निरूपणादत्र च साधनत्वेन दानस्य निरूपणात्मुख्यत्वेन सत्यवाक्यस्य निरूपणात्



प्रतिपाद्यभेदात् प्रकरणभेद इति बोध्यम् । धर्मवस्तुर्भगवतो मत्स्यस्यैकविधत्वाच्च-  
बहिर्भक्तिरूपमेकेनाध्यायेन क्रियते ।

### स्कन्धोद्यमः ।

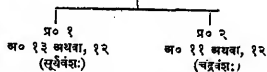


एवं सद्धर्मैर्वासनादाहे भगवति शुद्धायां वासनायां स्वतो जातायां भक्तिः  
कर्तव्येति नवमे ईशानुक्तधारुपा भक्तिरिच्छते । तत्र अत्रात्तु चरिते 'हरेर-  
स्यानुवर्तिनाभिः'त्यास्मिन्वाक्ये 'हरि'तिपदेन दुःखदूरीकरणस्याभिप्रेतत्वाद् दुःखदूरी-  
करणं सुखप्रापणम् चाभिप्रेतम् । तत्र दुःखस्य नवधा गुणभेदेन भिन्नस्य निवारणाय  
तदनुवर्तिनो गुणैर्नवविधाः अविद्याकलमदुःखानिवारकाः ज्ञानैकविधाः । चरितं ज्ञान-  
कर्मभक्तिभेदेन त्रिविधम् । एवं दुःखानिवारणे त्रयोदशाध्यायाः । सुखप्रापणे दशेन्द्रिय-  
सुखदस्वादनुवर्तिनो दशविधा एकश्च भगवानित्येकादशाध्यायाः । एवमीशानुक्तधार्मा  
चतुर्विंशत्यध्यायाः भवन्ति स्कन्धार्थविचारे ।

तत्रैवं प्रकरणविभागः । अत्र प्रकरणद्वयम्, सूर्यवंशप्रकरणं चन्द्रवंशप्रकरणं  
चेति । सूर्यवंशे द्वादशस्तनो भगवतः प्राकट्यात्तद्वंशीजभूतसूर्यस्यापि द्वादशात्मकत्वाद्  
द्वादशाध्यायैः सूर्यवंशनिरूपणम् । चन्द्रवंशस्यापि ततो ज्यन्तव्याभावबोधनाय द्वादशभिर्-  
वाध्यायैस्तन्निरूपणम् । स्कन्धप्रथमाध्याये चन्द्रवंशबीजभूतपुरुवरसो निरूपितत्वात्प्रथमा-  
ध्यायस्य मुख्यतया चन्द्रवंशकत्वाद् द्वादशाध्याया भवन्ति चन्द्रवंशनिरूपणे । अथवा,  
पूर्वोक्तप्रकारेण सूर्यवंशनिरूपणे त्रयोदशाः, चन्द्रवंशनिरूपणे एकादशेति स्पष्टम् ।

एवम् ईशानुक्तधार्मनिरूपणे चतुर्विंशत्यध्यायाः प्रकरणत्रयञ्च ।

### स्कन्धो नवमः ।



१ " कर्मभक्तज्ञानभेदेन " पाठः ।

### स्कन्धो दशमः ।

प्र० १ अ० १. २. ३. ४.

अथ निबन्धोक्तदशमस्कन्धीयप्रकरणाध्यायविभागो लिख्यते । तत्र 'प्रपञ्च-  
विस्मृतिपूर्विका कृष्णासक्तिः निरोधः' इति सिद्धान्तितमिति निरोधे कारणं भगवत्वा-  
कटयम् । तस्मात्प्रथमं जन्मप्रकरणम् । तत्राध्यायचतुष्टयात्मकं चतुर्थैर्भगवतः प्राक-  
ट्यकथनात्, वासुदेवादिव्यूहानां प्रत्यध्यायं प्रादुर्भावकथनात् । भक्तदुःखस्य भग-  
वत्प्राकट्ये हेतुत्वात् हेतुता प्रथमाध्यायार्थः । उद्यमो द्वितीयाध्यायार्थः । रूपान्तर-  
स्वीकरणं तृतीयाध्यायार्थः । मायया नाटयं चतुर्थीध्यायार्थः । एवमध्यायचतुष्टया-  
र्थस्य जन्माकृत्वात् प्रकरणार्थं जन्मन्यनुस्पृत्तत्वं भविष्यति । एवमध्यायचतुष्टयेन  
जन्मप्रकरणं निरूपितम् ।

प्र० २ अ० ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११.

अतः परं व्यूहनवसाहितपुरुषोत्तमप्राकट्यस्य मधुरार्थां साधितत्वात् केवलस्य  
वासुदेवमायासाहित्येन प्राकट्यस्य श्रीगोकुले साधितत्वात् प्रादुर्भावानन्तरं निरोधः  
कर्तव्य इति निरोधप्रकृतानां तामसादिभेदेन त्रिविधत्वात्तमसानां निरोधः प्रमाण-  
भेदसाधनकठारा कार्यः । तत्र प्रमाणेन निरोधे सप्ताध्यायाः । अत्र प्रत्यध्यायं भगवत्प्र-  
रिते श्रीनन्दादिभिः प्रमाणान्वेषणमेव कृतमिति प्रमाणस्यैव मुख्यत्वादस्य प्रकरणस्य  
प्रमाणाख्या । तत्रैश्वर्यादिषट्धर्मोन्मत्तमधोर्भाविकप्रकटनेन यत्र निरोधः स एव तस्यार्थ  
इत्यध्यायपदके ऐश्वर्यादिषट्धर्मनिरूपणम् । सप्तमाध्याये ऐश्वर्यादिषट्धर्मसाहितार्थिणैव  
निरोध इति तन्निरूपणमेवाध्यायार्थः । तत्र प्रथमाध्याये ऐश्वर्यं स्पष्टम् । द्वितीयाध्याये  
पूतनामारणरूपं वीर्यं स्पष्टम् । तृतीयाध्याये शकटादीनां निर्वर्तकत्वं यत्र एव । आचारो-  
त्कर्षार्थायकसर्वजनाह्लादकत्वस्य यशोरूपत्वात्, तत्तृतीये स्पष्टम् । चतुर्थे श्रीः स्पष्टैव, ना-  
यकीकषया रिङ्गणलीलायाश्च सर्वाभाञ्जिवारकत्वात् । तत्तु गर्गवाक्ये 'अनेन सर्वदुर्गाणी'-  
त्यादौ स्पष्टमेवोक्तम् । पञ्चमैऽध्याये ज्ञानं स्पष्टमेव । 'न चान्तरं बहिर्भवे'तिदायोद्द-  
लीकष्यायं बन्धनेन बोधितं ब्रह्मत्वज्ञानम् । षष्ठे वैराग्यं, यमकाञ्चनयोर्मुक्तिदानेन स्वतः  
विषयानासक्त्युत्पादेनस्यैव वैराग्यकार्यत्वात् । सप्तमे षट्धर्मसाहितार्थिनिरूपणं स्पष्टमेव ।  
एवं प्रमाणप्रकरणे प्रमाणद्वारा पुरुषाणां श्रीनन्दादीनां निरोधः सिद्धः स्नेहरूपः  
सर्वतोषिकः ।

अतः प्रमाणद्वारासिद्धे प्रथमे वाकरूपे भगवति नन्दपुत्रे तत्तदमातुषलीकाकर्तृत्वं  
निश्चितमिति सकळदुःखनिवारणमाहारम्यद्वारा भगवति स्नेहो जातः ।

प्र० ३ अ० १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८.

अयुना प्रमेयमाहात्म्यद्वारैव श्रीमानुचरणादीनामासक्तिरूपो निरोधः सिद्धो भविष्यतीति प्रमेयत्वमस्य प्रकरणस्य । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः षडध्यायाः षट्धर्मनिरूपकाः, सप्तमाध्यायश्च धर्मिनिरूपकः । तत्र प्रथमेऽध्याये ऐश्वर्यनिरूपणं 'तं गौरजघरिते'ति श्लोकद्वयेन स्फुटम् । ततो द्वितीये कालीयदमेने वीर्यं स्फुटम् । ततस्तृतीये 'कुण्ठं हृद्यद्विष्कान्ताभि'ति अत्राधीष्टदानेन यथाः स्फुटमेव । ततश्चतुर्थे प्रकम्बवधेन कालदुःखनिवारणात् श्रीरेव । ततः पञ्चमे द्वात्रिंशतिपानयाहात्म्यद्वारा स्वस्वज्ञानसम्पादनं ज्ञानकार्यम् । ततः षष्ठे वर्षाशरहतुवर्गने कालस्यैव मुख्यत्ववोधनात् स्वस्य ताटस्थ्यादिराग्यभावात् । सप्तमेऽध्याये 'रसो वै सः रसः श्लेषां ऋचाऽऽनन्दीभवति' इति श्रुतिनिरूपितब्रह्मत्वस्य स्फुटीकरणद्वारेणुगीतानिरूपणेन धर्मिनिरूपणं स्फुटमेव । एवं सप्तभिरध्यायैः प्रमेयप्रकरणनिरूपणं कृतम्, प्रमेयद्वारा आसक्तिरूपो निरोधः सिद्धोऽत्र स्त्रीणां तत्तदधिकारानुसारेण ।

प्र० ४ अ० १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५

अतः परं ध्यसनसिद्धयर्थं साधनकृतिद्वारा कुमारिकादीनां निरोध-सिद्धिं वक्तुं साधनप्रकरणारम्भः । साधनकृतिद्वारा विरोधसिद्ध्याऽस्य प्रकरणस्य साधनत्वम् । दैहिकसकलधर्मत्यागपूर्वकभगवत्प्राप्त्यर्थं लौकिकवैदिककरणं व्यसनम् । अत्रापि पूर्ववदेव सप्ताध्यायाः । तत्र प्रथमे कुमारिकाभ्यो व्रतवरदानम् ईश्वरधर्म इति ऐश्वर्यनिरूपणं स्पष्टमेव । द्वितीये यङ्गवतीप्रसङ्गे च माहात्म्यनिरूपणं वीर्यकार्यमेवेति वीर्यनिरूपणं स्पष्टमेव । बोधनादिना वीर्येण लीळा बोध्या । तृतीये वैष्णवप्रागकरणप्राप्त्यर्थो निरूपणं स्पष्टमेव । चतुर्थे गोवर्धनोद्धरणं श्रीकार्यम्, सर्वाधिभारकत्वात् । पञ्चमे आशङ्कानिवारणं 'गगौ मे यदुवाच ह' (१०-२३-१५) इत्यादिना कृतं स्पष्टमेव ज्ञानकार्यम् । षष्ठे इन्द्रभद्रत्याजने स्पष्टमेव वैराग्यकार्यम् । सप्तमे गोकुळनिवासिनां त्रैकुण्डमाप्तिस्तु उद्धृतिश्च भजनानन्ददानार्थमिति स्फुटमेव धर्मिकार्यम् । एवं साधनप्रकरणे साधनप्रकरणद्वारा कुमारिकादीनां व्यसनरूपो विरोधः सिद्धः ।

अतः परं साधने कृते भक्त्युद्रेकानन्तरं प्राप्यवद्गुणयुतपूर्णभगवद्भक्तफलनिरूपणादस्य फलप्रकरणत्वम् ।

प्र० ५ अ० २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२.

अत्रापि सप्तभिरध्यायैर्निरूपणम् । क्रमस्तु ऐश्वर्यादीनां न विवक्षितः, पुष्टिफलत्वात् क्रमातिक्रमो न दोषाय । किन्तु, मध्ये भोगे सुखविशेषोपि । अत्र रमणत्वं फलं

देयमिति रमणस्य रूपनामविभेदेन द्विरूपत्वात् । रूपेण रमणे पञ्चाध्यायाः । आत्मन-इन्द्रियप्राणशरीरात्मकत्वाद् रूपस्य । नाम्ना रमणेऽध्यायद्वयम्, ऋद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन द्विरूपत्वात् । तत्र प्रथमेऽध्याये ऐश्वर्यनिरूपणम्, ऐश्वर्यं नाम स्वातन्त्र्यम् । कर्तुमकर्तु-मन्यमाकर्तुं सामर्थ्यमिति यावत् । तत्र नाद्वाराऽऽह्वानं कृत्वा वाच्यद्वारा गृह्यमनाय प्रेरणं कर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम् । भगवद्वाक्येन गृह्यमनं न कृतमित्यपि भगवतोऽङ्गुली सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम् । तदन्तर्तं गेवं अन्तर्भोगम् इति अन्वयाकर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यम् । एवं प्रथमे विविधमैश्वर्यं स्फुटम् । द्वितीये 'पुरोसोपि रतिं चक्रे' इति वीर्यम् । तृतीये स्तुतिवचनैश्वर्यः स्फुटमेव । चतुर्थे प्रादुर्भावनिरूपणेन श्रीः स्पष्टैव । तदन्तर्तं धर्मिनिरूपणं पञ्चमे । अत्र प्रादुर्भावरूपश्रीनिरूपणानन्तरं रमणस्यावश्यं कृत्वा द्विराग्यज्ञानयोस्तु रमणप्रतिबन्धकत्वात्पूर्वैर्निरूपणम् । पुष्टिप्रागीर्थवैराग्यस्य भगवत्प्रतित्यागरूपत्वाद् भगवत्स्वरूपफलप्राप्त्यनन्तरमेव भगवत् पुष्टिफलज्ञानेन भगवद्विदितरत्वागसम्भवात् । पुष्टिप्रागीर्थज्ञानस्यापि गुणगानरूपत्वात् प्रादुर्भावदशायां तस्यासम्भवात् । संयोगान्तरायविरहदशायामेव सम्भवात् पूर्वमनिरूपणम् । षष्ठे वैराग्यनिरूपणं स्पष्टमेवान्वाश्रयनिवृत्तिरूपम् । ततो ज्ञाननिरूपणं सप्तमे स्पष्टमेव विरहदशायाम् । एवं सप्तभिरध्यायैः फलप्रकरणं निरूपितम् । एवं अष्टाविंशतिभिरध्यायैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलनिरूपणद्वारा तामसभक्तानां गोकुलस्थानां फलपर्यन्तं निरोधः सिद्धः ।

प्र० ६ अ० ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९.

अतः परं राजसभक्तानां निरोधकरणार्थं राजसप्रकरणारम्भः ।

अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । प्रमाणप्रमेयसाधनफलद्वारा निरोधः कर्तव्य इति सप्तभिरध्यायैः प्रमाणप्रकरणमुच्यते । अत्रापि षडध्यायाः षट्धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मनिरूपकः । प्रमाणांश्वेषणद्वारा भगवच्चरित्रे भगवति च बुद्धिः सिद्धाऽतोऽस्य प्रमाणत्वम् । तत्र प्रथमेऽध्याये भगवतः स्वतन्त्रतानिरूपणादैश्वर्यं स्पष्टमेव । द्वितीये दुष्टप्रारणात् वीर्यं स्फुटमेव । तृतीयेऽक्रूरस्य व्रजगमने भगवत्माहात्म्यज्ञानाद्यशःकार्यं स्पष्टमेव । चतुर्थे भक्तानां विरहोद्यकत्वात्प्रान्तःकरणे भगवत्प्रादुर्भूतस्य श्रीकार्यं स्फुटमेव । प्राणयानरूपाधिभारकत्वात् पञ्चमे ज्ञानकार्यं स्फुटमेव । षष्ठे अक्रूरस्य गृह्यमणेनोपेसाकृत्वाद् द्विराग्यकार्यं स्फुटमेव । सप्तमे पशुभेङ्गकराणादिना धर्मिकार्यं स्फुटम् । एवं प्रमाणद्वारा वस्तुदेवपुत्रत्वब्रह्मत्वादिर्कं ध्याद्धानां प्रमितिविषयो कृतम् ।

प्र० ७ अ० ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६.

अतः परं प्रमाणैः प्रमितिविषयीभूतमपेक्षरूपभगवत्कलबोधकत्वात् प्रमेयप्रकरणत्वमस्य । अत्रापि सप्तभिरध्यायैर्निरूपणम् । षडध्याया धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मनिरूप-

पकः । तत्र प्रथमे कुवलयपापीडवधरूपैर्धर्म्यम् । द्वितीये चाणूरादिवधकंसवधरूपैर्धीर्यम् । तृतीये उग्रसेनाय राज्यदानं यशः । चतुर्थे गोकुलस्थापनभिवारकोयोगरूपं श्रीकार्यम् । पञ्चमे 'भगवतीनां वियोगो वै' इत्यादिना ज्ञानकार्यम् । षष्ठे कुब्जाकूरादिग्रहगणनं भक्तकृपापञ्चरूपं तदतिरिक्तासत्त्वभावरूपं वैराग्यम् । सप्तमे घृताश्रोःकूरोपदिष्टोपि पाण्डवसर्पणं न कृतवान् । इदं भूभारहरणमूलत्वाद् धर्मिकार्यम् ।

अत्र पूर्वार्धे प्रमेयप्रकरणं च समाप्तम् ।

प्र० ८ अ० ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३.

अतः परं दुःखनिवारकत्वेन भगवत्येकतान्त्वमेव साधनम्, तद्वारा निरोधः सिद्ध इति साधनत्वमस्य प्रकरणस्य । अत्रापि सप्तभिरध्यायैः पूर्ववदेव निरूपणम् ।

तत्र प्रथमे, जरासन्धपञ्चानादिकैर्मन्त्र्यकार्येभ्यः द्वारकानिर्माणानि च । द्वितीये, मुचुकुन्दद्वारा यवनहननं साधनमात्रोपदेशद्वारा मुचुकुन्दोद्धारकरणं च वीर्यमेव । तृतीये यशःकार्यं स्फुटमेव, 'श्रुत्वा गुणानि'त्यादिरुक्तिमणीस्तुत्या यशोनिरूपकत्वात्। चतुर्थे, रुक्मिण्याहरणेन अन्यसम्बन्धरूपापञ्चिवारकत्वात् श्रीकार्यम् । पञ्चमे, रुक्मिणिरूपकरणानन्तरं श्रीवलदेवद्वारा रुक्मिणीं प्रति ज्ञानोपदेशवाक्यानि ज्ञानकार्यरूपाणि । षष्ठे, प्रद्युम्नदर्शनानन्तरं तत्रैव मनो लयं, संसारे च विरक्तं जातमिति वैराग्यम् । सप्तमे; जाम्बुवता युद्धं, मणिदानं, धर्मिकार्यैर्निरूपणम्, अग्रे स्पष्टम् ।

प्र० ९ अ० ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०.

अतः परं फलप्रकरणं तदधिकारिभेदेन तत्फलनिरूपकत्वात् फलत्वमस्य प्रकरणस्य । अत्रापि पूर्ववदेव सप्तध्यायाः । तत्र प्रथमे, ऐश्वर्यं शतधन्ववधादिकार्यम् । द्वितीये, विश्वकर्मणा नगरनिर्माणं मित्रविन्दारहरणादिकं वीर्यम् । तृतीये, मौपवधानन्तरं भूमिस्तुत्या अभयदानं यश एव । चतुर्थे, भगवतो रुक्मिणीं प्रति परिहासोचयनन्तरं सान्त्वनम्, त्रियत्यायभयरूपापञ्चिवारकत्वात् । ( त्रियत्यायभयेन प्राणगमनरूपापदो निवारकं श्रीकार्यम् ) । पञ्चमे, भगवत्पत्न्यः रमणकर्तुर्भगवतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणेन ज्ञानम् । षष्ठे, अनिरुद्धबन्धने ( नयने ) प्रतीकाराकरणं वैराग्यम् । सप्तमे, धर्मिनिरूपणं बाणभुजकृतनं वरदानादिना स्पष्टम् । एवमष्टाविंशतिभिरध्यायैः राजसप्रकरणं निरूपितम् ।

१ प्रद्युम्नदर्शनानन्तरं शरंघेन ततोऽपि नीत्या समुद्रे प्रविष्टोऽपि काशरूपेण वर्षकोष्णमण्डलैस्तुत्या एतोरपि विलसणं, तदानन्तरं यमुपमासात्त वैराग्यकार्यम् । ( इत्यधिकम् )

प्र० १० अ० ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७.

अतः परं सात्विकभक्तानां निरोधार्थं सात्विकप्रकरणम् । सात्विकानां प्रमेयसाधनफलद्वारा निरोधः सिद्धः । प्रमाथानां तु स्वाभाविकमेव । सात्विकानां 'सत्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' इतिवाक्यात् । प्रमेयनिरूपणं सप्तभिरध्यायैः क्रियते । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । तत्र प्रथमे, नृगमोक्षदिकं ऐश्वर्यकार्यं स्पष्टमेव । द्वितीये, यमुनाकर्षणादिना आवेशितत्वात् स्पष्टमेव वीर्यम् । तृतीये, यशःकार्यं पौण्ड्रकस्य स्ववेशधारकस्यापि श्रुक्तिदानात् फलकथनात् । चतुर्थे, बलदेवक्रीडा श्रीकार्यम्, रमणेन भक्तानां द्विदिवधनेन ऋषीणां चापञ्चिवारकत्वात् । पञ्चमे, गुरुणा स्वरूपज्ञानसम्पादनद्वारा ज्ञानकार्यम् । अग्रे स्पष्टम् । षष्ठे, नारदस्य निर्लिप्तया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणप्रदर्शनं वैराग्यम् । सप्तमे, प्रावक्तृत्वानादि, स्वानादि, दानादि, सभाप्रवेशराजकार्यकरणदिकं धर्मिकार्यं स्फुटमेव ।

प्र० ११ अ० ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४.

अधुना, साधनप्रकरणम् । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । साधनमर्षोदाबोधकत्वात्साधनत्वमस्य प्रकरणस्य । प्रथमे, सर्वतैत्न्यहाहिलेन हस्तिनापुरगमनम्, तत्र गतस्य युधिष्ठिरादिभिः एजादिकरणम् ऐश्वर्यम् । द्वितीये, युधिष्ठिरस्य दिग्भ्रजयादिकम्, भीमद्वारा जरासन्धवधादिकं वीर्यम् । तृतीये, जरासन्धकूद्राज्ञां मोचनं, तल्लतस्तुत्या च यशःकार्यम् । चतुर्थे, शिशुपालवधेन तस्य शापरूपापञ्चिवारकत्वान्श्रुक्तिदानम् श्रीकार्यम् । पञ्चमे, युयोधिसस्य जलस्थलभ्रमे भीमादिहास्यं दृष्ट्वा भूभारहरणं भविष्यतीति ज्ञात्वा भगवतस्तूर्णोभावा ज्ञानकार्यम् । षष्ठे, शाल्वयुद्धे प्रद्युम्नस्य सारथिनाऽपसर्पणे कृते युद्धे भरणमधिकं मन्यमानस्य युद्धापसर्पणस्य शरीररक्षाहेतुत्वात्तस्मिन्नेन शरीरादौ विचिकित्सा एव वैराग्यकार्यम् । सप्तमे, शाल्ववधादिना धर्मिकार्यं स्फुटमेव ।

प्र० १२ अ० ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१.

अतः परं सात्विकानां फलप्रकरणं सप्तभिरध्यायैर्निरूप्यते । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । प्रथमे दन्तवक्त्रवधादिचरित्रगैश्वर्यम् । बलदेवेन शतवधादि, पुनस्तस्य स्थापनं च ब्रह्मशापान्मोचनम् अन्यथाकृतुं सामर्थ्यम् । द्वितीये बल्लवधवादिर्कं वीर्यम्, आवेशकार्यत्वात् । तृतीये, युद्धान्मो दुरिद्रस्य लक्ष्मीसहितेन सत्कारकरणं यश एव । चतुर्थे, एकश्रुतिन्दुलादनमात्रेण सर्वसम्पदानं श्रुक्तिदानं च श्रीकार्यम् । पञ्चमे, कुरुक्षेत्रयात्रायां भक्तान् प्रति रहसि भगवतो ज्ञानोपदेशवा-

क्यानि ज्ञानकार्यम् । षष्ठे, भगवन्महिषीवाक्ये भगवद्दास्यप्रार्थनायां संसारे वैराग्यबोधनं भगवत एव वैराग्यकार्यम् । सप्तमे, भगवद्दर्शनायै द्वैपायनादीनाम् ऋषीणामागमनम्, तान्प्रति भगवद्द्व्यानादिकं धर्मिकार्यम् ।

प्र० १३ अ० ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७.

अतः परं येनैतादृशं चरितं कृतं स कृष्णः परो भगवानिति निरूपयितुं षडभिरध्यायैर्गुणनिरूपणं क्रियते । तत्र प्रथमे, वसुदेवस्तुतिः, उपदेश-देवकीपुत्रानयनादि पेश्यम् । द्वितीये वीर्यं द्विविधम्, बुद्धिक्रियाभेदेन । तत्रा-शुनेन सुमद्राहणादिकं कृतम्, तत्र प्रतिबन्धामावोऽनिन्द्यत्वं च भगवद्बुद्धिवीर्यम् । श्रुतदेवजनकयोर्मक्तिदानमेककालावच्छेदेनैकस्वरूप एव तद्विष्टया द्विरूपोद्दि-ति क्रिया वीर्यम्, तृतीये श्रुतिगीतायां यशः स्फुटमेव । चतुर्थे श्रीकार्यं शङ्कराप-भिवारकत्वात् । पञ्चमे श्रुयुषीश्लायं लज्जामहाराजानन्तरं क्षमैव ज्ञानकार्यम् । षष्ठे, वैराग्यकार्यं स्फुटमेव, श्लोभिः सह जलक्रीडायां मनस्तिरोधानं लोकशिक्षार्थमेता-वद्ग्रहस्य धर्माचरणं च वैराग्यम् ।

एवं सप्ताशीतिभिरध्यायैर्दशमस्कन्धप्रकरणविभागः ॥

### स्कन्ध एकादशः ।

अतः परं भक्तिसिद्ध्यनन्तरं स्वरूपाप्तिरूपा मुक्तिनिरूपणीया, सा चैकादशे निरूप्यते । तत्र प्रकरणविभागः । जीवमुक्तिप्रकरणं ब्रह्ममुक्तिप्रकरणं च । अत्र जीवमुक्तिः ब्रह्ममुक्तिश्च निरूपणीया ।

अ० १, २, ३, ४, ५.

जीवन्मुक्तिप्रकरणे ब्रह्मभावप्रकरणम् । तत्र जीवमुक्तिर्द्विविधा, ब्रह्मभाव-सायुज्यभेदेन, तत्र पूर्वं ब्रह्मभावप्रकरणम्, तस्य पञ्चभिरध्यायैर्निरूपणम् । विद्याया ब्रह्मभाव इति विद्यायाः कारणत्वात्, विद्यायाः पञ्चपर्वीणि निरूपितानि पञ्चस्वध्यायेषु तस्मात्पञ्चधाध्यायाः ब्रह्मभावप्रकरणे । तत्र प्रथमे, वैराग्यनिरूपणम्, ब्राह्मणशापस्य वैराग्योत्पादकत्वात् । द्वितीये, साङ्ख्यनिरूपणम्, कविवाक्येन 'भयं द्वितीयाभिर्निवेशतः स्याद् ११-२-३' इत्यादिवाक्येन निराकरणद्वारा भगवद्भयबोधनस्य तत्त्वात्त्वविधे-करूपसाङ्ख्यत्वात् । तृतीये, योगनिरूपणम्, प्रबुद्धवाक्ये गुरुरूपसचिद्वारा भगवद्भय-शिक्षणं 'सर्वतो मनसोसङ्गति'त्यादिना । ११-२-२३ चिचवृत्तिनिरोधरूपयोगस्योक्त-

१ "श्रीगं भगवद्विदे मानवेऽतिविहते रूपम्" इत्यधिकम् ।

त्वात् । चतुर्थे, नारायणतपोनिरूपणेन अन्यावतारचरित्रनिरूपणेनापि चिचकपायशो-पकरूपतपोस्य निरूपणम् । पञ्चमे, भगवद्भजनाकर्तृनिन्दयाग्रे भगवद्भजनकरणनिरूपणं भक्तिः । एवं पञ्चपर्वीविद्यासिद्ध्या पञ्चपर्वीविद्यानिष्ठ्या ब्रह्मभावरूपमुक्तिसिद्धिः ।

सायुज्यप्रकरणम्, अ० ६ मारभ्य २९ पर्यन्तम् ।

जीवन्मुक्तिप्रकरणे सायुज्यप्रकरणम्, सायुज्यस्य भक्तिकारणत्वाद् भक्ति-सिद्धौ च तत्त्वातिक्रमस्य कारणत्वात्, तत्त्वानां चतुर्विंशतिसङ्ख्याकत्वात्तदति-क्रमबोधनार्थं चतुर्विंशतिभिरध्यायैः सायुज्यप्रकरणनिरूपणम् । तत्र सायुज्य-प्रकरणे प्रथमेऽध्याये मूलप्रकृतिनाशो निरूपितः । ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवद्वाक्योक्तौ यदुक्त्वसंहारबोधनेन मनुष्यनाश्वत्यागबोधनेन प्रकृतिनाशस्य प्रती-तत्वात् । द्वितीये 'यदिदमनसे'त्यादिना उद्धवं प्रति निरूपितं पुंसो ( युक्तस्य ) नानार्थं इत्यादिना भेदस्य अमत्वमुक्तम् । अग्रे 'तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामं' इत्यादिना-स्माधिकरणकजगदीक्षणनिरूपणेन भेदस्य निराकृतत्वान्महत्त्वस्य भेदमूलत्वात् तत्राशो निरूपितः । अत्र तत्त्वातिक्रमे क्रमो न विवक्षित इति यस्मिन्स्मिन्नध्याये यस्य यस्य तत्त्वस्य नाशः प्रतीयते तस्मिन् तस्मिन् अध्याये तत्त्वत्त्वातिक्रम एवा-ध्यायायो वाच्यः । एवं चतुर्विंशत्यध्यायैः सायुज्यप्रकरणं निरूपितम् ।

अग्रे अध्यायद्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणम् । तत्राऽहन्ताममतारूपमनुष्यना-श्वत्यागस्य मोचनरूपत्वान्मुक्तिरूपत्वम् । अहन्ताममतानाशकत्वादस्य प्रकरणस्याध्या-यद्वयेन निरूपणम् । एवमेकत्रिंशद्विरध्यायैरेकादशस्कन्धस्य प्रकरणविभागः कृतः । एकोनत्रिंशद्विर्जीवमुक्तिनिरूपणम् । द्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणं पूर्वोक्तरीत्येति ।

### स्कन्धो द्वादशः ।

५० १	प्र० २	प्र० ३	प्र० ४	प्र० ५
अ० ३	अ० २ १/२	अ० १ १/२	अ० ३	अ० ३
कृष्णाश्रयः	जगदाश्रयः	वेदाश्रयः	भक्तिमार्गाश्रयः	भागवताश्रयः

अतः परं मुक्तानामाश्रयः कृष्ण इति शुक्ल्यनन्तरमाश्रयनिरूपणं द्वादशस्कन्धे क्रियते । तत्रैवं प्रकरणविभागः । आश्रयस्य पञ्चविधत्वात्पञ्चप्रकर-णानि, कृष्णाश्रयजगदाश्रयवेदाश्रयभक्तिमार्गाश्रयभागवताश्रयाख्यानि । आश्रयस्य पञ्चविधत्वं द्वितीयस्कन्धे उक्तम् । तथा हि, 'दशमस्य विशुद्धयर्थमित्यत्र २-१०-२

१ "अन्येव" पाठः ।

निरूपितं नवलक्षणलक्षत्वमेकम्, तत्रैवा“भासत्र निरोधश्च” २-१०-७ इत्यादिरूपे जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्तृत्वरूपं द्वितीयम् । तत्रैवाग्रे त्रितयं तृतीयं तत्र यो वेदेति । २-१०-९ अध्यात्मिकादिव्रितयत्वात् तृतीयम् । अग्रे स आत्मा ‘स्वाश्रयाश्रय’ २-१०-९ इत्यत्राश्रयपदद्वयेन लक्षणद्वयं प्राप्यते, स्वस्य पुरुषोत्तमस्वाश्रयोऽर्शं ब्रह्म । नवलक्षणाश्रयत्वेनाश्रयरूपं तृतीयम् । तस्याप्याश्रयः कृष्ण इति पञ्चविधत्वम् । एवं च नवलक्षणलक्षस्यै अश्रुरे दक्षलोलोयुतत्वं च पुरुषोत्तमे अश्रुरूपेण भवनमपि लीलेति आश्रयपदवाच्यस्याश्रुरस्यापि लीलात्वमुच्यते । अन्यथा ‘स्वाश्रय’ इत्यनेनेव चारितार्थ्ये द्वितीयमाश्रयपदं लक्षणेऽनर्थकं स्यात् । ‘नवलक्षणलक्षयो हि कृष्ण’ इत्यत्राश्रयस्य पुरुषोत्तमामिभ्रत्वेन तथानिरूपणम् । एवं पञ्चविधत्वमाश्रयस्य ।

तत्र त्रिभिर्ध्यायैः कृष्णाश्रयप्रकरणं निरूप्यते । तत्र प्रथमं अन्यनिषेधमुखेनाश्रयस्य निरूपणीयत्वात् । लोकनाशधर्मनाशनिरूपणमुखेन स्वतन्त्रतया निरूपणेन च त्रिभिर्निरूपणम् । अग्रे विधिमुखेन निरूपणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वनिरूपणमुखेन निरूपणम् । तत्र रूपनामविभेदेन जगतो द्विविधत्वाज्जगदाश्रयनिरूपणेऽध्यायद्वयम् । षष्ठाध्यायपूर्वार्द्धस्य ज्ञानाङ्गत्वाद्देहलीदीपन्यायेन जगदाश्रयवेदाश्रयप्रकरणोभयाङ्गत्वादुभयत्रान्वेति । तसाज्जगदाश्रये सार्द्धाध्यायद्वयम् । अग्रे वेदशाखाविभागकथनेन वेदाश्रयनिरूपणम् । तत्र वेदस्य पञ्चविधत्वविभेदेन द्विविधत्वाद्देहलीदीपन्यायेन अङ्गत्वात् षष्ठाध्यायपूर्वार्द्धस्य तत्सहितसार्द्धाध्यायेन निरूपणम् । तथा च, त्रिभिः कृष्णाश्रयनिरूपणम् । सार्द्धाध्यायद्वयेन जगदाश्रयस्य निरूपणम् । सार्द्धेन वेदाश्रयस्य निरूपणम् । एवं सप्तभिर्ध्यायैर्नवलक्षणलक्षत्वजगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वोभयलक्षणकाश्रयो निरूपितः । अतः परं त्रिभिर्मक्तिमार्गकथनेन भक्तिमार्गाश्रय आश्रयो निरूपितः, कर्ममार्गाधोपासनमार्गाश्रयभक्तिमार्गीयभेदेन तस्य त्रिविधत्वात् । अग्रे त्रिभिर्मार्गवतमार्गनिरूपणेन भागवताश्रयकथनम् । भौतिकादिभेदेन तस्य त्रिविधत्वात् । एवं षड्भिक्षितयज्ञानुत्वाश्रयपुरुषोत्तमरूपाश्रयनिरूपणम् । एवं त्रयोदशाध्यायैराश्रयलीलाया निरूपणं ब्रह्मसकन्धे कृतम् ॥

इति गौडीशास्त्रामचन्द्रमन्त्रालमजधनव्यामभद्रकृता श्रीभागवतार्थ-

निबन्धानुसारिणी श्रीभागवतशास्त्रसकन्धप्रकरणार्थाध्यायानां

**विभागसूचिका**

समाप्ता ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

**श्रीभागवतार्थनिबन्धानुसारी**  
**श्रीगोकुलरायकृतोऽध्यायार्थः ।**

श्रीकृष्णाय नमः । अथ श्रीभागवते निबन्धानुसारेण प्रथमादिस्कन्धानामध्यायार्था लिख्यन्ते । प्रथमस्कन्धे । हीनाधिकारप्रकरणे प्रश्ननिरूपणमुखेन श्रोतुर्जिज्ञासुत्वस्य वक्तुः सम्प्रदायेन सन्मुखाच्च ह्युतभागवतत्वस्य च निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

हीनाधिकारप्रकरणे कर्मज्ञानप्रशयोर्हृत्तरेण भगवदवतारप्रयोजनलीलाप्रशयोश्चोत्तरेण श्रोतुरमात्सर्यस्य वक्तुश्चातुर्यस्य च निरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

हीनाधिकारप्रकरणे रूपात्मकानां भगवदवतारानां निरूपणेन च श्रोतुः श्रवणादरवचस्य वक्तुर्गुह्यज्ञानस्य निरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे प्रेरणहेतुभूतप्रसङ्गनिरूपणेन व्यासे भगवन्मनोविचारितभगवदीयत्वनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे उत्तरस्य कृतेश्च निरूपणेन व्यास-  
नारदयोः साधनरूपभगवच्छरीरसम्पादितभगवदीयत्वनिरूपणं  
पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

मध्याधिकारप्रकरणे नारदस्य फलनिरूपणेन नारदे भगव-  
द्वाचिकभगवदीयत्वनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणेऽर्जुनै परतो दुःखनिवारणेन भगवतः  
परमकृपानिरूपणेन परीक्षित्यधिकारिणि पुरुवपारम्पर्यकृतदोषा-  
भावनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे कुन्तीस्तुतिनिरूपणेन कुन्त्यां ब्रह्म-  
स्वरूपाज्ञानजदुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन  
स्त्रीपारम्पर्यकृतदोषाभावनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे युधिष्ठिरे भीष्मोपदेशेन जीवस्वरूपा-  
ज्ञानजनितदुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन पोषकान्न-  
शुद्धिनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे सम्बन्धिनां भीमादीनां भगवत्परता-  
पुरःसरमध्यायारम्भे सामान्यतः सुखप्राप्तिनिरूपणेन भगवतः  
परमकृपानिरूपणेन सांसर्गिकदोषाभावनिरूपणं दशमेऽध्याये १०

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवतः कार्यसमाप्त्या सुखस्थित्या  
पार्थैष्वपि भगवत्सुखेनैव सुखप्राप्त्याऽऽगन्तुकदोषाभावनिरू-  
पणमेकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवद्रक्षितपुत्रसम्पत्त्या पार्थेषु विशे-  
षेण सुखप्राप्त्याऽधिकारिणि स्वतः कालतश्च परमकृपानिरूपणं  
द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे धृतराष्ट्रमुक्त्या बीजमुक्तिनिरूपणं त्रयो-  
दशेऽध्याये ॥ १३ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे बीजमुक्तिकार्यभूतपाण्डवनिर्गमहेतुभूत-  
वैराग्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे वैराग्यनिर्गमनफलीभूतपाण्डवमुक्ति-  
निरूपणं पञ्चदशेऽध्याये, अधिकारिणः पूर्वजकृतप्रतिबन्धाभावाय  
तन्मुक्तिनिरूपणम् ॥ १५ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षित्वाज्यनिरूपणे सर्वपृथ्वीजयेन  
लौकिकसामर्थ्यनिरूपणं षोडशेऽध्यायः ॥ १६ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षित्वाज्यनिरूपणे धरणीधर्मयोरर्थे  
कलिनिग्रहकथनेनालौकिकसामर्थ्यनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये,  
लौकिकालौकिकसामर्थ्येन कालप्रतिबन्धानिवृत्तिः ॥ १७ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्यागकारणीभूतवैराग्य-  
हेतुभूतशापनिरूपणेन धर्मोन्नतिनिरूपणमष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्यागसत्सङ्गसम्पत्तौ  
प्रश्रान्ताधिकारनिरूपणमेकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

इति अधिकारनिरूपणे प्रथमस्कन्धः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयस्कन्धे तत्त्वध्यानप्रकरणे स्थूलध्याननिरूपणं  
प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

तत्त्वध्यानप्रकरणे सूक्ष्मध्याननिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

हृत्प्रसादप्रकरणे श्रोत्रश्रद्धानिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

हृत्प्रसादप्रकरणे वक्तृश्रद्धानिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे चतुर्दशलोकरचनार्थं अनित्यानां महदादिब्रह्माण्डहेतुरूपाणां जनननिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे परिच्छिन्नानां जीवानां नित्यानां ब्रह्माण्डे तत्तत्स्थानेषु समागमनिरूपणं पुरुषसूक्तार्थकथनेन जीवानां सर्वफलसाधकभगवद्भजननिरूपणं च षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

उत्पत्तितो विमर्शप्रकरणे मूलभक्त्या भजनसिद्धयर्थं नित्या-  
परिच्छिन्नस्य भगवतः प्राकट्यनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे उक्तेऽर्थे अनुपपत्तिरूपाऽऽशङ्का-  
निरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे जीवब्रह्मणोर्देहसम्बन्धे जातशङ्का-  
परिहारकथनेन उत्तरनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

उपपत्तितो विमर्शप्रकरणे शङ्कोक्षराभ्यां सिद्धस्य फलस्य  
श्रीभागवतश्रवणकर्तव्यतारूपस्य निरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

इति श्रवणाङ्गनिरूपणे द्वितीयस्कन्धः ॥ २ ॥

अथ तृतीयस्कन्धे । अधिकारप्रकरणे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं  
तीर्थसेवया बाह्यशुद्धिनिरूपणं सत्सङ्गप्रीत्या भगवत्प्रश्रवण-  
करणनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

अधिकारप्रकरणे भगवत्कथाश्रुत्या कृताऽऽर्थिकभगव-  
न्माहात्म्यज्ञानेन आभ्यन्तरशुद्धिनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

अधिकारप्रकरणे केवलचरित्रश्रवणेनान्तरज्ञानरूपभगवद्गुण-  
प्रादुर्भावनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

अधिकारप्रकरणे भगवत्प्रयाणसमयेऽधिकारिणि उद्ध्वे  
विद्यमाने अविद्यमाने विदुरे च भगवत्प्रसादनिरूपणं विदुरमैत्रेय-  
समागमनिरूपणं च चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतसृष्टिप्रकरणे ब्रह्माण्डकारणी-  
भूतमहदादितत्त्वोत्पत्तिस्तुतिनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतसृष्टिप्रकरणे तत्त्वकार्यभूत-  
ब्रह्माण्डशरीरोत्पत्तिवर्णिनां कर्मनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणे शङ्कोक्षरनिरूपणेन  
सृष्टिभगवतोर्गन्धे मतान्तरभाषया गुणप्रवेशनिरूपणं सप्तमेऽ-  
ध्याये ॥ ७ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणे सगुणाद् ब्रह्मणो  
जगत्कारणरूपहृदिजातभगवद्दर्शनचतुर्मुखब्रह्मोत्पत्तिनिरूपणं  
अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतसगुणसृष्टिप्रकरणेऽवश्यंभाविजग-  
दुत्पत्तिफलकब्रह्मस्तोत्रनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतकालसृष्टिप्रकरणे दशविधसर्गेरूप-  
कार्यतः कालजन्मनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतकालसृष्टिप्रकरणे परमाण्वादिद्विपरा-  
र्धान्तकालोपाधिवशात् कालजन्मनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे लोकातीतलौकिक-  
मुक्तजीवसृष्टिनिरूपणं तच्छेषभूतनामसृष्टिनिरूपणं च द्वादशेऽ-  
ध्याये ॥ १२ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे सर्वतत्त्वाधारभूत-  
भृशुद्धारार्थं वराहकल्पकथनेन मुक्तजीवोत्पत्तौ सङ्क्षेपत  
उपपत्तिनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

अग्रिमैः पद्भिः विस्तरेणोपपत्तिकथनं जन्ममरणात्मक-  
संसारकथनं च ।

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे सन्ध्यायां कामेन आसुरबीजजनन-  
निरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे ब्रह्मशापेन वैकुण्ठस्थयोरासुरबीजे  
समागमनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे भगवद्वाक्येन ब्राह्मणसान्त्वनजय-  
विजयपातनेन तत्र भगवाद्भृत्यावेशनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे अतिशयितोत्कर्षकथनेन नाश-  
बीजनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यस्य भगवता सह युद्धकथनेन  
विनश्यत्तानिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानामुत्पत्तौ  
विस्तरेणोपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यविनाशनिरूपणं एकोनविंशेऽ  
ध्याये ॥ १९ ॥

इति बन्धसृष्टिप्रकरणम् ।

मोक्षसृष्टिप्रकरणे नवभेदभिन्नैर्गुण्यनिर्गुण्यवस्थारूपज्ञान-  
भगवच्चिन्तात्मकस्वभावभेदद्वयनिरूपणेन मोक्षोपपत्तिनिरूपणं  
विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-  
कथनप्रस्तावे कर्दमस्य मनोश्च धर्मसिद्धिनिरूपणं एकविंशेऽ-  
ध्याये ॥ २१ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-  
कथनप्रस्तावे ऐहिकामुष्मिकोत्कर्षयुक्तस्य मनोः कन्यालाभेन  
कर्दमस्यार्थसिद्धिनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-  
कथनप्रस्तावे कर्दमस्य कामसिद्धिनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गततत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुतमुक्ति-  
कथनप्रस्तावे कर्दमस्य साङ्ख्यफलरूपमोक्षनिरूपणं चतुर्विंशेऽ-  
ध्याये ॥ २४ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे कालस्य मुक्तिलीलारूपमुख्यभक्तिनिरूपणं  
पञ्चविंशेऽध्याये ॥ २५ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतमुक्तिप्रकरणे साङ्ख्येन  
उत्पत्त्या उपपत्त्या चात्मनः सर्वभिन्नत्वनिरूपणं षड्विंशेऽ-  
ध्याये ॥ २६ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतगुणातीतमुक्तिलीलाप्रकरणे साङ्ख्येन  
ज्ञानतत्साधनोपपत्तीनां निरूपणं सप्तविंशेऽध्याये ॥ २७ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सगुणमुक्तिलीलारूपसाधनाष्टाङ्गयोग-  
निरूपणं अष्टाविंशेऽध्याये ॥ २८ ॥



मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवमुक्तिप्रकरणे सर्वसाधनरूप-  
चतुर्विधभक्तिवैराग्यहेतुभयहेतोः कालस्य माहात्म्यनिरूपणं  
ऊनत्रिंशोऽध्याये ॥ २९ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवमुक्तिप्रकरणे भयहेतुकवैराग्य-  
बोधकमृत्युना दोषनिरूपणं त्रिंशोऽध्याये ॥ ३० ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गतजीवमुक्तिप्रकरणे भयहेतुकवैराग्य-  
बोधकजन्मना दोषनिरूपणं एकत्रिंशोऽध्याये ॥ ३१ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्वशेषसर्वनिर्धारणं द्वात्रिंशोऽध्याये ॥ ३२ ॥

मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्गफलबोधकयोगफलात्मकदेवहृतिमोक्ष-  
निरूपणं त्रयस्त्रिंशोऽध्याये ॥ ३३ ॥

॥ इति सर्गनिरूपणे तृतीयस्कन्धः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थस्कन्धः । धर्मप्रकरणे सतीसम्बन्धरूपानर्थप्रसङ्ग-  
निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

धर्मप्रकरणे प्रसङ्गस्य कार्यभूतशापकथारूपानर्थहेतुनिरूपणं  
द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

धर्मप्रकरणे द्वेषस्थिरीकरणरूपानर्थसम्भूतिनिरूपणं तृतीयेऽ-  
ध्याये ॥ ३ ॥

धर्मप्रकरणे सतीमरणरूपद्वेषावान्तरव्यापारनिरूपणं चतुर्थेऽ-  
ध्याये ॥ ४ ॥

धर्मप्रकरणेऽनर्थफलरूपयज्ञनाशनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

धर्मप्रकरणे रुद्रभागकल्पनेन रुद्रानुनयरूपयज्ञसिद्धिपूर्वाङ्ग-  
निरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

धर्मप्रकरणे प्रभुरूपेण प्रकटस्य विष्णोः स्तोत्रेण भगवतैव  
यज्ञसंसिद्धिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

अर्थप्रकरणे ध्रुवस्य अत्युग्रतपोभगवत्परिचर्यादिसाधन-  
निरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

अर्थप्रकरणे भगवत्प्रादुर्भाववरादिसाध्यनिरूपणं नवमेऽ-  
ध्याये ॥ ९ ॥

अर्थप्रकरणे क्रोधावेशयुद्धादिराज्यदोषनिरूपणं दशमेऽ-  
ध्याये ॥ १० ॥

अर्थप्रकरणे मनुवाक्ये दोषहानिनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥  
॥ ११ ॥

अर्थप्रकरणे ध्रुवस्य भगवत्पदप्राप्तिरूपफलनिरूपणं द्वादशेऽ-  
ध्याये ॥ १२ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे रक्षकाभाव-  
रूपकामहेतुनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे रक्षकाभाव-  
रूपहेतोरधर्मस्थापनलोकोपद्रवरूपकार्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये  
॥ १४ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे पृथोः राज्या-  
त्मकगुणनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामेन जात इति प्रस्तावे पृथौ आविष्ट-  
भगवद्गुणनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामस्य साधक इति प्रस्तावे शर-  
सन्धानेन भूमित्रासतस्तुतिरूपसर्वकामपूरणार्थक्रियानिरूपणं  
सप्तदशोऽध्याये ॥ १७ ॥

कामप्रकरणे सर्वेषां कामस्य साधक इति प्रस्तावे भूमि-  
दोहनेन सर्वकामपूरणरूपफलनिरूपणं अष्टादशोऽध्याये ॥ १८ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे शताश्वमेधजशुद्धि-  
निरूपणं एकोनविंशोऽध्याये ॥ १९ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे पृथौ कृष्णप्रसाद-  
निरूपणं विंशोऽध्याये ॥ २० ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे यज्ञरक्षोपदेशरूप-  
स्वधर्मनिरूपणं एकविंशोऽध्याये ॥ २१ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे सप्रसादज्ञाननिरूपणं  
द्वाविंशोऽध्याये ॥ २२ ॥

कामप्रकरणे स्वकामसम्पादनप्रस्तावे योगेन वैकुण्ठोद्घाटन-  
रूपमोक्षनिरूपणं त्रयोविंशोऽध्याये ॥ २३ ॥

मोक्षप्रकरणे रुद्रगीतस्तोत्रात्मकसायुज्यसाधननिरूपणं चतु-  
र्विंशोऽध्याये ॥ २४ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यप्रकरणान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे जाग्र-  
दवस्थया सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमन-  
सामग्रीनिरूपणं पञ्चविंशोऽध्याये ॥ २५ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे स्वभावस्थया  
सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमनसामग्री-  
निरूपणं षड्विंशोऽध्याये ॥ २६ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे विनश्यत्तया  
सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य संसारमार्गे गमनसामग्री-  
निरूपणं सप्तविंशोऽध्याये ॥ २७ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे सार्थकविनाशेन  
सर्ववस्तुविवेककथनेन जीवस्य मुक्तिमार्गे गमनसामग्रीनिरूपणं  
अष्टाविंशोऽध्याये ॥ २८ ॥

मोक्षप्रकरणे सायुज्यान्तर्गतब्रह्मभावप्रकरणे सर्वसन्देह-  
राहित्यपूर्वकफलनिरूपणं ऊनत्रिंशोऽध्याये ॥ २९ ॥

मोक्षप्रकरणे परममोक्षरूपकृष्णसायुज्यकथने प्रचेतसां  
भगवत्प्रसादनिरूपणं त्रिंशोऽध्याये ॥ ३० ॥

मोक्षप्रकरणे परममोक्षरूपकृष्णसायुज्यकथने प्रचेतसां  
परमफलनिरूपणं एकत्रिंशोऽध्याये ॥ ३१ ॥

इति विस्वर्गनिरूपणे चतुर्थस्कन्धः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमस्कन्धः । कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रियव्रतस्य  
स्वरूपे स्थापकऐश्वर्यवीर्यनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे आग्नीध्रस्य स्वरूपे स्थापक-  
श्रीनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे नाभेः स्वरूपे स्थापक-  
यशोनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रजानां स्वरूपे स्थापक-  
धर्मिरूपरूपभावतारनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे ऋषभपुत्राणां स्वरूपे स्थापक-  
ज्ञाननिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

कृष्णेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे योगिप्रभृति सर्वलोकानां स्वरूपे  
स्थापकवैराग्यनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे भरतस्य प्रजापालनादिधर्म-  
योगसाधनभक्तिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे प्रारब्धादिवशात् योगविधाते  
मुमुक्षोरितरसर्वसाधनसम्पन्नस्यापि भरतस्य मनसश्चाञ्चल्यप्रवाह-  
पतितत्वहरिभक्तेर्ज्ञानदातृत्वनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे मनःस्थैर्यभगवत्प्राप्तियोग्य-  
ब्राह्मणदेहेपि तत्प्रतिबन्धकाध्यापनवृषलहस्तमरणादितो हरि-  
भक्तेर्मोचकत्वनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे मर्यादायां कर्मादीनां सर्वथा  
बलिष्ठत्वज्ञापनाय ज्ञानवतोपि भरतस्य जन्मान्तरं जातमिति-  
ज्ञापनार्थं राजजन्मनि जातज्ञानबोधकोपदेशनिरूपणप्रस्तावे  
रहृगणस्य गुरौ शिष्यप्रकारेण नतिप्रश्ननिरूपणं दशमेऽध्याये  
॥ १० ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोप-  
देशनिरूपणप्रस्तावे योगानुसारिविज्ञानमनोनिग्रहनिरूपणं एका-  
दशेऽध्याये ॥ ११ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोप-  
देशनिरूपणप्रस्तावे भगवदतिरिक्तपदार्थानामवस्तुत्वकथनेनो-  
त्कृष्टवैराग्यनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे पूर्वजन्मनि जातज्ञानबोधकोप-  
देशनिरूपणप्रस्तावे अधिकारिपरीक्षकपरोक्षकथने भगवदन्य-  
पदार्थानां दुःखदत्वकथनेनोत्कृष्टवैराग्यनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये  
॥ १३ ॥

ज्ञानेन स्वरूपस्थितिकथने ज्ञानमार्गीयपरोक्षकथनाबोधेन  
परीक्षिति भक्तिमार्गीयोत्कर्षनिरूपणं स्वरूपकपरोक्षकथा-  
व्याख्यानरूपज्ञाननिरूपणं भरतपूर्वजन्मद्वयसार्थत्वनिरूपणं  
चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

योगेन स्वरूपस्थितिप्रकरणे भरतवंशस्योत्तमत्वनिरूपणं  
पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे भूमेः परिमाण-  
स्वरूपनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे खण्डेषु गङ्गा-  
जलसम्बन्धेनागन्तुकथनेनोत्कर्षनिरूपणं हरिपूजया इलावृत्तो-  
त्कर्षनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे हरिपूजया  
भद्राधादिषु वर्षोत्कर्षनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे गुणमार्गेण  
हरिपूजायामुत्तरोत्तरोत्कर्षनिरूपणाद् वर्षद्वये हरिपूजया पर्वतो-  
द्भूतनद्यादिजलेन च कर्मभूमित्वेन सर्वोपजीव्यतया देवस्तुत्या  
च भरतखण्डे परमोत्कर्षनिरूपणं एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

देशस्थितिप्रकरणे भूमिस्थाननिरूपणप्रस्तावे पुष्यद्वीपादीनां  
प्रमाणलक्षणादिनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणप्रस्तावे सूर्यमर्यादा-  
निरूपणं एकविंशोऽध्याये ॥ २१ ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणं द्वाविंशोऽध्याये ॥ २२ ॥

देशस्थितिप्रकरणे द्युमर्यादानिरूपणप्रस्तावे शिशुमार-  
संस्थाननिरूपणं त्रयोविंशोऽध्याये ॥ २३ ॥

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणं चतुर्विंशोऽध्याये ॥ २४ ॥

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणप्रस्तावेऽधःस्थानां  
मुखहेतुशेषनिरूपणं पञ्चविंशोऽध्याये ॥ २५ ॥

देशस्थितिप्रकरणे अधोमर्यादानिरूपणप्रस्तावे प्रतिषिद्धकर्म-  
फलभूतनरकमर्यादानिरूपणं षड्विंशोऽध्याये ॥ २६ ॥

इति स्थाननिरूपणे पञ्चमस्कन्धः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः स्कन्धः । नामप्रकरणे सङ्केतितनामोच्चारणमहिम्ना  
अजामिलस्य यमदूतादिमुखेन वृत्तान्तश्रवणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

नामप्रकरणे विष्णुदूतमुखेन कीर्तनशंसनतत्फलनिरूपणं  
द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

नामप्रकरणे सर्वेषां नामस्मरणकारणाय यमोक्तसिद्धान्त-  
निरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

रूपप्रकरणे दक्षे तपसा भौतिककेवलसात्त्विकप्रसादनिरूपणं  
चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

रूपप्रकरणे ज्ञानेन दक्षपुत्रेषु तमोमिश्रसात्त्विकभौतिकप्रसाद-  
निरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

रूपप्रकरणे दक्षकन्यासु जगद्धृत्यै रजोमिश्रसात्त्विकभौतिक-  
प्रसादनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं विश्वरूपे पौरोहित्ये तदेव भाव-  
बृहस्पतिसमज्ञानतपस्यारूपाऽऽध्यात्मिकप्रसादनिरूपणं सप्तमेऽ-  
ध्याये ॥ ७ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं कवचोपदेशेन विश्वरूपे वैष्णवत्व-  
रूपाऽऽध्यात्मिकप्रसादनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रप्रसादार्थं कर्मिणो विश्वरूपस्य अन्यथा-  
यज्ञकरणेन दैत्यभावादिन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकत्वाद् वधनिरूपणं  
भाक्तस्यापि वृत्रस्य देवद्रोहेण वर्तमानस्य दैत्यभावादिन्द्रप्रसाद-  
प्रतिबन्धकत्वाद् वधत्वनिरूपणं ज्ञानिनोपि दधीचेदैत्यत्वाभावेपि  
तज्जीवनस्येन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकत्वनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

इन्द्रप्रसादप्रतिबन्धकानां कर्मिज्ञानिभक्तानां वधवध्यत्व-  
निरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपज्ञाननिरूपणं दशमेऽ-  
ध्याये ॥ १० ॥

सेनापलायनरूपे विपादकारणे उपस्थितेप्यविषण्णत्वेन  
श्लोकद्वयेन सैनिकान् प्रति उपदेशकथनेनाप्रतिरुद्धं ज्ञानम् ॥ १० ॥

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपभक्तिनिरूपणं एकादशेऽ-  
ध्याये ॥ ११ ॥

स्वपराक्रमदर्शनेन विषण्णेपीन्द्रे स्ववधोपायज्ञापनेन भगव-  
दतिरिक्ते रागाभाव अतिदैन्येन स्तुतिश्च तत्र माहात्म्यज्ञान-  
स्नेहयोर्लक्षणम् ॥ ११ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रे आधिदैविकप्रसादरूपबलनिरूपणं इन्द्र-  
प्रसादज्ञापकवृत्रवधनिरूपणं च द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

च्युतवज्रस्य विलज्जितस्येन्द्रस्य ज्ञाननीत्युपदेशेन वज्र-  
ग्राहणं तेन युद्धं क्षीणायुधेन कृचवाहुनापि सर्वाहिनेन्द्रनिगरणं  
बलक्षणम् ॥ १२ ॥

रूपप्रकरणे वृत्रहत्याया अपि आधिदैविकत्वेन रूपिणीत्वात्  
तत्कृतेन्द्रक्लेशनिरूपणं ऋतम्भरभगवद्ब्रह्मानेन तत्पापनिवृत्ति-  
निरूपणं रुद्रेण तत्पापपराभवनिरूपणं लक्ष्म्येन्द्ररक्षया ध्यानप्रति-  
बन्धाभावनिरूपणं अश्वमेधेन महेंद्रत्वनिरूपणं च त्रयोदशे-  
ऽध्याये ॥ १३ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगि-  
मतान्तरसिद्धवैराग्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगि-  
मतान्तरसिद्धज्ञाननिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

रूपप्रकरणे इन्द्रे प्रदानार्थं भक्तिमार्गीयभक्तानुपयोगि-  
मतान्तरसिद्धभक्तिप्रसादनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

रूपप्रकरणे मुख्यभक्तेर्दोषयुतत्वाभावाय दोषस्य शापकृतत्वेन  
आगन्तुकत्वज्ञापनाय भक्तिमार्गीयभक्तेऽसम्भावितमतान्तर-  
सिद्धशापनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

क्रियाप्रकरणे बाह्यपूजया बाह्यासुरत्वनिवृत्तिनिरूपणं अष्टादशे-  
ऽध्याये ॥ १८ ॥

क्रियाप्रकरणे आन्तरपूजया आन्तरासुरत्वनिवृत्तिनिरूपणं  
एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

॥ इति पुष्टिनिरूपणे षष्टस्कन्धः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमस्कन्धे । असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपवैकुण्ठे  
सनकाद्यतिक्रमरूपौद्धत्यनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यभूतसर्वलोकपीडानिरूपणं द्वितीयेऽ-  
ध्याये ॥ २ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यभूततपोरूपस्वपीडानिरूपणं तृतीये-  
ऽध्याये ॥ ३ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपाऽत्यन्तभोगसम्पत्तावपि अतृप्ति-  
रूपाऽनिवृत्तिनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

असद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपभगवद्भक्तपीडानिरूपणं पञ्चमे-  
ऽध्याये ॥ ५ ॥

सद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपसर्वमोचकज्ञानहेतुदयानिरूपणं  
षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सद्वासनाप्रकरणे तत्कार्यरूपसर्वमोचकक्रियाहेतुसानुभाव-  
महत्कृपानिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सद्वासनाप्रकरणे अतिदुःखहेतुनाशकभगवत्प्रादुर्भावानुकूल-  
क्रियानिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सद्वासनाप्रकरणे जीवस्य सर्वथा भगवत्साम्युख्यनिरूपणं  
नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सद्वासनाप्रकरणे सप्रसादसफलकायवाङ्मनोभावनिरूपणं  
सद्वासनामूलस्य हरेर्दुर्वासनामूलत्रिपुरनाशकत्वनिरूपणं च  
दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिर्वर्तककर्मप्रकरणे  
साधारणसर्वधर्मनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे  
ब्रह्मचारिवनस्थधर्मनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे  
संन्यासिधर्मनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे गृहस्थ-  
धर्मनिरूपणप्रस्तावे देशकालादिनिर्णयपूर्वकवाह्यदोषनिवर्तक-  
धर्मनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

मिश्रवासनावतो जीवस्यासद्वासनानिवर्तककर्मप्रकरणे गृहस्थ-  
धर्मनिरूपणप्रस्तावे अन्तःकरणदोषनाशकनिर्णीतसाधननिरूपणं  
पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

इति ऊतिनिरूपणे सप्तमस्कन्धः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमस्कन्धे । आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे मनोरूप-  
निषर्थांनुसन्धानरूपभगवत्स्मृत्यैव भगवत्कृतेन प्रतिबन्ध-  
निवारणेन तपोरूपधर्मसिद्धिनिरूपणं धर्मेवाधे क्लेशः स्यादिति  
ज्ञापनार्थं गजेन्द्रकथाप्रक्षेपतत्प्रश्ननिरूपणं च प्रथमेऽध्याये ॥ ११ ॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे गजेन्द्रस्य पूर्वजन्मधर्महेतुक-  
हरिस्मृतिसाधनक्लेशकारणीभूतसकामार्थसिद्धिनिरूपणं द्वितीयेऽ-  
ध्याये ॥ २ ॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे गजेन्द्रस्य पूर्वजन्मशिक्षित-  
स्तीत्रेण भगवत्प्रपत्तिरूपरक्षाफलकमुख्यकामसिद्धिनिरूपणं  
तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

आपत्सु हरिसंस्मरणप्रकरणे स्मृतिप्रपत्तिरूपभक्त्या तुष्टेन  
हरिणा गजेन्द्रस्य मोक्षसिद्धिनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन  
साधनभगवन्निरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन  
साधनवर्गदेवासुरनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानहेतुनिरूपणप्रस्तावे हेतुत्वेन  
प्रतिबन्धनिवर्तकशिवनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे सर्वरत्ना-  
त्मकदेयोत्पत्तिनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे भगवता  
अपात्रदैत्यवञ्चनेन पात्रदेवेभ्योऽमृतदानकर्मनिरूपणं नवमेऽ-  
ध्याये ॥ ९ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानरूपनिरूपणप्रस्तावे मोक्षा-  
ध्यात्मिकरूपस्य चेतनस्यामृतस्य देवोपकारकजीर्णतानिरूपणं  
दशमेऽध्याये । भगवदुपकारास्मरणात् स्वाहङ्कारेण युद्धप्रवृत्तौ  
अमृतस्य चेतनत्वाद् देवेषु कृतघ्नताशङ्कोत्पत्त्याऽजीर्णत्वेन देवानां  
पराजये जातेऽहङ्कारनिवृत्त्या भगवदुपकारस्मरणाद् द्वैत्येन भग-  
वद्ग्रहाने प्रादुर्भूय भगवता दैत्यहननेऽमृतस्यापि कृतघ्नताशङ्का-  
निवृत्त्या जीर्णत्वं देवजयहेतुः ॥ १० ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावेऽमृतपात्रदेव-  
साधितदैत्यहननस्वर्गप्राप्तिरूपफलनिरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे स्वाश्रित-  
दैत्येषूपायान्तरोपदेशेन देवानां पुनरुपद्रवाभावायामृतदातृभग-  
वत्कृतमहादेवसम्मोहनरूपफलनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे सप्तमा-  
द्यष्टमन्वन्तरनिरूपणेन पीतामृतानां देवानां सर्वमन्वन्तरेष्ववेशा-  
दमृतकृताक्षयत्वरूपफलनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

सम्पत्सु सर्वदानप्रकरणे मनुमनुपुत्राञ्जीषणकर्मनिरूपणेन  
पञ्चानां भगवदधीनत्वकथनात् भगवतैव सर्वदानादिधर्मसिद्धि-  
निरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे विप्र-  
प्रसादेन कारणेन बलेर्दातुः पुनः स्वर्गजयरूपदानसामर्थ्य-  
निरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे भगवतो  
याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपणप्रस्तावे च अदित्या भगवतोपहेतु-  
पयोव्रतरूपकर्मप्रसादनिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे सत्यवाक्यहेतुनिरूपणप्रस्तावे भगवतो  
याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपणप्रस्तावे च अदित्यां व्रतसन्तुष्टस्य  
भगवतः प्रसादनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे भगवतो याचनार्थं प्रसङ्गनिरूपण-  
प्रस्तावे दाननिरूपणप्रस्तावे च प्रसन्नस्य भगवतोऽदित्यामवतीर्य  
छलेन बटुवामनरूपं गृहीत्वा बलियज्ञे गमननिरूपणं बलेर्वामने  
भगवत्त्वाज्ञाननिरूपणं च अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दाननिरूपणप्रस्तावे भगवतो दातुः  
प्रशंसापूर्वकयाचननिरूपणं भृगुवाक्यैर्वाामने बलेर्भगवत्त्वज्ञान-  
निरूपणं च एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दाननिरूपणप्रस्तावे भृगुणा दैत्यवैरि-  
त्वेन सर्वस्वहारकभगवत्त्वज्ञापनेपि धैर्यमवलम्ब्य गुरुवाक्यमति-  
क्रम्य तच्छापमप्यङ्गीकृत्य स्वविचारेण सत्यवाक्यनिर्वाहार्थं  
विश्वरूपवपुषा भगवताङ्गीकारान्तस्य बलिकृतस्य दानस्य निरू-  
पणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे अन्यथा-  
करणाद् बलेर्वन्धनरूपणं एकाविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

साक्षात्कृते भगवति आत्मादिसर्वपदार्थस्य भगवदीयत्वेन  
तस्मिन् समर्पणस्यैवोचितत्वेपि तदकृत्वा आत्मादिसर्ववस्तुषु  
अहन्तां ममतां च स्थाप्य स्वाहङ्कारेण सत्यवाक्यनिर्वाहार्थं  
भगवत्त्वे ज्ञातेपि तस्मै दानमन्यथाकरणं, भगवांस्तु तत्सैनिक-  
कृतोपद्रवं लोकसिद्धमपराधं निमिचीकृत्य तस्मिन् दैन्येन  
भगवदीयत्वसम्पादनायाहङ्कारादिनिवर्तकं दण्डात्मकानुग्रहरूपं  
बन्धनं चकार, दानादिलौकिकधर्मैः स्वर्गादिप्राप्तिरूपं फलमपि  
बन्धरूपमेवेतिज्ञापनायापि दानफलत्वेन बन्धनमेव चकार,  
इदमेव फलम् ॥ २२ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे यथार्थकरणात्  
बलेर्मोचनमुदुर्लभवरप्राप्तिनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

भगवति असूयामकृत्वा दण्डमनुग्रहं मत्वा दैन्येनात्मसमर्पणं  
शरणागतित्थं यथार्थकरणं, संसारादपि मोचनं, आधिभ्याधि-

राहित्यं उपमर्गाभावः सुखं लोकेशकृतपराभवाभावः चक्रेण  
आज्ञोच्छ्रिदैत्यनाशनं भगवत्कृता रक्षा सदा भगवद्दर्शनं  
आमुरभावनिवृत्तिश्च सुदुर्लभा वराः ॥ २२ ॥

स्वोक्तनिर्वाहप्रकरणे दानफलनिरूपणप्रस्तावे सावर्णिमन्व-  
न्तरे अभीप्सितार्थस्वर्गसिद्धयर्थं बलेः सुतलस्थापननिरूपणं  
यज्ञरूपस्य पूर्वार्थस्यापि संसिद्धिनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

धर्मवक्तृप्रकरणे त्रिविधधर्मवक्तृमत्स्यावतारनिरूपणं चतुर्विंशे-  
ऽध्याये ॥ २४ ॥

॥ इति सद्धर्मनिरूपणे अष्टमस्कन्धः ॥ ८ ॥

अथ नवमस्कन्धे ॥ सूर्यसोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपण-  
प्रस्तावे सृष्ट्यन्त्रे ब्रह्मविष्णुशिवकृतस्त्रीपुंस्त्वोभयत्वनिरूपणेन देव-  
प्रसादयुक्तभक्तनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे पृषपादिसप्तमनु-  
पुत्रचरित्रवंशनिरूपणमुखेन भगवद्वाच्यानां धर्माणां धर्मिणश्च  
भगवतो निरूपणात् लघुपादेव्या भजननिरूपणेन च देवरूप-  
भक्तनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे शर्यातेः अङ्गिरसां  
सत्रे द्वितीयदिनकार्यप्रवक्तृत्वेन स्वतो यज्ञप्रवर्तकत्वाद् यज्ञप्रवर्त-  
कानां च्यवनादीनामिन्द्रभुजस्तम्भनं कृत्वा लुप्तस्याश्विनग्रहस्य  
प्रवर्तनसमर्थानां सुकन्यादानादिना सर्वकामप्रपूरकत्वात्  
ब्रह्मवाक्येन तद्वंशीयकन्याया बलदेवे दानात् च देवपोषकभक्त-  
निरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे नाभागे मन्त्र-  
द्रष्टृत्वेन सत्यपरत्वेन च शम्भुपारितोषणात् शम्भुसमभक्तनिरूपणं  
अम्बरीषे च सर्वोत्तमावेन सर्वेन्द्रियैर्भगवद्भजनात् तदितरत्रा-  
रागात् तद्भक्तेः सातुभावत्वज्ञापनार्थं कायिकब्रह्मशापास्पर्शाद्  
भगवतो भक्तवश्यत्वेन तादृशभक्ते कृतापराधस्य भगवताप्यरक्ष-  
णात् भगवत्समभक्तनिरूपणं सर्वत्र भक्तेषु बन्धमोक्षव्यवस्था-  
ज्ञापनाय मध्यमानां मध्यमेऽम्बरीषे बन्धरूपग्रहस्थितिनिरूपणं  
चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे दुर्वाससाम्बरीष-  
पादग्रहणे अम्बरीषस्य लज्जितत्वेन स्वयं पादग्रहणेन दुर्वाससः  
प्रसादनेन ब्रह्मण्यतानिरूपणात् चक्रस्तुत्या गर्वाभावनिरूपणात्  
कृतापराधस्य भगवताप्यरक्षितस्य रक्षानिरूपणात् च भक्तौ  
भगवतोऽमृग्यत्वेन भक्तस्यैव मृग्यत्वेन ब्रह्मभावाद् भक्तेः श्रेष्ठत्व-  
निरूपणं बन्धमोक्षव्यवस्थाज्ञापनायाम्बरीषस्य गृहत्यागरूप-  
मोक्षनिरूपणं च पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे शशादपितु-  
रिक्ष्वाकोः गुह्याक्यात् कर्मणि पुत्रापराधज्ञाने तच्यागेन संसार-  
निरपेक्षत्वकथनात् याजकेन सह संवादेन तद्भक्तेः कर्मतः  
श्रेष्ठ्यकथनात्, शशादपुत्रस्येन्द्रारूढस्य देवकार्यकारिणो भगव-  
त्तेजसा व्यापितत्वेन हरेर्निवेदनकथनात्, तद्वंशे उत्पन्नस्य कुवल्या-  
श्वस्यात्तिदुःसहपुत्रमरणमप्यङ्गीकृत्य ऋषिकार्यकारित्वेन विप्र-  
परत्वकथनात्, युवनाश्वमार्याणां बन्ध्यात्वेपि पुंसवनजलपानतः



स्वस्थैव पुत्रलाभेन ऋषिप्रसादकथनात्, स्वस्य पुत्रस्य च जीवनेन देवप्रसादकथनाद्देहिकाण्डिभिर्कोत्कर्षवति सौभरिब्राह्मणे प्राप्तप्रतिष्ठस्य मान्धातुश्च कथनात्, शशादे सर्वगुणज्ञापनाद् ब्रह्मसमभक्तनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भक्त्यैव निवृत्त्यर्थं प्राक्तनदोषेण जातचाण्डालत्वस्य ज्ञापयितुं हरिश्चन्द्रद्वारा मोचनेन हरिश्चन्द्रभक्तेरन्योद्धारकत्वेन प्रशस्तत्वात् लोकापवादशान्त्यर्थं ऋणत्रयनिवृत्त्यर्थं च वरुणप्रार्थनाप्राप्तस्य पुत्रस्य मरणाभ्यनु-ज्ञायामपि भगवता पुत्ररक्षया तत्कृपाद्योतनाद् धर्मपरीक्षक-चाण्डालदासत्वदशायां स्वामिकार्यार्थमतिसाहसकर्तृत्वाद् धैर्य-मवलम्ब्य सत्येन विश्वामित्रप्रसादनाच्च धैर्ययुक्तलोकोद्धार-प्रयत्नभक्तनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे सगरेण मर्यादा-विरोधितालजङ्घादिहननेन तत्पुत्रैः सागरकरणेन मर्यादा-रक्षणात् कर्मज्ञानादिना महत्त्वख्यापनाच्च स्थिरकार्यकर्तृलोको-द्धारप्रयत्नभक्तनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भगीरथेन सर्व-लोकोद्धारकगङ्गानयननिरूपणात् तदंशीये सौदासे स्त्रीप्राधान्येन भक्तिमुख्यत्वकथनाद् ब्रह्मवीजाद् वंशकथया ज्ञानयुक्तत्वकथ-नात् खट्वाङ्गे तदुभयस्य फलितत्वात् क्षणात् कृष्णस्मृतौ अनपायिन्या मुक्तेः कथनाच्च भक्तिमार्गस्य परमकाष्ठापन्न-लोकोद्धारप्रयत्नभक्तनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे माहात्म्यज्ञापकवीर्यप्रकाशक-चरित्रनिरूपणेन ईशस्य क्रियाशक्तिनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे ईशेन रामेण सर्ववेदयज्ञे सर्वस्वज्ञानदानादिना वैदिकेषु ब्राह्मणेषु प्रीतिजननात् निरपराधसीतानिःसारणप्रयोजकलोकवार्ताश्रवणेन लौकिक-धर्माङ्गीकारेण लौकिकेषु प्रीतिजननात् कपिसख्येन स्वामि-धर्मस्य मुकृतज्ञत्वस्य ज्ञापनेन तिर्यग्योनिष्वपि प्रीतिजननात् कोशलोद्वारेण अलौकिकमाहात्म्यबोधनात् भ्रातृसौख्येन सर्वलोकसन्माननेन लौकिकमाहात्म्यबोधनाच्च भक्तिनिष्ठा-निरूपणं एकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे ईशस्य ज्ञानशक्तिरूपवंश-निरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

सूर्यवंशप्रकरणे ज्ञानमिश्रभक्तेर्मुख्यत्वबोधने निमेषुर्गुशापेन ज्ञानमुख्यत्वबोधनात् गुरोर्निमिशापेन निमेषभक्तिमुख्यत्वबोध-नाद् देवप्रसादकथनादप्रेषि तादृशस्यैव तदंशस्य कथनात् ज्ञान-निष्ठभक्तनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

सोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे चन्द्रमसोऽग्निनेत्र-सम्भृतस्य ज्ञानांशत्वेन यज्ञरूपत्वेन च जन्मकर्मशुद्धत्वात् पुत्रस्य बुधस्य लोकदृष्ट्या जारजातत्वेपि सर्वदेवसम्भृत्या गुरु-स्पृहया विष्णुरूपत्वबुद्धिसम्पन्नत्वनिर्व्यलीकत्वरूपानुभावज्ञाप-नात् वंशस्य सरसकरणार्थं तारायां लक्ष्म्यावेशस्य चन्द्रे भगव-दावेशस्यानुभावस्य बोधनात् ऐले च लोकदृष्ट्या स्त्रैणत्वेपि

नारायणादुत्पन्नायामुर्वश्यां मित्रावरुणशापेन भोगरहितायां  
भक्तिरूपायामासक्तहृदयत्वेन भक्तिसामर्थ्यादेव वेदोद्गमहेतुभूत-  
ब्रह्मावेशरूपानुभावबोधनाच्च सातुभावपुष्टभक्तनिरूपणं  
चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

सोमवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे हविर्नाशेन निमित्तेन  
सदोपत्रिगुणहनननिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

सोमवंशप्रकरणे ईशकथाप्रस्तावे मन्त्रनाशेन निमित्तेन  
सदोपत्रिगुणहनननिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

सोमवंशप्रकरणे आद्यकक्षानिरूपणप्रस्तावे अवैदिकानां  
त्रिगुणानां रामेण हननादुर्वरितानां वैदिकत्वान् निर्गुणत्वात्  
धन्वन्तरिजन्मना शुद्धत्वबोधनादलर्कस्य भोगयुक्तस्यापि मोक्ष-  
प्रयोजकत्वाद् रजेश्च दैत्यैरपराभूतत्वेन देवकार्यसाधकत्वात्  
रजिपुत्राणां सामर्थ्यवत्त्वेपि वेदवाह्यत्वे इन्द्रेण हननात् भोग-  
युक्तवैदिकभक्तनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

सोमवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे पुष्टिभक्तेन्द्रपद-  
स्थिते सर्ववस्तुषु प्रमाणभूतशुद्धान्तःकरणपित्राज्ञापरायणभक्त-  
निरूपणं सर्वत्र भक्तेषु बन्धमोक्षव्यवस्थाज्ञापनाय मध्यमानां  
मध्यमस्य ययानेर्वन्धरूपगृहस्थितिनिरूपणं च अष्टादशेऽ-  
ध्याये ॥ १८ ॥

सोमवंशप्रकरणे मध्यमकक्षानिरूपणप्रस्तावे मध्यमानां  
मध्यमस्य ययानेर्जातवैराग्यस्य मोक्षरूपगृहत्यागनिरूपणं  
एकोनविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे दौर्ध्वन्तेर्भरतस्य  
कथाया अतिसामर्थ्यवद्भक्तनिरूपणं विंशेऽध्याये ॥ २० ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे रन्तिदेवादि-  
कथाया अतिरथैयुक्तभक्तिनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे सामर्थ्यैर्यो-  
भययुक्तभक्तनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे यदुवंशकथया  
परमकाष्ठापन्नभक्तिमद्भक्तनिरूपणं त्रयोविंशेऽध्याये ॥ २३ ॥

सोमवंशप्रकरणे उत्तमकक्षानिरूपणप्रस्तावे भक्तिफलरूप-  
भगवत्प्रादुर्भावनिरूपणं चतुर्विंशेऽध्याये ॥ २४ ॥

इति ईशानुक्तयानिरूपणे नवमस्कन्धः ॥ ९ ॥

अथ दशमस्कन्धे । जन्मप्रकरणे भक्तानां भूम्यादीनां  
कालादिभ्यस्त्रिधा दुःखस्य कथनात् तस्यैव भगवदवतारहेतु-  
त्वात् प्रश्नस्य कथनहेतुत्वाच्च चतुर्था हेतुनिरूपणं देवक्यादि-  
मृत्युवारणसामर्थ्यस्य वासुदेवस्य वसुदेवहृदि प्राकट्यनिरूपणं  
च प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

जन्मप्रकरणे बलमायारूपाणां विहारसामग्रीभूतानां कथ-  
नात् सर्वदेवस्तुत्या भयाभावस्य च सामग्रीरूपस्य कथनाच्च  
चतुर्था भगवत उद्यमनिरूपणं गर्भसङ्कर्षणेन दैत्यघातकसङ्कर्षण-  
प्राकट्यनिरूपणं च द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

लौकिककाले मूलकालप्रादुर्भावेन वसुदेवस्तुत्या देवकी-  
स्तुत्या भगवद्वचनैश्च रूपबोधनादग्रे शिशुत्वभवनाच् चतुर्धा  
रूपान्तरस्वीकरणनिरूपणं तस्यैव वंशसम्बन्धित्वात् प्रद्युम्न-  
प्राकट्यनिरूपणं च तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

जन्मप्रकरणे देवक्या उपगृह्नरोदनयाचनैरन्यकन्यात्व-  
गोपनात् माययापि स्फुटं अकथनात् कंसभये विद्यमानेपि  
वसुदेवेन मथुरायां स्थित्या कंसवञ्चनात् कंसकर्मण एव  
कंसवधहेतुत्वार्थं ब्रह्मर्हिंसाया हितत्वज्ञापनेन भगवतापि कंस-  
वञ्चनाच् चतुर्धा कापट्यनिरूपणं सर्वमोचकानिरुद्धप्राकट्य-  
निरूपणं चतुर्थऽध्याये ॥ ४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे पितृगोहादन्यत्र गतस्यापि  
कृष्णस्य उत्सवकर्तृत्वकथनादैश्वर्यनिरूपणं वसुदेवप्रमाणप्रमिते  
नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे उत्सवसहकृतेन स्वमार्गे बाधकबाहुल्य-  
निर्णयेन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहा-  
त्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये ॥५॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे पूतनामारणरूपवीर्यनिरू-  
पणं नन्दप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे भयसहकृतेन  
भगवत एव बाधकबाहुल्यनिवारकत्वनिर्णयेन अतिमानुपलीला-  
कर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दा-  
दीनां स्नेहनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे शकटतृणावर्तभङ्गेन यशो-  
दया पुत्रभावेन लालनेन यशोदामोहनेन च आधारीत्कर्षा-

धायकसर्वजनाहादकगुणवत्त्वात् यशोनिरूपणं बालकैः स्त्रीभिश्च  
प्रमाणैः प्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे कौतुकसहकृतेन सकल-  
जनार्थसाधकत्वनिर्णयेन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःख-  
निवारणमाहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं  
सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे नामकरणलीलाया सर्वा-  
पत्तिनिवारकत्वात् श्रीनिरूपणं गर्गप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बाल-  
रूपे कृष्णे गगेवाक्यमुग्धभावसहकृतेन भक्तिप्रदत्वनिर्णयेन  
अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्यद्वारा  
तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं अष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे रञ्जुन्यूनतया व्यापक-  
त्वकथनेन च ब्रह्मत्वबोधनात्मकज्ञाननिरूपणं यशोदाप्रमाण-  
प्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे अत्याश्रयसहकृतेन भक्तवश्यत्व-  
निर्णयेन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहा-  
त्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं नवमेऽध्याये ॥९॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे यमुलार्जुनयोर्भक्तिदानेन  
लीलायामस्थापनात् भक्तेतरेष्वनासक्तिरूपवैराग्यनिरूपणं नल-  
कूबरमणिप्रीवप्रमाणप्रमिते नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे यमुलार्जुन-  
भङ्गसहकृतेन सर्वोद्धारप्रयत्नत्वसर्वेषां सर्वदोषनिवारकत्वनिर्ण-  
येन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारणमाहात्म्य-  
द्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥१०॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे मोचनादिलीलाभिः  
षड्गुणयुक्तस्वरूपबोधनात् धर्मिनिरूपणं उपनन्दप्रमाणप्रमिते

नन्दपुत्रे बालरूपे कृष्णे बकघातादिसहकृतेन परमानन्ददायित्व-  
निर्णयेन अतिमानुपलीलाकर्तृत्वात् सकलदुःखनिवारण-  
माहात्म्यद्वारा तामसानां नन्दादीनां स्नेहनिरूपणं एकादशेऽ-  
ध्याये ॥ ११ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे सौन्दर्यानुभवेन स्त्रीध्वास-  
क्त्युत्पादकस्य स्वरूपस्य पुमर्थचतुष्टयदशरसात्मकचतुर्दशगुण-  
वचकथनात् वचनद्वारा बलभद्रे स्वधर्मस्थापनात् लोकेषु  
ज्ञापनार्थं बलभद्रेणैव धेनुकमारणात् प्रमेयान्तर्गतैश्वर्यनिरूपणं  
द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिपरीक्षार्थं कालिय-  
दमनक्रियया स्त्रीगोवालवशीकरणात् प्रमेयान्तर्गतवीर्यनिरूपणं  
त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वहिरागत्य मिलनेन सर्वेषु-  
दानेन सर्ववशीकरणात् दावाग्नेर्मोचनेन माहात्म्यबोधनात्  
प्रमेयान्तर्गतयशोनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये ॥ १४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे कालदुःखनिवारणेन क्री-  
डायां परिवृढत्वेन प्रलम्बघातनेन च बालानां दृढासक्त्युत्पाद-  
नात् प्रमेयान्तर्गतश्रीनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये ॥ १५ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे दावाग्निपानजमाहात्म्य-  
द्वारा स्वरूपज्ञानसम्पादनेन गवां दृढासक्त्युत्पादनात् प्रमेया-  
न्तर्गतज्ञाननिरूपणं षोडशेऽध्याये ॥ १६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वर्षाशरद्वतुवर्णनेन काल-  
गुणैरेव सर्वेषां दुःखनिवारणेन दृढासक्त्युत्पादनात् स्वस्य  
तादस्थ्यात् प्रमेयान्तर्गतवैराग्यनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये ॥ १७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वेणुनादेन गोपीनां दृढा-  
सक्तेः स्थिरीकरणात् गोपीभिश्च रसरूपपद्मगुणयुक्तस्वरूप-  
निरूपणाच्च च धर्मिनिरूपणं अष्टादशेऽध्याये ॥ १८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कुमारिकाभिर्हेरिप्राप्त्यै  
व्यसनबोधकव्रतकरणात् ततो भगवदाज्ञया लौकिकभावपरि-  
त्यागेन यथोक्तकरणात् तुष्टेन भगवता ताभ्यो वरदानस्येश्वर-  
धर्मत्वादीश्वरे मत्सरदेरनर्थहेतुत्वेन तरुस्तुत्या ज्ञानोपदेशेन  
गोपेषु मात्सर्यनिवारणस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वाद्वैश्वर्यनिरूपणं एको-  
नविंशेऽध्याये ॥ १९ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवतेऽन्नदानार्थमाग-  
तानां यज्ञपत्नीनां तत्पत्यादिभिरन्यपरत्वे ज्ञातेपि भगवद्वाक्येन  
देवानुमत्या पत्यादीनामसूयाद्यभावस्य वीर्यबोधकत्वात् पत्नी-  
द्वारा विप्रबोधनस्यापि वीर्यकार्यत्वाद् वीर्यनिरूपणं विंशेऽ-  
ध्याये ॥ २० ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे हेतुनिराकरणेन पारम्प-  
र्यागतस्येन्द्रयागस्य त्याजनाद् वैष्णव्यागकारणाच्च च स्वधर्म-  
योजनात्मकयशोनिरूपणं एकविंशेऽध्याये ॥ २१ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे गोवर्धनधारणेनेन्द्रकृतो-  
पद्रवरूपापत्तिनिवारकत्वात् श्रीनिरूपणं द्वाविंशेऽध्याये ॥ २२ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे पुनर्वर्षान्तरेपीन्द्रयागा-  
भावार्थं वैष्णवयागकारणार्थं गर्गवाक्यैर्भगवद्विषयकाशङ्का-  
निवारणात् ज्ञाननिरूपणं त्रयोविंशोऽध्याये ॥ २३ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृतापराधेपीन्द्रे प्रसादात्  
मदस्याज्जनेन दोषस्यैव दूरीकरणात् वैराग्यनिरूपणं चतुर्विंशोऽ-  
ध्याये ॥ २४ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे गोकुलवासिनां वैकुण्ठ-  
प्राणात् भजनानन्ददानार्थं तत उद्धरणाच्च च धर्मिनिरूपणं  
पञ्चविंशोऽध्याये ॥ २५ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे ध्वनिना आह्वानं कर्तुं  
समर्थत्वात् गमनबोधकवाक्यैर्गमनं अकर्तुं समर्थत्वात् प्रभु-  
वाक्योल्लङ्घनदोषं गुणं कर्तुं समर्थत्वात् गर्वेशन्तर्धानेनापि  
अन्यथाकर्तुं समर्थत्वाद्दैर्ध्वर्यनिरूपणं षड्विंशोऽध्याये ॥ २६ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे बाह्याभ्यन्तरभेदेन भगव-  
त्सम्बन्धानां भक्तानां दोषेपि भगवता परित्यागाभावस्य सर्वो-  
त्कृष्टस्य भगवन्मार्गस्य ज्ञापनार्थं कायेन रमणाभावे मनसा  
वाचा वापि रमयेदिति ज्ञापनार्थं परोक्षेणापि रतिकरणात् वीर्य-  
निरूपणं सप्तविंशोऽध्याये ॥ २७ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे वचसा रमणज्ञापकगोपिका-  
वचनैर्यशोनिरूपणं अष्टाविंशोऽध्याये ॥ २८ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सकृद्भोगनिवारणार्थं आवि-  
र्भावकरणाद् भक्तान्तःकरणसन्तोषार्थं वाक्यकथनाच्च च तत  
एव मरणरूपापत्तिनिवारणात् श्रीनिरूपणं ऊनत्रिंशोऽध्याये ॥ २९ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे षड्गुणरूपाभिः स्वामिनीभी-  
रसरूपेण स्वरूपेण रमणात् धर्मिनिरूपणं त्रिंशोऽध्याये ॥ ३० ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे कौतुकेनापि कृतानां अ-  
वैष्णवकर्मणां दुःखहेतुत्वेन तत्र भगवत औदासीन्यभावबोधनात्  
तत्रापि भक्तवत्सलेन भगवतैव मोचने भक्तैस्तत्कर्मपरित्यागात्  
मर्यादारमणेपि शङ्खचूडसम्बन्धकथनेन भगवत औदासीन्य-  
भावबोधनाद् वैराग्यनिरूपणं एकत्रिंशोऽध्याये ॥ ३१ ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरहे गुणगानस्य ज्ञान-  
रूपत्वाद् ज्ञाननिरूपणं द्वात्रिंशोऽध्याये ॥ ३२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां विरहे  
जीवनसम्पादकभगवदाविर्भावहेतुभक्तिप्रतिबन्धकस्यारिष्टस्य वर्ध-  
कर्तुं शक्तत्वात् नारदेन भगवति वसुदेवपुत्रत्वे ज्ञापिते वसुदेव-  
वधाय कंसे उद्युक्तेपि वसुदेववध अशक्तत्वाद् भगवदर्थं कंस-  
चिन्तितानां उपायानां कंसवधहेतुत्वकरणेन अन्यथाकर्तुं  
शक्तत्वाद्दैर्ध्वर्यनिरूपणं त्रयोविंशोऽध्याये ॥ ३३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां राजसत्व-  
भवने हेतुज्ञानप्रतिबन्धकस्य केशिनः परोक्षे मुखहेतुलीलाप्रति-  
बन्धकस्य फलहेतुकर्मप्रतिबन्धकस्य च ध्योमासुरस्य हननात्  
भक्तदुःखे हेतुकर्तृत्वेन भीतिन नारदेन भगवत्प्रबोधनस्यापि  
वीर्यकार्यत्वात् वीर्यनिरूपणं चतुस्त्रिंशोऽध्याये ॥ ३४ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवता भक्तिज्ञानकर्म-  
प्रतिबन्धकनिवारणेऽङ्कुरे वैकुण्ठे स्थापनाय त्रितयसिद्धयर्थं मध्ये

मार्गं भक्तिज्ञानकर्मापयोगिभिर्माहात्म्यविज्ञानस्वरूपबोधमनो-  
रथैः कृष्णरामनन्दानां प्रसादकथनाद् यशोनिरूपणं पञ्चत्रिंशोऽ-  
ध्याये ॥ ३५ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे विरहे भक्तानां हृदि  
प्रादुर्भावेन प्राणगमनापन्निवारकत्वात् अकूरे वैकुण्ठदर्शनेन  
सर्वसम्पत्त्या सर्वभक्तापन्निवारकत्वबोधनात् श्रीनिरूपणं षट्-  
त्रिंशोऽध्याये ॥ ३६ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवद्भानेनैवाकूरेण  
स्तुतिकरणात् ज्ञाननिरूपणं सप्तत्रिंशोऽध्याये ॥ ३७ ॥

यत्र तात्कालिकज्ञानेन स्तुतिस्तत्र ज्ञानं अध्यायार्थः । यत्र  
पूर्वसिद्धज्ञानेन स्तुतिस्तत्र यशोऽध्यायार्थे इतिविभेदः ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे अकूरस्य गृहे प्रेपणेनौ-  
दासीन्यबोधनात् रजके वायके मालाकरे च कर्महेतुकदण्ड-  
प्रसादाभ्यां स्वस्वौदासीन्यबोधनात् च वैराग्यनिरूपणं अष्ट-  
त्रिंशोऽध्याये ॥ ३८ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे कुञ्जारूपकरणेन स्त्रीपु-  
कृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनात् धनुर्भङ्गस्य स्थावरनिग्रहस्य  
रक्षकत्वस्य जङ्गमनिग्रहस्य कर्महेतुकत्वाभावेन भक्तानां  
दुःखनिवारकमाहात्म्यबोधनार्थकत्वेन धर्मिकार्यत्वात् धर्मि-  
निरूपणं एकोनचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ३९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानामासक्तिप्रतिबन्ध-  
कत्वाद्भयनिवारणार्थं कृतस्य कुवलयपीडवधस्य गजदन्तवरायु-

धार्थकत्वेनैश्वर्यबोधकत्वात् दशविधरसविशिष्टस्वरूपप्रदर्शन-  
स्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वाद् दर्शनमात्रेण प्रबुद्धसंस्कारैः लोकैः  
परस्परतद्गुणप्रकाशकवार्ताकरणस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्य-  
निरूपणं चत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४० ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानामासक्तिप्रतिबन्ध-  
क-आन्तरभयनिवारणार्थं कृतस्य मल्लकंसादिबधस्य केवलवीर्य-  
बोधकत्वाद्वैर्यनिरूपणभेदकत्वात्त्रिंशोऽध्याये ॥ ४१ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मातापित्रोर्विमोचनस्य  
उग्रसेनराज्यदानस्य सर्वथादवप्रधानयनस्य नन्दादिप्रतिपाय-  
नस्य लब्धसंस्कारत्वस्य यशोबोधकत्वात् कालभयस्य भगव-  
दासक्तिहेतुत्वेन आसक्तेषु यादवेषु कालगुणजरानिवृत्तेर्गुरोर्मृत-  
पुत्रानयनेन साक्षात्कालनिवृत्तेश्च यशोबोधकत्वाद् यशोनिरूपणं  
द्विचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय  
स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवतो ब्रजस्थप्राणगमन-  
रूपापत्तिनिवारणोद्योगकथनाद् ब्रजं गतस्योद्भवस्यापि श्रीमत्त्व-  
कथनाद् ब्रजवर्णनस्यापि श्रीनिरूपकत्वादुद्भवसमागमे नन्देन  
दावाश्यादिमृत्युभ्यो रक्षितृत्वस्य स्मरणात्, उद्भवेनापि अन्त-  
र्मुखत्वे भगवत्स्थितिवोधनात्, लौकिकसम्बन्धनिराकरणाद्  
भगवतः सर्वरूपत्वकथनाच्चान्ते भगवच्छ्रीरूपाणां गोपिकानां  
निरूपणाच्च श्रीनिरूपणं त्रिचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय  
स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवति मानाम्ब्यादि-

दोषाणां ज्ञाननिवर्त्यत्वेन पूर्वं दोषनिरूपणस्य ज्ञानोपयोगित्वाद् उद्धवे भगवदुपदिष्टज्ञानस्य विद्यमानत्वेन गोपिकोक्तदोषाणां गुणत्वेनैव ज्ञानाद् उद्धवेनोपदेशे वियोगाभावसर्वाश्रयत्वज्ञान-मयात्मत्वबोधनाद् 'यच्चह' मित्यादिना विरहसामयिक-भगवदभिप्रायबोधनाच्च निरन्तरं ब्रजभक्तसङ्गेन तादृगभक्ति-कारणस्य भक्तभावज्ञानस्य उद्धवेपि जातस्य उद्धवोक्तवचनै-र्गोपीनमस्कारान्तैरवगमाच्च ज्ञाननिरूपणं चतुश्चत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४४ ॥ एवं तामसानां सान्त्वनम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुब्जासमागमस्य कामहेतु-कत्वेन तस्यै कामवरप्रदानेन औदासीन्यबोधनात्, अक्रूरसमा-गमस्यापि अन्यत्र प्रेषणार्थकत्वेन औदासीन्यबोधकत्वात्, अक्रूरस्तुतौ मायानिबृत्तेर्वैराग्यकार्यस्य प्रार्थनाच्च वैराग्यनिरू-पणं पञ्चचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४५ ॥ एवं राजसानां सान्त्वनम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुन्तीस्तुतौ भक्तशरणत्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनात्, अक्रूरविदुराभ्यां कुन्तीपाण्डवसान्त्वना-नन्तरं अक्रूरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पाण्डवरक्षाया अकरणस्य भूभार-हरणहेतुत्वेन धर्मिकार्यत्वात् धर्मिनिरूपणं षट्चत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४६ ॥ एवं सात्त्विकानां सान्त्वनमिति दशमे पूर्वार्धम् ।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णव्यसनित्वस्य फल-प्राप्तौ प्रयोजकत्वाद्धौकिकव्यसनप्राप्तौ तन्निराकरणस्यैव कृष्ण-

व्यसनसाधनत्वेन प्रजापतिप्रमृतस्य राजसभावापन्नस्य जरा-सन्धस्य सप्तदशवारं व्यसनकर्तुः केवलपौरुषेण तावद्धारनिरा-करणार्थं ध्यायति कृष्णेऽलौकिकरथायुधाद्यागमनस्यैश्वर्यकार्य-त्वान्, पुनर्विप्रप्रसादपुष्टतामसयवनकृते, शिवप्रसादपुष्टसात्त्विक-भावापन्नजरासन्धकृते च दुःखे तन्निवारणस्य प्रकारान्तर-साध्यत्वेन तदर्थं द्वारकानिर्भाणादेरैश्वर्यकार्यत्वादैश्वर्यनिरूपणं सप्तचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४७ ॥

एवं शत्रुकृतभौतिकदुःखनिवारणेन लौकिकानां कृष्ण-व्यसनसिद्धिः ।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे यवनदूषिते स्थाने नित्याया मथुरायाः स्थित्यभावात् कृतानामपि वैदिककर्मणां फलसाधकत्वाभावात् वैदिकानां तद्रूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं मुचुकुन्दद्वारा यवनहननस्य बुद्धिवीर्यरूपत्वान्निद्रया साधनाभावरूपाध्यात्मिकदुःखिनो मुचुकुन्दस्यापि स्तुतिः, तुष्टेन भगवता स्वसामर्थ्यदानेन युक्तिसाधने सामर्थ्यप्रापणस्य वीर्यरूपत्वाद्दीर्घनिरूपणमष्टचत्वारिंशोऽध्याये ॥ ४८ ॥ ।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे नित्यदा वर्षावता प्रवर्षणे-नाग्निप्रार्थनायां स्वयं सर्वजीवनाशकाग्निदानस्य यशोविरुद्ध-त्वेन रुक्मिणीप्रतिबन्धाभावाय पराजयहेतुपापोद्भवार्थं यवन-द्रव्यग्रहणतो नष्टबुद्धिभिर्दुष्टैरग्निदापनस्य यशोरूपत्वात् नारदा-दिभ्यः श्रुतभगवद्गुणाय रुक्मिण्या दुष्टकृतप्रतिबन्धेन भगवद्गु-णाभावरूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवारणार्थं प्रेषितविप्र-

सम्माननस्य यशोरूपत्वात् रुक्मिणीप्रेषितपत्रिकाया भगवता श्रवणेन रुक्मिणीवाचोऽन्यसंबन्धित्वरूपवाचिकदुःखनिवृत्तौ पत्रिकायां यशसः स्थितत्वाद्यशोनिरूपणमेकोनपञ्चाशत्तमाध्याये ॥ ४९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे विदर्भपुरे सर्वलोकरञ्जनार्थं स्वरूपशोभाप्रदर्शनस्य श्रीप्रयुक्तत्वात् रुक्मिणीकायरय अन्यसंबन्धित्वरूपकायिकदुःखनिवारणार्थं साक्षाच्छीरूपाया एव रुक्मिण्या हरणात् श्रीनिरूपणं पञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५० ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णेन हृतामपि मां प्रवला दुष्टाः प्रतिनेष्यन्तीत्याकारकरुक्मिणीमानसदुःखनिवारणार्थं सर्वराज्ञां पराभवे कृतेऽतिसाहसेन समागतस्य रुक्मिणोऽपि पराभवे मुण्डने च कृते बद्धा द्वारकां नीयमानस्य रुक्मिणो रामेण मोचने रुक्मिणीविचारितभङ्गात् जातस्य वैमनस्यस्य रामोपदिष्टज्ञानेन निवारणात् ज्ञाननिरूपणमेकपञ्चाशत्तमाध्याये ॥ ५१ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य मूर्तिकागृहात् शम्बरेण हरणे भगवत् उदासीनत्वात् कामस्य सर्वलोकदुःखहेतुत्वाद्भगवता दुःखनिवारणे क्रियमाणे कामादेदुःखदानेऽशक्तत्वज्ञापनार्थं कामस्यैव देहनाशभार्याहरणादेदुःखस्य निरूपितत्वात् स्मृतदुःखेन विरक्तेन कामेन सर्वत्र दुःखदानाभावाय स्वपुत्रस्यैव तस्य दुःखदापनात्, भक्तेषु दुःखहेतुत्वाभावायै स्वसंबन्धित्वादेहेन कामनिरोधाच्च वैराग्यनिरूपणं द्विपञ्चाशत्तमाध्याये । एवं भगवति कामाभावः ॥ ५२ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे लोके ख्यातानां मण्यादीनामपि दुःखनिवारकत्वे भगवतो दुःखनिवारकस्वनियमभङ्गे प्राप्ते तन्नियमदाढ्यार्थं भगवदभक्तेषु निरोधरहितेषु मणिहेतुकदुःखनिरूपणाय मणिकथाप्रस्तावे सर्वलोकेषु भगवति मणिहारकत्वरूपदोषारोपस्य मायाकृतस्य सर्वदुःखमूलस्याधिदैविकदुःखस्य, भगवति दोषारोपे च भक्तानां हृदये जातस्याधिदैविकदुःखस्य च निवारणार्थं मणिप्रत्यानयनस्य धर्मिकार्यत्वात्, लक्ष्मीसरस्वतीरूपजाम्बवतीसत्यभामापारिणयस्यापि धर्मिकार्यत्वात्, विले बहुकालस्थित्या राजमानां निरोधपरीक्षायाः भक्तेन जाम्बवता युद्धस्य जाम्बवतः स्वरूपनिष्ठत्वकरणस्य च धर्मिकार्यत्वाद्धर्मिनिरूपणं त्रिपञ्चाशत्तमेऽध्याये । मिथ्याभिशापेपि जाते मण्यानयनेन निवारणाद् भगवति क्रोधाभावः ॥ ५३ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे मणिकथाप्रस्तावे अभक्तसत्राजिह्वातकत्वेन प्रियाय शतधन्वने कृष्णभयदशायां कृतवर्माक्रूराभ्यां लौकिकालौकिकप्रबोधवतः मर्यादारूपवलदेवविसम्मतावपि मुक्तिरूपालौकिकफलप्रदानस्य केवलैश्वर्यमूलत्वात् मणिहर्तुरकूरस्य काशीतः प्रत्याकारितस्य धर्मसंयुतार्थफलसिद्धयर्थं तस्मै सर्वलोकदृष्टमणिप्रत्यर्पणस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं चतुःपञ्चाशत्तमेऽध्याये । एवं मणिप्रत्यर्पणेन भगवति लोभाभावः ॥ ५४ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे पाण्डवेषु स्ववीर्यं दत्त्वा समागण्डीवनगरनिर्माणैर्धर्मार्थकामफलदानात्, यादवेषु विद्या-



पर्वजफलदानार्थं विद्यापर्वस्वरूपाणां पञ्चनायिकानां कामफल-  
भिद्ध्यर्थं वीर्यशुल्केन परिणयात्, पर्वोत्तमकनायिकानां भगव-  
च्छक्तिरूपत्वेन नायिकासम्बन्धिष्वपि भगवच्छक्तिरूपधर्मद्वारा  
कृष्णसम्बन्धफलदानादीर्यनिरूपणं पञ्चपञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५५ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरक्तेषु भक्तिसंयुतेषु भक्तेषु  
भगवत्सम्बन्धिसुखस्य ऐहिकामुष्मिकविलक्षणत्वज्ञापनार्थं अन-  
न्तत्वज्ञापनार्थं चाविद्याकार्यरूपाहंममात्मकं मुरं निहत्य ऐहिक-  
मुखरूपं नरकं च निहत्य इन्द्रादिदेवांश्च परिभूय कामसुखहेतु-  
मनोमहिष्योरेकादशेन्द्रियपञ्चविषयात्मकपोडशकलयोः सहस्र-  
वृत्तिरूपाणां षोडशसहस्रनायिकानां परिणयेन यादवेषु तादृश-  
मुखरूपफलप्रदानस्य यशोरूपत्वाद् दैत्यवधेन देवकार्यसाधनस्य  
देवपराभवेन भक्तमनोरथपूरणस्य च यशोरूपत्वाद् भूमिप्रार्थ-  
नया तत्पौत्राभयदानस्य च यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं षट्पञ्चा-  
शत्तमेऽध्याये ॥ ५६ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वभक्तानां दोषं निवारयन्  
फलभोगे सामर्थ्यं फलं च यच्छतीति ज्ञापनार्थं श्रीरूपाया  
रुक्मिण्यास्तदतिदेशेन च सर्वासां श्रीरूपाणां मध्यमाधिका-  
रित्वात् परिहासत्वात् परिहासोक्तिरूपवाचिकतिरोधाने-  
नाभिमानादिदोषान् निवार्य द्वाव्यं सम्पाद्य दृढभगवत्सम्बन्ध-  
सम्पादनात् श्रीनिरूपणं सप्तपञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥ ५७ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे भगवत्पत्न्यो रमणकर्तुर्भग-  
वतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणस्य ज्ञानबोधकत्वात्

भगवत्सम्बद्धैर्भक्तैर्भगवत्कार्यवत् भगवदंशविस्तारोपि कर्तव्य  
इति बोधनार्थं लोकवेदप्रकारेण धृत्यर्थप्रतिपादकदशपुत्रपौत्राद्यु-  
त्पत्तिरपि ज्ञानकार्यरूपत्वात् श्रुतौ ज्ञानिनां पापं तद्द्वेषिषु सञ्च-  
रतीति निरूपणात्, अत्रापि प्रद्युम्नानिरुद्धयोरधमोद्वाहजपापस्य  
चलभद्रकृतवधेन ज्ञापितस्य कृष्णादिसर्वयादवद्वेषिणि रुक्मिणि  
सञ्चारेण ज्ञानलीलाया निरूपणात् ज्ञाननिरूपणमष्टपञ्चाशत्तमेऽ  
ध्याये ॥ ५८ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे लोकानां लौकिकेषु सर्व-  
भावेन प्रपञ्चस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् प्रपञ्चाद्वैतवत्  
भक्तानां यादवानां कृष्णकृतोपकारजनितेन कृष्णे सर्वभावेन  
कृष्णस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् कृष्णाद्वैतफलदानज्ञाप-  
नार्थंमूपाख्याननिरूपणप्रस्तावे अनिरुद्धकार्यसिद्ध्यर्थंमूषया  
द्वारकातोऽनिरुद्धहरणे जानतोऽपि भगवतः स्वधर्मोपसंहारेण  
तूर्णीभावस्य वैराग्यबोधकत्वाद् वैराग्यनिरूपणमेकोनपष्टि-  
तमेऽध्याये ॥ ५९ ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे महादेवादिदेवाः स्वभक्तेभ्यो  
वरं दत्त्वा युद्धज्वराद्युपायसहस्रैरपि वरपालनेऽशक्ता इति ज्ञाप-  
नार्थं घ्राणभुजकृन्तनस्य धर्मिकार्यत्वात्, भगवांस्तु स्वभक्तेभ्यो  
वरं दत्त्वा तत्पालने शक्त इति ज्ञापनार्थं शिवस्तुत्या शिवात्  
श्रेष्ठत्वं ज्ञापयित्वा युद्धेपि वाणरक्षणस्य च धर्मिकार्यत्वात् महा-  
देवस्तुतौ च धर्मिस्वरूपनिरूपणात् भक्तकार्यसाधनेन भक्तपक्ष-  
पातस्यापि धर्मिबोधकत्वाद् धर्मिनिरूपणं पष्टितमेऽध्याये ॥ ६० ॥

साच्चिकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तेन भगवदाज्ञया भगवदिच्छां च ज्ञात्वैव सर्वं कर्तव्यम्, अविचार्य धर्मादिष्वत्यन्तमाग्रहो न कर्तव्यः, धर्मादिमार्गेषु ब्राह्मणादीनां क्षोभोपि न कर्तव्य इति त्रयज्ञापनार्थं पूर्वतनभक्तस्य भगवदिच्छाज्ञानाभावेनाविचारेण दानाग्रहवतो ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तदुर्जरब्रह्मस्वापहारदोषफलं भुञ्जतो नृगस्य कर्मक्षयाभावेपि निजैश्वर्येण प्रमेयवलेन दोषनिवारणपूर्वकमोचनादेश्वर्यनिरूपणमेकषष्टितमेऽध्याये ॥ ६१ ॥

साच्चिकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलभद्रे स्वगुणानाधाय तद्द्वारा पश्चात् जातानां गोपीनां रमणेन निरोधनस्य वीर्यबोधकत्वात्, भगवदीयगोपीषु उद्बोधोपदेशेन निवृत्तस्यापि भगवति कृतभ्रतादिदोषारोपदोषस्य संस्कारमात्रेण स्थितस्य बलदेवसान्त्वनेन निवृत्तेः प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वात्, सर्वत्रानुकल्पस्य सानुभावत्वबोधनार्थं वरुणप्रेषितमधुधारया देवसम्पतरमणकान्तिसन्माननाभ्यां बोधितभगवदावेशेन बलदेवेन, बान्धवक्षोभेण भगवत्प्राप्तिरूपार्थरहिताया यमुनाया जलक्रीडार्थमाकर्षणेन भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकदोषनिवारणास्यापि प्रमेयरूपभगवद्वीर्यबोधकत्वाद्द्वीर्यनिरूपणं द्विषष्टितमेऽध्याये ॥ ६२ ॥

साच्चिकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मात्सर्येण निजरूपधारकस्यापि पौण्ड्रकस्य तद्दोषनिवारणेन मुक्तिदानस्य यशोनिरूपकत्वात्, सुदक्षिणप्रहिताभिचारप्रतिघातहेतुब्रह्मण्यत्वस्यापि यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं त्रिषष्टितमेऽध्याये ॥ ६३ ॥

साच्चिकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे बलदेवरमणस्य श्रीयमुक्तत्वात् द्विविदमुक्तिप्रतिबन्धकदोषनिवारणेन तदापत्तिनिवारणस्य तद्वधेन ऋष्यादिसर्वलोकापत्तिनिवारणस्य च श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणं चतुःषष्टितमेऽध्याये ॥ ६४ ॥

अत्राध्यायचतुष्टये किञ्चिदधिकं लिख्यते ।

नृगस्य सूर्यवंशोद्भवत्वेन भक्तत्वं साच्चिकत्वं च । परं धर्मव्यसनित्वात् ब्राह्मणक्षोभात् प्राप्तब्रह्मस्वापहारदोषेण धर्मो न सिद्धः, अधर्मश्च सिद्धः, अत एव धर्मफलाभावोऽधर्मफलभोगश्च, परं भक्तत्वात् द्वारकापतितत्वात् भगवतैव प्रमेयवलेन दोषनिवारणे धर्मः सिद्धः, ततो देवगतिर्मुक्तिश्च ॥ ६१ ॥

यमुनाया अपि सूर्यपुत्रीत्वेन भक्तत्वं साच्चिकत्वं च । इयं च यमुना न लीलामध्यपातिनी, तस्यां दोषसंभावनाऽभावात्, किन्तु कालिन्दीरूपा, तस्याश्च पतित्वेन भगवत्प्राप्तिरूपार्थव्यसनित्वात् बान्धवयमक्षोभेण बान्धवैर्विष्णवेऽदानात् भगवत्प्राप्तिरूपोऽर्थो न सिद्धः । अत एव तपश्चरणम्, 'मत्त इत्यापगा' मित्यनेन बलदेवाविष्टभगवदज्ञानम्, बलदेवेनाकर्षणम्, भर्त्सनं च, परं भक्तत्वात् तत्र जलक्रीडार्यां बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयवलेन तद्दोषनिवारणे पश्चादिन्द्रप्रस्थं गतस्यार्जुनस्य सख्युर्भगवतः पतित्वेन प्राप्तिः । अत्र दशमस्कन्धे कृष्णकृतानां लीलानां न क्रमेण निरूपणम्, किन्तु निरोधस्यैवोत्तरोत्तरमुत्कृष्टस्य क्रमेण निरूपणम् । तत्र क्रमेण निरोधे निरूप्यमाणे यासां लीलानां यत्रोपयोगः, तासां तत्र निरूपणमित्यदोषः ॥ ६२ ॥

पौण्ड्रकस्यापि करुपाधिपतित्वेन षष्ठमनुष्यस्य करुपस्य वंशे उत्पन्नस्य सूर्यवंशीयत्वेन भक्तत्वं सात्त्विकत्वं च । तस्यापि वासुदेवत्वेन लोकप्रतिष्ठारूपकामव्यसनित्वात् काशीराजादिदुष्टसङ्गेन वासुदेवस्वरूपे कृष्णे मात्सर्यदोषेण वासुदेवात्मककृष्णक्षोभात् लोकप्रतिष्ठारूपः कामो न सिद्धः, परं भक्तत्वात् निरन्तरं भगवत्स्मरणाच्च भगवतैव प्रमेयबलेन हननेन तद्दोषनिवारणे जाते वासुदेवस्वरूपत्वे वैकुण्ठे प्रतिष्ठारूपः कामः सिद्धः, काशिराजस्य न किञ्चित् सिद्धम्, अभक्तत्वात् ॥ ६३ ॥

द्विविदस्यापि रामावतारे सुग्रीवसचिवत्वेन भक्तत्वम्, देवाश्रित्वेन सात्त्विकत्वं च । तस्य मोक्षव्यसनित्वेपि विषयमुखात्मकनरकामुरसख्येन ईश्वरस्य वेदस्य क्षोभात् जगद्गतिकरावहत्वदोषात् रामावतारे मोक्षः सिद्धः । बलदेवाविष्टभगवतैव प्रमेयबलेन तद्दोषनिवारणे पञ्चान्मोक्षः सिद्धः ॥ ६४ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे लक्ष्मणाहरणप्रसङ्गे पाण्डवानां कौरवाणां सकृष्णेषु यादवेषु हीनत्वभावानारूपं दोषं निवार्य बलदेवाविष्टभगवता प्रमेयबलेन ज्ञानजननात् ज्ञाननिरूपणं पञ्चपटितमेऽध्याये ॥ ६५ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य सर्वगेहेष्वेकरूपेण वर्तमानत्वप्रदर्शनेन प्रमेयबलेनाज्ञानदोषं निवार्य निर्लिप्ततया लोकशिक्षार्थं गृहस्थधर्माचरणकथनाद्वैराग्यनिरूपणं पदपटितमेऽध्याये ॥ ६६ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे 'अथोपस्युपवृत्ताया'मित्यादिना निरूपितस्य प्रत्यृहकारित्वस्य स्त्रीणां दोषस्य स्वयं

धर्माचरणेन निवारणात् स्त्रीषु कृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मत्वेन धर्मबोधकत्वात्, अग्रे राजसभाप्रवेशे उद्धवे प्रशन्निरूपणात् यादवानां भगवदिच्छाविरुद्धस्य जरासन्धजिगीषुत्वस्य दोषस्य निवारणात् भक्त्युधिष्ठिरपक्षपातस्य स्वरूपधर्मत्वात् धर्मनिरूपणं सप्तपटितमेऽध्याये ॥ ६७ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे नीतिपूर्वं जानता समर्थेनापि भगवदाज्ञां साहाय्यं वा लब्धव्यं जनोद्योगे भगवता आगत्य हिते उपदिष्टे कृते च तदनुसारेणैव कृतस्य वैदिककर्मणो यज्ञादेः साधनत्वं ज्ञापयितुं युधिष्ठिरप्रार्थनया तन्मनःप्रीणनार्थं सर्वसैन्यसाहित्येनेन्द्रप्रस्थं गतस्य भगवतो युधिष्ठिरादिकृतपूजादिरेश्वर्यबोधकत्वादिश्वर्यनिरूपणमष्टपटितमेऽध्याये ॥ ६८ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे युधिष्ठिरेण यज्ञार्थं स्वमनोविचारितनिवेदने भगवता च यज्ञायाज्ञप्ते तज्जातभ्यः स्वसामर्थ्यं दत्त्वा तैर्दिग्विजयस्य पुनर्ध्यायति युधिष्ठिरे उद्धवोक्तप्रकारमुक्त्वा भीमे स्वसामर्थ्यं दत्त्वा तेन जरासन्धवधस्य च वीर्यकार्यत्वादीर्यनिरूपणमेकोनसप्ततितमेऽध्याये ॥ ६९ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे जरासन्धरुद्रराज्ञां मोचनस्य तत्कृतसत्कृतेस्तेषां स्वाज्ञसलौकिकवैदिकसाधनकरणस्य च यशोरूपत्वाद् यशोनिरूपणं सप्ततितमेऽध्याये ॥ ७० ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे साधनरूपयज्ञसंसिद्धेः श्रीकार्यत्वाद् यज्ञे शिशुपालादिदैत्यसन्निधौ देवानां निःशङ्क-

मागमनहविग्रहणाद्यसंभवाद्देवशङ्कानिवृत्त्युपाये भगवत्पूजने कृते  
 दैत्यानां मतिशोभात् कृष्णगुणवर्णनजातमन्युना शिशुपालेन  
 स्वपीडादुत्थाय प्रकटयत्या दैत्यस्वरूपे दर्शिते भगवन्निन्दने च  
 कृते भगवता शिशुपालवधेन तच्छापारूपापत्तिनिवारणस्य च  
 श्रीकार्यत्वात् श्रीनिरूपणमेकसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७१ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे अभक्तसङ्ख्यागारूपं  
 साधनं वक्तुं युधिष्ठिरस्य अलौकिकीं यज्ञसंपत्तिं लौकिकी-  
 मन्तःपुरसभासंपत्तिं च दृष्ट्वा तप्ते दुर्योधने पुनर्जलस्थलदृशिभ्रमे  
 भीमादिभिः कृतेन हास्येन भयमाने भृशं संतप्ते पाण्डवेषु वैरं  
 निश्चित्य हस्तिनापुरं गते भगवतस्तूर्णीभावस्य भूभारहरणोपाय-  
 ज्ञानमूलत्वात् दुर्योधनमानभङ्गे समागतो रामोऽविचार्य  
 पाण्डवान् हनिष्यतीति ज्ञात्वा तद्रक्षार्थं भगवत्सत्र स्थितेरपि  
 ज्ञानमूलत्वात् ज्ञाननिरूपणं द्विसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७२ ॥

षट्चत्वारिंशाध्यायेऽङ्कुरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पुत्रादिमरणं  
 भूभारहरणं च जानतैव ज्ञानविरुद्धकरणाद्धर्मिलीलात्वम् ।  
 अत्र तु दुर्योधनभीमादीनां तज्ज्ञानाभावाद् भगवज्ज्ञानानुसारेणैव  
 सर्वकरणमिति ज्ञानलीलात्वमिति विभेदः ।

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनस्य  
 अनिष्टहेतुत्वेनासाधनत्वं ज्ञापयितुं आज्ञामुल्लङ्घ्य द्वारकात्  
 इन्द्रप्रस्थं गते रामे द्वारकायां शाल्वकृतात्मन्तपीडानिरूपणे  
 स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य पराजये मूर्च्छायां च द्वारकायुपेक्ष्य भगवत्  
 इन्द्रप्रस्थे स्थितिवोधनाद् वैराग्यनिरूपणं त्रिसप्ततितमेऽध्याये ॥  
 ॥ ७३ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे भगवदाज्ञायां सत्यां  
 लौकिकं वैदिकं च कर्मापि भगवत्प्राप्तिसाधनम् । आज्ञाभावे  
 तु भगवत्सेवनमेव परमं भगवत्प्राप्तिसाधनमिति ज्ञापयितुं  
 महादेववरप्राप्तपुरशास्त्रवधप्रसङ्गे पूर्वपक्षत्वेन मतान्तरसिद्ध-  
 मोहलीलोक्त्यनन्तरं सिद्धान्तकथने भगवत्पादसेवकानामूर्जिता-  
 त्मविद्ययाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकमात्मीयानन्तैश्वर्यालभकथनात्  
 कैश्रुत्येन शोकमोहादिरहितनिर्गुणकृष्णस्वरूपबोधनाद् धर्मि-  
 निरूपणं चतुःसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७४ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्पष्टदुःखाभावरूपफल-  
 दानार्थं कृष्णेन त्रिविधदुष्टहननानन्तरं पुरप्रवेशे सुरमानव-  
 मुन्यादिभिः कुसुमवर्षिभिरुपगीयमानत्रिजयत्वस्यैश्वर्यबोधकत्वा-  
 द्भगवति न्यस्तशस्त्रे यादवानामाज्ञाकारित्वस्याप्यैश्वर्यबोधकत्वा-  
 त्, रामेणापि अधमे वक्तरि सति श्रोत्रुणां पापसंभवज्ञानानुदय-  
 रूपस्य स्पष्टस्य दोषस्य सर्वसाधारणस्य निवारणार्थं ऋषिभिः  
 कलिकालदोषेण अधमस्य वक्तृत्वेन स्थापितस्य मृतस्य वधा-  
 नन्तरमृषीणां संतोषार्थं सर्वसामर्थ्यवन्तं श्रीभागवत्श्रवणकथ-  
 नाधिकारिणं स्वावतारं विधाय तत्पुत्रे स्थापनस्यैश्वर्यबोधकत्वा-  
 द्बधनिर्वेशेन लोकसंग्रहस्य मुनीनां वरेण छन्दनस्य चैश्वर्यबोध-  
 कत्वाद्वैश्वर्यनिरूपणं पञ्चसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७५ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे अस्पष्टदुःखाभावरूपफल-  
 दानार्थमगृहीतशस्त्रेणैव कृष्णेन पाण्डवेषु स्वसामर्थ्यं स्थापयित्वा  
 सर्वसाहाय्यकरणस्य वीर्यबोधकत्वात् रामेणापि ऋषीणामसा-

धारणदोषस्य बल्वलस्य हननानन्तरं तीर्थोभिषेकेण तीर्थेषु विद्यमानानां दैत्यसंबन्धेन वर्णाश्रमधर्मानाशकानां दोषाणां निवारणस्य वीर्यकार्यत्वात्, ऋषीणां ज्ञानोपदेशेन श्रीभागवत-श्रवणेऽनन्यत्वरूपाधिकारसंपादनस्य च वीर्यकार्यत्वात् वीर्य-निरूपणं पद्मसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७६ ॥

भगवता त्रिविधदुष्टहननेन त्रिगुणकृतदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः यादवानां पाण्डवानां च स्पष्टास्पष्टदुःखनिवारणं, रामेणापि मृतवधेन कालदोषनिवृत्त्या, बल्वलवधेन तीर्थोभिषेकेण च देशदोषनिवृत्त्या यज्ञज्ञानेन चात्मदोषनिवृत्त्या दुःखाभावः सूत-वधेन ऋषीणां स्पष्टदुःखहेतुनिवारणम्, यज्ञद्रूपकबल्वलवधाद्यज्ञ-संपादनेन ज्ञानोपदेशेन च ऋषीणामस्पष्टदुःखहेतुनिवारणम् । तीर्थोभिषेकेण दैत्यसंबन्धनिवारणात्, सर्वलोकानामस्पष्टदुःख-हेतुनिवारणमित्यध्यायद्वयविभेदः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं मुद्राम्नी ब्राह्मणस्य अर्थं ऋषेर्देरिद्रस्य पूर्णं ऋषित्वभक्तत्वरूपा-लौकिकसंपत्तिसंपादनाय श्रीनिकेतने भ्रातृवत्संमाननसंभाषणा-देर्यशोरूपत्वाद्यशोनिरूपणं सप्तसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७७ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सुखोत्कर्षरूपफलदानार्थं तण्डुलैकमुष्टिं जग्ध्वा परोक्षं ब्राह्मणभार्यायै लौकिकसर्वसमृद्धि-दानात् श्रीनिरूपणमष्टसप्ततितमेऽध्याये ॥ ७८ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वेषां वाञ्छिताकारेण कृष्णेन कुरुक्षेत्रे आगतानां सर्वजनानां सान्निध्यदर्शनादिभिः शुद्धसात्त्विकभावं संपाद्य देहादिकं जगत्सर्वं विस्मार्थं निजपर-

त्वमपि संपाद्य यथाधिकारं स्वरूपात्मकं फलं दातुं सर्वलोक-प्रसिद्धं तादृशं कालं निमित्तीकृत्य कुरुक्षेत्रे सर्वजनानयनस्य स्वगमनस्य च सर्वजननिरोधोपायज्ञानमूलत्वात्, गोपीनां सर्वभावेन निरोधार्थमन्ते साक्षाज्ज्ञानोपदेशाच्च ज्ञाननिरूपणमे-कोनाशीतितमेऽध्याये ॥ ७९ ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे स्त्रीणामत्यन्तबल्लभस्य कृष्णस्यैव फलत्वं ज्ञापयितुं सर्वस्त्रीणां स्वस्वपतीं विद्यमानस्य सहजस्नेहस्य निवृत्तये पूर्वकृतौ पश्चात्तापपूर्वकं कृष्णे स्नेहवृद्धये च द्रौपदीपृष्ठाभिः कृष्णमहिषीभिः लोकतो वेदतश्च भगवदुत्कर्ष-ज्ञापकस्वस्वविवाहप्रकारकथनानन्तरं साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगि-देहसंपादकदास्यप्रार्थनया चरणरजःप्रार्थनया च कृष्णे कामा-द्यभावज्ञापनाद् वैराग्यनिरूपणमशीतितमेऽध्याये ॥ ८० ॥

सात्त्विकप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वसाधनवतामृषीणां भगवद्दर्शनार्थमागमनकथनेन तत्कर्तृकभगवत्स्तुत्या स्तुतौ चात्मसमर्पणकथनेन च ऋषिदेवपितृणां चात्यन्तबल्लभस्य कृष्ण-स्वरूपस्यैव फलत्वकथनात्, यादवानां सात्त्विकत्वभगवदीयत्व-भवनार्थं संस्कारमात्रेण स्थितस्य राजसत्वदोषस्य प्रमेयबलेन भगवता निवारणे कृतेपि उद्धवप्रश्नरूपनीत्यालम्बनात् पुनर्या-दवानां संदेहोत्पत्त्या कृष्णे लौकिकबुद्ध्युदये भगवदीयत्वपूर्वक-सर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासंपादकनिरोधाभावात् पुनः प्रमाणबलेन दोषनिवारणार्थं तदनन्तरं च सात्त्विकत्वभगवदीयत्वपूर्वकं सर्वभावेन पूर्णनिर्गुणतासंपादकनिरोधार्थं च वसुदेवपृष्टैर्मुनिभिः

प्रमाणभूतैः नारदेन निवृत्तसंदेहैर्वसुदेवे कर्मनिर्हारेषणापरित्याग-  
 क्रमपाकरणरूपयज्ञफलासंभवात् कृष्णस्यैव यज्ञफलरूपत्वे  
 योचिते तदर्थमेव यज्ञेषु कारितेषु च लौकिकवैदिकसाधनानां  
 सफलसिद्धावेकीभावानिवृत्तदोषाणां यादवानां सात्त्विकत्वे  
 भगवदीयत्वे च संपन्ने सर्वभावपूर्वकं पूर्णनिरोधेन निर्गुणत्वे च  
 संपन्ने सात्त्विकप्रकरणे निरूपितानां सर्वेषामप्यवभृथस्त्रानेन  
 पूर्वोक्ते संपन्ने स्वरूपेणैव परमोत्सवलक्षणफलदानाद्धर्मिनिरूपण-  
 मेकाशीतितमेऽध्याये ॥ ८१ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे ज्ञाना-  
 धिकाररहितस्यापि पितृवसुदेवस्य निजैश्वर्यवलादेवान्तरानन्द-  
 दायकसर्ववेदार्थज्ञानदानेन भक्तिसिद्धयर्थं वैदिकैश्वर्यप्रकटनात्,  
 देवक्या मातृवाङ्मानन्ददायकपुत्रदानेन भक्तिसिद्धयर्थं लौकिकै-  
 श्वर्यप्रकटनात्, कालग्रस्तानां स्वस्पर्शमात्रेणात्मदर्शनीत्पादन-  
 रूपमोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्यासुरयोनिनिवृ-  
 त्तिपूर्वकं मातृस्नेहोत्पादकयथावस्थितपूर्वरूपसंपादनक्रियया च  
 समग्रैश्वर्यबोधनादैश्वर्यनिरूपणं द्यशीतितमेऽध्याये ॥ ८२ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सुभ-  
 द्राया आधिदैविकमायात्वेन जीवभोग्यत्वाभावात् मायातो  
 वेदानां भीतत्वेन तस्यां वैवाहिकविध्ययोगेन विवाहस्यापि  
 दुर्घटत्वात् भगवत्तश्च भ्रातृत्वेन तद्भोक्तृत्वाभावात् लोकदोषेण  
 सर्वेदा कन्यात्वेनैव स्थितेरयुक्तत्वात् पापण्डसंन्यासवेषिण्यर्जुने  
 नरे स्वावेशं विधाय चौर्ध्वेण तत्प्रदाने बुद्धिवीर्यप्रकटनात् स्वस्य

मुनीनां चैकेनैव रूपेण जनकश्रुतदेवयोगेहे एकस्मिन्नेव काले  
 प्रवेशात् मिथिलानरयोपितां कल्याणार्थं जनकगेहे बहुकालवासे  
 श्रुतदेवे सन्मार्गोपदेशार्थं तद्गृहे एकदिनवासेप्यग्रे कालद्वयस्य  
 तुल्यत्वेन स्वमदर्शनवज्जातविस्मयेषु मुनिषु स्वक्रियावीर्यं प्रदर्श्य  
 सहनीतप्रदर्शितवीर्यमुनिद्वारा अन्येषामपि वीर्यवेदित्वकरणाद्  
 वीर्यनिरूपणं त्र्यशीतितमेऽध्याये ॥ ८३ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे पूर्वसृष्टं  
 सर्वमापीय सुप्तस्य सर्वतत्त्वरूपस्य भगवतः शयनान्ते प्रबोध-  
 समये तत्त्वनिरूपणप्रकरेणाष्टाविंशतिविधानां वेदानां ब्रह्मपर-  
 त्वनिर्णयार्थं तत्तत्प्रकरणसंदेहनिवारकैर्वाक्यशेषरूपैरष्टाविंशति-  
 वेदवाक्यैरेव स्तुत्या प्रबोधने लौकिकयुक्त्यगोचरस्यालौकिकस्य  
 कर्तृत्वादिद्वयस्य यशसो निरूपणात् यशोनिरूपणं चतुरशीति-  
 तमेऽध्याये ॥ ८४ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे भगवत्  
 एव श्रीपतित्वेन श्रीभोक्तृत्वान्मोहेन जीवैः श्रीभोगे अवश्यं  
 दुःखसंभवात् भगवत्तश्च विचार्यदातृत्वाद् भक्तेभ्यो दुःखहेतु-  
 श्रियोऽदानाद्भक्तानुग्रहार्थं भक्तेषु विद्यमानाया अपि श्रियो  
 हरणाद् भगवतः सकाशादेव प्राप्तश्रीणामविचार्यदातृणां शंकरा-  
 दिदेवानां दानेनैव संकटागमे तत्संकटस्य भगवतैव निवारणात्  
 श्रीनिरूपणं पञ्चाशीतितमेऽध्याये ॥ ८५ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वगुणज्ञापकगुणप्रकरणे  
 वैकुण्ठे श्रिय उत्संगे शयाने भगवति सत्त्वपरीक्षार्थं भृगुणा

लक्षाप्रहाररूपे क्रियापराधे उत्थाय नमनादिना ज्ञानचिह्न-  
रूपायाः क्षमायाः निरूपणात् सर्वगीतार्थवेदिनापि ज्ञानरहितेन  
स्वस्मिन् रक्षकत्वाभिमानवतार्जुनेन द्वारकायां मृतापत्यविप्रसङ्गे  
सर्वयादवसंनिधौ सकृष्णानां यादवानां ब्राह्मणत्वनटत्वांभ्र-  
त्वकथनरूपवचनापराधेपि कृतनिजात्यंतपुरुषकारस्यापि विप्रा-  
पत्यरक्षणाशक्तस्य परिभ्रान्तसर्वलोकस्याप्यलब्धद्विजसुतस्या-  
निस्तीर्णप्रतिज्ञस्याग्निं विवक्षोः प्रतिपेधेन क्षमाया ज्ञानचिह्न-  
रूपाया निरूपणाद् ज्ञानवतः समर्थस्यैव क्षमाज्ञानचिह्नत्वेन  
भूषणमिति ज्ञापयितुं सर्वागम्यादनिरुद्धस्थानादपि विप्रापत्या-  
नयनेन सामर्थ्यज्ञानयोरपि निरूपणाद् ज्ञाननिरूपणं पृथगीति-  
तमेऽध्याये ॥ ८६ ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सर्वसं-  
पत्समृद्ध्यायां द्वारकायां सर्वभोगयुक्तकृष्णस्त्रीणां भगवता मानस-  
तिरोधाने विरहव्याकुलानां कुर्यादिदशार्थनिरूपणमुखेन भग-  
वदतिरिक्तेऽनासक्तिरूपवैराग्यनिरूपणात् कृष्णे कैमुत्येन वैराग्य-  
बोधनाद् वैराग्यनिरूपणं सप्ताशीतितमेऽध्याये ॥ ८७ ॥

अथैकादशस्कन्धे, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे भूभारहरणसर्व-  
भक्तनिरोधरूपावतारप्रयोजननिष्पत्तिकथनपूर्वकं प्राप्तशापानां  
भिन्नत्वज्ञापनार्थं लीलामध्यपातियादवादिस्वरूपकथनपूर्वक-  
मासुरमोहनार्थं मौशलप्रसङ्गेन ज्ञानमुल्याङ्गभगवदभिप्रेतवैराग्य-  
निरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

इदमेव विद्यापूर्वरूपं, अविद्यापूर्वप्राणाध्यासनवर्तकं, ज्ञानेन  
ब्रह्मभावप्रकरणे द्वितीयाभिवेशनिवृत्तेरभयहेतुत्वेन तदर्थं  
भगवतः सर्वपदार्थानां च याथार्थ्यज्ञानपूर्वकं भगवद्भक्तैः सह  
भगवत्तोषहेतुभगवद्धर्मनिरूपणं द्वितीयेऽध्याये ॥ २ ॥

इदमेव सर्वयाथार्थ्यज्ञानं साङ्ख्यात्मकं विद्यापूर्वं स्वरूपा-  
ज्ञानरूपाविद्यापूर्वनाशकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे परिज्ञात-  
मायस्य दृढविरक्तस्य मायातरणार्थं गुरुं प्रपन्नस्य 'सर्वतो मनसो-  
ऽसङ्गा'दि (भा. ११-३-२३) सप्रेमलक्षणभगवद्धर्मान्तगुरुशिक्षित-  
धर्मोचरणेस्तीर्णमायस्य ज्ञातपरब्रह्मस्वरूपस्य निर्णीतवेदा-  
द्यभिप्रायस्य यथोक्तवैदिकैस्तान्त्रिकैर्वा यज्ञैर्ब्रह्मणि स्थित्यर्थं  
सर्वनिर्णयनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

इदं मनसोऽसङ्गरूपयोगात्मकं विद्यापूर्वं अन्तःकरणाध्यास-  
रूपाविद्यापूर्वनाशकं, ज्ञानेन ब्रह्मभावप्रकरणे तपस इन्द्रियशोधक-  
त्वाद् विस्तरेण नारायणतन्त्रेनिरूपणसहितसर्वावतारचरित्र-  
कथनेन नित्यं हरिकथाश्रवणनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये ॥ ४ ॥

इदं तपोरूपं विद्यापूर्वं, इन्द्रियाध्यासरूपाविद्यापूर्वनाशकं, ज्ञानेन  
ब्रह्मभावप्रकरणे कनिष्ठाधिकारिणः सन्निवेशार्थं भजननिन्दा-  
पूर्वकं यथाधिकारं युगानुरूपभजनकथनेन हरिपूजानिरूपणं  
पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

इदं भक्तिरूपं विद्यापूर्वं, देहाध्यासरूपाविद्यापूर्वनाशकं, भक्त्या  
सायुज्यप्रकरणे ज्ञानेन त्यक्तप्रकृतितद्गुणस्यैव निर्दोषस्य साधु-  
ज्यहेतुभक्तिसम्भवाद् देवस्तुत्या च भगवत्स्वरूपबोधनात्

ब्रह्माणं यादवांश्च प्रति भगवदुक्तौ मनुष्यनाड्यत्यागेच्छाबोध-  
नादग्रे भक्तस्योद्भवस्यापि त्यागेच्छाबोधनात् विषयत्वेन भक्ति-  
मुख्याङ्गमूलप्रकृतिनाशकत्यागेच्छाकारकभगवत्स्वरूपनिरूपणं  
पष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भगवदुपदिष्टसाधनैरेव प्राकृतसंसर्ग-  
नाशबोधनार्थं प्राकृताङ्कुरमहत्त्वनाशकसंक्षिप्तज्ञानोपदेशपूर्वकं  
पुरुषत्वे स्वबुद्धयैव दोषनिवृत्तिपूर्वकज्ञानसम्भवज्ञापकावधूतप्रसङ्गे  
शरीरप्रकृत्यष्टरूपपृथिव्यादिकपोतान्तबुद्ध्युपाश्रितगुरुशिक्षया  
कायिकदोषनिवृत्तिपूर्वकज्ञाननिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे त्रिवृदहङ्कारनाशबोधककामेन्द्रिय-  
वर्गाशानिवर्तकाजगरादिपिङ्गलान्तनवगुरुशिक्षया राजसभाव-  
निवर्तनेन वागादिसर्वेन्द्रियदोषनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे सबुद्धेः सात्त्विकस्यापि विद्यादिसङ्ग्र-  
हादिनिवर्तकपूर्णज्ञापकाष्टगुरुशिक्षया मानसदोषनिवृत्तिपूर्वक-  
ज्ञाननिरूपणं नवमेऽध्याये ॥ ९ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे आचीर्णयथोक्तवर्णाश्रमधर्मस्य भग-  
वदाश्रितस्य मोक्षधर्मेनिष्ठस्य युक्त्या देहादिभिन्नात्माचिन्तकस्य  
त्यक्तान्याभिनिवेशस्य शुद्धस्य विविक्तस्यैव भक्तिहेतुज्ञान-  
सम्भवादन्याभिनिवेशनिवृत्तये बाह्यसर्वलोकानां त्याज्यत्वार्थं  
युक्तिनिरूपणं दशमेऽध्याये, उक्तमाधिकारिणां तु बाह्यसर्वलोकानां  
त्याज्यत्वेपि मध्यमाधिकारिणां सर्वत्यागेऽशक्तानां सर्वथा

लौकिकत्वनिवृत्तये धर्मे प्रवृत्त्यर्थं पुनर्जन्मान्तरे त्यागसाम-  
र्थ्यार्थं च यज्ञफलरूपेषु स्वर्गादिलोकेषु ग्राह्यत्वनिरूपणं च  
दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्तिहेतुज्ञानसिद्धये आत्मनि नाना-  
त्वभ्रमनिवृत्तिपूर्वकं ब्रह्मणि निश्चलमनोधरणार्थमान्तरस्य  
बद्धजीवस्य त्याज्यत्वे युक्तिनिरूपणमेकादशेऽध्याये, ब्रह्मणि मनो-  
धारणेऽशक्तस्य सततसाधुसङ्गेन तदुक्तभक्त्यैव सर्वसम्भवादा-  
न्तरे साधोग्रहत्वार्थं कृपालुत्वादिगुणाविशिष्टसाधुनिरूपणपूर्वकं  
तदुपदिष्टमर्यादाभक्तिनिरूपणं चैकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साधोर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वा-  
दतिशयितभगवदनुग्रहेण पुष्टिसाधुसङ्गे भगवत्सङ्गे वा भगवति  
निरतिशयकेवलस्नेहोत्पत्त्या भगवत एव वश्यत्वे जाते मर्यादा-  
साधनाभावेपि पुष्ट्यैव साङ्ख्याद्यप्राप्यपरब्रह्मप्राप्त्या निरव-  
शेषसर्वार्थसिद्धेः कथनात् पुष्टिनिरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

ज्ञानभक्तिमार्गद्वयश्रवणादुभयत्र विरुद्धसाधनश्रवणाच्च जातस्य  
सन्देहस्य निवृत्तये भगवदात्मकमायिकयोः प्रपञ्चयोर्मूलमध्या-  
वसानैः सयुक्तिस्वरूपनिरूपणं च द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे मायामयभगवदात्मकप्रपञ्चयोः स्व-  
रूपं विज्ञाय मायागुणेन सत्त्वेनैव मायिकप्रपञ्चं निवर्त्य भगव-  
दात्मकप्रपञ्चे भगवदात्मकत्वेन स्थातव्यमिति ज्ञापनाय सत्त्वा-  
दिनिरूपणपूर्वकं विषयेषु दुःखे हेतुत्वं जानतीपि प्रमत्तस्याह-  
ङ्काराविष्टस्य सर्वनाशः श्रद्धालारप्रमत्तस्य दोषदर्शिनः शनै-



भगवति मनो युञ्जतः क्रमेण सर्वसिद्धिरिति ज्ञापनार्थं हंसोक्त्या श्रद्धालोर्गुणरूपतया युक्तिभिश्च सर्वं भगवानिति परोक्षज्ञाने जाते ततो भजनेन निःशेषसंशयानिवृत्त्या बुद्धौ भगवदावेशेन नाना-  
त्वानिवृत्त्या बन्धस्याहङ्कारहेतुकत्वे ज्ञाते संसारचिन्तानिवृत्त्या  
वृत्तित्रयसाक्षित्वेन जीवस्य वैलक्षण्ये ज्ञाते तुरीयस्थित्योभय-  
परित्यागेन गुणचित्तयोरन्योन्याविश्लेषे बुद्धेर्विशुद्धत्वे सम्पन्ने  
गीतोक्तप्रनाड्या शान्तत्वे जाते ब्रह्मभावोत्तरं परमकाष्ठापन्ने  
ज्ञाने परमया भक्त्या यथार्थभगवत्स्वरूपे ज्ञाते जीवस्य भगवति  
प्रवेशे पूर्णफलरूपकृष्णत्वानिरूपणं त्रयोदशोऽध्याये ॥ १३ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणेऽन्वैर्मतिवैषम्येण भिन्नवेदार्थकथनेपि  
हंसोक्तस्यैव परमश्रद्धाभक्त्या भगवदावेशेनोभयपरित्यागेनैव  
परमसाधनेन भगवति प्रवेशे कृष्णत्वरूपपरमफलस्य वेदतात्पर्य-  
विषयत्वानिरूपणेन श्रद्धाहेतुना युक्त्या हीनभावदोषानिवृत्त्या च  
श्रद्धाबोधनपूर्वकं ध्यानरूपसाधनसहितभक्तिनिरूपणं चतुर्दशोऽ-  
ध्याये ॥ १४ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे ध्यानोपनतसिद्धीनामन्तरायत्वेना-  
वेशप्रवेशबाधकत्वान् निवृत्त्यर्थं कृष्णादेव सर्वमिति दृढनिश्चय-  
सहितध्यानेनावेशप्रवेशसिद्धयर्थं च तसिद्धिहेतुभूतध्यानभेद-  
निरूपणं पञ्चदशोऽध्याये ॥ १५ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्त्या जातस्य यावत्त्वादिरूपेण  
ज्ञानस्य प्रवेशं प्रति व्यापारत्वकथनात् यावत्त्वादि ज्ञापयितुं  
सर्वरूपेषु भजनस्य फलसाधकत्वेपि मूलरूपकृष्णभजनस्यैव

कृष्णत्वरूपपूर्णफलसाधकत्वमिति बोधयितुं चार्जुनसारथिरूपे-  
णोक्तप्रकारेण सकलविभूतिनिरूपणं षोडशोऽध्याये ॥ १६ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे वर्णाश्रमधर्मशुद्धस्यैवापाखण्डिनो  
भगवद्भक्तिसम्भवाद् वर्णानां प्रवृत्त्युपयोगिपूर्वाश्रमद्वयस्य च  
धर्माणां निरूपणं सप्तदशोऽध्याये ॥ १७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे निवृत्त्युपयोग्युत्तराश्रमद्वयस्य ज्ञान-  
वैराग्यभक्तिसिद्धस्यात्याश्रमिणो ज्ञानरहितविरक्तस्य च धर्माणां  
निरूपणमष्टादशोऽध्याये ॥ १८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्त्युपयोगिविषयवैतृष्ण्यस्यान्यत्र  
श्रद्धानिवृत्तिपूर्वकं भगवति श्रद्धायाश्च हेतुभूतयोर्यथोक्तयमादि-  
साधनज्ञानाचरणसिद्धयोर्ज्ञानविज्ञानयोर्भीष्मोक्तप्रकारेण कथ-  
नाद् भक्तिपरम्पराकारणनिरूपणं 'श्रद्धामृते' त्यादिना च  
भक्तिसाक्षात्कारणनिरूपणं चैकोनविंशोऽध्याये ॥ १९ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे भक्तिहेतुज्ञानचिह्नस्य गुणदोषदृष्टि-  
राहित्यस्य गुणस्य सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं गुणत्वदाढ्यार्थं कर्मज्ञान-  
भक्तिमार्गाधिकारिषु कर्मज्ञानभक्तिमार्गाणामेव गुणदोषदृष्टि-  
निवर्तकत्वेन गुणत्वकथनान् मार्गत्रयविरोधपरिहारनिरूपणं  
विंशोऽध्याये ॥ २० ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे यथोक्तमार्गत्रयोपायानां यथावगत-  
धर्मेऽशक्तस्य तत्र श्रद्धावतोतिजघन्याधिकारिणः शनैस्त्याग-  
रूपातुकल्पार्थं शुद्धिनिर्णयनिरूपणं वेदे गुणदोषकथनमनुकल्पार्थं  
न तु वस्तुभेदबोधनार्थमिति ज्ञापयितुं वेदनिर्णयनिरूपणं  
चैकविंशोऽध्याये ॥ २१ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे तत्त्वाष्टाविंशतिसङ्ख्याया निवृत्त्यर्थक-  
व्यवहारोपयोगित्वेन सार्थकत्वादभेदपर्यवसाने प्रकृतिपुरुषयो-  
रपि विश्लिष्टशक्तिब्रह्मणः सकाशात् जातयोः परस्परमत्यन्त-  
विलक्षणयोरपि बीजैक्येनाभेदपर्यवसानेपि स्वात्मज्ञानमात्रपर्यव-  
सितानां भगवतः परावृत्तबुद्धीनां मायया त्रिविधभानसम्भवेन  
भेदबुद्धयनुबुद्ध्या मनोदोषेणापराधसम्बन्धे निर्मोक्षादपराधा-  
भावायातिक्रमसहनरूपलक्षणसहितमनोदण्डकर्तव्यतानिरूपणं  
द्वाविंशोऽध्याये ॥ २२ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साधनमाचरतोपि जीवस्य पूर्ववास-  
नया दुःखप्राप्तौ भगवति दोषारोपेऽपराधसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थ-  
मतिनिर्विण्णाभिभूक्तस्य स्वकर्मावश्यं भोक्तव्यमेवेत्येव भावना-  
रूपस्य मनोदण्डसाधनस्य “ नार्यं जनो म ” इत्यादिनोक्तस्य  
सर्वसाधनपर्यवसानरूपस्य सुखदुःखाभावहेतोर्भनःपरित्यागस्य  
च निरूपणं त्रयोविंशोऽध्याये ॥ २३ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे मनःपरित्यागे साधनान्तरारोपेक्षा-  
भावेपि मनःसाधकत्ववाञ्छायां सर्वेयाथार्थ्यज्ञापकत्वेन मोहा-  
भावहेतोः शुद्धसाङ्ख्यस्य निरूपणं चतुर्विंशोऽध्याये ॥ २४ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे साङ्ख्योक्तज्ञानस्यापरोक्षतादशया-  
मेव सर्वथा मोहनिवर्तकत्वेन परोक्षतादशयां गुणानां प्रबल-  
त्वेन तैर्मोहसम्भवे तन्निवारणार्थं गुणानां गुणकार्यस्य चाष्टा-  
विंशतितत्त्वमात्रत्वनिवारणाय निर्गुणानां पदार्थानां च स्वरूप-  
निरूपणपूर्वकं गुणजयप्रकारनिरूपणं पञ्चविंशोऽध्याये ॥ २५ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे निर्जितगुणजयस्य मोहरहितस्यापि  
सङ्गदोषेण नाशसम्भवे स्वात्मना प्रबुद्धपुरुषः प्रोक्तरीत्या सङ्ग-  
त्यागेन सत्सङ्गेन च पुनर्गतिलाभनिरूपणं षड्विंशोऽध्याये ॥ २६ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे सङ्गान् नष्टस्यापि जातिस्मरणस्य  
स्वत एव पूर्वसिद्धज्ञानोदयात् सङ्गत्यागमात्रेण गतिलाभ-  
सम्भवेपि जातिस्मरणरहितस्य सङ्गान् नष्टस्य जातिस्मरत्वार्थं  
वेदान्त्रमिश्रप्रकारेण हरिपूजानिरूपणं सप्तविंशोऽध्याये ॥ २७ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे जातिस्मरणस्य सर्वसाधनपूर्वकं सोप-  
पत्तिकज्ञाननिरूपणमष्टाविंशोऽध्याये ॥ २८ ॥

भक्त्या सायुज्यप्रकरणे पूर्वोक्तसाधनेष्वशक्तस्य फलप्रेप्सोः  
सर्वमिश्रितसुगमप्रकारनिरूपणं ऊनत्रिंशोऽध्याये ॥ २९ ॥

इच्छया ब्रह्मसुक्तिप्रकरणे ममतास्पदयादवादिनाशकथनेन  
ममतात्यागाभिनयनिरूपणं त्रिंशोऽध्याये ॥ ३० ॥

इच्छया ब्रह्मसुक्तिप्रकरणे संहन्तास्पदतनुत्यागकथनेनाहन्ता-  
त्यागाभिनयनिरूपणमेकत्रिंशोऽध्याये ॥ ३१ ॥

इतिमुक्तिनिरूपणे एकादशस्कन्धः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशस्कन्धः । हर्याश्रयप्रकरणे शूद्रपर्यवसानेन लोक-  
नाशनिरूपणं प्रथमेऽध्याये ॥ १ ॥

हर्याश्रयप्रकरणे अधर्मसम्पूर्त्यां धर्मनाशनिरूपणं द्वितीयेऽ-  
ध्याये ॥ २ ॥

हर्याश्रयप्रकरणे लोकधर्मयोर्नाशे कल्केः सर्वसाधारणाश्रय-  
त्वेपि जीवोपरि दयायां बहुकालविलम्बसंहिष्णुत्वात् ततः  
पूर्वमपि दयाविलम्बकारणगर्वदोषस्य कीर्तनेन निवृत्त्या पूजा-

दिना रूपात्मकस्य श्रवणकीर्तनैर्नामात्मकस्य प्रसन्नस्य स्वात्म-  
प्रदर्शकस्य हरेः पूर्णाश्रयत्वनिरूपणं तृतीयेऽध्याये ॥ ३ ॥

जगदाश्रयप्रकरणे प्रपञ्चस्य चतुर्विधप्रलयकथनात् तत्कर्तृत्वेन  
क्रियाशक्तिविशिष्टप्रलयावशेषरूपान्तराश्रयनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये  
॥ ४ ॥

जगदाश्रयप्रकरणे पुराणोक्तं भगवन्तं स्मारयित्वा मृत्युभय-  
निवारणार्थं जन्ममरणादिरहितात्मस्वरूपपुक्त्वा जन्ममरणादे-  
र्देहपर्यवसायित्वं संसारस्याऽवस्तुत्वं आगन्तुकत्वं च बोधयित्वा  
आन्तरस्य जीवस्य ब्रह्मत्वचिन्तनेन ब्रह्मण्याधाने सर्वत्र  
भेदरहितब्रह्मभानकथनात् ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तराश्रयनिरूपणं  
पञ्चमेऽध्याये ॥ ५ ॥

आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयप्रकरणे प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदभिन्न-  
वेदादिभिरेव यथार्थत्रितयज्ञानसम्भवाद् राजवृत्तान्तेन राज्ञो ब्रह्म-  
भावं ततः पदनिरूपणेन फलं ततः साधननिरूपणेन स्वस्य वक्तुः  
सूतस्य श्रवणाधिकारं च पूर्वोत्तराश्रयाङ्गत्वेन मध्ये बोधयित्वा  
त्रितयज्ञापकप्रवृत्त्युपयोगिसफलत्रयीनिरूपणं षष्ठेऽध्याये ॥ ६ ॥

आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयप्रकरणे त्रितयज्ञापकनिवृ-  
त्त्युपयोगिफलयुक्ताथर्वपुराणादिनिरूपणं सप्तमेऽध्याये ॥ ७ ॥

अत्र प्रकरणे वेदादिभिर्विदितयथार्थत्रितयस्वरूपः साधनै-  
र्जातसाक्षात्कारः फलत्वेन श्रवणादिकर्ता शुकादितुल्यो जीवो-  
प्यन्येषामतादृशानामाश्रय इति फलति ॥ ७ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे त्रिविधभक्तेस्तत्प्रापकत्वान् मार्केण्डेये  
क्रमेण त्रिविधभक्त्युद्भवात् तपोविशङ्कितेन्द्रप्रेषितकामादिगणै-

रप्रतिघाततपोबोधकभगवद्वाक्यकरणेन निष्ठाबोधनाद् भगवदाग-  
मनतस्तुतिभ्यां निष्ठाफलबोधनात् च अत्यन्तं निष्ठाप्रभोपासना-  
रूपकर्ममार्गीयत्वेन भौतिकभक्तिनिरूपणमष्टमेऽध्याये ॥ ८ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे वरासुभूतमायायास्त्रिगुणात्मकत्वेन  
गुणद्वयपर्याये क्लिष्टस्य तृतीयपर्याये सत्त्वगुणेनाचिन्त्यानन्तशक्ति-  
भगवद्दर्शनेपि तस्मिन् प्रवेशनिर्गमाभ्यां सुखदुःखोक्त्या सत्त्व-  
गुणस्यापि जाग्रत्स्वप्नवत् पर्यायेण ज्ञानाज्ञानजनकत्वेन दुःख-  
पर्यवसानबोधनात् पुनरतिक्लिष्टस्य भगवदपाङ्गनिराक्षितस्य  
क्लेशहेतुसर्वपरित्यागेन भगवत्परिष्वङ्गार्थमभिगमने भगवतो  
हृदि प्रवेशे मायातिरोधानकथनादत्यन्तनिष्ठापन्नक्लेशेन भगव-  
न्मार्गात्मकज्ञानमार्गीयत्वेनाध्यात्मिकभक्तिनिरूपणं नवमेऽ-  
ध्याये ॥ ९ ॥

सर्वान्तराश्रयप्रकरणे भक्तस्य भक्तिमार्गोपदेशेन भक्तिदाने-  
धिकृतस्य महादेवस्य प्रसादेन मार्केण्डेये भक्तत्वसर्वज्ञत्वसुस्थ-  
त्वकथनान् माहात्म्यज्ञानपूर्वकं भगवच्छरणगमनं सर्वोपेक्षा-  
राहित्यं भक्तमाहात्म्यपूर्वकं तेषु भक्तिः, एकान्तभक्त्या पर्यटन-  
मित्येवंरूपभक्तिमार्गानुसारेणात्यन्तभक्तिनिष्ठाकथनात् चाधि-  
दैविकभक्तिनिरूपणं दशमेऽध्याये ॥ १० ॥

अत्र प्रकरणे त्रितयभक्त्यतिरिक्ताया आश्रयरूपायाः स्वतन्त्र-  
भक्तिविषयस्य सर्वसाधनानुकूलस्य भगवत आश्रयत्वं फलति ।

परमाश्रयप्रकरणे सूर्योपाधिककालसापेक्षपुरुषाराधनपूर्वकं  
श्रीभागवतवाक्येन कथायोगरूपाधिदैविकभगवतनिरूपण-  
मेकादशेऽध्याये ॥ ११ ॥

परमाश्रयप्रकरणे श्रीभागवतवाक्येन केवलकथारूपाध्या-  
त्मिकभागवतानेरूपणं द्वादशेऽध्याये ॥ १२ ॥

परमाश्रयप्रकरणे फलेषुं प्रति पुराणत्वादिरूपेण केवलकथा-  
योगरूपाधिभौतिकभागवतनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये ॥ १३ ॥

अत्र प्रकरणे तुरीयरूपस्य सर्ववेदान्तसारत्वेन ज्ञातरि पर-  
मानन्दजनकस्य स्वान्तःस्थितसर्वत्वेन स्वयं फलिष्यतो  
' बर्हापीडे ' त्यत्र ' गीतकीर्ति ' पदेन तद्विमर्शश्लोकेन च  
विद्युतप्रकारस्य श्रीभागवतस्याश्रयत्वमिति फलति, मम त्वन्यदपि  
प्रतिभाति, द्विधा हि भक्तेषु भगवतः फलदानेच्छा, लोकवेद-  
नाशोपि, सर्वसाधननैरपेक्ष्येण केवलकृपयैव महत्सङ्गद्वारेणेत्येकः  
प्रकारः, स्वयं साधनानुकूलो भूत्वा साधनक्रमेणेति द्वितीयः  
प्रकारः, तत्र येषु प्रथमप्रकारस्तेषु तु प्रथमप्रकरणरीत्या लोक-  
वेदनाशोपि सर्वसाधनाभावेपि केवलमहत्सङ्गेन तत्कृपाद्वारेण  
च प्रथमं पूर्णो हरिर्वेहिः प्रकटो भूत्वा फलरूपपूजादिना रूपेण  
फलरूपश्रवणकीर्तनैर्नाम्ना चान्तः प्रविश्य सर्वान् दोषान् निवार्य  
पूर्णाश्रयो हरिर्भवति, येषु तु द्वितीयः प्रकारस्तेषु तु विलोम-  
रीत्याग्रिमप्रकरणचतुष्टयोक्तप्रकोरण, तत्र पूर्वं ज्ञानाभावसाधन-  
राहित्यदशायां पञ्चमप्रकरणोक्तं भौतिकं पुराणत्वादिरूपं  
भागवतं श्रवणेनाश्रयः, ततः किञ्चिदधिकारोत्कर्षं समाध्यनु-  
भूतं व्यासोक्तं भागवतं श्रवणेनाश्रयः, ततोप्यधिकारोत्कर्षं  
तन्त्रोक्तपुरुषारोपनपूर्वकं व्यासोक्तमाश्रयः, तेन च चतुर्थप्रक-  
रणोक्ता त्रिविधा भक्तिः क्रमेण जायते, तथा च तृतीयप्रकर-

णोक्तवेदाद्यर्थानुभवे आध्यात्मिकादित्रिविधा, भगवत्स्वरूपानु-  
भवे च भक्तत्वं तेन च द्वितीयप्रकरणोक्तान्तर्यामिरूपपञ्जीवाश्रय-  
प्रलयावशेषजगदाश्रयरूपस्य हृदि प्राकट्यं, ततोपि परमानुग्रहे  
प्रथमप्रकरणोक्तस्य लोकवेदातीतस्य सर्वनिरपेक्षस्य हरेरन्तर्वेहिश्च  
प्राकट्ये फलरूपश्रवणादिकरणं फलरूपविध्यनपेक्षपूजादिरूपं  
सेवनं च परमाश्रय इति द्वादशस्कन्धोक्तानां पञ्चानां प्रकरणा-  
नामाश्रयनिरूपकत्वेन सङ्गतिरिति ॥

श्रीकृष्णः सततं वीक्ष्य निजनिःसाधनस्थितिम् ।  
निःसाधनफलात्मत्वात् स्ववासं गोकुलेऽकरोत् ॥ १ ॥

नमामि श्रीमदाचार्यान् यत्कृपालेशतो जनः ।  
शुद्रोपि श्रीकृष्णवासं गोकुलरायमाणुयात् ॥ २ ॥

श्रीभागवततत्त्वानां प्रदीपस्यापि या कृता ।  
टीकावरणभङ्गाख्या गोस्वामिपुरुषोत्तमैः ॥ ३ ॥

तां विलोक्य विचार्यापि यथामति मयाखिलाः ।  
अध्यायार्था विलिखिताः स्वमनस्तोषहेतवे ॥ ४ ॥

तथापि बुद्धिदोषेण यद्युक्तं विचारितं ।  
तच्च छोधनीयं विद्वद्भिः श्रीवल्लभमदाश्रयैः ॥ ५ ॥

' करकृतनपराधं क्षन्तुमर्हन्ति सन्त ' इति वचनादक्षरचणोपरि  
कामानुजो न कार्यः शोधनसमये ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूपितमूर्त्तिर्विजयते ।

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणप्रकटितसप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतं तृतीयं

## श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणम् ।

सप्रकाशम्

(श्रीगो० श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतावरणभङ्गाख्यव्याख्यासमेतम् ।)

अथ प्रथमस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—श्रीभागवतप्रकरणं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिपाद्यरूपं भगवन्तं  
सङ्कीर्तनेन स्तौति श्रीकृष्णमिति—

निबन्धः—श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।

सर्वभक्तसमुद्गारे विस्फुरन्तं परं गुणम् ॥ १ ॥

प्रकाशः—कृष्णशब्देन परं वस्तुच्यते । तदेव कदाचित् 'परमसौन्दर्यं स्वगतं

श्रीमत्पुरुषोत्तमपादप्रणीततत्त्वदीपप्रकाशाचरणभङ्गः ।

निखिलश्रुतिगणसारोऽधिकाररहितोऽपि यो मुक्तिम् ।

भद्रावति वितरति तं पुराणपुरुषं सदा बन्धे ॥ १ ॥

पूर्वप्रकरणसमाप्त्यैवैतदारम्भस्य समर्थितलानुत्तरीयं प्रकरणं व्याख्यातुमेवारभन्ते भाग-  
वतेत्यादि । सङ्कीर्तनेनेति, सम्यक्स्वरूपकथनेन परं वस्तुच्यत इत्यादि । एतेन परवस्तुत्व-  
बोधिका यावत्यो निरुक्तयः 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्याद्याः श्रौत्यः, 'कृषिरुक्कृष्टवचनो नश्च  
सद्भक्तिवाचकः । अत्रापि वाच्यवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' इत्याद्याः पौराण्यः, 'पुरुषः स परः  
पार्थ' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्याद्याश्च सङ्गृहीताः । तेन 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयं' 'कृष्णमेनमेवेहि  
त्वम्' इत्यादिशुद्धं परत्वं 'धर्मोर्लौकीलोपयिकम्' इत्यादिशुद्धं परमसौन्दर्यं च तस्मिन्नेवोपसंद्ध्यतम् ।

१. यन्मूर्त्तिलोपयिकं स्वयोगमायाबद्धं दर्शयता गृहीतम् । विष्णोर्न स्वस्य च सोमगर्हः परं पदं  
भूष्णभूष्णम् ॥ तृतीयस्य द्वितीये । २. कृष्णे ।

प्रकटीकरिष्यामी'ति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः । अनेन विभूतित्वं निवारितम् । फलरूपतामाह परमानन्दमिति । तस्य साधनं श्रवणमिति, तद्विषयरूपतामाह दशलीलायुतमिति । अवतारप्रयोजनमाह सर्वभक्तसमुद्धार इति । ततोऽप्यन्यो महान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह परमिति । अवतारस्तु स्तुतिप्रिय इति ज्ञापयितुं नुम इति ॥ १ ॥

सिद्धे भागवते किं त्वया कर्तव्यमिति शङ्कां वारयितुं स्वग्रन्थविषयमाह शास्त्र इति—

**निबन्धः—शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।  
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥ २ ॥**

**प्रकाशः—**भागवतार्थेस्तादृशो बक्तव्यो यो द्वादशस्कन्धार्थेष्वनुस्यूतो भवति । एवमुचरत्रापि स्वावयवेष्वनुस्यूतस्तद्विरोधो भवति ।

तस्य फलमाहुरनेनेत्यादि, मूलरूपाकारसहिताविर्भावकथनेन । 'ताविनौ वै भगवतः' 'तयोरेको बलभद्रो बभूव' 'वासुदेवो भगवता' 'शृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी'त्याद्युक्तं विभूतित्वं निवारितम् । पुल्ले तदवयवनामिव तस्मिन्सांगविनाभावबोधनेन तावन्मात्रतया निवारितमित्यर्थः । फलरूपतामाहिति । उक्तविधं वस्तु श्रीभागवते 'फलमत उपपत्तेः' इतिन्यायवत्फलान्तरदाख्येन न प्रतिपाद्यते, किन्तु तथात्वे सति भूपत्तेन निरन्ध्यानन्दरूपतया प्रतिपाद्यत इति वस्तुं फलरूपतामाहोत्यर्थः । तस्त्रेत्यादि । तादृशमपि तत्फलदातृत्वपूर्वकं प्रतिपाद्यत इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायां तस्य फलस्य साधनं श्रीभागवतश्रवणमितिहेतोः श्रवणविषयरूपतामाहोत्यर्थः । तथाच प्रलयवत् प्रसूतमव न प्रतिपाद्यते, किन्तु दशलीलारूपव्यापारं कुर्वन्श्रवणविषयत्वेन प्रतिपाद्यत इत्येव तद्वमकमित्यर्थः । अवतारोऽस्यादि । तर्हि मूलस्यानखिल्यापि फलसिद्धेः श्रुत्यापि तस्मिन्नेवतारस्य श्रीभागवतस्य च किन्प्रयोजनमित्याशङ्क्यां तैत्रयप्रयोजनमाहोत्यर्थः । सर्वस्यादि । मन्दादिभेदेन त्रिविधानां भक्तानां सम्भगनायासेनोद्धारो, निमित्तात्मकेयोग इति सप्तमी । उद्धारार्थं विशेषण तद्व्याख्यारूपेण स्फुरन्तं तत्तद्दृश्ये भागमानम् । तथाप्यसाधनानामनायासेन शीघ्रं हृदयप्रवेशो ध्यापिवैकुण्ठादिहागमस्य प्रयोजनमित्यर्थः । अन्य इति, अन्योऽवतारः । स्तुतिप्रिय इति, उक्तार्थवाक्यगुणवर्णनं प्रिय यस्य तादृशः । तथाच पद्माध्याय्यादियु स्तुत्या प्राकञ्चान्दुन्यादियु मसादाच तदर्थं स्तुतिरित्यर्थः ॥ १ ॥

१. उपसंहारस्य । २. श्रीकृष्णे विभूतीनाम् । ३. भगवताप्रयोजनमाह । ४. तथाच निःशेषनतामित्यसि पाठः ।

अक्षराणामपि प्रत्ययरूपाणामर्थोऽस्ति प्रकटः । सर्वगमेवार्थोऽस्तीत्यनोचाम । खण्डशो-  
ज्यैश्रतिपादने वाक्यार्थः कृत्रिमो भवेदिति तन्निराकरणार्थमाह एकार्थमिति । यथा  
भगवान् पद्मगुणैश्वर्ययुतस्तथा भागवतार्थः स्कन्धार्थयुक्तः । एवं ज्ञानस्यावान्तरफ-  
ल्माह संसाराण्मुच्यत इति । भक्त्यर्थमेवा मुक्तिरपेक्ष्यते ॥ २ ॥

तत्र भागवतार्थमाह आनन्दरूपेति—

**निबन्धः—आनन्दस्य हरेर्लीला शान्मार्थो दशधा हि सा ।  
“अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ॥ ३ ॥  
मन्वन्तरेशानुक्तया निरोधो मुक्तिराश्रयः” ।  
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि ॥ ४ ॥  
निरूप्य सङ्ख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा ।  
तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता ॥ ५ ॥  
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः ।  
इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः ॥ ६ ॥**

**प्रकाशः—**आनन्दरूपस्य लीलाप्यानन्दरूपा । हरेश्च लीला सर्वदुःखहरिणी ।

एवमेकेन श्रीभागवतप्रतिपाद्यो भगवान्स्वरूपकथनमात्रेण स्तुतः । अतः परमेकेन  
निबन्धप्रकरणप्रयोजनं यदन्ति सिद्ध इत्यादि ।

अविरोधो भवतीति । तथाच सत्त्वार्थविरोधप्रतिपादनं स्वमन्विषय इति नास्मत्त्ववि-  
वेच्यमित्यर्थः । नन्वनुतीवनस्य पदार्थ एव पर्यवसानं शक्यं, न त्वक्षरार्थं, पदावयवमूलानाम-  
क्षराणामनर्थकत्वात् । तत्रार्थोक्तीकारे एकाक्षरादिकोशोक्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोचित्यात् । क्वचित्कचित्-  
दात्तं विरोधापत्तिः शाब्दबोधवैधुर्गोपचित्शेति नेत्रनाहुरक्षराणामित्यादि । तथा चैतादृशार्थभ-  
रणे कोऽपि न दोषः । एतेन लक्षणार्थोऽत्रोत्सामिनं वाच्य इतिवोचितम् । अत्रोचामेति,  
सर्वनिर्णये 'वर्णाः पदानि सर्वाणी'त्वत्रात्रोचामित्यर्थः । नन्वविरोधः स्वस्वमतानुसारेणानैरपि  
प्रतिपाद्यत एवेति कोऽत्र विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः खण्डश इत्यादि । तथा चायं विशेष इत्येत-  
दर्थं प्रवृत्तिरित्यर्थः । ऐषेति, 'शेहाद्भागविनाशः स्या'दित्युक्तरूपा । एकादशस्कन्धे गीतायां  
चातिविरक्तस्य गुणातीतस्यैव भक्त्यधिकारप्रतिपादनमिति ॥ २ ॥

१. शोकेन । २. मन्वरे । ३. मन्वेन । ४. निषये । ५. द्वयः ।

अतो दुःखाभावसुखरूपत्वात् स्वतः पुरुषार्थरूपा लीलेति भागवतार्थः । स्कन्धाद्य-  
र्थनिरूपणार्थं तां विभजते दशधा हि सेति । तत्र भागवतमेव प्रमाणयति अत्रेति ।  
स्कन्धद्वयमाधिकमिति तयोर्थमाह अधिकारी साधनानीति । अधिकारोऽपि लीला,  
परं लीलोपयोगिनी । तेन प्रधानलीलायां नाधिकसङ्ख्यायां जनयति, नापि शस्त्रार्थै-  
ज्यासिम् । तथाज्ञानमङ्गलम् । साधनानां बहुवचनं सर्वज्ञानप्रकाराणामङ्गलं बोधयति ।  
सापि लीला नाधिकसङ्ख्यायां बोधयति, न न्यूनताम् । अनेन श्रवणादिरूपाया भक्तेः  
सर्वाण्येव ज्ञानान्यज्ञानीत्युक्तं भवति । ननु द्वादशधा भेदे कथमेकत्वं कथं वा शास्त्रा-

एवमेकेन श्रीभागवतार्थनिरूपणे सख्य प्रवृत्तिरूपपादित्वात् । 'अथानन्दस्य हरेर्लीले-  
त्यादिसार्धदशभिः सोपपत्तिकं शालार्थं वदिष्यन्तः प्रतिजानते तत्रैत्यादि ।

लीलाप्यानन्दरूपेत्यादि । ब्रह्मावतारलीलाश्रवणोत्तरं 'क्षाननन्वं परं लेभ' इति, दश-  
मारम्भे 'नैपातिदुःसहा क्षुन्नां त्यकोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वमुखांजो जच्युतं हरिकण्ठघट'-  
मितिवाक्यादिभ्यस्तथैत्यर्थः । ननु स्कन्धेषु तत्तदर्थप्रतिपादनलक्ष्यं सैवायं इत्याकाङ्क्षायां स्वार्थयोगे  
समाप्तानामङ्गात्रित्वाद्यपेक्षया वाक्यानामेकवाक्यत्वम् । पुनः 'संहस्य जायत' इतिवातिक्रोकरीत्यै-  
कार्थ्यं वक्तुमाहुः स्कन्धेत्यादि । तामिति लीलात् । तथा च स्कन्धेषु लीलाविशेषकथनासैवार्थ  
इत्यर्थः । स्कन्धद्वयेत्यादि । नन्वेवं सति मूले दशानामेव लीलानामुक्तत्वात्पूर्वात् शालार्थं  
निवेशो भविष्यति न त्वार्थयोर्द्वयोः रितिसाक्षाद्यमाययोर्द्वयोरर्थमाहैत्यर्थः । ननु सन्त्वेवं द्वादशार्थाः,  
तथापि द्वयोराद्योर्दशत्वव्याप्यायार्थवन्निवेशो वक्तव्यः । मूलेकसङ्ख्यायुरोपात्, न तु स्कन्धार्थ-  
त्वमित्याशङ्क्यामाहुर्मेले 'हि द्वादशे'त्यादिस्पादस्योक्तम् । हि यतो हेतोर्व्याप्यत्वाद्द्वादश-  
स्कन्धा उक्ताः । चोऽवधारणे । त एव अन्यथा न, द्वयोराधिकारिसाधनयोः स्कन्धान्त-  
रान्तिनिवेशो न । तथा च यथा वाक्यबलाद्दशार्थास्तथा स्कन्धसङ्ख्यानिर्देशाद्द्वादशार्था  
इति तयोः प्रथमस्कन्धार्थता युक्तैवेत्यर्थः । तर्हि मूले दशैव किमित्युक्त्वा इत्याकाङ्क्षायां  
दृष्टीपादादिति । श्लोकार्थमाहुरधिकारोऽपीत्यादि । लीलेति, भगवदिच्छाम्भावे तस्याभावेन  
भगवन्तैव तस्य सम्पादनैस्तोऽपि लीलेत्यर्थः । तथाज्ञानमङ्गलमिति । वक्ष्यमाणार्थस्य शीघ्रबोध-  
जनफलवास्तव्येण ज्ञानं विस्तारीयकारकम् । तथा चोक्तयुक्त्या तदपि तद्भेदे लीलेत्यर्थः ।  
सर्वज्ञानप्रकाराणामिति, द्वितीयस्कन्धाचामास्तिव्यवृद्धिरूपशब्दादीनाम् । न्यूनतामिति,  
दुःस्थ्यास्थितिशेषः । नन्वस्त्वङ्गनिर्णयस्य गौणलीलात्वं तथापि जडभरतावक्यत्वसङ्घिसार्थैरपेत्वात्तत्प-

येति, तत्राह इतोदमिति । पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च, 'निम्नगानां यथा  
गच्छे'त्यत्र वक्ष्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ननु हरित्वेऽपि कथं द्वादशत्वं ? पुरुषे द्वादशत्वं हीति—

निबन्धः—पुरुषे द्वादशत्वं हि सप्तथौ वाहू शिरोऽन्तरम् ।

हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः ॥ ७ ॥

सप्तथौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः ।

उत्क्षिप्रहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥ ८ ॥

स्तनौ मथ्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गततुर्हरिः ।

पादौ सप्तथौ कटिर्गुह्यं उदरं हृदयं करौ ॥ ९ ॥

मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः ।

एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः ॥ १० ॥

अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति ।

प्रकाशः—'द्वादशो वै पुरुष' इति श्रुतेः । श्रुत्यनुसारेणैवावयवान् गणयति  
सक्याविति । स्तनान्ता अवयवा द्वादश । स्कन्धानां तेषु निवेशनमाह पूर्वं पादा-  
वित्यादिना । अधिकारज्ञानयोः पादत्वम् । मग्निसर्गयोः करत्वम् । स्थानपोषणयोः  
सप्तथत्वम् । तत्रशब्देन बाहू । सममस्कन्ध एको हस्तः । द्वादशश्च द्वितीयः । तत्र  
भागवतं विरुतमिव भविष्यतीत्याशङ्क्य घटान्तेन प्रकृतोपयोगिरूपमाह उत्क्षिप्त-  
हस्त इति । ततः स्तनौ अष्टमनवमौ । ततो मथ्यं दशमः । शिरस्त्वेकादशः । द्वादशः

स्कन्धान्तरेव निवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुरनेनेत्यादि । तथा चाधिकारवदङ्गनिर्णयस्यापि  
सर्वोपयोगित्वात् प्रथमगुक्तिरित्यर्थः । एवमङ्गाङ्गिभावेन संहननबोधनाच्छालैक्ये प्रतिपादितेऽपि  
विभंगे साकाङ्क्षत्वाभावेनैकार्थ्यं शङ्कते नन्वित्यादि । एवं भेदे लीलानां परस्परकाङ्क्षाराहित्या-  
त्कथमेकत्वं, तदभावे प्रथकत्वात् कथं वा शास्त्रार्थतैत्यर्थः । पुराणमित्यादि । तथा च स्वस्व-  
रूपेण भेदेऽपि परस्परकाङ्क्षाराहित्येऽपि शब्दतोऽर्थतश्च भगवद्रूपत्वादेकत्वं शास्त्रार्थत्वं  
वेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

सुतेरिति । तथा च श्रुत्युक्तद्वादशत्वोपलक्षणं, पुरुषत्वाच्च हरित्वमित्येकत्वं शास्त्रार्थत्वं  
वेत्यर्थः । गणयतीति, द्वादशत्वोपपादनाय गणयतीत्यर्थः । पादत्वमिति, गतिसाधनत्वात् पाद-

१. आगच्छेति गतिः ।

१. श्यामिदित्यपि पाठः । २. सामान्ये नृसुक्तं, लीलास्थानामर्थानमिति वा । ३. लीलोः । ४. द्वयो-  
रधिकारत्वेऽपि पाठः । ५. अधिकारस्य । ६. अधिकारस्य । ७. अधिकारः । ८. तथा श्यामिदित्यपि पाठः ।  
९. तृतीयस्कन्धावर्षस्य वा शीघ्रबोधजनकत्वं सङ्क्षेपेण द्वितीयस्कन्धोक्तम् । १०. द्वितीयस्कन्धावर्षस्य ।

पूर्वैवेवोक्तः ॥ यादृशो भगवान् भागवतरूपो जातस्तादृशोऽयं वर्णितः । अत्र केच-  
नोपासकाः क्रमेणैवोपासना सफलेति भिन्नक्रममाहुः, तमाह पादाविति । कटिः  
पञ्चमः । मलद्वारस्थानीयानि नरकाणि युगं षष्ठः । उदरं सप्तमः । हृदयमष्टमः ।  
करौ नवमः । युगं दशमः । ललाट एकादशः । मूर्ध्नि द्वादशः । उपासनायामेतदपि  
युक्तम् । एवं निरूपणस्य प्रयोजनान्तरमप्याह एतद्द्वारणमात्रेणेति । धारणं पाठनः,  
तस्य भगवद्रूपत्वाच्चेन रूपेण भगवानेव धृतः । इदि स्थितो भगवान् यत् कार्यं करि-  
ष्यति तदनेनापि करिष्यति । अर्थतत्रैव परितो ज्ञातस्तदेदमित्यतया ज्ञानं भक्त्यङ्ग-  
मिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ज्ञानार्थमस्य स्वरूपमाह एषा समाधिभाषेति—

निबन्धः—एषा समाधिभाषा हि व्यासस्त्यामिततेजसः ॥ ११ ॥

लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पोषिके तु ते ।

ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥ १२ ॥

न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके ।

प्रकाशः—समाधातुपुलभ्य तथा भाषिता । समाधिसामर्थ्यार्थमाह व्यास-

त्वम् । एवं बलाधिष्ठानत्वात्स्थित्युपयोगित्वात्कृतिसाधनत्वान्महत्त्वान्मूर्धन्यत्वाच्च तथेति ज्ञेयम् । एवं  
निरूपणप्रयोजनमाहुर्पादश्च इत्यादि । वर्णित इति, भक्तिमार्गानुसारेण वर्णितः । द्वादशश्लेन  
भगवत्त्वमन्येषामपि सम्प्रतमित्याशयेनाहुरन्यथादि । एवं निरूपणस्येत्यादि, द्वादशश्ले  
भगवत्त्वेन निरूपणस्य प्रयोजनान्तरं, उपासनातोऽतिरिक्तमपि, सिद्धान्त आहृत्यर्थः । कार्य-  
मिति युक्तिम् । अनेनेति रूपेण । अयमाश्रयः । व्यासरचना हि मन्वेदु कल्पया तदुद्वा-  
रार्थं प्रयत्नमानाः श्रीभागवतपर्यन्तमुपार्थं कृतवन्तः । तत्रेदमपर्यन्तज्ञायादेव चेत्कलेदुद्धारः  
कस्याच्चेदेव भवेत् । उपासनायामपि तथा । अतः स्कान्दादिषु पुराणान्तरेषु 'श्रुतशोऽथ सहस्रैश्च  
किमन्यैः शास्त्रसङ्घैः ? शृहे न तिष्ठत यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं स वैष्णवो ज्ञेयः ?  
शास्त्रं भागवतं कलौ । शृहे न तिष्ठत यस्य श्रुतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्घैः ?  
स्थितावपि चेत्कलिदोषामवेशसदा किं बाध्यं हृदये स्थितौ ? गृहे च शब्दाभिव्यङ्गकेलोपरेस्ता-  
दियुत्पुलकरूपेण स्थितिः, हृदि तु साक्षात्त्वेन रूपेणेति भगवत्त्वेन निरूपणस्य संसारमुक्तिरूपं  
कार्यं युक्तमेवेति । तथा च स्रञ्चणोपयोगि सर्वं स्वयमेवं सम्पादयिष्यतीत्येतदर्थं भक्तिमार्गानु-  
सारेण वर्णित इति भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

१. तत्तत्परकृता ज्ञेया । २. सिद्धान्तमाहोति पाठः । ३. भक्तिपादयुक्तम् । ४. श्रीभागवतम् ।

स्यामिततेजस इति । गुणतः स्वरूपतश्च माहात्म्यम् । अत्र भागवते कविज्ज्ञाना-  
दिप्रशंसा, कश्चित् कथायां पूर्वोत्तरविरोधः, कश्चित् पुनरुक्त्यादिदोषा इति सर्वसमा-  
धानार्थं 'भाषास्तु त्रिविधाः श्रोक्ता' इति व्यासवाक्याद् भाषात्रयमस्तीत्यभिप्रायेणाह  
लौकिकी चान्यभाषा चेति । समाधातुपुलभ्य यावानर्थो निरूपितः, सा समाधि-  
भाषा । तद्विरुद्धोऽर्थो यत्र सा भतान्तरभाषा । लोकसिद्धा तु लौकिकी । किमतो  
यद्येवं ? तत्राह ते प्रमाणमभिप्रायादिति । मतान्तरभाषा लौकिकी भाषा च वक्तुर-  
भिप्रायपरत्व एव प्रमाणं, न तु साक्षात्प्रतिपादितोऽर्थः । समाधिवन्न प्रमाणम् । अत  
एव ताभ्यां सह समाधिभाषाया न विरोधः । भागवते तासां स्थानं वक्ष्यते । तत्रो-  
त्सर्गतः सर्वा समाधिभाषा । यत्र शुक्रोऽन्योक्तं कथयामीत्याह सा परमतोपन्यास-  
भाषा । यत्र लौकिकरीत्या निरूपणं, यथा 'स्तनैः स्तनान् कुङ्कमपङ्ककृषितात्' इत्या-  
दिषु, सा लौकिकी । बुद्धिपूर्वकमेव विरोधस्तासु प्रतिपादित इति न तद्विरोधो दोषाय ।  
भाषात्रयप्रकरणे स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपश्रीकृष्णलीला भागवतार्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्ञानार्थमिति, शब्दतोऽर्थतश्चेत्कर्षज्ञानार्थं—

इत्यभिप्रायेणाहेति, पूर्वोक्तोत्कर्षनिर्वाहकमाहेत्यर्थः । लोकसिद्धेति, लोकसिद्धानुशा-  
दरुपा । साक्षात्प्रतिपादितोऽर्थः तयोः कुतो न प्रामाण्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः समाधिवन्न प्रमा-  
णमिति । समाधौ हि योगजभ्रंजनं स्वयमनुभूयत इति स्वानुभवः ; स नारदोक्तसंवादादपि  
प्रमाणत्वेन दृढीकृतश्च । मतान्तरे लौकिक्यां च परानुभवः, तैश्वश तत्त्वमन्त्राधीना प्रमाणात् ।  
प्रमाणां तु प्रकृतिवैशिष्ट्येण नानाविधत्वात् पाक्षिकमेव प्रमाणात्मिति तद्वक्त्येऽपि तैश्व  
प्रामाण्यम् । तैश्वश वेक्त्रा किञ्चिदभिप्रेत्यैवोपन्यासाच्चेत्यर्थः । अत एवेति तयोरेक्यबलत्वेनानु-  
स्यत्वादेव ते ग्रन्थे कुत्र स्त इत्यपेक्षायामाहुर्भागवत इत्यादि । नन्वेतोऽपि प्रामाण्येऽर्थमेद-  
कृतो विरोधो भवत्येवेति कथं न विरोध इत्याकाङ्क्षां तत्सर्वरूपकथनपूर्वकमविरोधप्रकारमाहु-  
स्तत्रेत्यादि । सर्वा समाधिभाषेति तयोपि स्वेन सैवैव रूपेण समाधावनुभवाच्चेत्यर्थः ।  
अनुभवस्तु 'चक्रे सात्त्वतसंहिता'मित्यनेन सर्वस्याः संहितायाः करणकथनात्तस्यां च 'श्रुतं ह्यैवा-  
यनमुखा'दित्यादिकाव्योपनिबन्धात्प्रवगम्यते । तर्हि कथं तद्वगम इत्यत आहुर्षत्र शुक्र  
इत्यादि । एतदुदाहरणं तु 'ईत्यङ्गोपदिशन्त्येक' इत्यादिकं ज्ञेयम् । द्वितीयस्यास्तु अत्रैवोक्तं  
शेषं स्फुटम् । बुद्धिपूर्वकमित्यादि । भाषान्तरानुपन्यास प्रतिपादित इत्यनुपदिशत्वाद्विरोधो न

१. लौकिकीसमाधिभाषयोः । २. भाषयोः । ३. पाक्षिकम् । ४. भाषयोः । ५. व्यासेन । ६. वक्त्रमिमा-  
यात् प्रामाण्यम् । ७. तासां भाषाणां । ८. इत्यङ्गोपदिशन्त्येक इत्येव प्रवगम्यते । मुनिवासिमिति किं चे-  
त्तादृशकथनम् । ९. व्यासस्यायम् । १०. उदाहरणम् । ११. विरोध इति ज्ञेयः ।



तत्र श्रोतृवक्त्रधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः स्वरूपनिर्वाहकः । अधिकारामावे स्वरूपमर्थज्ञानमभिप्रायज्ञानं च न सम्भविव्यति । स चाधिकारः स्थूलतया त्रिविधः । स्रष्टृमत्तयैकोनविंशतिप्रकारः । साधारणोऽसाधारणो गुणातीतश्च । साधारणोऽपि नवविधः, तथा असाधारणः । निर्गुणस्त्वैकविध एव । एवमधिकारोऽध्यायार्थत्वेन ज्ञेयः । सर्वोऽपि तच्छुश्रूषुरधिकारीति स्कन्धार्थः ।

दोषायेत्यर्थः । एवमर्थतो ज्ञानाय शास्त्रार्थो निर्णीतः, तेन वस्तुदं तदाहुर्भाषात्रयेत्यादि । नन्दत्र प्रकारत्रयेणापि क्रियमाणाया लीलाया यदि स्वानन्दपुराणार्था तदा मुख्यलीलायां विशेषाभावाद्भाषात्रयविभागे फलतो न च कश्चिद्विशेष इति चेत्, न अधिकारितारतत्त्वेन फलकारतत्त्वेन तत्रापि युक्तत्वात् । न च मानाद्यभावः, 'ज्ञानाज्ञानान्यां कर्मणा काममोक्षयो'रिवात्रापि, माषास्तु त्रिविधा' इत्यादिवाक्यात्तज्ज्ञानावश्यकतया ज्ञानतदभावाभ्यां फलभेदनिश्चयादिति । एवं साधे-  
र्दशभिः शास्त्रार्थो निर्णीतः ॥ ११ ॥ १२ ॥

अतः परं प्रथमस्कन्धार्थो विचारणीयः । स च पूर्व स्कन्धसङ्ख्याविचारेऽधिकारः प्रथमस्कन्धार्थ इत्युक्तः, तत्र कस्याधिकारः स इति जिज्ञासायामाहुस्तत्रेत्यादि । तत्र द्वादशलीलास्तु । श्रोतृवक्त्रधिकारः उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषादेस्तत्त्वसङ्क्रान्तिक्रान्दानादेश्चोक्तत्वात्तदधिकारः स्कन्धार्थः, स स्वरूपनिर्वाहकः । अधिकारामावेन शुश्रूषाचमवेन श्रवणकीर्तनेयोरैवानुदया-  
धैत्येत्यर्थः । तदेव विवृण्वन्ति अधिकारीत्यादि । एतेनास्य स्कन्धस्य चरणरूपत्वगतिसाधनत्वत्वं बीजं बोधितम् । प्रकरणाध्यायार्थं बोधयितुं विभजन्ते स चेत्यादि । स्थूलतयेति, प्रकरणार्थरूप-  
तयोर्भेदोर्विचारेण । स्रष्टृमत्तयेति, श्रोतृवक्त्रोः प्रत्येकं विचारेण । अत्र शाब्दोऽत्र आर्थः, अत्रे-  
त्यादोऽत्रेदृश इतिविचारेण । तत्र निबन्धान्तराद्विशेषं वक्तुं प्रकरणार्थोपि भेदमाहुः साधारणे-  
त्यादि । विभाजकभेदेनापि भेदमाहुः साधारणो नवविध इत्यादि । अत्र जिज्ञासुत्वममास्तस्यै श्रवणादरक्षित्विभं भगवदीयत्वं त्रिविधा च शुद्धिरिति साधारणकोटिः । श्रवणस्वरूपाविर्भावात् तद-  
र्थविधासाय च सर्वेषामेव तदपेक्षणात् । भगवत्कृतानि त्रिविधसुखपूर्वजन्तियमुक्तिद्विविधसाम-  
र्थ्यानि धर्मोन्नतिश्चैत्यसाधारणकोटिः । साधारणेण तथालाभावात् । एकविध इति, भगवदेक-  
तानत्वत्तः । तथा च साधारणामावे स्वरूपाविर्भावाभावादसाधारणामावे भर्वादायां ब्रह्मादायां-  
भावाद्गुणातीताभावेऽभिप्रायज्ञानाभावात्तदर्थं से सोऽज्येच्येत इत्यर्थः । एवमुक्तास्वेतास्त्राधिकार-  
विधास्तु अभाणमाहुर्वैमधिकार इत्यादि । तथाचाध्यायार्थकृतोऽयं प्रकरणविभाग इत्यर्थः ।  
एतत्प्रत्यये वाच्यत्वादिदानीं सङ्क्षेपेण प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य तदनुसृजितं स्कन्धार्थं सर्वेषां

१. श्रोतृवक्त्रधिकारः । २. स्वरूपनिर्वाहकः । ३. श्रोतृवक्त्रोः । ४. प्रकरणमत्तयैकोनविंशतिः पाठः  
अ. आ. ५. अधिकारः । ६. स्त्वैकं अनेति नास्ति आ. । ७. अभाणमभिप्रायेत्यपि पाठः । ८. अभावात्तस्य ।

प्रकरणार्थेषु त्रैविध्यं, तदाह भेदत्रयं तथा चाद्य इति—

निबन्धः—भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमप्योत्तमत्वतः ॥ १३ ॥

तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहाहंति ।

आद्येऽध्यायत्रयं मध्ये तथा चान्ते त्रयोदश ॥ १४ ॥

एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः ।

प्रकाशः—अयमेवार्थो निबन्धान्तरे निरूपित इत्यत्रापि निरूप्यते । प्रकरणं देशकालौ, तदपेक्षायाम् प्रकरणाधिकार एव प्राहास्तदाह तल्लक्षणोऽधिकारीति । प्रकरणेष्वध्यायान् विभजन्ते आद्येऽध्यायत्रयमिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

प्रवृत्तिसिद्धयर्थं स्वरूपतः स्फुटीकुर्वन्ति सर्वोऽपीत्यादि, यः कश्चिज्ज्ञात्यादिगुणरहितोऽपि । स्कन्धार्थ इति, उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषोरेव कस्यान्तयेत्यर्थः ।

एवं स्वमतेन स्कन्धार्थं प्रकरणार्थं च निरूप्य मतान्तरायप्रकरणार्थस्याप्येकांशेनादरणीयत्वा-  
त्तमपि विभागं द्वाभ्यामाहुः प्रकरणार्थेष्वित्यादि—

इत्यत्रापि निरूप्यत इति । तेनास्माकं नाल्यन्तं सम्मत इत्यर्थः । अत्र मूलस्थस्याद्य-  
पदस्याध्यायार्थपिक्षया आपे इत्यर्थो बोध्यः । अस्वरसर्वाच्च स्फुटीकृतौ तेषां तास्यमाहुः प्रक-  
रणमित्यादि । तौहं देशकालावपेक्ष्य तयो विभक्तम् । तथा च सापेक्षस्यासमर्थत्वादिदानीं तद-  
गुह्यमा श्रवणमेव न सिधेयतो नाम्नाकं तत्सम्मतमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । 'अभ्याकाह्ना  
प्रकरणमिति हि प्रकरणलक्षणं, शेषोऽपिणोः परस्परकान्ठिते यावत् । अत्र च स्कन्धार्थरूपोऽधि-  
कारः शेषो, पुरुषगुणासौधैर्वातुप्रकारका इति तस्यै शेषाः । देशकालौ तु व्यधिकरणौ विशेष-  
णतया पुरुषे संसृज्यमानौ यथाकश्चित्तद्वृत्तं मासुतः । तार्थपि स्वस्वगुणविशिष्टावैव पुरुषविशे-  
षणत्वेनादरणीयो । अन्यथा तयोरेनुक्तसिद्धत्वेन तदादरवैयर्थ्यापत्तेः । एवं सतीदानीं तयोः  
संसर्गसंभवाभ्यां दुष्टत्वानुसृष्टगुणानां च तादृशाभावादिदानीं श्रवणाभावात्पत्या पुराणप्रणयन-  
प्रचारणयोर्वैयर्थ्यापत्तिः । अतोऽध्यायार्थविचारेणैव प्रकरणविभागो युज्यत इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

एव मतान्तरायप्रकरणविभागं द्वाभ्यामनुशय द्विपञ्चांशङ्किः प्रथमप्रकरणं विचारय-  
न्तोऽप्ये विभागस्य येन हेतुनादरणीयता, तद्रेमे सपादेनैकेन वक्तुं तदर्थं सप्तभिः समापेः  
प्रामाण्यं मुख्यत्वं च बोधयन्ति अत्रेत्यादि । अत्राऽस्मिन् स्कन्धेऽधिकारिणो वक्तव्योऽस्ते च भूता एव

१. श्रोतृवक्त्रधिकारः । २. अयमिबन्धकारः । ३. हीनमप्योत्तमत्वम् । ४. तयोर्दशकाशयोः  
५. अधिकारार्थत्वात् । ६. अधिकारस्य । ७. पुरुषगुणरत्नम् । ८. देशकालौ । ९. उपागतौकारौ । १०. देशकालयोः ।  
११. इति वृत्तम् । १२. कारिकाभिः । १३. प्रथमस्य । १४. कथनप्रसायणोः । १५. अधिकारिणः ।

अत्र संज्ञतिरसङ्गतेति तां निरूपयति कथामात्रमिति त्रिभिः—

निबन्धः—कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ॥ १५ ॥

तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तच्छ्रुत्वा सूत आह यत् ।

शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत् सर्वं भावि हृद्रतम् ॥ १६ ॥

अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः ।

व्यासरूपोऽजतीर्याद्य मङ्गलादिपरःसरम् ॥ १७ ॥

प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि ।

प्रकाशः—समाधिभाषात्वेन प्रामाण्ये परम्परोपदेशो व्यर्थोवित्याशङ्क्य तयोः  
सार्थकत्वाय समाधि निरूपयन्तीति निरूपयति साकारं ब्रह्मेति सार्धेन—

निबन्धः—साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ॥ १८ ॥

तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोक्षिका ।

इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारादाय सः ॥ १९ ॥

प्रकाशः—समाधिः प्रमाणभूताशेषविशेषरूप इति परम्परा चाकृत्येति तां  
गौणत्वेन निरूपितवान् ॥ १८ ॥ १९ ॥

युक्ता इति अत्रास्मिन्कन्धे विवक्षितसूतादिकथासङ्गतिरसङ्गतानुपपन्नेति ताद्युपपत्तिं वद-  
तीति । तथा च प्रसङ्ग उपोद्घातश्च मुख्यं सङ्गतिः, समाधिश्चोपपत्तिरित्यर्थः ।

समाधीत्यादि । नन्वेवं शुक्परिशिस्तंवादसूत्रान्नैकसंवाद्योः सङ्गतावुपपत्तिद्वारा समा-  
धिभाषात्वेन व्यासकथनानां सिद्धे प्रामाण्ये व्यासनारदसंवादेशेषुभूता यौ, 'ज्ञानं शुद्धतं  
यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् । अन्वेषोचनं गमिष्यन्त' इत्यादि परम्परा, 'इवं मैगवता  
पूर्वं'मित्याद्युक्तौ नारादोपदेशश्च, तावन्नुपयोगाद् व्यर्थौ, इत्याशङ्क्य, इति हेतोः; पूर्वो-  
क्तरीत्या सङ्गत्युपपत्तयोरुक्तत्वात्साङ्ग्यं, संवादित्वेन तयोः सार्थकत्वाय समाधि निरू-  
पयन्तीत्यर्थः ॥

अशेषविशेषरूप इति, नसविषयत्वात्सर्वविशेषज्ञापकः । अकृत्येति सधैविशेषज्ञापिका ।

१. निबन्धे कश्चित् कश्चिद् बौध्दसौकर्यायं व्याख्यानां लिख्यते । तत्र प्रथमस्कन्धे प्रकरणविभागक्य-  
नामस्मरत् 'कथामात्रं शुको राज्ञे' इत्यादिकारिकानामाभावे अत्र सङ्गतिरसङ्गतेति तां निरूपयति  
इति । समाप्तौ 'कर्त्तुं येन विभासितोऽयमनुक्तो ज्ञानप्रदीप' इति श्लोकं, अयमित्यदिशब्देन सङ्गतिप्रसङ्ग-  
सकं श्रीभागवतं पराहस्यते । इत्यादि शुकस्यायमयमपि सङ्गतिरसङ्गतेत्यवगम्यते । तस्मिन् समये सूतशौनका-  
दीनामनुस्यप्रवृत्तात्सम्वादस्याजातत्वाद् 'नमिषोऽर्धमिषश्चेवं' इत्यादिना प्रथमस्कन्धे तावन्नादादुपर्युपर्यु-  
प्रवृत्तिरूपया वा सतिः सा अशङ्क्येत्यर्थः । अत्र 'कथामात्रं शुको राज्ञे' इत्यादिकारिकाद्येनोत्तरं व्यासत्वेन  
समाधावुपलभ्य भागवतं कृतमिति समाधिप्रामाण्यज्ञापनं भावेन एतद्योग्यकारिणः श्लोकैरुपनिबन्धा अग्रे इति ।  
२. परम्परा । ३. इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मेण नाभिषङ्गं विधाताय भवभूताय काकृष्याह समाधावित्यर्थः ।  
४. परम्परोपदेशो । द्वादशस्य त्रयोदशोऽध्यायः । ५. परम्परोपदेशयोः ।

समाधेश्चैत्यत्वे हेत्यन्तरमप्याह कृष्णो मोहमिति सार्धाभ्याम्—

निबन्धः—कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम् ।

व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा ॥ २० ॥

अभिमानान्नारदोक्तं न सम्यगवभाति हि ।

अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ॥ २१ ॥

वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ ।

प्रकाशः—मूले व्यामोहकरणं स्पष्टं न भवतीति कृष्णो मोहं समुत्पाद्ये-  
त्युक्तम् । अभिमानान् परम्परा दुर्बला ॥ २० ॥ २१ ॥

गौणत्वेनेति संवादित्वेन । तथा चात्राप्युपोद्घातः सङ्गतिरिति न तद्वैयर्थ्यमतः पूर्वोक्तमुपपा-  
दनं युक्तमेवेत्यर्थः । एवं च भूतानामधिकारिणां वक्तव्यत्वेऽपि यद्भवति उक्तास्तैस्तस्माधेः  
प्रामाण्यबोधनार्थं, या च परम्पराद्युक्तिः सा समाधिप्रामाण्यत्वात्बोधमितिभावः ॥ १८ ॥ १९ ॥

समाधेरित्यादि । नन्वस्त्वेवं पूर्वोक्तानां सङ्गतिस्तथापि व्यासखेदकथायाः कुत्रोपयोग  
इत्याकाङ्क्षायां समाधेश्चैत्यत्वे हेत्यन्तरमेतन्मुनेनाहेत्यर्थः—

ननु तथापि 'कृष्णो मोह' इत्यादि कुत उच्यत इत्यत आहुः मूल इत्यादि । तथा च  
मोहनविकृतसामग्रीष्यत्वेऽपि यस्तदनपगमः स न भगवत्कृतिभन्तरेणेति मूलाद्ययं स्फुटी-  
कर्तृमुक्तमित्यर्थः । मूलायंस्तु—धर्मज्ञे परमश्रेयस्करत्वेन धर्ममेव ज्ञातवति, व्यासे वेद-  
विभागकर्तुरि परमाशङ्क्ये, कृष्णोऽनन्यमक्तिभावबलभ्यो भगवान्, मोहं समुत्पाद्य मोहो-  
त्पादनद्वारा, साधनानां व्यासविष्टधानां प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गीयसाधनानां, निराकृतिरि पर-  
मफलासाधकत्वे, प्रोवाच प्रकरणं युक्तिपूर्वकं बोधितवान् । यद्वाक्यं सकले प्रमा  
अन्यवाक्यस्य सर्वत्र प्रामाण्याभावाद्विवक्षिताया भक्तेः सर्वत्र प्रचारो न अभियन्तीति  
व्यासमेव बोधितवानिति । समस्तेभ्य इति, सधमेभ्यः सधमेभ्यः । शेषं स्फुटम् । ननु  
समाधिपरम्पराम्प्राप्त्येवार्थस्य बोधात्कस्य प्रामाण्यं कस्य संवादित्वमिति निर्णेतुं न शक्यत  
इति समाधिभाषाप्रामाण्यमपि सन्दिग्धमित्याकाङ्क्षायां 'अभिमाना'दित्यादिमूलं विवृण्वन्ति अभि-  
मानादित्यादि । तथा च समाधेः श्रीभागवतपश्चाद्भक्तिवित्त्वेन समाधेरैव संवादित्वेऽपि  
व्यासचरणानां नारादोक्तं एव संवादित्वं भातततः समाधेरैव सन्देहवारकत्वात्प्रामाण्यमुच्यते ।  
तावताप्यनेपेक्षत्वरूपस्य शक्यप्रामाण्यस्य न क्षतिरिति समाधिभाषायाः परम्पराविभूतस्य  
शक्यस्य च प्रतियोगिमिदं प्रकारमेतदं च प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

१. तयोः परम्परोपदेशयोः २. भाषिकवचनम् । ३. खेदकवचनत्वेन । ४. समाधेरैव सन्देहवारकत्वेन ।

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणेनाधिकारार्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह रीत्येति—

निबन्धः—रीत्या यदन्यथा प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः ॥ २२ ॥

प्रसङ्गसाधनफलान्याह प्रकरणे त्रये ।

अन्ते मध्ये तथा चादौ—

प्रकाशः—भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन वा न स्मृतनारदाम्बायुक्तं, किन्तु स्वयं यादृशं बुद्धं तादृशं स्ववाक्येनोक्तमिति भागवतायाः स्वाधिकारात्सारेण तत्र-  
मभावेन बुध्यत इति सर्वार्थाज्ञाने मुख्यधिकारोऽप्येत्यत इति प्रथमस्कन्धो मृतः ।  
प्रकरणत्रयस्यान्यदपि प्रयोजनमाह प्रसङ्गसाधनफलानीति । भागवतप्रसङ्गे न  
यथाकथञ्चिच्चत्र कुत्रचित् कर्तव्यः, किन्तु महान्यवेद बहवः श्रुदास्तीर्थनिरताः प्रार्थ-  
येयुस्तदैव प्रसङ्गः कर्तव्य इति । तेषां सम्भावना स्वज्ञानज्ञापनेन दृढा कृत्वा पश्चात्  
प्रसङ्गः कर्तव्य इति । अन्यथा प्रसङ्गं न फलवीति ज्ञातव्यम् । यस्तु ज्ञानाभिमाना-  
सिद्धान्तमज्ञात्वापि ज्ञानिनं मन्यते, स न ज्ञापनीयः । पश्चादन्यथा ज्ञात्वा महतोऽपि  
ज्ञानं स्वज्ञाने प्रवेशयितुमिच्छति । संवादसन्तोषैः स च न ज्ञापनीय इति व्यास-  
नारदसंवादेन साधनानि निरूपितानि । तथा भागवतस्य फलं—साक्षाद्भगवत्प्र-  
वेशः, सर्वसन्देहराहित्यं, भगवत्कृपा, सर्वत्र निर्भयत्वं, परमभ्रमं चेति परीक्षित्युक्त-  
समागमेन निरूपितम् । स्थानं निर्दिशति अन्त इति । प्रसङ्गपन्ते भागवतस्य

एवं सप्तभिः समाधेः प्रामाण्योपपादने पुनः शङ्कन्ते नन्वेवं सतीत्यादि । ननु मध्यम-  
प्रकरणस्थानेन प्रकरणेन समाध्यादिप्रामाण्यनिश्चयनार्थत्वे सति तस्मिन्धिकारार्थभावेन  
स्कन्धान्तःप्रवेशो विरुध्येतित्याशङ्क्य आह, प्रकरणत्रयेऽपि भङ्गवैतरेणाधिकार एवोच्यत  
इत्याहृत्येयः ।

भगवदुक्तत्वेनेत्यादि । तथा च यत् एवं नोक्तं ततो नाद्यमध्यमयोः प्रामाण्यनोप-  
पात्रार्थत्वं, किन्तु स्वयं यादृशमित्युक्तरीत्योक्तम् । (अतोऽधिकारार्थत्वमपि) । अन्यथाप्रकाशेदो  
न स्यात् । यदि चैतदन्यतरप्रकारस्यामुक्तत्वेनाभिमतत्वं स्याद्भासपादैरभिभो कथा नोप-  
स्थिते । यत् एतत् प्रथमप्युपन्यस्तमत उभयत्र प्रकरणीतया वक्तृधिकारस्तुतीये तु  
प्रकरणीतया श्रोत्रधिकार उच्यते इत्येवं प्रथमस्कन्धो विचार्यो न तु निबन्धान्तरीकरीत्ये-  
त्यर्थः । बीजान्तरं वक्तृमाहुः प्रकरणत्रयेत्यादि । अत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाहुः  
स्थानमित्यादि, स्थानमिति प्रमाणम् । प्रसङ्गमन्त इति । यद्यपि प्रसङ्गकर्तव्यताप्रकारो-  
ऽप्याद्यत्रयेण सिध्यति, तथापि प्रसङ्गत्व भागवतीयत्वं तृतीयाध्यायान्ते सिध्यतीति

१. मध्यमप्रकरणे । २. प्रकरान्तरेण । ३. स्मृतनारदाणां भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन नोक्तम् । ४. सर्वथा  
प्रामाण्योपपादनाधिकारे । ५. स्वयंया ज्ञानहेतुमुक्तुकाधिकारनिरूपिका तु तृतीयप्रकरणप्रामाण्यमा कथा ।  
६. त्रयिप्रणयोः । ७. प्रसङ्ग इति पाठः अतः । ८. बुद्धं भागवतं नोक्तत्वादिभिः ।

कृतवान् । साधनमितरनिराकृतिं च मध्ये । तृतीयप्रकरणे आदावेव भागवतनिष्प-  
त्तिप्रवृत्तिमक्त्य उक्ताः ॥ २२ ॥

इदानीं प्रथमाधिकारे श्रोता कीदृशोऽप्येत्यत इत्याकाङ्क्षायां तं विशिनष्टि तीर्थ-  
यज्ञैरिति—

निबन्धः— तीर्थयज्ञैर्महाद्भ्यः शुचिः ॥ २३ ॥

कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे ।

प्रकाशः—भगवत्कृपया सत्सङ्गे जाते ॥ २३ ॥

एतादृशेऽपि श्रोतरि न सहसा भागवतं वक्तव्यं, तद्बुद्धमवगाह्यावगाह्यैव,  
इति प्रथमं वक्तुः शिष्यायै व्याप्तो यथा रीतिं कृतवान् तत्र स्पष्टयति सामान्यतो  
बुभुत्सां इति साधनं—

निबन्धः—सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ॥ २४ ॥

उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः ।

ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा ॥ २५ ॥

तेथोक्तम् । यस्त्वित्यादिनोक्तं तु पुनः पुनः प्रश्नोत्तरैः । पश्चमे सिध्यतीति मध्य इत्युक्तम् ।  
तथा भागवतस्येत्यादिनोक्तं सम्पूर्णं सिध्यति । तथापि निष्पत्त्यादीनामादावुक्तत्वात्तत्र  
आरभ्यैव तेषामित्युक्तत्वात्प्रतीतिरित्येवैव प्रमाणम् । 'अधिकारास्ततो मत' इति चरणो-  
च्चाप्यनुवर्तते ॥ २२ ॥

एवं सपादेन श्लोकेन परामितप्रकरणविभागाङ्गीकारे बीजमुक्तम् । अतः परं पादोनेन  
पराभिमतं प्रथमश्रोतारं नोपस्थितुमाहुः इदानीमित्यादि—

तीर्थयज्ञैरिति। इदं 'नैमिशे' इत्यादि श्लोकद्वयतास्यम् । कृपयेत्यादिकं शेषस्य प्रथमा-  
ध्यायस्य । अत्र मूलश्लोकद्वयोक्तमहत्त्वशुचिन्वादेस्त्वैस्यविशेषणत्वादनुपादेयत्वं, शेषस्याध्याय-  
सिद्धस्य विधेयविशेषणत्वाद्नुपादेयत्वमिति परोक्तस्योक्तयोरविरुचिबीजं पादोनेन प्रका-  
शितम् ॥ २३ ॥

तर्हि व्यासचरणैः किमित्युक्तमित्याकाङ्क्षायां तादाशयं साधनमाहुः एतादृश इत्यादि ।  
सामान्यत इत्यर्थोक्तं प्रमेयं द्वितीयतृतीयाध्यायान्यां सिध्यति । उत्कण्ठेत्यर्थोक्तं चतुर्थो-  
ध्यायस्यद्वौनकमृतसंवादेन तत इत्यर्थोक्तं 'नित्यं विष्णुजनप्रिय' इति प्रश्नान्तरमारभ्य सर्वेण  
स्रुतश्रौतकर्मसाधनेति ज्ञेयम् । सदेति मूले, कालत्रयेऽपीत्यर्थः । तेन वैरिदानीमपि वक्तव्यं

१. प्रसङ्गहेत्यादिनोक्तम् । २. व्यासवाक्यात् । ३. अभयार्थे । ४. फलम् । ५. प्रकरणेन । ६. निष्पत्त्यादीनामित्युक्त-  
त्वात् । ७. श्रीमन्नारदाचार्य । ८. तास्यैविति पूर्वैकं सम्बन्धम् ।

प्रकाशः—वक्तुः प्रथमाधिकारमाह वक्ताधिकारीति—

निबन्धः—वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात् ।

श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिमः ॥ २६ ॥

प्रकाशः—ननु वक्तुरधिकारः कुत्रोपयुज्यते ? श्रोत्रधिकारेणैव कार्यसिद्धेरित्याशङ्क्य, मुख्यो वक्त्राधिकारः, तस्य महत्त्वे यादृशतादृशोऽपि महान् भवति ॥ २६ ॥ नन्वेवं सति सूतस्य श्रुताच्छ्रुतभागवतस्य कथं न फलसिद्धिस्तत्राह सूतत्वादिति—

निबन्धः—सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा ।

यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा ॥ २७ ॥

प्रकाशः—इदं नामरामकं भगवतो रूपं, तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति ॥ २७ ॥

तैरप्येवमेव वक्तव्यं, न तु यथाकथञ्चिकिसिद्धिपि पृष्टे सर्वं वक्तव्यमिति शिक्षाबोधनाय व्यासने प्रथमं श्रोतृस्वरूपमत्राकं, न तु तादृशश्रोतुर्मुख्यतया प्रकरणित्वायेत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

तर्हि कस्य प्रकरणित्वं मुख्यतयैत्याकाङ्क्षायामाहुः वक्तुरित्यादि—

वक्ताधिकारीत्यादि । एतच्छ्लोकोक्तो गुणचतुष्टययुक्ताधिकारस्तु तृतीयध्यायस्यैरिदं भागवतं नामेत्यादिभिः वङ्गिः श्लोकेः सिध्यति । तथा च वक्त्राधिकारशेषतया संतुक्तमित्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । यद्यपि शेषशेषाभावविचारे श्रवणं प्रति द्वयोः शेषत्वस्य तुष्यत्सर्वप्रकरणित्वादिप्रमाणाति, तथापि 'गायन् विलम्ब' इतिवर्तीनस्य स्वतोऽपि भवनाच्छ्रवणस्य तु वक्त्रैव स्वरूपलाभात्तदधिकारस्य मुख्यत्वं, वाचकाभावाच्च तस्यं प्रकरणित्वमिति ॥

वक्तुः प्रकरणित्वे शक्यते नन्वित्यादि । मूलं 'अस्यां वै श्रूयमाणायाम्'मित्यनेन श्रवणादेव कार्यसिद्धेरुक्तत्वात्पत्राश्रयणे कुत्रोपयुज्यते ? तथा च वक्त्राधिकारशेषत्वेन श्रोत्रविशेषणादरण्यमुक्तमित्याशङ्कोत्यर्थः । तस्येति वक्त्राधिकारस्य । यादृशतादृश इति, हीनजातीयोऽपि वक्तव्यः ॥ २६ ॥

वक्त्राधिकारस्य मुख्यत्वे शक्यते नन्वेवं सर्वाति । वक्त्राधिकारस्य महत्त्वे सति ।

मूले नामविक्रयणादिति । पुराणनामविक्रयणादित्यर्थः । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वाच्चिन्मात्रेण वक्त्राधिकारस्य मुख्यत्वानयायाच प्रकरणित्वहानिरित्यर्थः । अयं फलाभावः 'क्षेत्रप्रविष्टाले चापि संतारोत्पदिहेतवः' इतिजलभेदोक्ते वक्त्राधिकारे बीजत्वेन ज्ञेयः । एवं त्रैतल्यमन्यदपि प्रमेयं श्रीभागवतादेव बोध्यम् ॥ २७ ॥

१. श्रोत्राधिकारिकरणम् । २. उन्मतेः । ३. वक्त्राधिकारस्य । ४. वक्तुः । ५. धरणे । ६. फलाभावात् । ७. नववृत्तिरे शेषः । ८. अयं फलाभावो बीजत्वेन ज्ञेय इति सत्यम् । ९. अत्रमेवत्यम् ।

ब्रह्मणः सकाशाच्छ्रुतभागवतस्य नारदस्य कथं नोत्तमत्वं ? तत्राह नारदस्याधिकारित्वादिति—

निबन्धः—नारदस्याधिकारित्वात् कार्यावेशाशु सर्वतः ।

न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम इत्येते ॥ २८ ॥

प्रकाशः—ज्ञानं पूर्णम् । वैराग्याभावात्नमध्यमत्वम् । शब्दतो ज्ञानं मृतस्य । अर्थतो ज्ञानं नारदस्य । वैराग्ययुक्तं शुकस्य । भगवदावेशार्थं वैराग्यम् । अन्यथा ज्ञानेन विश्रितो भवेत् । प्रमेयबलं प्रमाणादधिकमिति भगवदिच्छया नारदस्य न वैराग्योत्पत्तिः । भागवतं च स्वोत्पत्तावुक्तफलाधिकं फलं न साधयति । अतोऽधिकारे

एवमत्र द्रोभ्यां प्रथमप्रकरणयि वक्त्राधिकारे प्रकरणित्वाय सफले विचारिते पुनः शक्यते ब्रह्मण इत्यादि । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वे तदधिकारित्वस्य नारदस्य कथं नोत्तमत्वमित्याशङ्काहेत्यर्थः—

समादपते ज्ञानमित्यादि । तथा च तर्हीपराहित्येऽपि नारदस्य दोषान्तरयोगान्धमत्वमिति न व्यवस्थाभङ्ग इत्यर्थः । ननु पूर्णज्ञानवैराग्यं च सूतेऽप्यस्ति, शेषा गुणात्स्वविवक्षिताः, तथा सति सूतस्य कुतो न मध्यमत्वमित्यत आहुः शब्दत इत्यादि । अर्थत इति, अनुभूयमानाद्भवत्स्वरूपात् । वैराग्ययुक्तमिति, शब्दतोऽर्थतश्च ज्ञानमिति शेषः । तथा च ज्ञानवैराग्ययोः (सूते नामविक्रयो ज्ञानप्रकारविभाजकः । तत एव हेतोर्न ज्ञानं पूर्णं, नारदेशधिकारे वैराग्यप्रकारविभाजकः । तस्माद्धेतोस्तत्रः न वैराग्यं पूर्णम् । तथा च सूते ज्ञानस्याऽपूर्णत्वाद्द्वैराग्याभावाच्च कनिष्ठत्वम् नारदे ज्ञानस्य पूर्णत्वेपि वैराग्यस्य अपूर्णत्वात् मध्यमत्वमित्यर्थः ।) प्रकारविभाजकयोः सत्त्वात् तद्वज इति वक्तुः प्रकरणित्वं निबोधमित्यर्थः । ननु वैराग्यस्य कुतः साक्षात्कारादप्याधिक्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः भगवदावेशार्थमिति । यथा लोकवस्तुपुरुषे स्म्ये नान्यद्भूतं माति, कुच्छिद्ये च महान् सदा न तिष्ठति, तथा विषयरागोपुरुषे हृदि भगवानिति वेदावेशोपयोगित्वादाधिक्यमित्यर्थः । आवेशे को विशेष इत्यत आहुः अन्यत्वेत्यादि । वैराग्याभावादावेशाभावे साक्षात्कारदिना साहकारो भवेदिति तं आवश्यक इत्यर्थः । तथा च साक्षात्काराभावात्सूतस्यादिभक्तं, तसत्त्वेऽपि दृढवैराग्याभावाच्चारवस्य मध्यमत्वं, उभयसत्त्वात् श्रीशुकस्योत्तमत्वमिति त्रितयव्यवस्था स्पष्टमेति भावः । ननु शब्दबलाज्जायमानं परोक्षमिति न दृढवैराग्यजनकं, अर्थबलादुत्पन्नं तु वैराग्यदार्ढ्यं अनयत्येव, लोकेऽपि तथा निश्चयात्, अतो नारदे भगवद्वयतारे कुतो न दार्ढ्यमित्याकाङ्क्षायाम् 'नारदस्याधिकारित्वा'दितिकारिकोक्तं हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति प्रमेयेत्यादि । प्रमाणादिति, साक्षात्कारात् । तर्हि श्रीभागवतस्य श्रुतत्वात्ततः कुतो नैत्यत आहुः भागवतमित्यादि । उक्तफलाधिकमिति, भक्त्यतिरिक्तम् । उक्तमिति, अधिकारात्कत्वेनोक्तम् । वैराग्यस्य स्वरूपोपकारकत्वेन फलोप-

१. अन्यायभावात् । २. विक्रयणादितोराहित्येऽपि । ३. तत्रवैराग्यप्रकारात्मयि षष्ठः । ४. तस्या व्यवस्थायाः । ५. तस्य भगवतः । ६. वैराग्यः च । ७. भागवतभगवतः ।

भिन्नतया वैराग्यशुक्तम् । अत एव वैराग्यसिद्धयर्थं द्वादशाध्याया निरूपिताः । तदैव परीक्षिदधिकारी जातः । अत एव नारदादयोऽपि श्रोतृत्वेन प्रविष्टाः । ततो वैराग्यं सम्प्राप्य भागवतं श्रोतव्यमित्यधिकारः फलिष्यति । दोषदर्शनस्य वैराग्यहेतोर्विद्यमानत्वेऽपि नामविक्रयोऽधिकारश्च प्रतिबन्धकौ ॥२८॥

एतदभावे श्रवणादृशौ वैराग्यमपि भवतीत्याशयेनाह शुके पूर्वोक्तद्वितयमिति—  
निबन्धः—शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः ।

दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

प्रकाशः—ननु शुकेदुच्यमाधिकारी तदा व्यासाद् भागवतश्रवणानन्तरं पर-  
मभक्तौ शीघ्रं कथं भगवति न प्रविष्टः ? तत्राह दृढभक्ताविति । भक्तानां मरणे  
कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

अन्यदपि प्रतिबन्धकं भागवतफलजनने निरूपयितुमाह यागादिकरणा-  
सक्त्येति—

निबन्धः—यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्गहात् ।

वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ॥ ३० ॥

दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्षयते ।

स्वतस्तर्कपरिज्ञानादवताराच्च मध्यमः ॥ ३१ ॥

नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नादप्रमा ।

शुक्रोक्तिमात्रतस्तस्य निःसन्देहात् फलं भवेत् ॥ ३२ ॥

तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे ।

कारकत्वेन चावश्यकत्वे गमकमाहुः अत एवेत्यादि । द्वादशाध्याया इति सप्तमराम्भा-  
ष्टादशान्ताः । अत एवेति, दृढवैराग्याभावादेव । एवं वैराग्येण व्यवसायमङ्गस्तमुपपाद्य  
द्विसमाहः दोषैत्यादि ॥ २८ ॥

ननु यदि श्रीभागवतश्रवणेन भक्तिरेव, न वैराग्यं, तदा फलमावाद् व्यर्थमेव श्रवणमिति  
शङ्कायामाहुः एतदित्यादि—

व्यभिचारमासङ्गन्ते नन्वित्यादि । कथैवेति, श्रीभागवतप्रचारार्थं शुक्रः पाठित इति  
सा तेषा । तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वात् व्यभिचार इत्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं प्रकरणित्वाय चैतुर्भिर्व्यभिचारो निर्णतः । अतः परं सार्धैस्त्रिभिर्विधिश्रो-  
त्रधिकारं निर्णयन्ति अन्यदित्यादि—

१ नामविक्रमाधिकारमात्रे । २ प्रतिबन्धिका । ३ निबन्धकोके ।

प्रकाशः—भागवतश्रवणानन्तरमपि शौनकेषु न वैराग्यादिकं जातम् । तत्र  
हेतुत्रयं—यागाद्यासक्तिः, शिष्यसङ्घः, 'सूतादस्यमाधिक' इति ज्ञानं च । तर्हि व्यर्थं  
भागवतश्रवणमित्याशङ्क्याह दृढज्ञानादिति । दृढं शास्त्रीयं ज्ञानं, तेन भक्तिः परमा  
साध्यरूपा भगवति जाता, ततो भगवत्कृपया कर्मद्वारैव युक्तो भविष्यति । व्यासस्य  
वैराग्याभावः सिद्धः, तथा नारदस्य । तेन व्यासस्य प्रथमपक्षप्रवेशः कथं न ?  
तत्राह स्वतस्तर्कपरिज्ञानादिति । हेतुद्वयं पूर्वस्मादाधिक्ये । स्वतोऽपि तर्कान् परि-  
ज्ञानम् । मूलं च भगवतो ज्ञानवतारः । उत्तमत्वाभावायाह नानासाधनविज्ञाना-  
नादिति । साधनविज्ञानं दृढम् । नारदोपदेशश्च दुर्बलः । अतो मध्यमत्वम् । पूर्वो-  
धिकारदोषाभावं परीक्षितं निरूपयति शुक्रोक्तिमात्रत इति । तस्य वैराग्यादिकं  
स्यत्वं न भवतीत्याशङ्क्याह तस्योत्तमत्वमिति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ननु सूतः सर्वमाह भागवतं, तत्र कथमध्यायत्रितय एव प्रकरणसमाप्तिः ? तत्राह  
स्वाधिकारनिरूपार्थमिति—

निबन्धः—स्वाधिकारनिरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम् ॥ ३३ ॥  
कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम् ।

प्रकाशः—सूतो हि द्वयमाह, स्वतन्त्रतयाध्यायद्वयं, तेन स्वाधिकारो बोधितः ।  
अन्यद् भागवतत्वेनोक्तम् । तदर्थं कथाक्षेपो मुख्यतया निरूपितः । तेन प्रथमं  
प्रकरणं पूरितम् ॥ ३३ ॥

व्यर्थमिति, शौनके व्यर्थम् । शास्त्रीयमिति, श्रीभागवतश्रवणजन्यम् । साध्यरूपेति,  
प्रेमात्मिका । तथा च श्रवणं भक्तिमुत्पाद्य कर्मसहकारि जातमिति न व्यर्थमित्यर्थः । व्यासा-  
धिकारस्य मध्यमत्वयोर्भेदोः सकाशाद् व्यवच्छेदमाहुः व्यासस्येत्यादि । तेनेति, श्रोतृवक्त्रो-  
त्पत्त्येति । दुर्बल इति । अत्र हेतुमूल उक्तः । संवादानिति । तथा च लोकनिधितार्थ-  
गन्तुत्वामागम्येऽप्यनुवादवसंवादास्याप्यन्यशेषत्वेन नारदोपदेशस्य तत्र दौर्बल्यमित्यर्थः ।  
मूलं—नारदप्रमेति । नारदस्येदं नारदं, नारदोपदेशजन्यं ज्ञानं, तस्य प्रमा प्रामाण्यं,  
भावप्रधानो निदेशः । तथा च नारदोपदेशजन्यज्ञानप्रामाण्यस्य समाधिं संवादादवगमेन वक्तुं-  
लक्षणेन निश्चित्यानामध्यमत्वमित्यर्थः । निरूपयतीति, उद्यमत्वाय निरूपयति । एवं वाच  
सन्दर्भं यथा यथा वैराग्योत्कर्षस्तथा तथाधिकारोत्कर्ष इति फलितम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

एवं प्रकरणविभाजकाधिकारस्वरूपं सार्धैस्त्रिभिर्निर्णाय प्रथमप्रकरणस्वरूपस्य तावत्त्वे  
बीजज्ञाने निर्णेतमासङ्गन्ते नन्वित्यादि । तथा च वक्तुः प्रकरणित्वमसङ्गतमित्यर्थः—

समादधति स्रोतोऽेत्यादि । अन्यदिति । चतुर्थाध्यायमारभ्य सम्पूर्णम् । तदर्थं

१ व्यासस्येत्यादि हेतुकोपो विह्वलितेन भातुदमेति वाच्यत्वात् सिद्धः । २ स्वतस्तर्कैति व्यापक-  
मुपक्रम, 'किंच भागवता धर्मान् प्रायेण निरूपिता' इति वाच्यत्वात् । ३ "साधनेनेति । आरभ्यमाह  
साधनविज्ञानं 'पुत्रवदेव' इत्यादि श्लोकोक्तम् । ४ श्रोत्रोः । ५ अध्यायव्याससक्त्येति । ६ निर्णेतुमाहुरित्यपि पाठः ।

न तु कथायां समाप्तायामित्याह अधिकारस्तु सम्पन्न इति—

निबन्धः—अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद् भविष्यति ॥ ३४ ॥

निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वमुदीरिते ।

सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वमतस्तयोः ॥ ३५ ॥

प्रकाशः—ननु मध्यमप्रकरणेऽपि वक्ता सूत एव, तयोच्चे, ततस्तस्य कथं न मध्यमत्वमुच्यते वा ? तत्राह निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्चेति । हेतुद्वितीयप्रकरणे । निष्पत्तिप्रवृत्ती उच्येते । एतद्यभिरूपितं, भागवतशेषत्वैनेन, न तु स्वाधिकारेण । तर्ह्येवं सति नारदस्यापि मध्यमत्वं न स्यात्कथा शुक्रस्योक्तमत्वभित्याशङ्क्याह द्विरूपत्वमतस्तयोरिति । अन्यवाक्यकथने स्वस्यानधिकारित्वं सिध्यति । स्वयं कथने तु सिध्यत्येव । अत उत्तरयोर्द्विरूपत्वं सूतोक्तत्वेन नारदाक्तत्वे न च ॥३४॥३५॥

कथाशेष इति । श्रीभागवतकथनार्थं'महं चाध्यगं तत्र निविष्ट' इति वृत्तीयाध्यायसमाप्ति-स्वच्छेकेन कथाकथनमतिज्ञा । तेनेत्यादि, कथनमतिज्ञया 'वक्ताधिकारी सर्वज्ञ' इति कारिका-करीतिकाधिकारस्वरूपं सिद्धं, तेन च प्रकरणं पूरितम् । तथा चोपसंहारे वक्तुरुक्त्वात्-त्येव मुख्यतया प्रकरणित्वं, न तु द्वयोरपि समानं, श्रोतुस्तयात्वेऽनुपपत्तेः सूचितत्वा-दित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव वक्तुर्युल्यप्रकरणित्वं दृढीकर्तुमाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । अयमर्थः । अत्र हि वैराग्योक्तर्षोदधिकारोत्कर्षो देहस्थितिश्च कथयति सिद्धम् । एवं सति सूते सर्वज्ञत्वादीनां त्रिभिर्ध्यायैः सिद्धत्वाद्द्वैराग्यस्य च कथनाद्दृष्ट्या क्रमेण भवन्सम्भवात् । क्रमेण मध्यमत्व-मुच्यते च वक्तुं शक्यमित्यर्थः । अत्र समाधिं व्याकुर्वते हेतुरित्यादि । तथा च 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तये स्थाने वा केन हेतुना ? कुतः सन्नोदितः कृष्णः कृतवान्संहितां शुनि'इत्येत-त्पृष्ठहेतुत्वं द्वितीयं निष्पत्तिप्रवृत्त्योर्भोत्तरं यत्पृतीयं प्रकरणे उक्तं तन्नामविक्रयदोषतो वैराग्य-भावेन श्रीभागवतशेषतया परोक्तत्वेनैवोक्तं, न तु स्वाधिकारेण, अत आहृष्ट्यापि वैराग्य-जननार्थेति न प्रकरणविभागमत्र इत्यर्थः । पुनराशङ्कन्ते तर्ह्येवं सतीति, श्रीभागवतशेषत्वेन कथनस्याधिकारामनुकृत्ये सति शुक्रनारदाभ्यामपि यदुक्तं तस्य सर्वस्यापि तैथात्वात्चोपरोपि मध्यमोक्तमभाषो न स्यादित्यर्थः । अत इति, स्वयं कथनात् । द्विरूपत्वमिति, यथायं मध्यमत्वमुच्यते चेत्यर्थः । सूतोक्तत्वेनेत्यादि, गोकमिति शेषः । तथा च भागवतशेषत्वेन कथनेऽपि स्वयं कथनात् स्वस्याधिकारहानिः, सूतस्य च परोक्तानुवादत्वेन तत्कथनात्त्राधि-काधिकारावाप्तिरतः साङ्ख्याभावात्प्रथमप्रकरणेऽध्यायत्रयेण पूर्णं युक्तमित्यर्थः ॥३४॥ ३५ ॥

१. देहस्थितिः सिद्धं वैराग्यं कथयतीति सम्बन्धः । २. प्रकरणे । ३. होमधिकारे । ४. श्रीभागवतशेषत्वात् ।

ननु मध्यमप्रकरणे कथमध्यायत्रयम् ? तत्राह मध्यमे स्वाधिकारित्वमिति—

निबन्धः—मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतुवृत्त्यैव निरूपितम् ।

अनिष्पत्तेराद्यवध प्रश्नोत्तरनिरूपणम् ॥ ३६ ॥

प्रकाशः—सं हि भागवतं बोधयितुं नागतः, स्वार्पणं व्यासस्योक्तमत्वात् । किन्तु यथा वदेत् सं भागवतं तथा हेतुमाह । अतो भागवतात्तेन यथा निर्धारि-तोऽर्थ इति तस्याधिकारोऽवगम्यते । तथापि कथं पूर्वतुल्यता ? तत्राह अनिष्पत्ते-रिति । भागवतं यदा व्यासमुखाद् भविष्यति तदाधिकारो निरूपणीयो भवति । अतस्तस्यानिष्पत्तेराद्यवधेऽध्यायत्रयम् । विभागोऽपि पूर्ववदेवेत्याह प्रश्नोत्तरनिरू-पणमिति । एकेन प्रश्नः, उत्तरं द्वयेन । एतावौस्तु विशेषः । प्रथमाध्याये प्रश्नहेतुः, द्वितीयारम्भे प्रश्न इति ।

ननुत्तमाधिकारे प्रथमाध्याये पूर्ववदुत्तरं वक्तव्यं, तत्राह उत्तमे प्रश्ने एवेति—

निबन्धः—उत्तमे प्रश्ने एवाद्ये स्कन्धे श्रेत्राधिकारकृत् ।

स्पष्टत्वात् विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता ॥ ३७ ॥

सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्येवोक्तवाञ्छुकः ।

सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्ने आद्ये द्विधा मतः ॥ ३८ ॥

अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम् ।

सम्पूर्णैवेव सर्वेषामुत्तरं सम्भाव्यति ॥ ३९ ॥

एवं सार्धेन शङ्का वारिता । अतः परं द्वितीयेऽपि वक्तुरेव प्रकरणित्वमेकेन बोधयन्ति ननु मध्यमेत्यादि—

अत इति हेतुर्ज्ञानसापेक्षत्वाज्ज्ञानस्य च ज्ञापकवाक्यसापेक्षत्वात् । तथापीति, अधि-कारसत्त्वेऽपि । निरूपणीय इति, ज्ञातुं योग्यः । तथा च तदेवैवाधिकारज्ञानमावाचोचमत्वं, स्वयं ज्ञानेन कथनाच्च न हीनत्वं, अतो मध्यमत्वं, तेन पूर्वतुल्यैतेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं प्रकरणद्वये प्रकरणिमुख्यो निर्णाय वृत्तीयप्रकरणे' तं निश्चिन्वन्ति त्रिभिः । ननु-मेत्यादि । यदि वक्तुरेव प्रकरणित्वं मुख्यतया तदा प्रथमाध्याये श्रोतुर्विचारात्, प्रथमेऽध्याये पूर्ववत् प्रथमप्रकरणप्रश्नान्तरमिव, उत्तरं वक्तव्यं, श्रेत्राधिकारबोधनाय प्रश्नमुक्त्वा, तत्रै-वाभे वक्त्राधिकारबोधनाय वक्तव्यं, तत्राह तादृश्यामाशङ्क्यां वक्त्राधिकाराकथनेऽपि तदर्थं सिद्धिमाहेत्यर्थः—

१ स इति नारदः । २ स इति व्यासः । ३ तेनेति नारदेन । ४ अत इति व्यासमुखात्, अनिष्पत्तेरिति । तथाच अज्ञेनोत्तरपश्चात्प्रश्नाधिकारस्याध्यायत्रयेण निरूपणमिति भावः । ५ श्रीभागवताभिप्रायः । ६ मध्यमत्वेन । ७ मध्यमत्वेन कथनम् । ८ वक्तुः प्रकरणित्वम् । ९ प्रथमाध्याये । १० वक्तुरधिकारस्य ।

प्रकाशः—उत्तरं सार्धाध्यायद्वयेन द्वितीयस्कन्धे वक्तव्यम् । तावताधिकारो भवति । अत एव चतुर्थाध्याये मञ्जलाचरणम् । उत्तमस्य वक्तुरधिकारोऽपि भगवत्-रिचरूप इति भागवततुल्यत्वाच्च प्रथमस्कन्धे निरूपित इत्यर्थः । यतः श्रोतुरेवाधिकारोऽधिकारशब्देन मुख्यतया निरूपणीयः । व्यावहारिकाधिकारस्तु स्पष्टत्वाच्च निरूपणीय इत्यर्थः । विशेषाधिकारस्य तर्हि का गतिरित्याशङ्क्यायाह सामान्यमङ्गकथनमिति । शुक्रस्तुत्तरत्वेन भागवतं बक्ष्यमाणः प्रथममङ्गान्येकेन स्कन्धेनोक्तवान् । तत्राङ्गत्वाविशेषात् स्वाधिकारमप्यध्यायद्वयेनोक्तवान् । तत्र हेतुः सामान्यश्चेति । नन्वेतावदेव भागवतं समाप्नोतु, तावज्ज्ञानेनैवैकमत्वं सिद्धयेत्, किं विस्तरेणेत्यत आह सूचितं परमिति । उद्देशमात्रेणोक्तम् । वस्तुतस्तुत्तरत्वेन सर्वमेव भागवतं भविष्यति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

उत्तरमित्यादि । भवतीति सिद्धो भवति । तत्र गमकमाहुः अत एवेत्यादि । स्पष्टत्वादि-ति, नारदव्यासादि सर्वमुनिप्रत्युत्थानेनोक्तस्य स्पष्टत्वात् । तथा चोचरानुकावपि तावदेव वक्तुरेवमाधिकारस्य सिद्धत्वात्कोक्तः । तथा च विशेषतोऽनुकावपि न स्कन्धाथं न्यूनतेत्यर्थः । विशेषाधिकारस्येत्यादि । ‘वकाधिकारी’ति कारिकोकेऽधिकारे सर्वज्ञत्वाद्विषयं विवक्षितस्य वक्तुर्यार्थं लक्षणम् । वैराग्यं तूत्कर्षद्वारावान्तरविर्भाजकं, तेष्वेत्सर्वमुनिप्रत्युत्थानादिना सिद्धं, तद्व्युत्पत्तमाधिकारस्य तावदेव सिद्धत्वात्प्रथमस्कन्धोक्तस्य विशेषाधिकारस्य का गतिः ? तदु-क्तिप्रयोजनाभावात् तत्रं प्रवेशः, भगवत्परिचरत्वेन निरूपणे तु मञ्जलाचरणोत्तरमावित्वं युक्तं, अतस्तत्रानुक्तत्वाल्लंघनं च प्रयोजनाभावात्कत्र निवेश इत्याशङ्क्यायाह द्वितीयस्कन्धस्याङ्गनिरूपकत्वाच्च निवेशमाहित्यर्थः । मूले—सामान्यमङ्गकथनमिति । अङ्गकथनं, सामान्यम् श्री-भागवतश्रवणशेषत्वात् सर्वस्कन्धासाधारणम् । अत एकोक्त्या एकस्य द्वितीयस्कन्धस्य कथनेनैव, शुक्र उक्तवानिति योजना । तदेतद् व्याकुर्वन्ति शुक्र इत्यादि । तत्रेति, द्वितीयस्कन्धोक्तपदार्थेण । उक्तवानिति, श्रोतुः श्रद्धादिज्ञानार्थं मञ्जलाचरणान्तं प्रागेवोक्तवान् । तथा च ततः प्राकथनेऽपि द्वितीय एव निवेशो युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुरिति, द्वितीयं कथने हेतुः । उत्तमत्वमिति, श्रोतुत्तमत्वम् । समादधते उद्देशेत्यादि सर्वमिति, द्वितीयमाध्यासमाप्ति । तथा च सङ्क्षिप्त-श्रवणेन तस्मिन्नाद्यप्ये न वेदेद्, अतो ज्ञायते विस्तारश्रवणेनैव तस्मिन्निरिति न तस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

१. उत्तरमादिना । २. कारिकोक्त इत्यपि पाठः । ३. वक्तुरेवमित्यर्थः । ४. वैराग्यं प्रकल्पयित्वावकाव-  
ल्यर्थः । ५. निष्कृतस्तुतम् । ६. उक्त्यादिना । ७. वक्तुरधिकारे । ८. भगवत्परिचरत्वात् । ९. मन्त्राचरणम् ।  
१०. उत्तमत्वसिद्धौ । ११. सर्वकथनस्य ।

ननु कुतोऽप्यगम्यते ग्रंथमस्कन्धप्रश्नानामेव सर्वम्युत्तरं भवतीति ? तथाह अत एवेति—

निबन्धः—अत एव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः ।  
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र पठ्यो भगशब्दगाः ॥ ४० ॥  
तस्मात् पठेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् ।  
ज्ञानवेत्तार्यधर्माणामर्थयशसोः श्रियः ॥ ४१ ॥  
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्धानिहोच्यते ।  
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरै ॥ ४२ ॥  
ऐश्वर्यधर्मयो रूपमन्येषां प्रथमे जगां ।

प्रकाशः—यतः समस्तेनैवोत्तरं, अतः प्रथमाध्यायः सर्वत्र प्रश्नाध्यायः । नन्वे-  
तदप्यसङ्गतमित्याशङ्क्य हेतुं साधयति ‘भगवान् प्रतिपाद्योऽत्रेति । अथवशादेवं  
कल्प्यते, सर्वत्र भागवते भगवानेव प्रतिपाद्यः । तत्र ‘भग’शब्दार्थाः पद । त  
एव च ज्ञातव्याः । अन्यथा ‘भागवतप्रवृत्तिर्द्वयोर्था स्यात् । ते च पद प्रश्नाः प्रथमा-  
ध्याये स्पष्टाः । तत्रापि हेतुः अभिनन्द इति । ‘यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्न’ इति वा-  
क्यम् । सर्वैः प्रश्नैः कृष्ण एव पृष्ठः । स एव लीलारूपः सर्वत्रोच्यते । अनेन ग्रन्थ-

एवं ‘त्रिभिर्द्वयोस्त्रिधाधिकारविचारः’ प्रकरणार्थरूपोऽधिकारो विचारितः । अतः परम-  
ध्यायार्थरूपो विचारणीयः । तत्रापि मुख्यतया श्रोतुरेव विचारणीयः । तस्यैव स्कन्धा-  
ध्यायः । तदर्थमेव ग्रन्थमोक्तव्यात् । उपक्रमोपसंहारोऽस्त्येव कथाया उक्तत्वात् । तत्र  
श्रौतकस्य व्यासपादैः प्रथममुपनिबन्धानात् प्रथमं संक्षेपं पूर्वं विचारणीयः । तेन शास्त्रसङ्-  
तिरपि स्फुटीकरणीया, ‘अनया सत्त्वयेदं शास्त्रमवतीर्ण’मिति । किञ्च, शास्त्रस्यार्थतो भगवत्सं-  
वत्सर्वसुदृष्टं, तदपि परीक्ष्य निश्चयनीयमिति तदर्थं सार्धंस्त्रिभिः प्रथमाध्यायस्य सर्वशास्त्रा-  
तारकस्य समर्थयन्ति ननु कुत इत्यादि—

नन्वेतदप्यसङ्गतमित्यादि । एतदध्यायप्रश्नानामेव सर्वमुत्तरमित्यप्यसङ्गतं, तत्र तत्र  
श्रौतकप्रश्नानां म्यसां दर्शनादयुक्तमित्याशङ्क्य हेतुं साधयति, सर्वस्यैतदुत्तरत्वमकं हेतु-  
मुपपादयतीत्यर्थः । एवमित्ति । सम्पूर्णस्योत्तरं कल्पनाधीनं वक्तुमशक्यमाहुः सर्वत्रेत्यादि ।  
अन्यथेति, तेषां षण्णामज्ञातव्यत्वे । व्यर्थो स्यादिति, ब्रह्मत्वादिना ज्ञानस्योपनिषद्विषय-  
भावेनाच्चा स्यात् । नन्वेध्यादीनां तत्र कण्ठतोनुक्तत्वाद् गमकस्य चादर्शनात्स्युक्त्यामात्रेण न

१. ‘प्रथमस्कन्धप्रश्नानामिति । प्रथमेऽध्याय इत्यर्थः । २. सर्वत्रेति । निबन्धादि—मकरण-  
वारानु केवन्नेवेति सुशोभितः । ३. अज्ञानदेवाधिभावा सम्प्रश्नाः । ऐश्वर्यप्रद्वारणाप्रावस्थासङ्गोऽध्याय-  
विषयत्वात् । अध्यासांमिति (१) अज्ञानदेवादि शास्त्रार्थः । ... लक्षणं, तथाधिकारदो नास्ति, परन्तु, लक्षण  
पदकलाप्रसङ्गमिति वाच्यं, अन्यथाः अस्मिन्नास्ति, तथा तथाकारदावपि तस्मान्मोकोऽनेनोऽप्यति  
जगदीश्वर्यः । २. प्रकृत्यः । ३. नैवृत्कोः । ४. अधिकार इति शेषः । ५. अधिकाधिकारे । ६. श्रोतुः ।  
७. ऋषिकारिणः । ८. अधिकाः इति शेषः । ९. भागवतप्रश्नार्थयो स्यात् ।

सङ्कतिरपि निरूपिता भवति । पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति ज्ञानवैराग्य इति । नात्र क्रमो विवक्षितः । वस्तुतस्तु स्कन्धद्वयेनैकैकम् । ज्ञानभाषाभ्याम् । सर्गाविसर्गाभ्यां वैराग्यम् । धर्मो द्विविधः स्थानपोषणभेदेन । ऐश्वर्यमपि प्रह्लादमन्वादिभिः द्रष्टव्ये । यशश्च नवमदशमाभ्याम् । श्रियोऽन्याभ्याम् । तत्र हि स्वरूपे रमणं सेत्स्यति । ऐश्वर्यादिक्रमेण वा सर्वश्रुपपाद्यम् । एवं सति स्वाधिकारशिद्धयर्थं मृतेन यथोचितरिति तथा विभागात्माह चतुर्णामिति । उत्तरमध्ये प्रथमाध्याये प्रश्नचतुष्टयसोत्तरम् । त्रयाणां वा समष्टः । टिकायां तथैव ध्यारूपातम् । कृष्णेन सहितयोर्द्वयोः, द्वितीयाध्याये त्तरम् । अनेन प्रत्येकसद्व्याप्याभ्याश्चरं देयमिति ज्ञापितम् । स्पष्टार्थश्रुमयोर्न-माह ऐश्वर्यधर्मयोरिति । अवतारधर्मयोरित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

समूहोऽध्यायार्थो भवतीति सर्वत्र ज्ञापयितुं प्रथमाध्यायस्य वाक्यार्थात् सङ्कृताति मङ्गलमिति—

**निबन्धः—मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ॥ ४३ ॥**

स्पष्टा इत्याकाङ्क्षत्यामाहुः तत्रापि हेतुरिति । स्पष्टत्वेऽपि हेतुः । तथा च भगवान्सात्त्वतां पतिरिति वंदतां षट् प्रश्नैश्च कुर्वतामभिनन्दनबोधके द्रव्याक्ये 'कृष्णसम्प्रश्न' इति कथनात्सात्त्वत्यै विचारिते भगवत्त्वज्ञानार्था एते प्रश्ना इत्यवगम्यते । तत्सन्दर्भविचार एव स्पष्टत्वे हेतुरित्यर्थः । एवं सत्यवन्तरप्रश्ना विशेषावगत्यर्था इति सर्वस्यैवोचरत्वाच्छ्रौतकस्याधिकाः सूपपन्न इत्यर्थः । एतेनैवार्थतो भगवत्त्वमपि शास्त्रस्य व्यासचरणैर्गौषितमित्याहुः स एवेत्यादि । शब्दतो भगवत्त्वं स्कन्धसङ्ख्यायात्सार्थका प्रयोगे स्फुटीकृतमति न कति शब्दाः । अनेनेति, प्रश्नोत्तरार्थस्फुटीकरणेन । सङ्कतिरिति, कृपारूपा सङ्कतिः । क्रम इति, 'ऐश्वर्यस्य समप्रस्थे'ति वाक्योक्तक्रमः । एकादशद्वादशयोः श्रियो निरूपणं न स्फुटीमिति तत्स्फुटीकुर्वन्ति तत्रेत्यादि । एवमत्र सङ्कत्यात्मको व्याससाक्षयोगोचरः शास्त्रावतरणहेतुर्विचारितः । अतः परमवान्तरसङ्कतिं प्रश्नोत्तरयोः द्रव्योक्त्यनुसारेण विचारयन्ति एवं सूतीत्यादि सर्वस्योचरत्वे सिद्धे सति । ओहेति, अवान्तरसङ्कतिबोधनार्थमाहेत्यर्थः । चतुर्णामिति, भगवत्त्वार्थानां धर्माणाम् । अनेनेति, द्विशोचरकथनेन । ज्ञापितमिति, व्यासचरणैर्ज्ञापितम् । अवतारधर्मयोरित्यर्थ इति, अवतारकथ्याप्रश्नोत्तरेणैश्वर्यस्य, 'स वा इदं विश्वमनोपलील' इत्यादिधर्मप्रश्नोत्तरेण धर्मस्येत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

एवमवान्तरसङ्कतिं सर्वसम्मतप्रकरणार्थं च विचार्य सिद्धान्तेन प्रकरणार्थं बोधयितुमध्यायार्थान् विचारयन्तः सार्धलिपिः प्रथमाध्यायार्थमाहुः समूह इत्यादि—

१. शौलकनाम् । २. सताम् । ३. स्पष्टत्वे धर्मविचार एव हेतुरिति धर्मन् । ४. समप्रश्न इति शेषः ।

प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः ।  
कृष्णे चतुर्थां वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ॥ ४४ ॥  
प्रयोजनक्रियारूपैर्विद्यमानविमोचकः ।  
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात् कृताः ॥ ४५ ॥  
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् ।  
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥

प्रकाश—मङ्गलं प्रथमश्लोकार्थः । प्रकृतोत्कर्षः श्लोकद्वयस्य, तथा प्रसङ्गः । त्रिभिः द्रव्यसंस्तुतिः । एकेन प्रथमप्रश्नः । हेतुप्रश्नः सार्थाभ्याम् । आद्यो धर्मपरो द्वितीयो ज्ञानपरः । ततः कृष्णे चतुर्थां प्रश्नः । एवं सति पूर्वप्रश्नद्वयस्य कृष्णपरत्वं न भविष्यतीति तत्समर्थनार्थं मार्गभेद एव न त्वर्थभेद इत्याह कृष्णे चतुर्थां वेदे तु द्वयमिति । चतुर्भूतिर्विगणवात् कृष्णः, काण्डद्वयवैरूपश्च, तेन द्विधा । अतः षट् भेदा अपि गुणपर्यायाः प्रष्टव्याः । तेषु ज्ञातेषु सर्वं ज्ञातं भवतीति । प्रकार-चतुष्टयेऽपि द्विरूपत्वं, तदाह प्रयोजनक्रियारूपैरिति । कृष्णस्य जन्मप्रयोजनप्रश्नः, क्रियाप्रश्नः, रूपाणां च प्रश्न इति त्रयाणामेकत्र प्रश्ने हेतुमाह विद्यमानविमो-चक इति । भगवानवतीर्थं योगिनो ज्ञानिनो भक्तेश्च मोचितवान् । भक्तमोचनार्थमेवावतीर्थं इति प्रथमं क्रियया सृष्ट्यादिना ज्ञानिविमोचकः, रूपेण योगिविमो-चक इति । तन्मध्ये चाविहितभक्ताः । चतुर्थस्यैकस्यैव पृथक्त्वे तुल्यवत्त्वायाह अग्रे केन विमोचेतिति । तत्र चाधिकारो वक्तव्य इति स्वाधिकारं वदन्नाह ।

तथेति, श्लोकद्वयस्य । धर्मपर इति, श्रेयोलिङ्गाद्धर्मविषयकः । ज्ञानपर इति, आत्म-प्रासादलिङ्गाज्ज्ञानविषयकः । तत इति, 'द्वयं जानाती'त्यात्मप्रासादीत्यर्थः । मूलं-द्विधा मतमिति । प्रकारद्वयेन भगवत्परत्वं मतमित्यर्थः । द्विरूपत्वमिति, विद्यमानानां भाविनां च विमोचक इति भेदेन द्विरूपत्वम् । एकत्रेति, संक्षमप्रतया । भक्ताश्चेति, भक्तपदं ज्ञानि-योगिनोर्विशेषणम् । मार्गाणां त्रित्वात् पक्षान्तरमाहुः तन्मध्ये इत्यादि । ज्ञानियोगि-नोर्मध्ये पूर्वं बुनिपदेन ज्ञानिनामुक्त्वात् सूत्रिपदेन योगिनां बक्ष्यमाणत्वात् श्रवणादर-मोचकेन 'को वा भगवत्तस्ये'ति मध्यमश्लोकेन श्रवणादरलिङ्गि च बोध्या इत्यर्थः । इदं श्रवणादरमध्यास्त इति मूलस्य विवरणम् । एवं सत्यवतारप्रयोजनेन पुष्टिमकि-विमोचकत्वं श्रेयम् । चतुर्थस्येति, 'ब्रूहि योगेश्वर' इत्यनेनोक्तस्य तत्रेति, अग्रिमविमो-

१. 'पुंसैकान्ततः श्रेयस्तथाः सतिमुदहती'ति । २. अतः साधोऽन यत् सारं समुद्वय मनीषणा ।  
श्रुति नः धर्मपानानां वेदात्सा छस्तीदतीति । ३. ज्ञानिनामित्यापि पाठः । ४. अविहितभक्ताः । ५. पूर्वोक्तम् ।



अनेक प्रथमान्याये जिज्ञासुः प्रथमाधिकारी निरूपितः, वक्ता च श्रुतभारावत इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

द्वितीयाध्यायसङ्ग्रहमाह उत्साहसङ्कतिरिति—

निबन्धः—उत्साहसङ्कतिः प्रह्वःशास्त्रारम्भोपदेशनम् ।  
 प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ॥ ४७ ॥  
 पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः ।  
 एवं वेदार्थनिर्धारो श्लोकाः सप्तदश स्मृताः ॥ ४८ ॥  
 धर्मज्ञानार्थनिर्धारोच्छ्रवणादिभिर्मादरात् ।  
 प्रेमात्पत्तो हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ॥ ४९ ॥  
 जन्मकारणलीले च सप्तभिः पञ्चभिःवर्षात् ।  
 भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ॥ ५० ॥  
 संत्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम् ।  
 विशेषभक्तिसिद्धयर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ॥ ५१ ॥  
 सामान्यतोऽप्य मूलत्वकथनाय विशेषतः ।  
 नोक्तं स्वरूपाविज्ञानात् फलवाक्यं श्रूया भवेत् ॥ ५२ ॥  
 अतस्तदुक्त्वा पश्चात् कुन्तीवाक्ये वदिष्यति ।  
 उत्पादने प्रवेशश्च नानालं भोगरक्षणे ॥ ५३ ॥  
 पूर्वं पञ्चविधा लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।

प्रकाशः—सूतस्थोत्साहः कथनप्रयोजनं च प्रथमश्लोकार्थः । ततो द्वाभ्यां प्रह्वः शुक्लमस्कारः । शास्त्रारम्भोपदेशनमेकेन, अभिनन्दनं तथा । ततः स्वयमेव श्लोकविभागानाह पञ्चभिरिति । कर्म पञ्चविधमिति, 'पुरुषो द्वादशविध' इति वने । वदमिति, 'कलिमागतमाशये'त्यादिना वदन् । सिद्धमाहुः अनेनेति, वाक्यार्थसङ्ग्रेहण । अत्र वक्तुरधिकार आर्थो ज्ञेयः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

एवं सार्धेभिः प्रथमान्यायार्थं उक्तः । अथ सार्धैः सप्तभिर्द्वितीयाध्यायार्थमाहुः द्वितीयेत्यादि—

मूले—उत्साहसङ्कतिरित्युत्साहसहिता सङ्कतिरित्युत्तरपदयोर्गो समासो ज्ञेयः । तयोरे, एकैः पञ्चभिरिति, 'स वै पुंसा'मित्यादिभिः । द्वादशेति, 'वदन्ति तत्त्वविद' इत्यादयः

१. स्वयमधिकारण इति । सत्त्वश्लेषोदाहृत्य निर्धारणे । २. गुणातीत इति । निरूपकत्वं समाप्त्यर्थम् ।

तत्त्वविचारे द्वादश, एतावानेव वेदार्थ इति । 'सप्तदशो वै प्रजापति'रिति श्रुतेः । सप्तदश श्लोका वेदार्थे परिनिष्ठिताः । वेदे ततोऽधिका गतिर्नास्तीति सूचितम् । एतयोः प्रथमं निरूपणे निमित्तमाह धर्मज्ञानार्थनिर्धारो इति । एतयोः प्रजापति-मात्रत्वं येसदैव भगवच्छ्रवणादिकं भवतीति भगवच्छ्रवणसिद्धयर्थं पूर्वं तयोर्निरूपणम् । तत्र आदरेण श्रवणादिकरणे प्रेमोत्पत्तिः । ततो हरिर्प्रीतिः । ततोऽज्वलारादीति क्रमः सिध्यति । जन्मकारणनिर्धारो सप्त श्लोकाः, लीलायां पञ्च । एतयोः प्रयोजनमाह भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिरिति । प्रथमं भेदद्वयमाह सत्त्वनिर्धारणे पञ्चेति । पञ्चानां विचारोक्तत्वात् । विचारोपयोगमाह विशेषभक्तिसिद्धयर्थमिति । प्रयोजनान्तरमाह सामान्यत इति । ननु कृष्णवतरे प्रयोजनं पृष्टं, तत्र कथं सामान्यावतारप्रयोजनेनो-क्तं ? तत्राह विशेषतो नोक्तमिति । तत्र हेतुः शौनकस्य कृष्णस्वरूपाविज्ञानात् । ज्ञाते हि स्वरूपे जन्मेतुर्बन्धः । यदि स्वरूपज्ञानरहितस्यापि जन्मप्रयोजनमुच्यते तदा हेत्वभावे फलमिव तं प्रति फलवाक्यं श्रूया भवेत् । अनेन सर्वत्रैवं वक्तव्यमित्यु-पदेशः सूचितः । अतः प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा, तदवगतं न वेति निश्चित्य, श्रद्धातिश-यात्तदवगतं ज्ञात्वा, पश्चात् कुन्तीवाक्ये वदिष्यति, 'केचिदाहुरजं जात'मित्या-दिना । लीलायाः पञ्चविधत्वं स्पष्टयति उत्पादनमिति । अवतारात् पूर्वं स्वरूपस्थि-तस्य पञ्चविधा लीला । अवतीर्णस्यानेकविधामग्रिमाध्याये वक्ष्यति । एतावान् वेद इति, पूर्वोत्तरकाण्डात्मके । एतयोरिति, धर्मज्ञानयोः । प्रजापतिमात्रत्वमिति यज्ञात्म-कत्वम् । भवतीति, विहितकारिणां कृतिविषयो भवति । अयमाज्ञयः । प्रमाणनिष्ठानां हि विहितेन धर्मकरणम् । धर्मस्तु चोदनालक्षणः । सा तु वेदैकनिष्ठा । प्रत्यक्षवेदस्तु श्रवणा-दिकं चोदयन्नपि भगवच्छ्रवणत्वादिना रूपेण न चोदयतीति प्रामाणिकमष्टचित्स्त्रं कुण्ठिता भवति । अतस्तद्वरीकरणाय विहितत्वमवश्यं वक्तव्यं कथनीयम् । तच्च छान्दसस्य शक्यं, न तु तदनिष्ठातस्य । सूतस्तु जन्तोऽधिकारीति विधिं वक्तुमशकः सङ्ख्यासुखेन बोधयति । सङ्ख्यायाः प्रयोजनवत्त्वं च जातेष्ट्यधिकरणे प्रतिपादितम् । एवं सति श्लोकसङ्ख्यायां प्रजापति-सङ्ख्यामारणे ततो योगजधर्मणं श्रवणादिबोधकविधौ दृष्टे सर्वमेव सैत्त्यलीलाशयेन प्रथमं तयोर्निरूपणमित्यर्थः । अवतारादीति, शौनकाद्यात्मनि भगवदवतारेणे विहितसर्वभावभाषि-रित्यर्थः । सप्तेति, 'सत्त्वं रज'इत्यादयः । पञ्चेति, 'स एवेद'मित्यादयः । प्रथमं इति, जन्म-कारणे । पञ्चानामिति, 'अभिधानं तथा कर्तव्यं' इति वाक्योक्तानाम् । विचारोपयोगमिति, गुणातीतनिरूपकवाक्यद्वयोक्तविचारोपयोगम् । मूले—सामान्यतोऽप्येत्यत्र 'अस्यै'त्य-

१. अनेन इति कृष्णवतारोऽयमवष्टाय शौनकाय सामान्यावतारप्रयोजनेनो-क्ते दत्ते श्लोकाज्जेन कृष्णवतारप्रयोजने पृष्टेपि सहस्रोत्तरादनेन नैत्यर्थः । २. नोदना । ३. भगवच्छ्रवणे । ४. तस्याः कृष्णत्वात् । ५. वैदिककथनम् ।

द्वितीयाध्यायार्थः । अनेन श्रोता अमत्सरो वक्ता चतुरथेति द्वितीयाधिकारः  
सूचितः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

तृतीयाध्यायार्थमाह आविर्भाव इति—

निबन्धः—आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्वशरीरगः ॥ ५४ ॥

अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि ।

ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः ॥ ५५ ॥

वराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः ।

दत्तव्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः—मध्ये नारदादय आवेशिनो निरूपिता इति दूषणं परिहरति तु-  
ल्येति । यथा महाराजः स्वदेशे पर्यटन् स्वार्थं निर्मितेषु गृहेषु तिष्ठति, कदाचित्  
स्वकीयस्यापि गृहे, तदा तस्मिन्तिपर्यन्तं तद् गृहमपि राजगृहं भवति । अतो विशेषे-  
षामावादावेशावतारयोस्तुल्यतया गणना । स्वयं तु स्पष्टार्थं विभागं कुर्वन् अवतारे  
भेदकमाह ज्ञानशक्त्येति । द्विविधो हि अवतारः, दुःस्वस्य बाढ्याभ्यन्तरभेदेन  
द्विरूपत्वात् । क्रियाशक्त्या बाह्यदुःखनिराकरणार्थमवतारः, ज्ञानशक्त्या चान्तर-  
दुःखनिराकरणार्थम् । क्रियास्थानानि निर्दिशति वराहादीति । आदिशब्देन कूर्म-  
दिसिंहादयः । दत्तात्रेयो व्यासः, आदिशब्देन कपिलादि ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

इदानीमवतारान् गणयति मत्स्य इति सार्धैश्चिभिः—

निबन्धः—मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंहवामनभार्गवाः ।

मन्वन्तरावताराश्च व्यासबुद्धौ च राघवः ॥ ५७ ॥

कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः ।

नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ॥ ५८ ॥

महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो ह्यशोर्षवान् ।

नेन गुणातीतो वासुदेवः परामृत्यते । अत्र श्रोतुरधिकार आर्षो ज्ञेयः । एवं सार्धैः सप्तभि-  
र्द्वितीयाध्यायार्थं उक्तः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अतः परं त्रयोदशमिस्तृतीयाध्यायार्थं वदन्ति तृतीयव्यादि—

अवतारलक्षणमेतत्सुबोधिनोऽप्यजन्तव्यम् । मूले—अशुद्धशुद्धभेदेनेति,

१. आविर्भाव इति । नारदादौ भगवदाविर्भावः ।

तथैव बडवावकत्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ॥ ५९ ॥  
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः ।

प्रकाशः—तत्र भागवतेऽनुक्ता अपि पञ्चारात्राद्यागमेषुक्ताः प्रकृतोपयोगिन  
इति निरूपिताः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

आवेशिनो निरूपयति श्रीब्रह्मरुद्रेति सार्धैश्चतुर्भिः—

निबन्धः—श्रीब्रह्मरुद्रशेषाश्च वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ॥ ६० ॥

कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।

धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ॥ ६१ ॥

मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।

कश्यपः सनकाद्याश्च बह्व्याद्याश्चैव देवताः ॥ ६२ ॥

भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चकवर्तिनः ।

गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ॥ ६३ ॥

प्रद्युम्नो रौक्मिणेश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।

नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—साधारणेनापि निरूपितस्यापि कृष्णस्य विशेषमाह ज्ञानक्रियोभय-  
युत इति—

निबन्धः—ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

प्रकाशः—सामान्यप्रयोजनोक्तिमारभ्य भागवतोक्तेः पूर्वं चत्वारोऽर्था निरू-  
पितास्तेषां प्रयोजनमाह माहात्म्यज्ञापन इति—

निबन्धः—माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ॥ ६५ ॥

नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः ।

विद्यतिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः ॥ ६६ ॥

भाक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम् ।

प्रकाशः—माहात्म्यज्ञापनं तत्रोक्तम् । भागवतप्रवणस्य च । शुकैः स्वरूप-  
शरीराणां तथात्वेन । अत्र द्विरुक्तानां अधिकविशित्वं बोध्यम् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥  
॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

तत्रोक्तमिति, 'एवं जन्मान्मिती पद्यद्वयोक्तम् । भागवतव्यादि, माहात्म्यज्ञानमिति

१. "शुद्धसत्त्वेन केवल इति । केवलपदस्वार्थकव्यभिचयम् ।" २. श्रौति, पालिका इति ।

३. चत्वारोऽर्था इति मुक्तिबन्धनिर्णयनित्यमुक्तत्वदुर्ज्ञेयत्वकथाः ।

सिद्धार्थं बन्धनिर्णयः भजनसिद्धार्थं भगवतो नित्यत्वं दुर्ज्ञेयत्वं चोक्तमित्यर्थः । एतद्व्यविवरणाल्पक भगवतम् । उचमस्य सङ्क्षेपकथनेनापि भक्तिर्भवतीति, आदि-मध्ययोस्तु न भवतीति तदर्थं विवरणम् । तत्क्षेपस्तत्र कथयिष्याम इति प्रतिज्ञा । गुणज्ञानं तृतीयाधिकारो वक्तुः । तत्र सादरो द्वितीयः । अत्राध्यायः प्रकाशणं च पूरितम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

द्वितीयप्रकरणस्य हेतुभूतत्वात् पूर्वपक्षकथनं, विरोधित्वाभावात् हर्षश्च वक्तव्यः, तस्मात् पूर्वमिति—

निबन्धः—पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ॥ ६७ ॥

अन्योऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसम्प्लुतः ।

स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि ॥ ६८ ॥

अशुक्तत्वात् सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः ।

श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ॥ ६९ ॥

स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णात्प्रहणादापि ।

अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥

प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।

शेषः । अत्र वाक्यविभाग एवं ज्ञेयः । सार्धसप्तविंशतिभिरवताराः । सार्धेन सामान्ययोजनम् । चतुर्भिर्बन्धैः, एकेन तस्मिन्नेयः । द्वाभ्यां माहात्म्यपूर्वकं नित्यत्वम् । एकेन दुर्ज्ञेयत्वम् । द्वाभ्यां भजनम् । षड्भिः श्रीभागवतप्रस्तावनेति । प्रस्तावनायाः प्रयोजनमाहुः एतद्वयेत्यादि । युक्ति-स्वरूपभजनयोर्विवरणाल्पकमित्यर्थः । द्वितीय इति, श्रोता । एवं शुश्रूषा, अमात्मर्थं, श्रवणा-दर इति श्रोतुः सम्भवायेन सन्मुत्पात्तं श्रुतभागवतत्वं दीतिचातुर्यं शुभज्ञानमितीत्येतावधिकारो साधारण्यधिकारं प्रथमकशास्त्रौ श्रवणस्वरूपनिर्वाहकतया त्रिभिरव्यारैः सिद्धौ । एवं द्विपञ्चाशद्विः प्रथमप्रकरणार्थं विचारितः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अतः परं सार्धत्रयोदशमिद्वितीयप्रकरणार्थं वदन्तः पञ्चभिरस्य प्रकरणस्योपोद्घा-तत्वं श्लोकाविचारेण समर्थयन्ति द्वितीयेत्यादि । द्वितीयप्रकरणस्य श्रीभागवतकथने हेतु-भूतत्वाद्बहुः कथने प्रयोजकत्वेन पूर्वपक्षकथनं वक्तव्यम् । पूर्वपक्षकर्तृव्युत्थितत्वाभावात् तस्य हर्षश्च वक्तव्य इत्यर्थः—

१. कोकेः । २. वपुरिति शेषः ।

उपोद्घातो हेतुरूपस्रयाणां रूपमेव च ॥ ७१ ॥

मध्यमोऽयमुपोद्घातः फलपर्यवसानतः ।

प्रकाशः—लोको हि स्वरूप्या कश्चिद् प्रवर्तते, तदेव चेत् शास्त्रसिद्धं तदा हर्षो भवत्येव । पूर्वपक्षणां सङ्ग्रहमाह स्वरूपोत्पत्तिहेतूनामिति । 'मृतमृतौ' ति स्वरूप-प्रश्नः । 'कस्मिन् युग' इत्युत्पत्तिप्रश्नः । 'केन सञ्चोदित' इति हेतुप्रश्नः । एवं त्रयः प्रश्नाः । ततोऽग्रे त्रयः प्रश्नाः । शुक्रस्य कथं पठनं, कथं वा पाठनं । परीक्षितो वा कथं प्रायोपवेशः ? तस्य माहात्म्यं पूर्वं ज्ञातमिति तद् भवति न वा ? इति सन्दिग्ध तस्य जन्मकर्मप्रश्नः । एवं चत्वारो भवन्ति । ननु तथापि भागवतमेव प्रष्टव्यं, किं तत्रभेदेत्याशङ्क्याह अशुक्तत्वादि । उत्पत्तौ प्रष्टव्यं वा यद् युक्तिविरुद्धं, तस्मिन् श्रुते स्वस्यापि फलं तथा न भवतीति प्रश्न इति भावः । ननु यथोपपद्यते तथैव कल्प्यतां, तत्राह अर्थस्यालौकिकत्वम् इति । लौकिको हि स्वेच्छया कल्प्यो भवेदिति । अशु-क्तत्वमेवाह श्रोतुरिति । स ह्यात्मानमेव फलत्वेन मन्यते । तत्र विषयाणां बाधकत्वं मत्वा तत्परित्यागहेतुत्वं सर्वेषां शास्त्राणां च मन्यते । शुक्रस्तु स्वतएव निश्च-त्तविषय इति किं तस्य भागवतेन ? सुतरां वर्णनेन किं ? उत्कर्षार्थं चेत्त्राह

पूर्वपक्षकथने हेतुं मूलेनाहुः । योजना तु—पूर्वं धर्मदर्शनेन शरणसत्तासम्भावना-मात्रात् । 'धर्मः कं शरणं गत' इति पृष्टे सति 'कृष्णे स्वधामोपगत' इत्यनेन स्वतः अन्योऽप्यस्तीति उत्तरं पूर्वीव्याये दत्वा तूर्ण्यौ भूते सूते इति शेषः । तच्छ्रुत्वा शौनको हर्ष-सम्प्लुतो जात इति । हर्षहेतुं टीकायामाहुः लोक इत्यादि । कथं पठनं, कथं वा पाठन-मिति । एतौ प्रश्नौ सुस्ततोऽनुत्पापि 'तस्य पुत्र' इति द्वाभ्यां शुक्रस्वभावक्रिययोः कथनेन क्रमात्परिचिंतौ । जन्मप्रभे हेतुमाहुः तस्येत्यादि । ननु 'कथमालक्षित' इत्यादिना 'द्वयं नमन्ती'त्यादिना च 'द्वय'मित्येवमन्येऽपि सन्तीति कथं सतैव गणिता इत्यत आहुः एवं चत्वार इति । यथा जन्मप्रभे । एवं हेतुविचारेणान्येऽपि चत्वारः, तथा च हेतुविचारेण पञ्चमयोजनविचारेण षडित्येवमेकादशेत्यर्थः । आपत्रयव्यतिरिक्तानां प्रश्नानां वैयर्थ्यमाशङ्कते ननु तथापीत्यादि । तथापीति प्रष्टव्यांशसत्त्वेऽपि, किमिति 'काकन्दन्तविचार'बलिष्कल-त्वात् । समाधिं व्याचक्षते उत्पत्तावित्यादि । फलं न तथा भवतीति, अर्थज्ञानं निःस-न्दिग्धं न भवति कल्प्यतामिति, किं प्रभेनेति शेषः । अशुक्तत्वमिति, विवक्षितमर्थविषयाणां युक्तिविरुद्धत्वम् । अत्र स हीत्यादिना राजविषयाणां चतुर्णां, शुक्र इत्यादिना तद्विषयाणां चतुर्णां विरुद्धत्वं प्रकाशितम् । विरुद्धत्वेऽप्यदपि हेतुद्वयं वदन्ति उत्कर्षार्थमित्यादिना । मदान्तरमिति, बोधदेवीयम् । तत्रसिद्धेति, शौनकादिप्रसिद्धा । तथा च प्रसङ्गपक्ष्या

१. 'तस्य युगो महायोगो'त्याहुःकाणम् ।

स्वत एवोक्तमत्वादि । स तु जन्मान्तर एव सर्वोक्तमः पूर्णज्ञानः, यत् उपनयन-  
मपि नापेक्षते, तादृशस्य किं भागवतेन भविष्यति ? कृष्णानुग्रहोऽपि तस्य स्वत एव  
जातोऽस्ति । एतत् पदद्वयमुत्तरत्रापि योजनीयम् । परीक्षितद्वयेतादृशः । तस्यापि किं  
भागवतेन ? भगवत्कृपां स्पष्टीकर्तुं जन्म पुच्छतीत्याह अतस्तज्जन्मसम्प्रभ इति ।  
मतान्तरमाह कृष्णभक्त्या प्रसङ्गत इति । प्रासङ्गिक्येव सङ्गतः । भक्त्येव भगव-  
त्कृपा तत्रासिद्धेति । भक्त्या प्रभः । मुख्यतयात्र प्रभत्रयं भागवते, स्वरूपोत्पत्तिहे-  
तुनाम् । अन्यत्र तस्मिन् ज्ञात एवागमिष्यतीति त्रय एव प्रभाः सिद्धाः । तदाह  
प्रभत्रयेऽथ सम्प्रभ इति । 'अथ' ति मिश्रप्रक्रमे । व्यासस्योत्पत्तिपूर्वं कथनाद्  
मिश्रः प्रक्रमः । अथ प्रथमप्रश्नस्य द्वितीयस्कन्धे उत्तरं भविष्यति । 'कस्मिन् युगे  
भवत्येवं ?' इत्यस्य, 'कुतः सञ्जोदितः ?' इत्यस्योत्तरमुच्यते । तत्रापि तृती-  
यस्योत्तरमयुना निरूप्यते । प्रवृत्तिमुत्तरत्र प्रकरणे वक्ष्यति । अनेनैकैकमुत्तरमेकं  
प्रकरणं परिगृह्णातीति सूचितम् । केन प्रेरित इत्यत्र नारदेन प्रेरित इत्यु-  
त्तरम् । तस्य प्रेरणे हेतुरेकेनाध्यायेन निरूप्यते । ततो युक्तिः, ततः प्रेरणामिति ।

हेतुतेव युकेति सर्वं माद्येत्यर्थः । 'इति ब्रुवाण'मित्यादित्रयोदशश्लोकेषु यस्तिदं, तदाहः  
सुरूपेत्यादि । नन्वन्वेषामग्रानां का गतिरित्यत आहुः अन्यदित्यादि । यत्प्रभादक, तस्मिन्,  
ज्ञाते उत्पत्तिप्रवृत्तिप्रकारान्यां ज्ञाते गमिष्यति, शुक्विषयकं चतुस्रमुत्पत्त्युत्प्रेरणे तथा राज-  
विषयकं प्रवृत्त्युत्प्रेरणे च गमिष्यतीति तैवेत्यर्थः । शेषाणां 'द्वारप्र' इत्यादीनां तास्यै वक्तुं  
प्रस्तुवन्ति अथेत्यादि । प्रथमप्रश्नस्येति, 'यत् सूते'ति श्लोकोक्तस्य कथाप्रसङ्गस्य । उच्यते  
इति, अस्मिन्स्कन्धे उच्यते । अयुनेति, अस्मिन्प्रकरणे । इत्युत्तरमिति । इदमुत्प्रेरणेत्यत्र कर्-  
णार्थ इति स्वतःशौनकसंवादे सङ्गतिविधेति । कथमथ्यव्ययत्रयमित्यत्रैक्यायामाहुः तस्येत्यादि ।  
हेतुरिति व्यासातिवृत्तिरूपः प्रेरणहेतुः । ननु तृतीये नारदपूर्वजन्मकृतिरेवोच्यते, प्रेरणं  
कथं तस्यार्थ इत्यत आहुः कृतिरित्यादि । प्रेरणे पर्यवसानं व्युत्पाद्यन्ति हेतुरूप इत्यादिना ।  
श्रीभागवतोत्पत्तिहेतुरूपो नारदप्रेरणालम्कः पदार्थ उत्पत्त्युत्प्रेरणत्वेन कथ्यते, अतः सपरि-  
रस्य हेतोरवश्यवकव्यत्वात्पर्यापि विचारा नारदस्येत्याहुःकर्त्तव्यः, तदर्थं त्रयाणां  
स्वरूपं वक्तव्यं, तत्रैकेनैकफलविपर्ययरूपः प्रेरणे हेतुवृत्तः प्रसङ्ग उक्तः, द्वितीये श्रीभागव-  
त्प्रामाण्यरूपं प्रयोजनं नारदस्वरूपं चोक्तं, तत्रैकस्वरूपमविकषेये सन्देहावृत्तौये विक्षिप्यधर्मा  
उक्ताः, ते निःसन्दिग्धाः सन्तः प्रेरण एव पर्यवसन्ति, अत एव नारदेन वाक्यसमाप्तौ 'भवत-  
श्चात्मतोषण'मित्युक्तं, तेन पर्यवसानविचारे प्रेरणमेव हेतुतीयाध्यायार्थ इत्यर्थः । अस्त्योत्प्रेरण-  
प्रसङ्गः ।

१. हेतुरिति । २. हेतुपूर्वं द्विपोत्तरमिति मूलार्थः । ३. हेतुवृत्तः । ४. सुप्रसन्नप्रयत्ने । ५. यत् प्रसङ्गकं  
तद्वृत्तमितीति ध्वन्यः । ६. नव एव प्रभाः सिद्धाः । ७. द्वितीयाप्रकरणस्येति शेषः । ८. हेतुः । ९. विचारपदम् ।  
१०. अन्वेषणम् । ११. द्वितीयाध्यायम् ।

कृतिरुत्पाद इति हेतावेव प्रकरणं पर्यवसितमित्याह उपोद्घातो हेतुरूप इति । हेतुरूप  
उपोद्घातत्वेन वर्ण्यते, अतो हेतोरपि विचारः कर्तव्यः । नारदस्य बोधने कः प्रसङ्गः,  
किं प्रयोजनमिति, को वा नारद इति त्रयाणां स्वरूपं वक्तव्यम् । नन्वयं परम्परया  
भागवते उपयुज्यत इति प्रथम एवाधिकारः कुतो न भवति ! तत्राह मध्यमोऽप्यमु-  
पोद्घात इति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नारदरूपेण प्रसङ्गमाह यद्वाक्यादिति—

निवन्ध-—यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ७२ ॥

फलो फलं तदुक्ते किमित्यनिवृत्तिवर्णनम् ।

उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—अयं चतुर्थीध्यायः प्रश्नस्तदङ्गम् । प्रकरणार्थो प्रश्नो नाध्यायार्थभा-

त्वे शक्यते नन्वयमित्यादि । अस्मिन्प्रकरणे उच्यमानो हेतुरूप उपोद्घातः समाधिद्वारा सम्पूर्णे  
श्रीभागवते उत्पत्तिहेतुबोधकतयोपयुज्यते, यथा प्रथमाध्यायस्यशौनकप्रश्नः, तथा च तस्य  
तदुत्तरस्य च यथा प्रथमे प्रवेशतथास्योप्युत्पत्तिबोधकतया तत्रैव प्रवेशौकित्यात् षडध्यायात्मकं  
प्रथमाधिकारः कुतो न भवति ? भेदकस्याभावादित्याशङ्क्यां भेदकमाहेत्यर्थः । तत्र भेदकं  
'फलपर्यवसानत' इति भूलाद् बोध्यम् । फलं टीकायां व्युत्पाद्य भगवदीयत्वं, तस्यैवसानतः  
तद्वोधकत्वात् । तथा चास्य भेदकस्य विद्यमानत्वात् प्रथमे प्रवेश इत्यर्थः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥  
॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

एवं पैश्वरित्यस्य मध्यमोपोद्घातत्वं समर्थम् । अतः परं सार्धेनाव्यायार्थान्न  
वदन्तः प्रथमस्य प्रेरणेहेतुतामुपपादयन्ति नारदेत्यादि—

ननु पद्यमे नारदेन प्रष्टो व्यासो यदा नारदं प्रष्टवोस्तदा नारदेन प्रेरणं कृतमिति  
पंश्रत्यैव प्रेरणेहेतुत्वं प्रतीयते, न त्वनिवृत्तिरित्याशङ्क्यायामाहुः प्रश्नस्तदङ्गमिति । अनिवृत्ति-  
शेषः सँ इति तस्यै एव हेतुत्वेत्यर्थः । नन्वनिवृत्तेरध्यायार्थत्वमसङ्गतं, शौनकप्रश्नोत्तररूपत्वात्,  
तत्र चानिवृत्तेरुत्पत्तिव्यादिति चेत्त्राहुः प्रकरणेत्यादि । तथा च प्रकरणार्थहेतुहेतुस्येवपेनास्या  
उक्तत्वात् प्रश्नस्यैतद्वाद्यकत्वमित्यर्थः । मूले-उत्तरं च कृतिश्चैकमिति । पैश्वरित्यकमनि-  
वृत्तिहेतुकमनरूपं, अष्टभिरुक्तमग्रिमं चोत्तरं, तत्सन्दंशपतिता नारदकृतिश्चैकं, हेतुपेवशा-

१. व्यासस्यैव फले भाग्यद्वाराः फले तस्येति । तस्य नारदस्य । फले भगवत्कृपायात् । विपर्ययः स-  
साधनत्वमित्यर्थः । २. अनिवृत्तेः, प्रयोजनमाह कलाविति । ३. तदुक्ते किमिति । व्यासोके न किमपि  
फलमित्यर्थः । ४. शौनकप्रश्नस्य । ५. हेतोः । ६. प्रथमप्रकरणे । ७. कारिकाः । ८. मध्यमप्रकरणस्य  
प्रथमाध्यायार्थत्वम् । ९. व्यासस्यैव प्रसङ्गः । १०. प्रश्नः । ११. अनिवृत्तेः । १२. कथाम् प्रश्नं वा । १३. एतस्य  
अनिवृत्तिरुत्पत्त्यर्थमित्यर्थः । १४. 'भवताद्विद्यतया' मित्यादिभिः पद्यभिः । १५. पद्यद्वाराविति मित्यादिभिः ।

धकः । द्वितीयाध्यायार्थमाह उत्तरं च कृतिश्चैकमिति । नारदस्य फलं श्रुयामिति, तृतीयाध्यायार्थः, ससाधनं फलम् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणे श्रोतुर्वक्तृश्राधिकारः को वा सिद्ध इत्याशङ्क्य तमाह तदीयत्वमिति ।

निबन्धः—तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले ।

सत्सङ्गो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ॥ ७४ ॥

उक्तस्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि ।

‘शब्दब्रह्मणि निष्णातो’ न परस्नानतः पुरा ॥ ७५ ॥

फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।

श्रोतुः फलं नावतारादवतारफलं फलम् ॥ ७६ ॥

तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे ।

प्रकाशः—अनिष्टेत्या व्यासस्य तदीयत्वे हेतुरुच्यते । उदासीनं भगवान् किमित्येवं कुर्यात् ! अतो व्यासो भगवदीय इति द्वितीयाध्याये बोधितः । तथा नारदस्यापि । उत्तमप्रकरणस्य तु तत्त्वं फलम् । शुको भगवान्, राजापि तथा जात इति । तत्राप्येवं निर्णयः । भगवदीयत्वं द्विधा । भगवान् स्वार्थं प्रथमत एव किञ्चिद्देकरूपं, द्वितीयाध्यायार्थं इत्यर्थः । एवं च पञ्चमे सप्त श्लोकाः पूर्वशेषाः, अथे त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकाः श्रेणालम्का इति विभागः । षष्ठाध्यायार्थमाहुः नारदस्येत्यादि । फलं त्रयस्त्रिंशद्विहकम् । पृथक्प्रेरणशेषत्वेऽपि नारदस्य फलत्वाद्भित्ततयाध्यायार्थरूपमित्यर्थः ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

एवं साधेनं सूतोक्त्यनुसारिणोऽध्यायार्थानुक्त्या व्यासोकिविचारेण द्वयोरधिकार एवार्थ इति सप्तभिर्वक्तृमाहुः नन्वित्यादि । एवं सतीति, मध्यमप्रकरणस्योद्घातकत्वात्वे सति—

उपपादयन्ति अनिष्टेत्येत्यादि । हेतुरिति, भावबहुपारूपो हेतुः । अयं प्रथमाध्याय-

इत्यर्थः । द्वितीयाध्यायार्थेऽपि एव भगवदीयत्वरूपः । तथा च ‘द्वारेण समनुप्राध’ इत्यारम्भे प्रथमाध्यायोऽप्येतच्छेष इति द्वैतान्यां भगवदीयत्वरूपो व्यासाधिकारो बोधितः । तथा च द्वितीयतृतीयाभ्यां नारदस्याधीत्यर्थः । अत्रत्यं प्रकारमग्निमेऽप्यतिदेहुमाहुः उच्चमेत्यादि । एवं निर्णय इति । पृथक्प्रेरणकोभगवदीयत्ववचन भगवत्परिणय इत्यर्थः प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति भगवदीयत्वमित्यादि । इत्याहेति, द्वितीये तृतीये चोद्देश्यैः । तत्र

१. श्रोतुर्वक्तुः । २. मध्यमप्रकरणस्यः । ३. द्वितीयाध्यायशेषः । ४. व्यासान्याम् । ५. भगवदीयत्वस्योऽधिकारो बोधित इत्यपि शब्दाभिप्रायोऽयमर्थः । ६. मध्यमप्रकरणस्येऽप्याये ।

करोति, तत्र न साधनापेक्षा । अन्यस्तु साधनेन भगवदीयो भवति । कथं भवतीत्याकाङ्क्षाम् नारदः स्वब्रह्मचरान्तं क्रमेणहेत्याह सत्सङ्ग इति । आदौ सत्सङ्गः साधनम् । ततो जीवस्वरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च । ततो भगवदनुभवः । सिद्धत्वाच्च न किञ्चिद् कर्तव्यमिति, स्वातन्त्र्येऽनुभावनामाश्रयानुभवो भिष्यति, स्वस्य भगवदीयत्वे सिद्धे, यथा नारदोऽहमिति पश्चान्मन्यते, तदर्थं साधनम् । कर्मणां भगवति समर्पणम् । समाधीं भगवदनुभवः । ततो भगवद्भाष्याचचारत्वमिति । एतदेव हि नारदेन वर्णितम् । नन्वेवं सति ज्ञानविज्ञानोपदेशे फलं स्वत एव भविष्यति, किं षष्ठाध्यायैवेत्याशङ्क्याह शब्दब्रह्मणोति । ननु ध्यायसस्यांशवतारत्वात्तदीयत्वं स्वत एव, तत्र कथं श्रवणेन तदीयत्वम् ? तत्राह श्रोतुः फलमिति । एतत्तन्मात्रेण तदीयत्वं जातम् । किन्तु श्रोतुः फलं श्रवणानन्तरमेव फलम् । अवतारकामपि तदैव जातमित्यर्थः । नन्वेवं सति तदीयत्वसिद्धयर्थं भागवतनिर्माणमत्रैव वक्तव्यं स्यादित्यत आह तदुक्तमन्यशेषत्वादिति । उक्तमार्थं हि तस्य निर्माणं, तदीयत्वं तु

त्यर्थः । तत्र तत्सङ्गादि कर्मान्तं चतुष्टयम् । द्वितीये देशभिः, शेषनिर्णयस्तृतीये, चात्कर्मनिर्णयः । भगवदनुभव इति, तस्यांशकारः । द्वयोर्वैलक्षण्यं बोधयितुमाहुः सिद्धत्वादित्यादि । भगवदीयत्वस्य सिद्धत्वात् । तत्र, व्यासस्य भगवदीयत्वे, किमपि साधनं कर्तव्यं नास्ति । स्वातन्त्र्ये, नारदस्य भगवदीयत्वानुभवे । अनुभावनेत्यादिनोकरीत्या पश्चात्तथात्वम् । एतदेव्यानुभवान्तं नारदेन ‘व्यमात्मनासाम्’मिति श्लोकेन ‘अहं पुरेत्यारभ्य स्वब्रह्मचरकथनेन च वर्णितम् । अतो द्विविधं भगवदीयत्वमध्यायत्रयेण सिद्धमित्यादि । तृतीयाध्यायवैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि । द्वितीयाध्यायवैयर्थ्यासिद्धौ किं तृतीयेनेत्यर्थः । मूलेफलं भवेदिति । इति बोधयितुमिति शेषः । श्रोतुः फलोक्तौ वदव्याघातमाशङ्कते नन्वित्यादि । तत्कथमिति, स्वतो भगवदीयत्वं व्यासे, तत्र नारदोक्तश्रवणोत्तरपरस्नानानन्तरमावीति कथमित्यर्थः । समादधते अवतारेत्यादि । तथा चोक्तसत्सङ्गादिप्रणाल्यन्यत्वेनैव प्राथमिकत्वमत्र विवक्षितमिति श्रवणोत्तरमाविष्येऽपि न तद्भान्निरित्यर्थः । भगवदीयत्वस्य श्रवणजन्यत्वेऽसङ्गतिमाशङ्कते नन्वित्यादि । समाधीं व्याचक्षते उक्तमार्थमित्यादि । तस्येति, सम्पूर्णस्य । तथा च श्रीभागवतप्रकटनार्थं भगवतो व्यासस्यैवावतारत्वात् तैत्तन एव स्वार्थत्वसिद्ध्या भगवदीयत्वं सिद्धवति । कर्णं तृप्तमिति भगवदीयत्वं तस्यानुपार्जितिकफलं,

१. श्रवणस्यैव द्विविधश्रवणानुभवानन्तरमेव तस्यैवावतारो केषः समुपलभ्यः । मुक्तिप्रत्ययपर इत्यप्योक्तत्वेऽपि कर्णिकत्वाद्भाष्येति नित्यत्व प्रस्तुतमन्यतरात् समुच्चये । इतीति हेतुः । २. स्वातन्त्र्येनैव तदीयत्वं । स्वत नारदस्यनुभवे । श्रीभागवतस्य शिशुस्यैः सुतस्यापि तत्राज्ञायां मायावद्व्यपत्तयति तत्राज्ञा...दिनारदतानानं मायिकत्वेन भावनाभावनजनकोऽनुभवोऽपि तस्यैव पदच्छेदः । शावकाद्येति तस्यैव तस्यैव पदच्छेदः । मूले—तदिति, श्रीभागवतम् । ३. श्लोके । ४. भगवदीयत्वम् । ५. मध्यमप्रकरणस्येति । ६. तस्य प्राथमिकत्वम् । ७. श्रीभागवतप्रकरणे । ८. व्यासस्य ।

प्रासङ्गिकमानुषङ्गिकफलं सेत्स्यति । अतो मध्यमप्रकरणे न निरूपितम् ॥ ७४ ॥  
॥ ७५ ॥ ७६ ॥

ननु प्रासङ्गिकस्याप्यसिद्धौ कथं मध्यमत्वं सेत्स्यति ? तत्राह प्रतिबन्धनिवृ-  
त्तिश्चेति ब्रह्म्याम्—

निबन्धः—प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा ॥ ७७ ॥

रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम् ।

दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद्भयाभावाच्च संसृतेः ॥७८॥

फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम् ।

प्रकाशः—व्यासेऽन्यासक्तिः प्रतिबन्धिका । नारदे च माता । साधनाचरणं  
नारदपूजादि । नारदस्य पुनः सताम् । एकत्राग्रहाभावः । अपरत्र रागाभावः ।  
एवं त्रिभिर्भगवदीयत्वम् । नन्वधिकारित्वमेवास्तु नारदस्य, कथं तदीयत्वं ? तत्राह  
कृष्णवाक्यादिति । आकाशवाणीवाक्यात् । 'गन्ता मजनतामसि' इति मध्यमं  
फलं तदीयत्वम् । ननु नारदस्यापि पुनर्जन्मसम्भवाभिकृष्टत्वमेव कुतो न भवतीत्या-  
शङ्क्याह दुःखाभावादिति । तस्य संसारकृतं दुःखं नास्ति, नापि परतन्त्रत्वात्, नापि  
विषयादिभ्यो भयं, अतो नारदत्वं फलमेव । किञ्च, सर्वदा भगवत्स्फुरणमपि तस्य  
जायते । अतो भगवद्भावान्नारदत्वमवान्तरं फलमित्यर्थः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

तत्र नारदवाक्यश्रवणमात्रादेव सिद्धमिति तैर्निर्माणस्यात्रानुकावपि न काचन हानि-  
रित्यर्थः ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

भगवदीयत्वसिद्धौ पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । करणद्वारा हि प्रासङ्गिकं फलं न तु  
श्रवणमात्रेण, करणस्य चात्रानुक्त्या फलाभावे प्रकरणस्य मध्यमत्वानुपपत्तिरित्यर्थः—

उपपादयन्ति व्यास इत्यादि । साधनाचरणक्रमेण द्वयोर्ज्ञातव्यम् । प्रतिबन्धनिवृत्तिर्न  
सृष्टेति तां सृष्टीकुर्वन्ति एकत्रेत्यादि । द्वितीयं व्यासस्याग्रहाभावस्तृतीयं च नारदस्य रागा-  
भावः मापृष्टेहाभावः । तथा च करणानुकावपि तद्व्यतिबन्धनिवृत्तिरेत्साधनयोः कथनेन फल-  
दुल्लङ्घनान् त्रिभिर्भगवदीयत्वं सिध्यतीति मध्यमत्वमप्रलुप्तमित्यर्थः । एवं च क्रमेण  
भागवदभिप्रेताकरणजनितलेदः, बन्वृज्या, आग्रहाभावश्चेति श्रोतुः, भगवदीयैश्वरी, सतां  
पूजा, कुटुम्बरागाभावश्च चक्रुरिति निष्पत्तिकारो भगवदीयत्वरूपः सिध्यति । यथापि बन्वृज्या  
पूर्वत्र सिद्धा, तथापि प्रभवेत्त्वादुत्तराज्याये निविशते । एवमाग्रहाभावोऽपि पर्यवसानाचृतीय  
इति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

नन्वेवं सति मध्यमत्वसिद्धयर्थं व्यासस्यापि साधनं कथं नोच्यते ? तत्राह  
नात्मवत्करणमिति—

निबन्धः—नात्मवत्करणं युक्तं बोधनं प्रीणनाद्धरेः ॥ ७९ ॥

अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै ।

सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम् ॥ ८० ॥

प्रकाशः—यथा नारदो बोधितः सत्यासिभिः, तथा न बोधनीयः । यथा वा  
'नामान्यनन्तस्ये'त्यादिप्रकारेण नारदेन कृतं, तथा न करीष्यम् । तत्र हेतुः—हरेः  
प्रीत्यस्तु । स्वत एव च्छब्दे हरिप्रीतिः । ननु त्वमपि परम्परया प्राप्तं भागवतं  
ज्ञात्वाऽपि कथं श्लोकान्, मया ब्रह्मण्ये च्छब्दे ब्रह्मण्ये वदामीति ? तत्राह अवि-  
श्वासादिति । परम्परया न तदिति त्रिभिर्भगवदीयत्वमिति कथितम् । 'समाधिनातु-  
स्परे'ति वाक्यात् । सामान्यतः कथितं च । तथा सति संवादो भवति । न चेद्यदि  
नारदोक्तं सत्यमिति यद्यगम्यते, तदैव समाधौ प्रशुचिर्भवति । अन्यथा परम्परा न  
स्यादित्याशङ्क्याह सत्यं तदिति । विज्ञानादिति, स्तोत्रकरणज्ज्ञाप्यते, 'अहो  
देवपिर्धन्य' इति । नारदोक्तमस्य हृदये समागतमिति तेनैव प्रकरणं पूरितम्  
॥ ७९ ॥ ८० ॥

मूले—अविश्वासादित्यादि । व्यासस्य नानासाधनविज्ञानाभिनिविष्टत्वादविश्वासमव-  
गत्य नारदेन स्वस्य ब्रह्मण्ये कथनं वारितं गोपितमित्यर्थः । एतदिति, स्वचूचान्तकथ-  
नरूपम् । अन्यथा असत्यत्वज्ञाने । परम्परा संहिताकरणतत्वात्तन्नाम न स्यात् । तथा  
च तदुभयदर्शनाद्विश्वासेऽवगम्यत इति स्वज्ञानकथनेऽपि सँ स्यादेवेत्याशङ्क्येत्यर्थः । तत्र  
समाधये स्तोत्रेत्यादि । श्रुतौनारदस्तुतिवाक्येषोपनिबन्धनस्य समाध्यनन्तरमावित्वाज्ज्ञाप्यते  
समाध्युत्तरमेव विश्वासी ज्ञाते इति । अन्यथा नारदोच्यनन्तरमेव स्वयं स्तुतिं कुर्वति ।  
अत एव ज्ञातेऽन्यासक्तिश्चिध्यसङ्घाभ्यां प्रथमकक्षाप्रवेशस्य सम्पादित्वेऽपि 'स वै भवान्दे-  
व समस्तगुण'मित्यादिना नारदत्वत्वरूपज्ञानपूर्वकं त्वनाम्नारदे उल्कसँज्ञानमस्तीति शौनकतो  
वैलक्षण्यात् व्यासस्य तैत्कक्षाप्रवेशः । शुक्रोक्तौ राज्ञ इव नारदवाक्ये पूर्वं विश्वासाभावाच्च  
नोत्पकक्षा । अतो मध्यमत्वे सिद्धे तेनैव प्रकरणं पूरितमित्यर्थः ॥ ७९ ॥ ८० ॥

१. नात्मवत्करणमिति । आत्मा स्फुरितत्वेन यस्याय इति आत्मात्पारदः, तस्य करणमिव करण-  
मित्यर्थः । २. करणत्वात्त्वदर्शनात् । ३. विश्वातः । ४. प्रथमकक्षाप्रवेशः ।

तृतीये प्रकरणे प्रथमतः शौनकरय प्रश्ने प्रयोजनमाह उपोद्घात इति—

निबन्धः—उपोद्घातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः ।  
वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत् ॥ ८१ ॥  
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः ।  
श्रुतिमान्नात्ततो भक्तिरविश्वासात् रागिणः ॥ ८२ ॥  
फले सिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः ।  
अत एवैष्यविज्ञानादात्मज्ञापनसूचनम् ॥ ८३ ॥

प्रकाशः—द्वितीयं प्रकरणं हेतुभूतं भवति, भागवतोत्पत्तिसाधनं, तत् तदैव निर्वहेद् यदि नारदमनानन्तरमेव तत् कुर्यात् । अन्यथा कालान्तरकरणे पूर्वोक्तस्य हेतुत्वं न स्यात् । अत उपोद्घातोऽयं तदर्थविचाररूप इति ग्रन्थस्वरूपमात्रनिष्पत्त्यर्थं पूर्वमेकः प्रश्नः कृतः । ततो ग्रन्थोत्पत्तायुक्तार्यां वक्तुश्चापि श्रुक्तस्य वक्तुत्वानुपपद्यत इति द्वितीयः प्रश्नः । स तु पूर्ववदनुवादरूपः । पुनः स्मारणं तस्यावश्यकबोधार्थम् । उक्तमत्वं च वक्तुः सिध्यतीत्याह फलसिद्धेरिति । युक्तिः फलं च तच्छ्रुक्तस्य सिद्धमिति । एवं प्रश्नाभिप्रायस्युक्त्वा, उत्तरे 'यस्मां वै श्रयमाणाय'मित्यत्र युक्तिसाधाभावय साधिकाद्युपपत्तिमाह माहात्म्यं सर्वनिर्धार इति । यस्माद् भागवते भागवतो माहात्म्यं, निःसन्देहाय सर्ववस्तुनिर्धारोक्तः । अतः श्रुतमात्रादेव ततो भक्तिर्भवति । तर्हीदानीन्तनानां कथं न जायते ? तत्राह अविश्वासादिति । उक्तार्थविश्वासात्प्राप्तिको हेतुर्वक्तव्यः । स च व्यासोक्तत्वेन जायमानोऽपि रागस्य प्रति-

एवं सप्तभिर्घ्यासाशययुक्त्वा सार्धैर्लघोदशभिर्मध्यमप्रकरणं विचारितम् । अतः परं त्रिपञ्चाशद्विरुत्तमप्रकरणं विचारयन्तः पूर्वोक्तेन हेतुप्रश्नेन चारितार्थानुपुनः शौनकरप्रश्नस्य वैयर्थ्यमाहात्म्यं तन्निराकरणाय तस्य फलोपोद्घातत्वं त्रिभिर्भाहुः तृतीयेत्यादि—

अन्यथेति, तदानीमकरणे । तदर्थविचाररूप इति, पूर्वोक्तं यकरणं तद्विचाररूपः । अनुवादरूप इति, 'तस्य पुत्र' इत्यादिव्योक्तानुवादरूपः । अनुवादप्रयोजनमाहुः पुनः स्मारणमित्यादि । सिध्यतीत्याहेति । प्रश्न एव व्यक्तं भवति । तथा च सिद्धे फले साधनविषयिणी प्रवृत्तिरुपपन्नेत्याह युक्तिबाधाभावायेति । इदानीन्तनप्रत्यक्षकृतवा-  
धाभावाय । न जायत इति, तथा चाविश्वासेन प्रतिबन्धाद्युक्तिनाथो न दोषायेत्यर्थः ।

१. तदिति साधनत्वम् । २. तदिति श्रीभागवतम् । ३. वैयर्थ्यनिराणाय । ४. प्रश्नस्य ।

बन्धकस्य विद्यमानत्वान्न जायते । एवं सूचयितुं 'शुकमध्यापयामासे' त्युक्तमित्यर्थः । इदानीं भक्तिसहितस्य ग्रन्थस्य फलं निर्धारयितुं पुनः सूतशौनकसंवाद् इति सू-  
तोक्तं फलं स्पष्टं वदति फले सिद्धेऽपि सेव्येयमिति । यद्यप्यस्य युक्तिः फलं, तथापि फलापेक्षया साधनमेव फलरूपम् । तद्गाराहितस्यैव तथासुभवो भवति ना-  
न्यस्येति मृतवाक्ये निर्धारः । तेन अत्रैतत् सिद्धम् । प्रवृत्तिपराणामपि यथा  
भक्तिर्भवति तदर्थमिदमारब्धम् । ते हि विषयिणो विषयोत्कर्ष एव प्रवर्तन्ते । उचम-  
विषयार्थं च हीनविषयं परित्यजन्ति । अतो मोक्षसाधनत्वमस्या अनुक्त्वा कल्प-  
नामपि निराकर्तुं शुकस्य प्रवृत्तिमाह । तेन व्यासस्तथा कृतवान् । यथा लोको  
विषयसौन्दर्योदेव प्रवर्तते, तथा कृतेरात्मज्ञापनं सूचितम् । 'प्रवर्तमानस्य गुणैरना-  
त्मन' इति नारदज्ञापनं सूचितमित्यर्थः । नन्वेयं विषयसौन्दर्योत् प्रवृत्ता भविष्य-  
न्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? मृदा उल्लेखेऽपि सिद्धे, न प्रवर्तते इत्याशङ्क्याह अत एवै-  
ष्यविज्ञानादिति । कृतेरेव हेतोरेष्यविज्ञानमपि सूचितम् । तदैव नारदोक्तं कृतं  
भवतीति । अनेन प्रवर्तमानस्य दृढविश्वासे बोधितः । एवं सफलं भागवतं नार-  
दवाक्यात् कृतमिति फलितम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

अधुना तेन परीक्षितस्थाने निरूपितमिति प्रवृत्तिं वक्तुं परीक्षितो जन्मादि वक्त-  
व्यम् । तच्च द्वादशाध्याये वक्ष्यति । मध्ये द्वाविंशत्यादिजयः, कुन्तीस्तुतिः, भीष्मयुक्तिः,

विश्वासस्य हेतुता चानुपदं व्युत्पाद्या । ननु किमत्र मानमित्याकाङ्क्षायामाहुः एवमित्यादि ।  
अविश्वासजनकस्य रागस्य प्रतिबन्धकत्वं सूचयितुं यत् शुकमध्यापनसुक्तं तदैवात्र मानमित्यर्थः ।  
'स संहिता'मित्यादेस्तास्यैव वदन्ति इदानीमित्यादि । भक्तिरहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं भक्तिरूपं  
किर्ययं भक्तिसहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं निर्धारयितुं, पुनः सूतशौनकसंवाद् इति बोध-  
यितुं, तद्वदतीत्यर्थः । सूतवाक्यनिर्धार इति, 'आत्मारागार्थे'ति लोकाद्वयार्थनिर्धारः । अत्रैति  
संवादद्वये । कल्पनामिति, मोक्षसाधनत्वकल्पनाम् । आहेति, सूत आह । तथा च फलेऽपि  
सिद्धे सेव्येयमिति सूतोक्तिनिर्धार इत्यर्थः । एवं सूतवाक्यसिद्धमर्थमुक्त्वा अयं व्यासाशयो न  
वेति जिज्ञासायामाहुः तथा कृतेरित्यादि । विषयसौन्दर्यपूर्वकं करणात्स्वकृतं नारदकृतं च  
उत्कर्षज्ञापनं सूचितमित्यर्थः । अनेनेत्यादि, करणेन स्वस्य दृढविश्वासे बोधित इत्यर्थः ।  
एवं त्रिभिर्व्योदघातो निरूपितः ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

एवं सप्तमस्यैकादशलोकानामर्थ उक्तः । अतः परं प्रवृत्तुचरं विस्तरेण वक्तुं यतत इति

१. सुलस्य । २. अर्थापेक्ष ।

भगवत्परिणी, द्वारकाप्रवेशश्च पञ्चाङ्गानि । तेषां श्रोतुजन्माङ्गता कथमिति सन्देहे केचिदाहुः, तन्मतमनूय दूषयति स्वपरप्रतिबन्धोन्मिति ।

**निबन्धः—**स्वपरप्रतिबन्धोन्ं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ।  
इति वैराग्यदाढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रोणिजयादयः ॥ ८४ ॥  
इति केचिदिह प्राहुः

**प्रकाशः—**ते हि वैराग्यशेषत्वेन पञ्चाध्यायीं निरूपयन्ति । स्वा युधिष्ठिरादयः । परे भीष्मादयः । ते चेत् परीक्षितः प्रायोपवेशनपर्यन्तं तिष्ठेयुः, तदा तस्य विष-  
बाभावादेव वैराग्यमिति नोत्कर्षः सिध्यति । तथा अक्षयस्कन्धया स्फीतत्वं, स्वत्वं,  
परत्वं च ॥ ८४ ॥

**निबन्धः—** नैतत् साधुतरं वचः ।  
द्रोणेर्जये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ॥ ८५ ॥  
न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्माहकथापि वा ।  
प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्माद्दृक्कथा मुधा ॥ ८६ ॥

**प्रकाशः—**नैतत् साधुतरं वचनं कार्यकारणयोरव्यवधानामावात् । न  
बोधयितुं, प्रकरणार्थरूपमधिकारं च बोधयितुमाहुः अधुनेत्यादि । वक्तव्यमिति, उचम-  
त्वाय वक्तव्यम् । अनूपेति, सपादपथेनानूय—

तथेत्यादीति । युधिष्ठिरादीनामेतावत्यन्तं स्थितौ तेषु भगवत्कृपायाः स्फुटत्वार्थद्रा-  
व्यस्यैव स्फीतता नैर्दराज्यस्य, भीष्मादीनां च तदनुसंसरणेन परत्वमपि न सिध्यतीति । तथा  
च तैस्तिद्वयर्थं तदुक्तिरित्यर्थः ॥ ८४ ॥

सपादेन दूषणमाहुः कार्येत्यादि । कार्यं वैराग्योत्कर्षः । कारणं द्रौणिजयादि ।  
तयोर्व्यवधानामावात् । अयमर्थः । कारणत्वे हि पूर्ववर्तित्वनैत्यवदन्यथासिद्धिपरिहोऽपि  
प्रयोजकः । तत्र द्रौणिजयस्य वैराग्योत्कर्षं प्रति पूर्ववर्तित्वं, राजोत्पत्तिं प्रति गृही-  
त्सैव प्राणमित्यव्यवधानामावादन्यथासिद्धत्वेन तस्य न कारणत्वम् । न च राजो-

१. युधिष्ठिरादिराज्यस्य । २. परीक्षितस्य । ३. तस्य परीक्षितः । ४. तयोः स्फीततापरत्वयोः ।  
५. युधिष्ठिरादिपरितोक्तिः । ६. द्रोणिजयस्य ।

वा युधिष्ठिरस्य राज्यदातुः प्रतिबन्धकत्वम् । न वा भगवत्कथाया उपयोगः । कृपा  
तु त्यागे प्रतिबन्धिका । अतो जन्माध्यायं परित्यज्य सप्तमादिपञ्चदशपर्यन्तमष्टा-  
ध्यायकथां मुधा स्यात् ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

एवं परमतं दूषयित्वा स्वमते तेषां पूर्वोचराङ्गत्वमित्यभिप्रायेणाह पुरुषत्रयशु-  
द्धस्येति—

**निबन्धः—**पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः ॥  
सर्वत्यागे सतां सङ्गे विधासः सर्वथा भवेत् ॥ ८७ ॥  
इति तस्याधिकारित्वसिद्धयै पाण्डववर्णनम् ।  
अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्यत्र दूषणम् ॥ ८८ ॥

त्येव्यपारत्वं शङ्क्यं, आद्यक्षणसम्बन्धरूपायास्तस्यास्त्रिषण्णवस्मायित्वात् । वस्तुतस्तुत्वात्पि  
न तस्य कारणता, मुण्डनोत्तरं पुनररुक्षेपे पुनर्जायानुक्तेः । न च प्रतिबन्धकाभावत्वेन कार-  
णता, द्रौणे राजोत्पत्तिं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वेन तेनापि रूपेण हीं प्रत्येव तस्य कारणत्वेन  
वैराग्योत्कर्षं प्रत्यन्यथासिद्धत्वात् । एवं कुन्तीस्तुत्यादीनामप्युदासीनत्वादकारणता । किञ्च,  
युधिष्ठिरस्थितेरेपि द्रौणिजयवप्रतिबन्धकत्वं प्रकल्प्य तदभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कार-  
णता वक्तव्या । साम्प्रसङ्गेत्याहुः न वेत्यादि । नहि तस्तिथेस्तेन रूपेण प्रतिबन्धकत्वमपि  
तु राज्यस्थितिवेन, तदपि तदा स्यादपि 'सं राज्यं न दद्यात् । नेह तथा । ' तोयनीत्याः  
पतिं शूरेभ्यश्चिद्व्रजाह्वयं ' इति वाक्यात् । न च दाने सति स्वराजत्वस्य प्रतिबन्धकस्य  
त्यागात्वासंभवेति वाच्यम् । तथा सति सर्वत्र स्वसत्तायाः प्रतिबन्धकत्वाद्गृहत्वस्यैवोच्छेदापत्तेः ।  
सर्वत्र कारणभावस्य कार्यजनकतया कारणस्यापि प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणत्वात्पत्या दण्ड-  
त्वादिरूपेण कारणताहानेर्था । किञ्च, भगवत्कृपाया राज्यस्फीततां प्रति कारणत्वमिति सीं च  
विभ्विजयादिनेति राज्ञस्तैर्दर्थं स्थापितत्वाद्वैराग्यप्रतिबन्धकत्वमेवापत्तेरित्याहुः कृपेत्यादि । युधि-  
ष्ठिरस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने दूषणान्तरमाहुः मूले—प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्त इति । कारणसमव-  
धाने कार्यानुत्पत्तौ मण्यादेर्वाहादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः । प्रकृते तु राज्यमाप्तिरूपे कार्ये  
युधिष्ठिरदानात्पूर्वमजाते कथं युधिष्ठिरस्थितः प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः ? दानोत्तरं तु प्रतिबन्धनिवृ-  
त्तिरेवेति तत्र तेषानिश्चय एव दुर्धट इत्यर्थः ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

तेषां पूर्वोचराङ्गत्वमिति । त्रयोदशाध्याय्यां सिद्धान्तमर्थानामधिकारपूर्वोचराङ्गत्वम्—

१ वचनेः । २. द्रौणिजयादेः । ३. प्रतिबन्धकभावत्वेन । ४ उत्पत्तिम् । ५ द्रौणिजयस्य ।  
६. युधिष्ठिरस्यव्यवधानस्य । ७. युधिष्ठिरस्थितोः । ८. स्थितिवेन रूपेण । ९. प्रतिबन्धकत्वम् । १०. युधिष्ठिरः ।  
११ स्फीतता । १२ विभ्विजयार्थम् । १३ युधिष्ठिरस्थितो प्रतिबन्धकताभिश्चयः ।



प्रकाशः—पञ्चाध्यायी पञ्चाध्यायेन जनने शुद्धिहेतुः । जातस्य च प्रतिबन्धाभावायर्मध्यायत्रयम् । अद्युक्ते पितरि पुत्रमुक्तेः प्रतिबन्धात् । ततः कालप्रतिबन्धाभावाय त्रयम् । ततोऽद्भुतकर्मणो भगवतः कृपा शारूप्या । ततः श्रोतृत्वमिति तदेतदाह पुरुषत्रयशुद्धिस्त्यादिना । यथा पञ्चाध्याय्यां पुरुषत्रयशुद्धिर्भवति, तदनुपदं वक्ष्यते । जन्मसमये कृपा स्वतः कालतश्च स्वजन्माध्यायार्थः । अग्रे पञ्चाध्याय्याः सर्वत्यागसिद्धिरर्थः । ततो द्वाभ्यां सर्तां सङ्गः । तदा भागवते विश्वासः । विश्वास एवाङ्गं भागवतश्रवणे । तस्याङ्गत्रयं—सर्ता सङ्गः, सर्वत्यागः, परमा शुद्धिश्चेति । शुद्धौ षडङ्गानि । तत्र मुख्य्या भगवत्कृपा । शरीरहेतवोर्जिज्ञासाशुद्धिः पञ्चाभा भवति, दुष्टपारम्पर्यतः । तच्च पुरुषतः स्त्रीतथेति त्रयम् । तदर्थं सप्तमाध्याये परमा कृपासुते निरूपिता । अष्टमे च कुन्त्याम् । ततः पोषकाजशुद्धयर्थं भीष्मोपदेशः, जीवसत्तायामन्नदोषस्यावश्यकत्वात् । अतो ज्ञानिनामेव शुद्धिः । भीष्मपुत्रक्या च ज्ञानशुद्धिस्तृतीयमङ्गम् । वीजस्य सम्बन्धिनां साधारणानां भगवत्परत्वं चतुर्थी शुद्धिः । सा भगवोऽभिर्गमे भवतीति तथोक्तिः । तत आगन्तुकदोषामावायं भगवतः कार्यसमाप्तिरिति । तस्मादस्मन्मते श्रोतुरधिकारस्त्रयोदशभिः सम्पद्यते नान्यमन्त इत्यर्थः । अतः सौमनस्यैरपृष्टमपि 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणां'मिति प्रतिज्ञोपपद्यते । चकाराचेपु भगवत्कृपा, शुद्धिरेव मूलमिति ज्ञापयितुं 'कृष्णकथोदय'मिति वचनम् । तस्मान्मूल एवायमर्थः सूचित इति नास्मन्मते दूषणसम्भावनापीत्यर्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

स्वतः कालतथेति । 'अङ्गुष्ठमात्र'मित्यादिना, 'ततः सर्वगुणोदकं' इत्यादिना चोकेर्लक्ष्यः । तदेत्यादि, अध्याय्यारूप्याधिकारसिद्धौ प्रकरणार्थरूपेऽधिकारे विश्वासः सिध्यतीत्यर्थः । कथं सिध्यतीत्येषायां पूर्वोचराज्ञानि प्रकटीकुर्वन्ति विश्वास एवेत्यादि । भगवत्कृपेति । द्वादशाध्याय्योक्तं पञ्चविधमशुद्धिं प्रदर्शयन्ति दुष्टेत्यादि । पुरुषतः स्त्रीतथेति, पितृतो मातृतश्च । तृतीयमङ्गमिति, नवमाध्याये उक्तमित्यर्थः । चतुर्थी शुद्धिरिति, सङ्गशुद्धिरिति, सङ्गशुद्धयर्थां सेत्यर्थः । आगन्तुकदोषामावायार्थमिति, कलिकात्याकृतदोषामावायार्थम् । अपृष्टमपीति । वदत इति शेषः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

१. जातस्य चेति चकारेण द्वादशाध्याय्ये जन्म सङ्गृहीतम् । २. त ( य ? ) वेत्यास्य सप्त इत्यन्त-ज्योदशाध्याय्यात् उक्तः । ३. भगवत्सिर्गमे इति विरहात्मभवातेन शुद्धिर्भवति, निर्धेयैर्गमिच्छित्पुत्राभेन वा । इदं दशम उक्तम् । ४. कृपा इति शेषः ।

ननु किमित्येवं निर्धेये परीक्षितेव श्रोतृत्वेन निरूप्यते ? स्वतः शुद्धानां सनकादीनां विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह विद्यमान इति—

निबन्धः—विद्यमाने समुद्भास्तत्रत्यानां स्वयं कृतः ।

स्वाभावे तु कथं च स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ॥ ८९ ॥

एहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभाविति ॥

तद्वैश्वे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि ॥ ९० ॥

प्रकाशः—न केवलमधिकारनिरूपणमात्रमत्र प्रयोजनं, किन्तु भागवतादेव सर्वोद्धार इत्यपि प्रतिपादनीयम् । अतः सनकादीन् परित्यज्य राजा श्रोता निरूपितः । अवतीर्णः कृष्णो यावद् भूमण्डले स्थितस्तावद् रूपेणैव सर्वान् मोचितवान् । तदनन्तरं भागवतमेव मोचकं न त्वन्य उपायः, क्वचित्कस्यचिदभ्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवद्गमनानन्तरमेव परीक्षितुपपन्नः, स भागवतादेव मुक्त इति निरूप्यते । ननु शुद्धिरेव तर्हि वक्तव्या, किं पाण्डवानां भगवद्गमनेनेत्यत आह ऐहिकेऽपीति ॥ ८९ ॥ ९० ॥

नन्वेवं सति सर्वमेव भारतं भगवत्परत्वेन वक्तव्यं, स्यादित्याशङ्क्याह यत्र पाण्डवसामर्थ्यमिति—

निबन्धः—यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते ॥

तत्र त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ॥ ९१ ॥

एवं द्वाभ्यां सिद्धान्तरीत्या त्रयोदशाध्याय्याः सङ्गतिरुक्ता । अतः परं पञ्चाध्याय्या धीजशुद्धयर्थेन द्वाविंशतिभिर्द्वयोदशान्तस्तस्यास्तीदर्थ्यमाक्षिपन्ति ननु किमित्यादि । तथा च तेषामनिरूपणात् पूर्वं रागिणः पश्चाद्विरक्तस्य राजो निरूपणद्विराग्यैष्वपि पञ्चाध्यायीति शङ्क्यैः—

समाधिं व्युत्पादयन्ति न केवलमित्यादि । तथा च मुख्यार्थं सङ्गनिरूपणमतो मुख्यस्य फलसाधनतायामसहायशरत्तानिरूपणार्थमत्राधिकारी निरूप्यत इति सनकाध्यायनिरूपणेऽपि न पञ्चाध्याय्याः शुद्धयर्थता हीयत इत्यर्थः । पुनः शुद्धयथायामाशङ्कते ननु शुद्धिरित्यादि । पाण्डवानामिति । वर्णनेनेति शेषः । तथा च पाण्डववर्णनान्यथानुपपत्त्या वैराग्यार्थताज्ञाकार्येत्यर्थः । तत्र समादधते ऐहिक इत्यादि । तथा च श्रद्धारूपशुद्धिर्नोपनाय तद्वर्णनमिति न सादर्थ्येतिनिरित्यर्थः ॥ ८९ ॥ ९० ॥

शुद्धयर्थतां निवारयितुं पाण्डववर्णने पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । एवं सतीति, पाण्डवैहिकस्य भगवत्कारितत्वे सति—

१. क्षात्रिकानि । २. पञ्चाध्याय्याः । ३. वीजशुद्धयर्थत्वम् । ४. सनकादीनम् । ५. अक्षिनिरूपणार्थम् । ६. तत्र पाण्डवविरचयनम् । ७. पञ्चाध्याय्या न शुद्धयर्थत्वहातिः ।

अनन्यशरणत्वाय रक्षणशाशक्तितः स्वतः।

पुत्रमारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ॥ ९२ ॥

प्रकाशः—वस्तुतः सर्वत्र सामध्येभवे, तथाप्यन्वयामजयादिः प्रतीत्यापि कृष्णाणुभावकृत एवेति सौप्तिककथामारभ्य स्वगीरोहणपर्यन्तं भारतकथा कृष्णपरत्वेन निरूप्यते । वर्णनायाः प्रयोजनमाह अनन्यशरणत्वायेति । अनन्यशरणत्वज्ञापनायानन्यशरणत्वज्ञापनं यथा शिष्यति तदर्थम् । स्वसामर्थ्याभावमाह रक्षणशाशक्तितः स्वतः इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

ननु मोक्षः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह तेषामिति—

निबन्धः—तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत्कचित् ।

पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णवान्धवात् ॥ ९३ ॥

चन्द्रांशत्वादेवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते ।

प्रकाशः—अमुक्तानां भोग आवश्यकः । तर्हिभिमन्योरमुक्तत्वाचेन प्रतिबन्धो भविष्यतीत्याहुः प्राह पितुरिति । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोक' इति स्मृतिः । भगवद्बान्धवो भागिनियः कथं न मुच्यते ? तत्र चैकौशशत्रुत्वात् पुनर्देवभावं प्राप्तः स आध्यात्मिकः । भगवत्सम्बन्धी आधिदैविकः एवं त्रयाणामप्यप्रतिबन्धो निरूपितः ॥ ९३ ॥

तेदञ्जीकृत्य द्वाभ्यां परिहरन्ति वस्तुत इत्यादि । 'यत्किञ्चिल्लोकं पुंसां मेने कृष्णानुक्थित' मिति वाक्याचर्चौ । मूले—स्फुटितेति स्फुटत्वादिभ्येत्वेभ्योका, वस्तुतस्तु सर्वेपि तेष्वत्यञ्जीकृतम् । तथा चैतावद्दर्शनेऽपि न भारतस्य भगवत्सखानिः, 'मुनिर्विबुधैर्भगवदुपानानसखापिते भारतमाह कृष्ण' इति वाक्यात् । एवं सत्यपि यदेतावदेव कथितं, तत्स्फुटयानन्यशरणत्वज्ञापनायैवेति श्रद्धारूपशुद्धिभोगायेव सा कथेत्यर्थः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

तदर्थमेव पुनराशङ्कते ननु मोक्ष इत्यादि—तथा च शुद्धयर्थमुपयोगाभावेऽन्यत्रानुपयोगद्वैतार्थार्थैव वाच्येत्यर्थः—

तत्सार्धेन समादधते अमुक्तानामित्यादि । भोग इति, देवादिभावेऽपि पुत्रसाक्षेः कर्मभोगः । तथा च प्रतिबन्धाभावाद्युपयोग इति न वैराग्यार्थेत्यर्थः । द्वाविति, 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परित्राभ्योगयुक्तश्च रणे चाभिमूलो हतः' । त्रयाणामित्यादि, त्रयसम्बन्धकृतः प्रतिबन्धाभाव इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

१. रक्षणशाशक्तित इति । २. कृष्णकृष्ण महाभाग भक्तानामभयहर । त्वमेको दक्षमानानामपकर्णोऽपि संशुते रिस्यादिवाक्यात् । ३. चन्द्रत्वादिति, चन्द्रबशोपप्रत्वात् । ४. पूर्वपक्षम् । ५. सर्वेन कृष्णसामर्थ्यम् । ६. इत्येव कथा । ६. कृष्णाणुमाविति ।

अतः परमध्यायार्थविभागार्थं सप्तमाष्टमवमानामर्थं निरूपयति पाण्डवानामिति सार्धेन—

निबन्धः—पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ॥ ९४ ॥

अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विभाजानं द्विधा पुनः ।

ब्रह्मजीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ॥ ९५ ॥

प्रकाशः—शरीरतः पुत्रद्वारा च पाण्डवानां द्विधा दुःखम् । भिन्नः पुत्रादि, तद्दुःखमेकविधम् । अभिन्नं पुनर्द्विधा, अज्ञानहेतुकं शत्रुहेतुकं च । अज्ञानं पुनर्द्विधा जीवविषयकं ब्रह्मविषयकं चेति । एवं सत्यभिन्नं त्रिधा भवति । तेनैव भिन्नमपि गच्छतीति त्रिधा फलितम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

निबन्धः—अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् ।

दुःखहानिर्हेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ॥ ९६ ॥

दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा ॥

अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवास्कि ॥ ९७ ॥

प्रकाश—अतो दुःखदूरीकरणार्थमध्यायत्रयम् । तत्र प्रथमाध्यायेऽर्थनिर्धारमाह स्वेष्टपूरणात् दुःखहानिर्हेरेवेति । शत्रुजये परतो दुःखं गच्छति । भगवत् स्वेष्टपूरणे हेतुमाह तदर्थं स्तोत्रमिति । भगवत्तोषः सर्वत्र कारणं तस्य च स्तुतिः । तेनाध्यायत्रयेऽपि स्तुतिरुक्ता । 'सर्वत्र'त्यस्वार्थमाह दुःखे सुखे तथा मुक्ताविति । दुःखे समागतेऽनुनेन स्तुतिः कृता । इष्टे सिद्धे कृन्त्या मुक्त्यर्थं 'भोषेण च ।

एवं सार्धंस्तुतिः पाण्डवकथायाः सामान्यत उपयोगो व्युत्पादितः, विशेषतो व्युत्पादयन्ति अतः परमत्यादि । अध्यायार्थविभागार्थमिति, अध्यायार्थः शुद्धिस्तद्विभागार्थम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

तस्य च स्तुतिरिति, भगवत्तोषस्य कारणं स्तुतिः । मूले—तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थं, इति व्याख्यानस्वारस्यादर्शो बोध्यः । नवमाध्याये जीवाज्ञाननिवृत्तिर्न स्फुटेति तदर्थमकमाहः अत एवेत्यादि । तथा च मुक्तिलक्षणकार्यास्तां ज्ञाप्यत इत्यर्थः । उपलक्षणविषया ज्ञानार्थत्वाद्द्वैतविकरणं न दोषाय, तेन पाण्डवानामप्येवमेवापि मुक्तिरिति फलिष्यति ।

१. सर्वत्रेति । ननु कुत्रत्यभिन्नं प्रतीकमिति चेत्, तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थमित्यर्थः, तत्र सर्वत्रेति नवमाध्यायद्विकृतिर्नोपपत्तिरिति तदर्थमित्यत्रैवार्थप्रयोजनकं प्रतीककृतं पदमिति पृष्टव्यम् । २. जीवाज्ञाननिवृत्तिः । ३. मीमांसुकेऽपि शेषः ।

अनेन द्वितीयाध्याये ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरुक्ता । जीवाज्ञाननिवृत्तिस्तु तृतीयाध्यायाधेयः । अत एवानेन मुक्तिरुक्ता । ननु भगवदीयत्वेनैव दुःखनिवृत्तेरावश्यकत्वात् किं स्तोत्रेणेत्यत आह अधिकार इति । अधिकारसिद्धयर्थं स्तोत्रम् । द्वारमासक्तिवारणम् । आधिदैविकस्य प्रेरणस्य भगवता निवृत्तिः क्रियत इति ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

ननु प्रथममर्जुनेन कथं स्तोत्रं कृतं ? मुषिष्ठिरस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह अर्जुन इति—

**निबन्धः—अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकत्वतो वरा ।**

**सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः ॥ ९८ ॥**

**सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा ।**

**सर्वत्र भक्तश्चा हि सामान्येन विशेषतः ॥ ९९ ॥**

**अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका ।**

**प्रकाशः—**नराशंत्वानुमुख्यत्वम् । पृथा पितृत्वसाः भगवत्सम्बन्धादेवोत्कर्षः । भीष्मे लौकिक एनोत्कर्षः । त्रयाणामाद्यः श्रेष्ठः । उचरोत्तरं हासः । स्तुतेः पाक्षिकत्वं वारयति सर्वथेति । मुख्यस्यावश्यकत्वम् । ननु भगवदीयानां भगवत्स्तोत्रे को वा विशेषोऽत आह सर्वत्रेति । स्तुतोऽत्यासक्त्या रक्षां करोति । ननु प्राकृतवत् किमित्येवं करोतीत्याशङ्क्याह भजनोत्साहवर्धिकेति । यथान्येषामपि भजनं सिध्यति ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अधिकारद्वयमिति, तथा च दुःखनिवृत्त्यर्थं न स्तोत्रं किन्तु मुख्यधिकारसिद्धयर्थम् । स्तोत्रेण कथं मुख्यधिकारसिद्धिरित्यत आहुः द्वारमित्यादि । नवनवनीमिणा आसक्त्यर्थं प्रेरणे कथं तत्रिष्टिरित्यत आहुः आधिदैविकस्येत्यादि । तथा च भगवदानुसृत्येन द्वारसिद्धयाम् मुख्यधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अनेनाध्यायानां शुद्धयर्थकता प्रकटीकृता ॥ ९६ ॥ ८७ ॥

कथमिति, मुख्यधिकारसिद्धयर्थं स्तोत्रं किं सर्वैः कर्तव्यं किं वा मुख्येन कृते स्तोत्रे सर्वेषां तैसिद्धिः ? अत्र तृतीयध्यायमात्रकथमित्यर्थः—

**आद्यः अर्जुनः ।** तथा च मुख्यकृतत्वात्नेन सर्वेषामधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अत्र च पूर्वमकत्वात्सुक्तिः, तथा प्रसादः, तेनात्यासक्त्या रक्षा, तयोत्साहेन भजनं, तेन तत्पदासक्तिनिवृत्तिरिति क्रमो बोध्यः । ततश्च भगवदनन्तरणत्वरूपा पितृमातृपोषकाणां शुद्धिः श्रेत्रधिकारामिकाध्यायत्रये सिध्यति । तावताध्यायार्थविचारेण साधारणप्रकरणसमाप्तिरिति बोध्यम् ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

१. तस्य मुख्यधिकारस्य । २. सुक्तिरुक्तेन ।

भगवद्भक्ताया द्रौपद्याः पुत्रमरणेऽपि रोदनमयुक्तमित्याशङ्क्याह सुतानामिति—

**निबन्धः—सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ॥ १०० ॥**

**सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम् ।**

**भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ॥ १०१ ॥**

एवं सार्धैरेकादाशभिलयाणामुपयोगसुक्त्वा सप्तमाध्यायार्थं सार्धैश्चतुर्भिर्वक्षुं शौनक-प्रभादिसुतप्रतिज्ञापयन्तवाक्यतात्पर्यस्य पूर्वमुक्तत्वात् शेषाणां तात्पर्यं वक्तव्यं, तत्रायं वाक्यविभागः । त्रिभिर्द्रौपदीविलापः, त्रिभिः साधनं; वाचा क्रियया च, चतुर्भिरसक्षेपः, चतुर्भिरर्जुन-कृता स्तुतिः, पञ्चमेन प्रथमः, द्वाभ्यां भगवद्वाक्यं, पञ्चमिरसोपसंहारपूर्वकं द्रौणिगणनम्, पञ्चभिर्द्रौणिवधार्थं भगवद्वाक्यं, अष्टभिर्द्रौपदीवाक्यं, द्वाभ्यां तद्वाक्यप्रशंसा, एकेन भीमवाक्यं त्रिभिर्द्रौणिरक्षणाय भगवद्वाक्यं, त्रिभिर्द्रौणिगुण्डनमोचने, एकेन मृतसंस्कार इति ।

तत्र प्रथमं द्रौपदीविलापतात्पर्यमाहुः भगवद्भक्ताया इत्यादि । अयुक्तमिति, भगवद्भक्तानां सर्वत्र भगवदिच्छाया एवानुसन्धेयत्वादयुक्तमित्यर्थः—

१. अत्र सप्तमाध्यायार्थोक्तौ 'सुतानां निधनं विप्रा'दिति पादोक्त्येकद्वयव्याख्यानो-द्रौपद्या रोदनं पुत्राणां सद्यस्तिदये, तेषु भगवतः कृपेयादानार्थं, न त्वनपरायत्वकृपेस्यदुःखहेतुत्वम् । भगवत्कृपया पुत्राणां सद्यस्तिदयो तस्या दुःखं निवर्तते, न तु लोकन्यायेन स्वैरिणि ह्येतेऽनुस्येन द्रौणिवधप्रतिज्ञास्यं सान्त्वन-वचनमयुक्तं, दुःखनिवृत्तसाधनत्वात् । किञ्च, अर्जुनस्य शास्त्रज्ञानादपि निरन्तरप्रतिज्ञास्यं सान्त्वनवचन-मन्वयुक्तं, तत्र समाधानसत्यवचनेन प्रियाया आशंसम् । वधातिरिक्तं सर्वमपकारं द्रौणेरहं करिष्या-मीत्यनुसन्धेयमिहायः । तदर्थमेव शीघ्रमन्वावृत । भगवत्सु त्वं जानाति द्रौणिवधे बहव्हत्यास्यदोषः । द्रौणिना च न ब्रह्माक्षेपोऽपि द्रौणेरवेषेऽनकोचने । पुनस्तैनानिबन्धेऽन्याद्व्याख्यानैः । उन्नतयाः परीक्षितश्च तेन दाहोऽर्जुनस्यातनवदित्वं प्रतिज्ञाहासि । अतः प्रतिज्ञाकरणसमेये भगवत्साऽर्जुनो निवारणायः । दया प्रतिज्ञां मा कुर्वति । एवमत्र दोषज्ञानेऽपि भगवत्त निवारयति, तत्र हेतुः भक्तेष्टपूरणादिति । तदानीं निवारणे प्रियायाः शोको न निवर्तते, तेनानुसन्धेयमि वैतनस्यै भवेत् सकामानां भक्तानां देहायामुदेर्देवत्याङ्गमिति शेषारो-पेण तेऽभजनोयो भगवत् भवेत् । एवं सति देहायामुदेरिष्यं संसारमेव ज्ञातो न निवर्तयति ? यथा कोऽपि दोषो न स्यादिति पुनः शङ्कसमाधानम् । समर्थेऽथादिति । भगवदभिप्रेतस्तु अभजत्व एव परमो दोषः । भजने सति तु धन्यान्सर्पणेषु दोषानिगारयितुं समर्थो भगवान् । अत एव सर्वं दोषा अग्रे भगवता विचारिताः । तदोषविचारणे भगवति अजानीं प्रेम सिध्यति, भगवतोऽपि भजेतु प्रेमस्तीत्यन्यैज्ञातं भवति । आर्य द्रौपद्या अपि शोको निवर्तते । अनेषु प्रेम्या तद्धितं यथा करोति तथा भवतिहायं भक्तसम्बन्धिनां मत्पुत्रादीनां सर्वेषां सद्यस्ति सन्ध्यादिभ्यस्त्वेव अतः समर्थो भगवान् निवारयति । २. ओकाणाम् ।

समर्थत्वात् प्रेमासिद्धयै दैत्यांशत्वात्तथा वचः ।  
भीमस्यासन्ध्यावतारात् सहजद्वेषभावतः ॥ १०२ ॥  
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः ।  
उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ॥ १०३ ॥  
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वाच्च चान्यथा ।  
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्रमारणात् ॥ १०४ ॥

प्रकाशः— ब्राह्मणाभिधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवं<sup>१</sup> तत्राप्ययुद्धे । कर्मफलतिक्रमस्वतिक्रमपया । अतो भगवत्कृतोत्पन्नानर्थ रोदनम् । अर्जुनसान्त्वनवचनमप्ययुक्तमित्याशङ्क्याह सान्त्वनं च मियार्थं हीति । 'स्त्रीषु नरैर्विवाहः' इति वाक्यात् । भगवांस्तु भक्तानामभियं न करोतीति न न्यवारयत् । अनेन भगवद्भक्तैरेव शास्त्रतो ज्ञात्वा कर्तव्यमेव कर्तव्यमिति सूचितम् । दौर्षं ज्ञात्वापि भगवान् यतो न निवर्तयति । अन्यथा सर्वेषां भजनीयो न स्यात्, संसारस्यानर्थरूपत्वात् । ननु तथाप्यनर्थो निवारणीयः, तत्कथं न निवारितवानित्याशङ्क्याह सम्पर्धत्वादि । जातेऽप्यनर्थे रक्षणसामर्थ्याच्च निवारणम् । अनर्थे प्रेम च सिध्यति, तथाप्यर्जुनस्य कथमेवं वचनं ? तत्राह दैत्यांशत्वात्तथा वच इति । अश्चत्थाज्ञो दैत्यांशत्वात् । भगवतो वा तथा वचः—'इमं जही'ति । वेदविरोधाभावाय भीमस्यापि वधार्थमुद्यमो निरूप्यते । भीमो शासनरूपो वेदात्मा, अतः प्रमाणप्रमेययोरभिप्राययोरभिप्रायाकरणाद् व्यसनम् । 'अर्जुनो द्रौपदीं चैव लौकिकौ लोकोवेदतः । अतो न मारणं जातं तेन व्यसनमागते । दैत्याः संहारशक्तेरुगुणा

ननु द्रौणिबन्धनादिकं भगवान्कुतो न निवारितवानित्यत आहुः भगवात्यानिदि । अन्यथेति, भक्तचिदानुसरणे । तत्र हेतुः संसारस्थेत्यादि । संसारस्थेति, देहाद्यभिमानस्य । तथा च निवारणे देहाद्यभिमानेन भगवति दोषदुःखदुःखदयाच्च भजेयुरित्यभिनयः स्यादतो न निवारयतीत्यर्थः । ननु संसारमेव कुतो न निवर्तयतीत्यत आहुः अनर्थेत्यादि । तथाप्यर्जुनस्येति, शास्त्रं ज्ञात्वेव कर्तव्यत्वेऽपि तज्ज्ञानुत्प्रेरणात्तारस्थेत्यर्थः । ननु प्रतिज्ञात्वाद् अर्जुनस्य द्रौणिकवधोद्यमोऽस्तु, भीमस्य कुत इत्यपेक्षायामाहुः येदेत्यादि । येदे क्षमुरावध्यत्वेनैवोच्यन्ते, अतः सहजद्वेषादित्यर्थः । नन्वेवं संति विचारकारणां तेषां कुतो दुःखमाप्तिरित्यत आहुः अत इत्यादि । ननु विचारकस्याभिप्रायज्ञानं कुत इत्यपेक्षायामाहुः अर्जुनो द्रौपदीं चेत । अर्जुनो युद्धशास्त्रज्ञत्वाद्द्रौपदीं च शोखाह्लादौकिकौ । लोकोवेदतः, लोकोवेदाभ्यां तेन तेन धर्मण तादृशौ । यद्वा, लोकेवेदत इत्यस्योत्तरार्थं सम्बन्धः, तथा च

१. पूर्ववदित्यादि । पूर्ववद् गर्वाभावात्स्वल्पमात्रमित्यर्थः । तथा कोपान्तरधमावाद् गर्वाभावं इति भावः । २. अन्यथेतीति पाठः । ३. भगवद्देवामिहेतवे वति वेदविचारकात्वात् ।

इति द्रौपद्या मोचनम् । भगवांस्तुभयोस्तुल्यः, सर्वात्मत्वात् । भक्तारक्षां त्वन्यथापि करिष्यतीति युक्त एव सप्तमार्थः । शिरोहृष्टनज्ञानमावेशित्वात् । तेन न पूर्वेण विरोधः । भगवानाविष्टस्तथा कृतवान् । अन्यथा द्रौपदीसंहारशक्तिर्भीमादीनपि संहरेत् । तथा क्वचिदुपास्थानमपि प्रसिद्धम् । क्रोधावेशे त्वपगतौ लौकिकदृष्ट्या विलापो न युक्त इति समाधत्ते पूर्ववदिति ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

नन्वश्रत्थाग्नस्तथा बुद्धिं कुत उत्पादितवानित्याशङ्क्याह पुनरस्त्रसमुत्क्षेप इति—

निबन्धः—पुनरस्त्रसमुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः ।

प्रकाशः—पूर्ववत् समाधानं वारयति अनिवर्त्यमिति सार्धोभ्याम्—

निबन्धः—अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् ॥ १०५ ॥

अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि ।

लोकः कुलविचारात्मकः, वेदस्तु 'तस्माद्ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यात् लोहितं कुर्यां' इत्यादि, ताम्बां कृत्वा, अतः अर्जुनात् मारणं जातं तेन तथैत्यर्थः । वेदज्ञानेनानुदानमारणमस्तु, द्रौपद्याः कुतसैदित्यत आहुः दैत्या इत्यादि । ननु तथापि भगवान् दैत्यारिः, कुतस्तन्मोचन उच्यत इत्यत आहुः भगवानित्यादि । तर्हि मारणाज्ञा कुत इत्यपेक्षायाम् मूल आहुः कथनमित्यादि । ननु मोचनानुकूल्ये भक्तारक्षा कथं त्व्यादित्यत आहुः भक्तेत्यादि । सप्तमार्थ इति, दुःखनिवृत्तिरूपः स इत्यर्थः । पूर्वमेति, 'देव देव न वेदग्रह' मित्यत्रोक्ताज्ञानेनेत्यर्थः । तथा क्वचिदिति, रत्नयज्ञोपाख्याने । विलाप इति, 'यथाहं मृतवत्स' तिलकोक्तः । पूर्ववदिति । तथा च दयार्थे विलाप इत्यर्थः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

एवं साधैश्वर्यमिः परतो दुःखनिवृत्तिरूपः सप्तमाध्यायार्थो विचारितः । अतः परमष्टमि (१) षष्ठमाध्यायार्थं विचारयन्ति । तत्रार्थं वाक्यविभागः । द्वाभ्यां मृतोर्बैदिकं, द्वाभ्यां धृतराष्ट्रादिसान्त्वनं, चतुर्भिर्भगवत्प्रयोगः, द्वाभ्यामुत्तरास्तुतिः, सप्तभिर्गुरुस्य पाण्डवानां च रक्षा, षड्विंशतिभिः कुन्तीस्तुतिः, द्वाभ्यां स्तुत्यनुमोदनं, सप्तभिर्दुषिष्ठिरानुतापः । तत्राद्यानां कथोपयोगित्वात्तत्पर्यमनुकला उत्तरास्तुतिप्रवृत्तिताल्यं ननु पूर्वमस्योपतास्यमाहुः नन्वित्यादि—

ननु पूर्ववदुपसंहारेण गर्वसम्भवात्कथं तदभावसिद्धिरित्यत आहुः पूर्ववदित्यादि ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

शास्त्रादेवात्तयोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत् ॥१०६॥

सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः ।

अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—ननु यथा गर्भो निवार्यते, तथा तद्वैतुर्वशोऽपि कृतो न निवारितः ? तत्राह उत्तरा परमा भक्तेति—

निबन्धः—उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत् ।

शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ॥ १०८ ॥

उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा ।

कृष्णदूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ॥ १०९ ॥

परीक्षितज्ञानसिद्धयर्थं बहुकालस्थितिहेरैः ।

अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकाराकथनं तथा ॥११०॥

आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः ।

प्रतिभातः कृतेऽपि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः ॥१११॥

प्रकाशः—सा सर्वेभ्य उक्त्या । भक्तत्वाद्भौतिकोत्कर्षः । रोहिण्यंशा आध्यात्मिकी । अतस्त्रिविधोत्कर्षाच्चित्रियार्थः तथा करणमित्यर्थः । तस्याः पूर्वोक्तत्रिवये क्रमेण नियामकमाह । भक्तत्वाच्छरणागमनं, देवताऽत्वास्तुतिः । भगवदीयत्वात्प्रथमतो ब्रह्मास्त्रदर्शनम् । भक्तत्वज्ञापनाय गर्भे प्रविश्यावनम् । ननु भगवद्भक्ताया उदरे कथमस्त्रप्रवेशः ! तत्राह कृष्णदूरत्वत इति । प्रविष्टस्य ब्रह्मास्त्रस्य तथैव निराकरणं सम्भवति । बहुकालस्थितिस्तु ज्ञानार्था । ननु मूले सुदर्शनमायान्मां पाण्डवगर्भरक्षा विहिता, न तु ब्रह्मास्त्रस्य नित्यस्य कचिद्भयो निरूपितः । 'वैष्णवं तेज आसाद्य' इति कूरता निवारिता न तु धर्मी । 'अख्यतेजः स्वगदया' इत्यत्रापि शम एव पूर्वोत्तरोधेन वक्तव्यः । ततो धर्मिणोऽस्त्रस्य क लय इत्याशङ्क्यामाह अन्यतेजोलय इति । अन्यब्रह्मास्त्रस्य दुर्बलस्य भगवत्प्रेष लयः । तत एवात्पन्नत्वादिनि विमर्शस्तथा । ततो हेतोरत्र प्रकाराकथनम् । अनेन यत्र यत्र विशेषाकथनं तत्र तत्र कारणे

हेरैः सुहृदिनि मूलोका आधिदेविकी ज्ञेया । तथा चैवं परमभक्तत्वात्तद्गर्भान्वनमित्यर्थः । परले शङ्कते ननु भगवदित्यादि । तथैवेति, प्रवेशनैवेत्यर्थः । निराकृतस्य लयान्मावे पुनरुद्गमनं हृदि कृत्वा शङ्कते ननु मूलेत्यादि । पाण्डवगर्भरक्षेति, पाण्डवरक्षा गर्भ-

१. सुदर्शनमायान्यामिति । 'स्वमाययाश्चोद्गम' इति वाक्यात् ।

लभो ज्ञातव्य इति द्युचितम् । ननु पूर्वं भगवतो निर्गमने कथं न स्तुतिः कृता ? पश्चाद् कथं स्तोत्रे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह आसक्तिर्गर्वाभावेनेति । पूर्वं गर्वस्य विद्यमानत्वाभावात्कः । आसक्तो हि भजते । भजनार्थं सर्वसन्देहवारिका स्तुतिरित्यर्थः । नन्वासक्तावपि ज्ञानसाधनाभावात्कथं तादृशी स्तुतिरिति चेत्तत्राह प्रतिभात इति । भगवदासक्त्या स्वत एव प्रतिभोत्पन्ना तेन स्तुतिः । किञ्च, हेत्वन्तरमापि जातमित्याह कृतेऽपि प्राप्ति । भगवता हि ते पूर्वं न रक्षिताः, तेन अन्तःकरणे भासमानोऽन्यन्तगुणपूर्णः 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति न्यायेनान्तरसम्भवात् ज्ञातः । इदानीं विशेषपरस्त्रावशादन्तरं निवृत्तप्रायमिति भगवत्कृतेर्हेतोः कृष्णो भगवान् विशेषतो ज्ञातः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥

नन्वेवं सति युधिष्ठिरस्य पथान्मोहो न भवतीत्याशङ्क्याह सर्वनिर्णयपूर्वं हीति-

निबन्धः—सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदितः ।

तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम् ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—प्रतिभातो दर्शनाद्वा जातं ज्ञानं न मोहो निवारयति, शब्दाद्दोषप्रवयेन मोहोत्पत्तेः । शास्त्रतो हि अमात्यप्रतिपत्ताचस्य मोहः स शास्त्रप्रकारेणैव निवृत्तिरिति । अतो यावद्भीष्मो न बोधयिष्यति तामन्मोहः साध्यतीत्यर्थः । अनेन भीष्माध्यायो जीवस्वरूपज्ञापनार्थं इत्युक्तं भवति ॥ ११२ ॥

रक्षा त्वेत्यर्थः । कृन्तीस्तुतेतात्पर्यमाहुः ननु पूर्वमित्यादि । न रक्षिता इति, इदानीमिव प्रत्यक्षं न रक्षिताः । एवमद्यमि (?) रष्टमाध्यायार्थो विचारितः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥

त्र युधिष्ठिरानुतापस्तृणरोष इत्याशयेनाहुः नन्वित्यादि—

अतः परं नवमाध्यायार्थो वक्तव्यः । तत्रार्थं वाक्यविभागः । चतुर्विंशतिभिर्भीष्मनिकटे गमनं, भीष्मवाक्यानि च । सतामिस्तत्रत्ववृत्तान्तः । एकादशभिर्भीष्मस्तुतिः । त्रिभिस्तनुक्तिः । चतुर्भिस्तदुत्तरवृत्तान्तः ॥ ११२ ॥

१. पूर्वं गर्वस्थेति, महारम्यज्ञानात् पूर्वं कृष्णो भ्रातृपुत्र इति ज्ञानस्य । २. पूर्वमिति । 'पैयामयुषो मो-  
गार्थं प्रतिभोः भवेत् कचि'दित्यनेन । ३. सतमिस्तिरिति स्यात् ?

एवं सति भीष्मस्तुतिरसङ्गतेत्याशङ्क्याह उक्तेः स्वाचारत इति—

निबन्धः—उक्तेः स्वाचारतो दाढयज्ञापनायां ततः स्तुतिः ।

मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका ॥ ११३ ॥

प्रकाशः—यत्पूर्वं तेन तत्त्वमुपदिष्टं जीवस्य भगवद्भजनेनैव कृतवर्तेति, तत्स्वाचारतो दृढीकरोति । साधनं च फलं च प्रत्यक्षतः प्रदर्शयतीत्यर्थः । स्तुत्या साधनसन्देहो वारितः, मुक्त्या फलसन्देहः ॥ ११३ ॥

अध्यायत्रयमुपपाद्योपसंहरति दुःखहानिरिति—

निबन्धः—दुःखहानिस्त्रिभिः प्रोक्ता सुखं चापि तथा त्रिभिः ।

स्वस्य सामान्यतः पूर्वं कृष्णप्रेमपुरःसरम् ॥ ११४ ॥

तदुद्रेको वियोगे स्यात्तदर्थं कृष्णनिर्गमः ।

कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति मूले सुखाभिधा ॥ ११५ ॥

पश्चाच्च पुत्रसम्पत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते ।

मुक्तिस्त्रिभित्तथा प्रोक्ता बीजकार्यफलेः स्फुटा ॥ ११६ ॥

प्रकाशः—दुःखहानिः सुखं मोक्षश्चेति त्रिभिस्त्रिभिः प्रतिपादितम् । तेन पाण्डवानां सर्वं कृष्णाधीनमिति सेत्स्यति । ननु युधिष्ठिरस्य सुखवर्णने भगवत्कथा कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति । अध्यायद्वयेन कृष्णसौख्यम् । पुत्रसम्पत्त्या च स्वस्य सुखम् । कृष्णो हि यदर्थमागतस्तत्कृत्वा सुखी

तत्र वृचान्तानां स्पृहाधैत्वाद् भीष्मस्तुत्यादित्यन्वयेनेनाहुः एवं सतीत्यादि । भीष्माध्यायस्य जीवज्ञानार्थत्वे सति—

समादधते यत्पूर्वमित्यादि । साधनसन्देह इति, जीवाज्ञाननिवृत्तौ यत्साधनं, तत्सन्देह इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तमादिषडध्यायीसिद्धमाहुः अध्यायत्रयेत्यादि सेत्स्यतीत्यन्तम् ।

तत्र दशमैकादशद्वादशानां सामान्यतोऽर्थं द्वयेनाहुः सुखमित्यादि मूले । पूर्वमिति षड्विंशमारम्भे । शेषस्याध्यायस्यार्थमाहुः पादोनेन । मूले कृष्णेत्यादिना । तत्रायं वाक्यविभागः । चतुर्विंशतिर्निर्गमत्वयापं, दशभिः पुरस्तीवाक्यं, षड्विंशतिकायासिः, तदुद्रेक इति प्रेमोद्रेकः । तदर्थमिति वियोगार्थम् । एकादशद्वादशयोर्थां विचारयन्ति ननु युधिष्ठिरस्येत्यादि । अत्रैकादशे उन्नत्कारिंशद्विंशतिकास्थानां सुखं, द्वादशे च चतुस्त्रिंशतिः पुत्रसुखं युधिष्ठिरादीनाम् । तदर्थं सद्दहेणाहुः अध्यायद्वयेनेत्यादि । अत्रासाधारण्यकरणे दशमादिपु

भवति । स हि मक्तोद्धारार्थमागतः । ते हि निष्पपञ्चितः स्वकीयाः परकीयाश्चेत्यध्यायद्वयम् । अत्राध्यायत्रये प्रमेयं तत्कुक्षिष्टमित्यग्रिमाध्यायत्रयस्य रूपमाह मुक्तिस्त्रिभित्तथेति । बीजमुक्तिरेकेन । बीजं धृतराष्ट्रगतं स चेभिर्गीतो मुक्तस्तदान्वेषामपि मुक्तो विश्वासः । अतो बीजरूपा मुक्तिः प्रथमाध्यायार्थः । बीजत्वज्ञापनायैव तद्वारित्रकथनं नारदेन । बीजमुक्तैर्यत्कार्यं युधिष्ठिरादीनां निर्गमनहेतुर्वैराग्यं तद्वितीयाध्यायार्थः । फलं पाण्डवानां मुक्तिः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

ननु पाण्डवमुक्तिः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह पूर्वजानामिति—

निबन्धः—पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम् ।

त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः ॥ ११७ ॥

तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेव वर्णितम् ।

प्रकाशः—तेषां प्रतिबन्धकता पूर्वमेव निरूपिता । दृष्टान्तप्रकारेणापि तदुपयुक्तमित्याह त्यागे हि साधनं त्यागे कृष्णलयश्चेति । अत्रार्जुनस्य स्वरूपवर्णनादिकं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह तत्रत्यानामिति । एतन्निबन्धकरणात्पूर्वमेव सूक्ष्मा या टीका कृता तत्रैव सङ्गतिर्निरूपिता । अध्यायार्थस्त्वेतावानेवेति नात्रोक्त इति भावः । एवं तृतीयप्रकरणे नवाध्याया गुणरूपाः प्रतिबन्धाभावाय निरूपिताः । बीजादिशुद्धिद्वारा तदुपयोगश्च वर्णितः ॥ ११७ ॥

सन्निधिशुद्धिः, कालशुद्धिः, कृपाशुद्धिश्च बोध्यत इति ज्ञेयम् । अतः परं त्रयोदशदशध्यायत्रयस्य विशेषतोऽर्थाकथने हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । कुक्षिष्टमिति, प्रतिवाक्यविचाराधीनज्ञानकम् । अतदष्टीकैव तदर्थः स्फुटतीति नात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशानामर्थं सार्धेनाहुः ननु पाण्डवेत्यादि ।

अत्रेदं प्रतिभाति । यत्र मर्यादया मोचयति तत्रैवायं नियम इति । अन्यथा पाण्डोरमुक्तत्वेनेन्द्रस्य चाधिकारितया यावदधिकारमवस्थित्वा पाण्डवा अपि न मुच्येरन् । पुष्टिमादाय योगान्तरमाहुः दृष्टान्तेत्यादि । तथा च 'यन्मास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः' इति न्यायेन यथा तैत्त्यकं, तथा राज्ञापि त्यक्तव्यं, यथा तं मुक्तास्तथायमपि मोक्ष्यत इत्येतदर्थमेव तन्मोक्षकथेत्यर्थः । नात्रोक्त इति । अर्जुनवाक्योपयोगो निबन्धेऽस्माभिर्नोक्त इत्यर्थः । अत्र त्रितयमुक्त्या प्रतिबन्धनिवृत्तिरसाधारणोपयोगिनी बोध्या ॥ ११७ ॥

अधुना चतुर्भिरध्यायैः परीक्षितः फलमूलं साधनमधिकारार्थं निरूप्यत इत्याह परीक्षित इति—

निबन्धः—परीक्षितस्तथाप्यायचतुष्टयमुदीर्यते ॥ ११८ ॥

राज्यत्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च ।

सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वाद्भौतिकालौकिकत्वतः ॥ ११९ ॥

सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः ।

धरणीधर्मसंवादस्तयोर्भीतत्वसूचकः ॥ १२० ॥

प्रकाशः—अध्यायार्थविभागार्थमाह राज्येति । राज्यमध्यायद्वयेन त्याग-  
आप्याध्यायद्वयेनेति । राज्ये द्वैविध्ये हेतुः सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वम् । लौकिकं सर्वभू-  
मिजयः । अलौकिकं कालजयः । धरणीधर्मसंवादस्योत्तरशेषत्वं ज्ञापयितुमाह भीत-  
त्वसूचक इति । भीतिहेतोः कलेर्निराकरणमभिप्रायध्यायार्थः । सर्वत्राध्यायिप्रकाशि-  
भौतिकधर्मो स्थापितविति ज्ञापनार्थो वा । आधिदैविक एवातः परं स्थापनीय इति  
तस्यापि भयं यो निवारयतीति राज्ञ उक्तयः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

षोडशादिचतुर्णामर्थमाहुः अधुनेत्यादि ।

त्रिष्वेतेषु द्विविधं भगवद्दत्तं सामर्थ्यं तादृशी धर्मोन्नतिश्चासाधारणोपयोगिनी बोध्या ।  
तत्रैवं वाक्यविभागः । सप्तदशभिर्मिजयैः । विश्लेष्या धरणीधर्मसंवाद इति । सप्तदशे तु चतुर्भि-  
र्धर्मादिदर्शनं, द्वादशमिस्तान्प्रति पञ्चः, चतुर्भिर्धर्मवाक्यं, सप्तमिस्तद्विचारः, अष्टमिः  
कलिशासनं, षड्भिः स्थानदानं, शेषः क्रियया धर्मादिसान्त्वनम् । अष्टादशे तु दशमिः  
परीक्षितोपसंहारः, सप्तमिः पुनस्तत्पञ्चः, चतुर्दशमिरपराधः, ततः षड्भिः ज्ञापः, त्रयोदशमिः  
शानीकानुताप इति । ऊनविंशे तु त्रिभिराज्ञोऽनुतापः, चतुर्भिः प्रायेणेषः । पञ्चमिर्मुनीना-  
मागमनं, षड्भिस्तेषां सत्कारः, चतुर्भिराजप्रशंसा, द्वाभ्यां राजपञ्चः, सप्तमिः शुक्रागमनं,  
नवमीराजप्रशः शुक्रं प्रतीत्येवं बोध्या ।

ननु षोडशे लौकिकं सर्वभूमिजयरूपं सामर्थ्यमुच्यते, तत्र धरणीधर्मसंवादः कुत्रो-  
पयुज्यत इत्यत आहुः धरिणीत्यादि । उत्तरशेषत्वमिति, अलौकिकसामर्थ्यशेषत्वं, कथमि-  
त्याकाङ्क्षयामाहुः भीतीत्यादि । नन्वेवं पञ्चदशश्लोकोत्तरं सर्वस्याप्यायस्याभिर्मिशेषत्वे पूर्वमाग-  
माप्रार्थस्याप्यायार्थता न युक्तेत्याशङ्क्य पश्चान्तरमाहुः सर्वत्रेत्यादि । तथा चेदं लौकिकसा-  
मर्थ्यस्यैव कार्यमिति पूर्वशेषत्वान्न दोष इत्यर्थः । उक्तयः इति । तथा चायं सप्तदशत्यार्थं  
इत्यर्थः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

१. अध्यायेषु । २. त्रिषु । ३. परीक्षितस्य चरित्रस्योपसंहारः । ४. लौकिके ।

प्रकारान्तरेणापि माहात्म्यबोधकत्वमस्य प्रकरणस्येत्यभिप्रायेणाह तत्स्थान्तेन  
कृतार्थाश्वेति—

निबन्धः—तत्स्थान्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हताः ।

यो रक्षकस्तयोः पश्चात्कलिनियग्रहतो महान् ॥ १२१ ॥

तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का ।

प्रकाशः—धरणीधमा प्रकृतौ, धरणीस्था धर्मोणैव कृतार्थाः । एतादृशा अपि  
सुतरां कलिना हताः । तेषां यो रक्षको भगवत्प्रयाणानन्तरं कलिनियग्रहं कृत्वा स  
महानेव भवतीत्यध्यायद्वयार्थः । एवं निरूपणस्य प्रकृतोपयोगमाहाह तस्यापीति ।  
अनेन भूमिष्ठानां तीर्थानां देवानां साम्प्रतं क्रियमाणस्य धर्मस्य वा अप्रयोजकत्वं सू-  
चितम् । कालजयादीनां मृत्युजयादीनामपि भगवान् वा भागवतं वा नान्यो मोक्ष-  
दानसमर्थः ॥ १२१ ॥

ननु पाण्डवाः कथं भगवत्कृपाबलोकिताः कलिनियग्रहं न कृतवन्ताः? इतन् परीक्षि-  
त्स्वत एव कश्चिन्महान् भविष्यति । तस्य भागवतश्रवणं भागवतप्रतिष्ठाधर्मैव शु-  
केन कारितमितीमासाञ्छङ्क परिहर्तुमाह कृष्णासक्त्येति—

निबन्धः—कृष्णासक्त्या पाण्डवानां नोत्साहः कलिनियग्रहे ॥ १२२ ॥  
कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा इतिवर्णने ।

प्रकाशः—भगवदासक्ता भगवति प्रचलिते समर्था अपि प्रचलिता एव, अतः  
परीक्षितो न सहजं सामर्थ्यम् । ननु भागवतं चेदतिसमर्थं तदा यस्मै कस्मैश्चिच्छ्रा-  
वितं सन्मोक्षं प्रयच्छेत्किं परीक्षितेत्याशङ्क्याह कलिदोषाभिभूतानामिति । श्रद्धार्थ-  
मेवाधिकार उक्तो न तु भागवतमधिकारमपेक्षते । तथा सति 'प्रवर्तमानस्य गुणैर-  
नात्मनः, इति वाक्यं विरुध्यते । यतो यस्यैव महती श्रद्धा स एवाधिकारी । कलिश्च  
परीक्षिता भीषितो न भगवद्भक्तान् बाधते ॥ १२२ ॥

एवंनिरूपणस्येत्यादि । अध्यायद्वयेनोक्तस्य राजसामर्थ्यस्य श्रीभागवतोपयोगमाहेत्य-  
र्थः । अनेनेत्यादिना प्रथमाध्यायस्य, कालेत्यादिना च द्वितीयस्योपयोग उक्तो बोध्यः ॥ १२१ ॥  
श्रुतौ 'वद्वैतद्वेषार आङ्गिरस' इत्यादिषु यथा विशिष्टपुरुषसम्बन्धाद्विद्योत्कर्षः प्रतिपाद्यते  
तद्वेदावोत्कर्षोऽस्तु न तूकरीत्येत्याशङ्कते नन्वित्यादि—

न सहजं सामर्थ्यमिति । तथा च न विशिष्टपुरुषसम्बन्धकृतं माहात्म्यमपि तु स्वत  
एवेत्यर्थः । स्वतः सामर्थ्याङ्गिकारे मूलविरोधमाशङ्कते ननु भागवतमित्यादि ॥ १२२ ॥

१. अथावस्य । २. महत्पुरुषसम्बन्धकृतम् । ३. श्रीभागवतस्येति बोध्यः ।

ननु परीक्षितमपि दुर्बुद्धिदानेन कलिर्वाधितवान्, कथमन्यान्मोचयेदित्याशङ्क्याह  
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्येति—

निबन्धः—ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः ॥ १२२ ॥

अतः शापमिषेणेशस्तक्षकाग्रिमवामुज्व ।

कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः ॥ १२४ ॥

युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः

निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम् ॥ १२५ ॥

देशकालानुसारेण शुद्धयशुद्धी प्रकीर्तिते ।

कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः ॥ १२६ ॥

असिद्धत्वात्तामसत्वात्तामसं फलमस्य तु ।

चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात्पङ्क्तिलोदकपूर्वत् ॥ १२७ ॥

मालिन्यं मलिने लोके न सम्यगुपजायते ।

दुःखं च तामसं तस्य मूढं सहामलौकिकम् ॥ १२८ ॥

प्रकाशः—भगवता तथा कृतं न कलिनेति निर्णयः । ननु भगवान् ब्राह्म-  
णातिक्रमे कथं बुद्धिं दत्तवानित्याशङ्क्याह कलेः स्थानप्रदानाद्धीति । दुष्टस्य स्था-  
नदानात्तामसे कर्मण्याग्रहः । अनेनाधर्मादेव तस्य तथा बुद्धिः । नन्वमूर्तेस्य कलेः  
कालरूपस्य निरन्तरं वर्तमानस्य को वा निग्रहः ? किं वा स्थानदानमिति शङ्का-  
व्युदासायाह युगाभिमानिदेवस्येति । परीक्षितसमये कालधर्माणामप्रवृत्तिरेव नि-  
ग्रहः । स्वरूपरक्षा स्थानदानम् । नन्वधर्मस्य स्थानदानाज्जातस्य ब्राह्मणातिक्रमस्य  
कथं मोक्षपर्यवसायित्वं ? तत्राह देशकालेति । कलिर्नात्यन्तं दुष्टः । अन्वकाले  
रोगवद्भगवत्स्मरणे स्वत एव शुद्धत्वात् । अतो धर्मसिद्धावसहायशूर इति तस्य स्वरू-  
परक्षायां धर्मोन्नतिर्जाता । तेन तामसकर्मणोऽपि मोक्षपर्यवसायित्वम् । नन्वेवं सति  
महतो रक्षा सात्त्विकमेव कर्मेति कथमतिक्रमबुद्धिः ? कथं वा सर्पोन्मरणमित्याश-  
ङ्क्याह असिद्धत्वादिति । कलौ चेदमो भवेत्तदा फलेरसहायशूरत्वात्तत्ररक्षा सात्त्विकं  
कर्म भवेत् । अतो धर्मस्यासिद्धत्वाच्चेनैवं फलम् । कलिश्च तामसः । चतुर्युगाणां

अष्टादशाध्यायार्थं वदिष्यन्तः कलेःवाचकत्वं आशङ्कते ननु परीक्षितमित्यादि—

तत्र समादधते सार्धैः पञ्चभिः । कलेर्धर्मरक्षायामसहायशूरत्वं विष्णुपुराणसमाप्तौ प्रति-  
द्धम् । फलं तथेति, दुरदृष्टं रूपम् । तथा च शापस्य भगवत्कृतत्वाद्ब्राह्मणातिक्रमस्य

कृतं सात्त्विकम् । त्रेता राजसी सात्त्विकी च । द्वापरं राजसं तामसं च । केवलस्ता-  
मसः कलिः । अतस्तामसरक्षापि तामसी, तेन फलं तथेत्यर्थः । नाप्येतदीयेन धर्मेण  
चित्तशुद्धिर्भवति, किं तु स्वर्गादिकमेव भवतीत्याह चित्तशुद्धिर्नैव स्यादिति ।  
अदृष्टमेव फलमित्यस्माद्दर्शनात् दृष्टमित्यत्र दृष्टान्तः पङ्क्तिलोदकपूर्ववदिति । पापाभावे  
ऽप्येवमेवमिति न्यायमाह मालिन्यं मलिने लोक इति । मालिन्यं दुरदृष्टं, तेन तथा  
नरकाभावः, किं त्वैहिकमेव दुःखं पापात्, तच्च दुःखं तामसं न तु तीव्रवेदनारूपं, किं  
तु मूढं, अतः सबन्धम् । किञ्च, अलौकिकं, तथा लोकापवादादिरहितम् । एवं फलेरु-  
त्कर्षः प्रतिपादितः ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

ननु मुख्योत्कर्षः कलेः कथं न प्रतिपादितः ? कीर्तनादेव कृष्णस्य ह्युक्तबन्धः परं  
त्रयेद् इत्यादिरूपः, तत्राह भागवताप्रवृत्तेरिति—

निबन्धः—भागवताप्रवृत्तेर्हि कीर्तनाद्यादरो न हि ।

अग्रे तस्य कथा वाच्या सारोयमिति बुध्यताम् ॥ १२९ ॥

कल्पभेदाद्भारतादि कथया न विरुध्यते ॥

सर्वज्ञत्वादर्षीणां हि श्रवणार्थं तथा गतिः ॥ १३० ॥

प्रकाशः—भागवतशास्त्रे प्रवृत्ते हि कीर्तनादयो जायन्ते । अनादरेण पुनः कार्यं  
न सिध्यतीति तन्नोक्तम् । अग्रे द्वादशस्कन्धे वक्ष्यति । अयमेव कलेर्मुख्यो गुण इति  
सिद्धान्तसारो ज्ञातव्यः । स्वभावतो दुष्टत्वात्तत्क्रमादिबुद्धिरूपत्वात् । गुणत उत्कृष्ट-  
त्वात्सत्यपर्यवसानमिति विमर्शः । ननु भारते परीक्षितो नोचमत्वकथा, अतस्तादृशे  
भागवतप्रवृत्तिः कथमुत्कृष्टा भविष्यतीत्याशङ्क्याह कल्पभेदादिति । ऋषीणामाग-  
मनं राशो दययेति पक्षव्यावृत्त्यर्थमाह सर्वज्ञत्वादिति ॥ १२९ ॥ १३० ॥

व्यासनारदयोर्मध्यमत्स्येपि हेतुत्वात्...।मनाशङ्क्य प्रयोजनान्तरमाह व्या-  
सेति—

निबन्धः—व्यासनारदयोश्चैव तत्प्रवृत्तिदिदृक्ष्या ॥

दुष्टरक्षणहेतुवृत्तात्पर्यवसानतः कलेरदृष्टत्वेन तद्रक्षया अपि धर्मोन्नतिजनकतया मोक्षपर्यवसा-  
यित्वं, कलेः स्वरूपतस्तामसत्वेन तद्रक्षायाम्तामसपर्यवसायित्वं स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनाप्रबलत्वात्  
न सं बाधक इत्यर्थः । एवमिति स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनोपलक्षणविषया ॥ १२३ ॥ १२४ ॥  
॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

फलितमाहः स्वभावात् इत्यादि । ऊनविंशाध्यायार्थमाहुः ऋषीणामित्यादि ॥ १२९ ॥  
॥ १३० ॥ १३१ ॥



अविरक्तेर्मध्यमत्वाद्रामस्य क्रियया गतिः ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—दिदृक्षायां हेतुः अविरक्तेरिति । परशुरामस्य तु क्रियाशक्त्यवतार-  
त्वाद्विशिष्टवाचके भागवते गमनमुचितमेव ॥ १३१ ॥

ननु सर्वापेक्षया भगवानुचमोऽस्तत्राज्जौकिकधर्मैः कथमुत्कर्षापूर्वचिन्ता ?  
तस्मात्सर्वे भगवदंशाः शुक्रापेक्षयोत्तमा इत्याशङ्क्याह शुक्रः शिव इति—

निबन्धः—शुक्रः शिवस्ततोऽप्येवमीश्वराज्ज्ञानसंस्थितिः ।

एतदर्थं हि भगवानवतीर्णो वृषध्वजः ॥ १३२ ॥

द्वात्रिंशलक्षशैव्युक्तो भक्तानां सुरपादयः ॥

तत्र प्रश्रद्धयं लोके सर्वदोषमृत्तिक्रमात् ॥ १३३ ॥

प्रकाशः—गुणावतारत्वात्तोऽपि महान् । ब्रह्मविष्वादिपि लौकिकश्रोतुर्कः ।  
अन्यमपि हेतुमाह ईश्वराज्ज्ञानसंस्थितिरिति । ईश्वरात्प्राप्तं ज्ञानं सम्यक् तिष्ठति ।  
अन्यन्मायादिना अपोह्यते । अनेन 'आरोग्यं भास्करादिच्छे' दिति चतुर्णामप्येषैव  
व्यवस्था मुख्येति सूचितम् । नन्वस्यावतारस्य किं प्रयोजनमित्यत आह एतदर्थं  
हीति । भगवान् सर्वसुकृत्यर्थभवतीर्णः, स्वयं गच्छन् स्वस्थाने शिवं स्थापितवान् ।  
अतो भागवतप्रवर्तनार्थमेव शिवावतारः । ननु काश्यां स्थित्वा ज्ञानमुपदिशत्येव  
किं पुनरवतारेणेत्याशङ्क्याह वृषध्वज इति । वृषो धर्मः, तेन धर्मप्रकरणेन मोचयितु-  
मवतार इत्यर्थः । क्रुर्मपुराणे शिवावतारः शुक्र इति यद्यप्यस्ति, तथापि लक्ष्मणैरपि  
ज्ञातव्य इति महापुरुषत्वं निरूपयति द्वात्रिंशदिति । एतादृशे शुके समागते राज्ञा  
यत्कृतं तदाह तन्न्रेति । सर्वदा किं कर्तव्यं त्रिपयागेन किं कर्तव्यमिति ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीमद्ब्रह्मदीक्षितविरचितसप्तकाशालम्बार्थ-

दीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे

प्रथमस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

कूर्मपुराण इति । तत्र पूर्वभागे सप्तदशोऽप्येव द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः ।  
अंशशिनावतीर्थोर्वा स्वं प्राप परमं पद' मिति । शेषं प्रकटार्थम् ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमविरचिते तत्त्वदीपप्रकाशावरणमञ्जे

प्रथमस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥

१. 'स्रवाम्बद' भगवानिति श्लोकोक्तिं द्वात्रिंशद्विशेषानि लक्षणत्वेनोक्तानीति प्रतिमतिः । इति  
प्रथमस्कन्धनिबन्धलेखः ।

अथ द्वितीयस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—द्वितीयस्कन्धे स्कन्धार्थप्रकरणाध्यायार्थान् वक्तुं सङ्कत्यर्थं प्रथम-  
स्कन्धे सिद्धमर्थमनुवदति उत्तम इति—

निबन्धः—उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः ।

अध्यायदशकैस्तत्र साङ्गं श्रवणमीर्यते ॥ १ ॥

प्रकाशः—उत्तमे वक्तार उत्तमश्रोतुः परीक्षित आद्ये स्कन्धे प्रश्नो निरूपितः।  
तत्र उत्तरे साङ्गं श्रवणमीर्यते । किं कर्तव्यमित्यपेक्षायां साङ्गं श्रवणं कर्तव्यमिति ।  
तत्र दशज्ञानाणीति दशध्यायैरनिरूप्यते । अनेनाङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थं इत्युक्तम् ॥ १ ॥  
सम्पूर्णस्य भागवतस्य श्रवणविधिशेषत्वम् । तत्र विषयत्वेन दश स्कन्धाः ।  
अधिकारार्थं प्रथमः । अङ्गार्थं द्वितीय इति । एवं भावनाच्छ्रवणं भागवते महावा-  
क्याद्यैः कर्तव्यरूपः तच्छ्रवणं किमित्याकाङ्क्षायामाह शक्तित्वात्पर्यनिर्धार इति—

अथ द्वितीयस्कन्धप्रकाशावरणमञ्जः ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥ अथ द्वितीयस्कन्धनिबन्धं व्याचिख्यासवः सङ्गतिबोधनायाहुः  
द्वितीयं इत्यादि—

निरूपित इति, द्विप्रकारको निरूपितः । उत्तर इति, द्वयोर्वचन्ये उपरे । कर्तव्य-  
मितीति । द्वयोरुत्तरत्वेनेत्यत इति मूलन सम्बन्धः । तथा च स्कन्धोपक्रमे 'श्रोतव्य' इति  
तदुपसंहारे च 'पाद्यं कल्पमयो शुश्रिवा'तिश्रवणस्य कथनाच्छ्रवणं कर्तव्यमिति प्रथमस्कन्धो-  
क्तानां त्रिविधानामपि श्रोतृणां कर्तव्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धाद्य इत्यर्थः । नन्वेवं सति द्वाभ्या-  
मेकैव वाध्यायेन स निरूपणीये दशानां किं प्रयोजनमत आहुः तत्र दशोत्यादि । तत्रेति,  
श्रवणे । अनेनेति, दशध्यायैरङ्गनिरूपणेन । तथा च वस्तुतः कर्तव्यनिर्धारोऽर्थः । स दशमि-  
रूप्यत इत्यवयवसङ्ख्याविचारेणाङ्गनिरूपणं स्कन्धार्थः इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवमेकेन स्कन्धार्थमुक्त्वा द्वौ कथं स्कन्धार्थविति जिज्ञासायां तच्चतुर्मिरूपपादय-  
न्तस्तस्यावयवकत्वबोधनायाहुः सम्पूर्णत्यादि । भावनादिति, व्यञ्जोपे पद्यनी, विचारं  
कृत्येत्यर्थः । कर्तव्यरूप इति । द्विविधो ह्यत्र शास्त्रार्थः, अनुष्ठेयः प्रमेयश्च । तत्र द्वितीयो  
दशालोक्युक्तो भगवान् । मथमस्तु साङ्गश्रवणरूप इत्यर्थः । एवं च विचारं प्रथमस्कन्धार्थस्य  
कर्तव्यत्वेन द्वितीयार्थस्य सहकारितया फलश्रवणेन पुत्रीयाण्यर्थानां श्रवणस्वरूपश्रवणेन हेतुतैव  
स्कृटीभवतीति अनुष्ठेयं शास्त्रार्थं प्रति स्कन्धार्थानां हेतुमद्भाषः सङ्गतिः स्कन्धार्थानां च पर-  
स्परमेककार्यत्वसङ्गतिरिति ज्ञापितम् । आहिति, लक्षणं कुर्वन्तस्वरूपमाह—

निबन्धः—शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्ययोः ।  
 तत्त्वार्थानां हृत्प्रसादो मननं चाङ्गमुच्यते ॥ २ ॥  
 श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ।  
 वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः ॥ ३ ॥  
 शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ।  
 अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये ॥ ४ ॥  
 कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारोः पदवाक्ययोः ।  
 यणातीतस्वरूपत्वे निर्गुणश्च्युतिनिर्णयः ॥ ५ ॥

प्रकाशः—पदे शक्तिनिर्धारोऽसङ्कोचरूपः सहजः । वाक्ये तात्पर्यनिर्धारः ।  
 उभययुग्मयत्र वा । अङ्गानि कानीत्याकाङ्क्षागामाह तत्त्वार्थानामिति । तत्रेति वा ।  
 तत्त्वस्वरूपचिन्तनं ध्यानम् । हृत्प्रसादश्चित्तशुद्धिः । मननं च तृतीयमङ्गम् । अनेन  
 प्रकरणविभागोऽपि निरूपितः । केषां शब्दानामित्याकाङ्क्षायां श्रोतव्यविषयमाह

ननु पदशक्तिनिर्धारय निषण्णुदिभिरेव सिद्धेर्वाक्ये च शक्तेरभावात् 'पदवाक्ययो-  
 स्तात्पर्यनिर्धारः श्रवण'मित्येव लक्षणं युक्तं न तु शक्तिनिर्धारोऽपि मध्ये निवेशनीय  
 इत्याकाङ्क्षायां तत्सार्थकत्वाय शक्तेः स्वरूपमाहः असङ्कोचरूपः सहज इति । भगव-  
 द्वाचकप्रणवविकृतिरूपाणां सर्वेषां पदानां भगवद्रूपेणार्थेन नित्यसम्बद्धत्वाद्भगवतश्च सर्व-  
 रूपत्वात् सर्वं शब्दाः सर्वाधिवाचका इत्येवंरूपः पदे शक्तिनिर्धारः स्वाभाविकः । तथा  
 चैवंरूपः पदशक्तिनिर्धारो नेतरसाध्य इति शक्तिपदं सार्थकमेवेत्यर्थः । एतेन जातौ विशिष्टे  
 प्रवाहे वा शक्तिरित्येतेषां पक्षानामत्रानुपादेयत्वं बोधितम् । सर्वनिर्णयो वैयकरणतीत्या वाक्ये  
 शक्तेरङ्गीकरणत्वात्सामान्यमाहुः उभययुग्मयत्र वेति । एवमेवः स्कन्धार्थं उक्तः । द्वितीयं  
 वक्तुमाहुः अङ्गान्तीत्यादि । द्वितीयाध्याये स्वरूपध्यानस्याकत्वात्प्रथमपाठे तस्य न सहज  
 इत्यतः पाठान्तरमाहुः तत्रेति । वेति । अत्र शुक्लमित्येतावत्यथः पाठः । द्वितीयध्यानस्यापि  
 प्रकारविशेषेणादरणीयत्वात्पाठान्तरमिति बोध्यम् । द्वितीयपाठे ध्यानपदस्यार्थमाहुः तत्त्वस्वरूप-  
 चिन्तनमिति । तत्त्वानां स्वरूपस्य च चिन्तनमित्यर्थः । एवमावाच्यायोक्तमेकमङ्गमुक्तं, तद-  
 धिमद्भयोक्तमङ्गान्तरमाहुः इदित्यादि । तदधिसप्तध्याय्युक्तं तृतीयमाहुः मननमित्यादि ।  
 अनेनेति अङ्गत्रयकथनेन । एवं च अङ्गनिरूपणरूपे स्कन्धार्थे प्रकरणार्थानां विशेषरूपत्वात्सा-  
 मान्यविशेषभावः, तान् प्रत्यध्यायार्थानां च स इति सङ्गतिर्बोधिता ज्ञेया । प्रथमस्कन्धार्थानां ।  
 परिच्छिन्दन्ति केषामित्यादि । स्कन्धार्थेभूतं केषां शब्दानां, किंशब्दविषयकमित्याकाङ्क्षायां

१. तत्त्वज्ञानमिति मुद्रितादर्थे । २. निर्गुणः शुक्लति मुद्रितादर्थे ।

श्रोतव्येति । दशविधा लीला श्रोतव्या । अनेनाग्रिमस्कन्धानामर्था उद्देशत उक्ताः ।  
 ननु धर्मा येन केनचिद्दर्मेण सहितः श्रोतव्यो भवतु, कोऽयं निर्वन्धो दशविधली-  
 लायुत इति ? तत्राह तदर्थमपरा कृतिरिति । अन्यथाग्रे निरूप्यमाणा दश स्कन्धा-  
 र्थ्याः स्युः । पदवाक्यानां चानुपस्थितत्वाद्दङ्गविचारोऽपि व्यर्थः स्यात् । तस्मा-  
 दपरकृत्यनुपपत्त्या दशविधलीलायुक्त एव श्रोतव्यः । ननु शक्तितात्पर्यनिर्धारः कथं  
 कर्तव्यः, केन कर्तव्य इत्याकाङ्क्षागामाह शक्तीति । अङ्गनिरूपणेनैवाङ्गचपि निरूपितो  
 भवति । न हि सर्वाङ्गेषु सिद्धेषु अङ्गिसिद्धिरवशिष्यते । तदाह अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्ध  
 इति । तदर्थं स्कन्धमाह द्वितीय इति । अनेनाङ्गानां स्कन्धे अङ्गिनो निरूपणं युक्त-  
 मिति ज्ञापितम् । शक्तितात्पर्यनिर्धारो द्वितीयस्कन्धे न स्पष्ट इति तं स्पष्टयति कृष्णस्य  
 सर्वरूपत्वमिति । शक्तिसङ्कोचपदे नाम्बोधार्थानां समुदाहचकत्वं सिध्यति । एवं

श्रोतव्याः शक्तौ तात्पर्यं च निर्धारणे यद्वास्तात्पर्यं निषण्णुदिभिरेव सिद्धेर्वाक्ये च शक्तेरभावात्  
 इत्यादि । तथा च दशविधलीलाविषयकानां पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणमित्यर्थः ।  
 तस्मादिति, उक्तहेतुद्वयानुरोधात् । शक्तीत्यादि भूले । तथा च तत्त्वस्वरूपध्यानचित्त-  
 शुद्धिमननैरूपकत्वाच्चकेनानेन सामान्यतः कर्तव्य इत्यर्थः । नन्वेवं सति श्रवणस्य  
 स्कन्धार्थता आगता । पूर्व तु टीकायामङ्गनिरूपणस्य स्कन्धार्थता कण्ठत उक्तेति विरोध  
 इत्याकाङ्क्षायामाहुः अङ्गैत्यादि । अङ्गीति श्रवणम् । तथा चैकद्वारान्यस्यापि सिद्धेर्द्वयोः  
 स्कन्धार्थत्वं न विरुद्धमित्यर्थः । भूले अङ्गविनिश्चय इत्यत्र निमित्तात्मकमेवमिति स-  
 त्तमी । अङ्गविनिश्चयार्थमित्यर्थः । प्रथमस्यार्थसिद्धिमाहाङ्गाहुः शक्तीत्यादि । न स्पष्ट  
 इत्यादि । कोशव्याकरणनीमांसादियदकथनात् स्पष्ट इति हेतोस्त्वं स्पष्टयति । भगवतः  
 सर्वरूपत्वस्य तत्र बोधितत्वात्सर्वेषामर्थानां संगर्गाणां च भगवद्रूपत्वे सिद्धे वक्तुश्च तथा  
 बोधने विवक्षिते सर्वेषां पदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्तात्पर्यकत्वं च निर्धारितं भवती-  
 त्वेवं स्फुटीकरोतीत्यर्थः । ननु प्रथिव्याः सर्वेषां ध्वरूपत्वेऽपि यथा घटादिपदानां तत्र  
 तत्रैव शक्तिर्न प्रथिव्यां, तथात्रापि शक्यवचनत्वात्सर्वस्य भगवद्रूपत्वेऽपि कथं शक्यादि-  
 निर्धार इति शङ्कायामाहुः शक्तीत्यादि । अत्र पदपदं वाक्यानामप्युपलक्षकम् । तथा  
 चैवं सिध्यति । द्वादशे हि 'ततोऽनुचिद्विदोऽङ्गो योऽय्यकप्रभवः स्वराद् । स्वभातो ब्रह्मणः  
 साशाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्देवीजं सनातन'मित्याकाङ्क्षात् परमात्म-  
 वाचकप्रणवविकृतानां सर्वेषां शब्दानां भगवद्वाचकत्वस्य साहजिकत्वात्सामान्यरूपव्याकरण-  
 दिशुतीनां शक्तिसङ्कोचनोपगार्थः । भगवतश्च सर्वरूपत्वं चतुःश्लोक्यां विवृतम् । जत

१. नाम्बोधति । जातितद्विषयकमित्याकाङ्क्षापक्षे तु न ।

संति श्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्त एव भवति । अन्यथानन्तत्वाच्छब्दानां श्रवणाशक्तौ श्रवणविध्यपर्यवसानमेव स्यात् । यत्किञ्चित्पदवाक्यनिर्धारो यत्र कुञ्ज-  
चित्तन्न श्रवणम् । अतोऽग्रिमा सर्वैव कृतिः सार्थिका । ननु मीमांसस्यैवायमर्थः  
सिद्धः । 'आत्मा श्रोतव्य' इति तथैव सर्वैः श्रवणविधिर्निरूपित इत्याशङ्क्याह  
गुणातितत्स्वरूपत्व इति । भगवतो हि रूपद्वयं, गुणातीतरूपं सगुणं च । तत्र वेदे  
गुणातीतमेव । पुराणे च सगुणम् । अतो वेदनियेतेन निर्णये गुणातीतमेव श्रोतव्यं

एवैकादशेऽपि भगवता 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'मिति वक्ष्यते । अयं चार्थो जातिद्विष्टि-  
व्यक्तिप्रवाहशक्तिपक्षेषु न सिध्यतीति ते पक्षाः सङ्कोचोत्तरमाविन एवादर्शनीयाः । अतो  
भगवतः सर्वरूपत्वे शक्तिसङ्कोचनपक्षे चादृते प्रथमस्कन्धे शौनकप्रश्नोत्तरं सूत्रेन 'यस्कृतः  
कृण्यसम्प्रथ' इति सर्वेषां प्रश्नानां भगवान्वाचार्थ इति युक्तं, तस्यापि तात्पर्यं विचारिते-  
ऽत्रत्यानां पदवाक्यानां भगवद्वाचकत्वं तत्प्रात्यर्कत्वं च सिध्यति नात्यर्थेति; सर्वस्य भगव-  
द्भूषत्वे सुखेन तन्निर्धार इत्यर्थः । सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि । ननूकरीत्या सर्वेषां  
भगवद्वाचकत्वं सिद्धमिति कथमयं विषयसङ्कोच इत्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तत्र श्र-  
वणमिति । सर्वयुक्त्याद्यापत्तेरनुभवविरोधाच्च तत्र श्रवणत्वेन विवक्षितम् । तथा च वि-  
धिपर्यवसानायाग्रिमकृतिसार्थिक्याय चायं सङ्कोच इत्यर्थः । एवं प्रयोजने स्कन्धस्योक्तौ  
उत्तरमीमांसया स्कन्धस्य गतार्थत्वमाहङ्कते नन्वित्यादि । अयमिति, भगवतः सर्वत्व-  
रूपः । तथैवेति 'आत्मनि वा अरे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं निर्णय' मित्यात्मज्ञाने सर्ववे-  
दनरूपफलस्य श्रवणाद्भगवतः सर्वरूपात्तज्ञानार्थः श्रवणविधिरित्येवम् । गुणातीतस्वरू-  
पत्व इति । श्रोतव्यस्यात्मन इति शेषः । तदेतदुपपादयन्ति भगवत इत्यादि ।  
गुणातीतमिति गुणोत्पत्तेस्तत्राकथनात्, कचित्कथने तद्युक्ततया सूत्राद्यथकथनात् । अत  
इति । पुराणे सगुणस्यैव श्रोतव्यत्वाद् वेदे गुणातीतमेव कुत उच्यत इत्यत आहुः यत  
इत्यादि । तथा च वेदेऽनिरूपणात् सगुणं नास्त्येवेति न, किन्तु ताः स्वाधिकारेण  
निरूपयन्तीति न सगुणं निरूपयन्ति, न तु तदभावात् निरूपयन्तीत्यर्थः । एवं चतुर्धि-

१. द्वितीयस्कन्धे प्रथमप्रकरणे, 'कृण्यस्य सर्वस्वत्वे निर्धारः पदवाक्यो' इत्यस्य विषये एवं सती-  
त्यादि सार्थिकेत्यन्तम् । प्रथमनिष्प्रतिपादकेन द्वितीयस्कन्धेन कृण्यस्य सर्वस्वत्वे शक्तितात्पर्यप्रकाशितेऽज्ञानायं  
आदिपे सति, श्रवणविषयाकांक्षापुर्यायं दशस्कन्धनामुक्त्वाच्छ्रोतव्यविषयो दशविधलीलायुक्त एव भवति । दश-  
विधलीलायुक्तस्य श्रोतव्यत्वाम्नाये श्रवणविधेः सामान्येन निरूपणात्तः, दशस्कन्धातिरिक्तशब्दानां सामान्येन  
श्रोतव्यविषयायामनन्तत्वाद् द्वितीयस्कन्धश्रवणविधिरप्यवसन्न एव स्यादतोऽत्रोक्तस्य श्रवणविधेः पर्यवसानायुक्त-  
त्वात्प्रस्कन्धनां सार्थिकत्वम् । धर्मिमात्रश्रवणरूपत्वे तु द्वितीयस्कन्धेऽपि तस्माद्भ्रतत्वेनेव तस्य केवलमभिधे-  
तव्यत्वनिरूपणाद् पूर्वमेव गतार्थत्वादि वैयर्थ्यमिति । २ अन्वयेति । दशविधलीलायुक्त्यापि श्रवणविषयत्वे ।

स्यात् । अतोऽत्र पृथङ्निरूपणमुचितमित्यर्थः । यतः श्रुतयो निर्गुणाः । अनेन  
तत्त्वध्यानस्याङ्गता निरूपितान्तरङ्गता च । तेन प्रथमं तत्तिरूपणमुचितमिति  
भावः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

द्वितीयाङ्गं साधयति श्रोतुर्वक्तृस्तथा श्रद्धेति—

निबन्धः—श्रोतुर्वक्तृस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा वहिर्मुखः ।

श्रोतुर्वक्तृः समुत्साहो नमनाद्यादारात्कुटः ॥ ६ ॥

प्रकाशः—एतदभावेऽपि श्रवणं न निर्वहतीति तथा । प्रथमप्रकरणवदेव च  
श्रद्धाप्यन्तरङ्गमित्यर्थः । पूर्वत्र भगवतः सर्वरूपत्वे सर्वेषां तदादीनार्थनिर्णयो  
भवति । प्रकृते श्रद्धा कथमुपयुज्यते ? न हि सर्वत्र श्रद्धा भवति । नापि दशविध-  
लीलापरिच्छेदे । अतः स्वरूपोपकारित्यपि श्रद्धा पर्यवसानाभावाच्चाङ्गं भवितुमर्ह-  
द्वयोः स्कन्धाधेयानिरूपणेन प्रथमप्रकरणार्थाऽप्युक्त एवत्याहुः अनेनेत्यादि । श्रुतिपरा-

यथोर्थप्रकारस्य विभागकथनेन प्रथमाध्यायोक्तस्य तत्त्वचिन्तनस्य सामान्यतो विशेषत-  
श्चात्यपदवाक्ययोः शक्तितात्पर्यनिर्धारोपकारकता निरूपिता । अत्र तत्त्वानामीश्वरशरीरे  
निवेशस्योक्तत्वेन तत्त्ववाचकानि पदादीनि तत्त्वव्यवबोधनद्वारा भगवत्पराणीत्येवं क-  
थिता । तथासंज्ञातमक्रेऽपि भगवद्भक्तिरूपफलानुकूलत्वेन अन्तरङ्गता अतिशयितोपकारकता  
चोक्त्यर्थः । अत एव श्रुतिस्मरता द्वितीयाध्यायोक्ता । सूक्ष्मध्यानात्पूर्वमेतत्कथनमित्याश-  
येनाहुः तेनेत्यादि । अन्तरङ्गत्वेन तथेत्यर्थः । एवं चैतस्य प्रकरणस्य ध्यानमर्थस्तदध्या-  
यद्वये आद्यस्य तत्त्वध्याने द्वितीयस्य स्वरूपध्यानमर्थ इत्युक्तम् ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अतःपरमेक्रेन द्वितीयस्य प्रकरणस्य तदध्यायद्वयस्य चार्थं वक्तुमाहुः द्वितीय-  
मित्यादि—

एतस्या अङ्गत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां स्वरूपोपकारकत्वेनेति स्फुटीकुर्वन्ति एतदित्यादि ।  
नन्वेवं सति प्रथमस्कन्ध एव वक्तव्यो नात्रेत्याशङ्क्यामाहुः तथेत्यादि । तथा च  
तद्यथा श्रवणस्य स्वरूपे फले बोधकरोति तथेयमपीत्यन्तरङ्गतावाधिकारस्कन्धे निवेश  
इत्यर्थः । ननु श्रवणादरत्वेन रूपेण श्रद्धायाः स्वरूपोपकारकत्वस्य पूर्वस्कन्धेऽपि सिद्ध-  
त्वात्तत्र को वा विशेषो येनाप्रापि स्वरूपोपकारकत्वमुच्यत इत्याकाङ्क्षायां तं विशेषं वक्तु-  
मन्तरङ्गतं च साधयितुमाहुः पूर्वैरेत्यादि । कथमिति । सर्वविषयत्वेन वा दशविधली-  
लायुक्तविषयत्वेन वा रूपान्तरं वा । तत्राद्यं निषेधन्ति न हि सर्वत्रेत्यादि । द्विष्टादिषु  
तद्दर्शनात्तथेत्यर्थः । द्वितीयं निषेधन्ति नापीत्यादि । तथा सति गुणातीतश्रवणेऽश्रद्धा  
आपद्येतीति तथेत्यर्थः । अथ द्विष्टादिभावस्य ध्यायत्वात्सर्वविषयत्वेनैवोपयोग आद्रियेत, तदा  
तु तस्या अङ्गत्वमेव ह्यित्येत्याहुः । अत इत्यादि । तथा च रूपान्तरस्याद्यथकथना-

तीत्याशङ्क्याह सान्प्रसेवा वहिसुखेति । अन्यसेवा बहिर्मुखत्वेन श्रद्धायाः श्रवणा-  
ङ्गत्वम् । यथा दशविधलीलायुक्तातिरिक्तस्य न श्रवणं, तथा तत्प्रतिपाद्यरूपातिरिक्त-  
रूपे न श्रद्धा, अतः पर्ववसानमस्त्येव । ततोऽन्ये जगणस्पतिप्रभृतयः श्रद्धाप्रकरणे  
हिरूपिताः । तत्रापि श्रोतुस्तस्यान्वय श्रद्धायां श्रवणं व्यर्थं स्यात् । वृक्तुस्तु श्रद्धा  
नमनाद्यादरात्समुत्साहरूपा स्फुटैः ॥ ६ ॥

एवं मध्यमप्रकरणार्थमुक्त्वा तृतीयप्रकरणेऽन्वतरप्रकरणभेदोऽस्तीति तद्भेदकं  
निरूपयति उत्पत्त्या चेति—

निबन्धः—उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वत्वं तस्य चिन्त्यते ।

तथा च व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः ॥ ७ ॥

प्रकाशः—उत्पत्त्या विमर्शस्त्रिभिः । उपपत्त्या च त्रिभिः । उक्त्याम्नां भगवतः

दादरस्य च पूर्वमुक्तत्वादन स्वरूपोपकारकत्वमस्या बोधितमित्याशङ्क्यार्थः । समाधि व्या-  
कुर्वन्ति अन्यसेवेत्यादि । तथा चानेन रूपेणोभयाङ्गत्वात् पूर्वस्कन्धे निवेशो न वा पूर्व-  
प्रकरणतोऽप्यनिरित्यर्थः । एवं तृतीयाध्यायार्थो निर्णयः । उग्रियस्याहुः वक्तुरित्यादि ।  
समुत्साहारूपेति, निष्कामानन्यमकिकर्तव्यतायवसायरूपा । अत्र यद्यप्यार्थैर्वाक्यानि  
न विभक्तानि, तथापि पूर्वस्कन्धनिबन्धेऽध्यायद्वयस्य वक्त्रिकारबोधकतया उक्तत्वाद्विभ-  
ज्यन्ते । तत्र प्रथमेष्व्याये चतुर्दशभिः, सप्तभिर्द्वितीयस्य, शेषोऽध्यायस्त-  
दुभयशेषः । द्वितीये सप्तभिः पूर्वाध्यायोक्तस्वार्थस्य पूर्वकाण्डार्थनिश्चायकत्वसमर्थनं, षड्भि-  
र्द्वितीयकाण्डार्थनिश्चायनं, एकैकं धारणाधिकारविभागः, सप्तदशभिर्मिथ्यागणस्यैव धार-  
णावश्यकता सपरिकरा विचारिता । द्वाभ्यां श्रुतिसमानाधिकरणत्वाय श्रौतार्थनिर्णयः,  
एकैकं सर्वेषां शास्त्राणामेतदेकदेशानुसारित्वं, द्वाभ्यामुक्तार्थनिर्णयनेनोक्तोपसंहारः । एव-  
मध्यायद्वयेन सर्वशास्त्रार्थसंग्रहादुपचमचक्रुधिकारस्य सर्वज्ञत्वसाम्यादविकथुतभागवतत्व-  
मक्तत्वपूर्वकपरमाविरकत्वरूपस्य सिद्धिः । तृतीये द्वादशभिरन्यसेवा बहिर्मुख्यबोधनेन  
श्रोतुः श्रोतसाहनादुपचमश्रोतुस्तादृशी श्रद्धा । शेषैराचश्रोतुः । तावता प्रत्याहारन्यायेन  
तदुपनिबन्धनेन च मध्यमस्याप्युक्तमायापुत्रिये प्रथमैकादश पूर्वशेषाः । तदुत्तरं वक्तु-  
द्वाप्रकाशका इति । एतावपि वक्त्रिकारविचारे तस्यैव शेषाविति चात्रे 'भयनेनैव नि-  
र्धार'मित्यत्र स्फुटीभविष्यति । प्रकृतमनुसराणि ॥ ६ ॥

एवं प्रकरणद्वयार्थं निर्णयिकेन तृतीयप्रकरणार्थं विचारयन्ति एवमित्यादि—

अत्र भेदकद्वयकथनेन उभयव्यपदेशाद्यधिकरणद्वयार्थः स्मार्थते । तेन 'वेदाः श्रीकृष्ण-  
वाक्यानी'त्यत्रोक्तं प्रथमैक्यं सेत्स्यतीति बोध्यते । ननु सर्वस्योत्पत्त्यैव भगवतः सर्वत्वनि-

सर्वत्वमेव विचार्यते । चकारादुत्पत्तावुपपत्तिसंश्लेषोपपत्तावुत्पत्तिरिति । सर्वस्योत्पत्त्यैव  
निर्णये प्रथगरूपस्थित्यभावे उत्पत्तिरेव न घटतेति व्यतिरिक्तत्वं चोभयत्र वक्तव्यम् ।  
सर्वस्यैवोपपत्तित्त्वेन परमं माहात्म्यं भवेत् । तद्वि तस्योत्पत्त्युपपत्त्यभावात्कथं निर्णय  
इत्याशङ्क्याह फलतस्त्वस्य निर्णय इति । उभयविचारेण विचारितस्य तत्फलम् ।  
अर्थात्साधकं च । अतस्तार्थिणीयार्थं न किञ्चिद्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमङ्गानि निर्णयं तेनाङ्गिसिद्धिमाह ततो लीलाः सदा वाच्या इति—

निबन्धः—ततो लीलाः सदा वाच्याः श्रोतव्याः श्रवणेन हि ।

त्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टाङ्ग ईर्यते ॥ ८ ॥

अन्ते मतेर्गतित्वं हि मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

पाक्षिकोऽपि हि दोषोऽत्र परिहार्यः सुसात्त्विकैः ॥ ९ ॥

प्रकाशः—भगवन्तं निर्णयं भगवल्लीला वाच्याः कीर्तितव्याः । अन्यथा लीला-

ण्ये व्यतिरिक्तत्वकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः सर्वस्येत्यादि । सर्वस्य भगवतः सकाशाद्-  
त्पत्त्यैव भगवतः सर्वोपादानत्वेन सर्वत्वनिर्णये प्रथक्स्थित्यभावे वृक्षबीजन्यायेन कृत्स्नमसकौ,  
उत्पत्तिरेव न घटत, कर्तुरभावाद्योपपत्त्येति तदर्थमुभयतः तन्निरूपणमित्यर्थः । नन्वेवं व्यतिरि-  
क्तत्वमात्रकथनेऽपि निरिजगत्कर्तृतया माहात्म्ये श्रोते क्लेशस्य भक्तिवसिद्धेः, सर्वत्वनिरूपणस्य  
किं प्रयोजनमत आहुः सर्वस्येत्यादि । सर्वस्य तत् उपत्पत्युक्तौ लौकिककर्तृन्यायेन सगरवदसम-  
र्थस्यमर्थोत्पत्तेरपि शक्यवचनत्वात् परमं माहात्म्यं न भवेत्, सर्वस्योत्पत्तिमत्त्वे तु व्यतिरिक्त-  
स्याजन्यत्वाद्भेदतः परत्वाद्यप्यं तदभयोजनमित्यर्थः । तज्ज्ञानस्य दौर्लभ्यमाशङ्कते तद्व्यादि ।  
व्यतिरिक्तत्वस्यावश्यत्वाप्ये तस्य व्यतिरिक्तरूपस्य ज्ञापकभूतोत्पत्त्युपपत्त्योरभावात्सिन्ध्यति-  
रिक्ततायाः केन हेतुना निर्णयः ? तस्य वा रूपस्य केन हेतुना निर्णय इत्याशङ्क्येत्यर्थः । ज्ञापकं  
व्याकुर्वते उभयेत्यादि । उत्पत्त्युपपत्तिविचारेण विचारितस्य सर्वरूपत्वस्य तद्व्यं फलं तद्विचारा-  
त्प्राप्त्यर्थं, अर्थात्सर्वोत्पत्त्यादिरूपात् साधकमुत्पादकं च । अतः कारणतानिर्वाहकस्य तस्य धर्मस्य  
तस्य कारणरूपस्य च कार्यणेन निर्णयत्तज्ज्ञापनाय हेतुन्तरं न वक्तव्यमित्यर्थः । एवमेकैकं  
तृतीयप्रकरणार्थं निर्णयः ॥ ७ ॥

तेनाङ्गिसिद्धिमाहेति । अत्र लीलानामेवोक्तत्वाद्भक्तान्तरान्पेक्षां बोधयितुं तावत्तैव  
श्रवणसिद्धिमर्थेनाहेत्यर्थः—

मूले तत इति । ल्यब्लोपे पञ्चमी, तत्कृत्या । तद् व्याकुर्वते भगवन्तमित्यादि ।

१. अन्ते मतेर्गतिस्त्वमित्यादि । अन्ते वा मतिः का मतिरिति वाक्याद् अन्ते मतेः फलत्वम् । हि-  
त्वं । नान्तं चञ्चलमस्थिरम् । हिदंती । अतो हेतोयमिह पाक्षिकोऽपि दोषोऽस्तिरत्वरूपः परिहार्य इत्यर्थं  
चञ्चलमित्यस्यासकथनमस्थिरातिरिति ।

त्वमेव न स्यादिति तथैव श्रोत्रापि श्रोतव्याः । एवं स्मर्तव्या इति । सर्वदा कर्तव्यं सेत्स्यत इति । एवं सदा कर्तव्ये श्रवणे सर्वस्य भागवतस्योपयोग्यकृत्वा द्वितीयप्र-  
श्लोचं विचारयति श्रियमाणे विशेषेणेति । तत्र गोगोऽङ्गाङ्गः कर्तव्यः । तत्र हेतु-  
माह अन्ते मतेरिति । अतः पाक्षिकद्वोपरिहारार्थं योगेनोपयोगः ॥ ८ ॥ ९ ॥

तस्य साधनान्याह गृहत्यागगतीर्थावास इति—

निबन्धः—गृहत्यागगतीर्थावासो योगाभ्यसनमेव च ।

अन्तकाले त्ववर्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते ॥ १० ॥

प्रकाशः—साधनत्रयम् । श्रवणयोगयोर्विकल्प इति विमर्शः । समुच्चय इति केचित् । भिन्नोऽधिकार इत्यन्ये । संस्कारोऽत्र निषामकः । बहिर्मुखान्तर्मुखव्यवस्थे-  
त्यपरे । श्रुकेन पूर्वजन्मनि तथा कृतमिति स्वानुभूतं तदाह । श्रवणं तु व्यासाद-  
वगतमिति विमर्शः । अत एवाह अन्तकाले त्ववर्यं ह्येति ॥ १० ॥

ननु यथा कथञ्चिच्छ्रवणेऽपि फलविद्धः किमिति भगवन्नियानन्तर्येपिष्येत्काङ्क्षायामाहुः  
अन्यथेत्यादि । 'लीला विदधतः स्वैर,' 'अमोघलीलः,' लीलावतारानुरत' इत्यादिवाक्यै-  
रत्र सर्गादीनां श्रवणं लीलात्वेन विवक्षितं, न तु 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि  
च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षण'मितिवत्सर्गत्वादिरूपेण । लीला चानायासेन  
क्रियमाणं कर्म । अनायासज्ञानं तु भगवत्स्वरूपज्ञानाधीनम् । अतस्तत्रिण्येवाभावे सर्गा-  
दीनां लीलात्वमेव ज्ञातं न स्यात् । तदभावे तच्छ्रवणकळमपि न स्यादस्तथेत्यर्थः । एष  
चतुर्दशभिरुक्तस्य प्रथमप्रश्नोत्तरस्यार्थ इत्याहुः । तत्रैवेत्यादि । द्वितीयप्रश्नोत्तरमिति ।  
'अन्तकाल' इत्यादिसंश्लोकोक्तम् । मूले विशेषेणेति । आग्रहेण श्रवणादिकमेव कर्त-  
व्यमित्यर्थः । विशेषपदोक्तप्रदस्वरूपमाहुः । तत्रेत्यादि । तत्र हेतुमाहेति । आग्रहे किं  
बीजमित्याकाङ्क्षायां आग्रहार्थजमेकैनाहेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

तस्य साधनान्याहेति । योगस्यान्वयैर्नाहेत्यर्थः—

निनाधिकारस्वरूपमाहुः संस्कार इत्यादि । यस्य प्रद्वियः संस्कारस्तेन तत्कर्तव्य-  
मित्यर्थः । बहिर्मुखेत्यादि । बहिर्भगवन्तं ज्ञातुमिच्छुर्बहिर्मुखः । अन्तर्ज्ञातुमिच्छुरन्तर्मुख  
इत्यर्थः । विकल्पपक्षस्तर्हि कुत आद्रियत इत्याकाङ्क्षायां विमर्शस्वरूपमाहुः श्रुकेनेत्यादि ।  
तथा च शिवरूपेण सर्वदा तत्कृतवानित्यन्तकाले चित्तैर्यार्थं स्मरणेशं यांगमाहेत्यर्थः ।  
मूले-अवश्यमित्यादि । श्रवणान्यतस्तं वा, गृहत्यागादिसाधनत्रयं वा, अवश्यं कर्म कर्त-  
व्यम् । यथा चित्तं न भिद्यते, भगवति नीयमानं चित्तं येन प्रकारेण भित्तं ततो न  
भवति तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु ज्ञानमार्गं परित्यज्य भक्तियोगं वा किमित्यवोचत्तत्राह श्रुतात्मब्रह्मभा-  
वत्येति—

निबन्धः—श्रुतात्मब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा ।

मनसश्चञ्चलत्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते ॥ ११ ॥

सद्युषां मानसीं मूर्तिं हरेः कृत्वाण्डरूपिणीम् ।

अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि ॥ १२ ॥

प्रकटः परमानन्दस्तत्र स्थित्वा सुखी भवेत् ।

युगानां प्रेरकत्वे हि स्थिरता साधने मता ॥ १३ ॥

प्रकाशः—येन स्वात्मा ब्रह्मत्वेन श्रुतः 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यैस्तस्यावश्यं कर्तव्या-  
न्तराभावादानन्दानुभवेन भाव्यम् । स न जायत इति किञ्चिदन्वत्साधनमन्वे-  
षणीयम् । ततो नियतकलेषु साधनेषु पूर्वं श्रुतिप्रयोजिकेति साधनमेवोपदेष्टव्यमिति  
भावः । अनेन व्यपदेशपक्षो गृहीतः, सिद्धपक्षस्यानुभवविरोधात् 'अयमात्मा ब्रह्म  
विज्ञानमयः' इति शास्त्रत एव तयोक्तिः । यथा प्रतिमायां विष्णुबुद्धिः । तस्मात्  
पक्षमप्रयोजकं मत्वा मनोरान्यतुल्यमिति तत्रोक्तवान् । योगस्यावश्यकत्वमाह मनस-

पूर्वमिति, साधनकर्णाल्पवृत्तम् । श्रुतिरिति श्रवणमित्यर्थः । तथा च कृतादिकलेषु  
कृतैः साधनैः शुद्धचिचानां सोपयुज्यते, नेदानीन्तनानां, अतस्तं मार्गं परित्यज्येदमुपदिष्ट-  
मित्यर्थः । नन्वात्मनः सिद्धे ब्रह्मत्वे कुतो नानन्दानुभवः? न च दोषादिति वाच्यम् ।  
तस्मिन्सति तत्सम्बन्धैवाशक्यवचनत्वात् । न चानादिस्तत्सम्बन्ध इति युक्तम् । तथा  
सत्यमेवस्यैव बाधात् । न च श्रौतत्वात् बाधः । तथा सति यथानुपलभ्यमाणेऽपि भ्रमं  
अव्यतिरेकेण आत्मनो ब्रह्मरूपत्वं प्रवर्तयति बलिष्ठत्वात्तत्प्रमितिं च जनयति, तथा ब्रह्म-  
त्वस्य विषयानन्वदानन्दप्रमितिं जनयेदेषमपि न निवारयेत् । अतो'नित्यो नित्याना'मि-  
त्यसिद्धिश्रुत्यन्तराद्धि एव जीवात्मा आदरणीयः । अनेदश्रुतिस्तु ब्रह्मशरीरत्वासाज्याद्वा  
नेत्याकाङ्क्षायामाहुः अनेनेत्यादि । ज्ञानमार्गाकथनेन 'तदुपासारत्वं' सूत्रसिद्धौ व्यपदेश-  
पक्षः, ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मगुणवत्त्वेन चाल्पनि ब्रह्मत्वमुपचयेते इति पक्षो गृहीत इत्यर्थः । त-  
दादरेऽपि श्रुतिरेव बीजं न दृष्टार्थोपसिन्नात्रमित्याहुः अयमित्यादि । तथा च विज्ञान-  
मयत्वरूपस्य समानधर्मस्य श्रुत्यन्तरे निर्देशार्थपदेशोपपक्षस्य शास्त्रत एवाद्द इत्यर्थः । तत्र  
दृष्टान्तः स्येति । आकृतिसाम्यादित्यर्थः । तस्मादिति ॥ श्रुतिप्रत्यक्षविरुद्धत्वात् । आब-

१. अण्डरूपिणीमिति । प्रथमावाचोक्तं ब्रह्मरूपिणीम् । तथा द्वितीयावाचोक्तं द्वितीयामिति  
मूल्यर्थः । २ कृतीत्यपि पाठः ।

अञ्जलत्वाद्धीति । अस्य पक्षस्य फलपर्यवसानमाह योगेन चित्ते स्थिरीभूते, मानसीं मूर्तिं तत्र ध्यात्वा, तेन ध्यानेन चित्ते सस्वप्ने जाते परमानन्दः प्रकटो भवतीति, तत्र नित्यं स्थितः सुखीभवेत् । ततो ज्ञानफलमपि तत्र सिद्धयति । यदा पुनर्मनो रजस्तमोभ्यामन्यथा भवति तदा साधनपर एव भवेत् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतन्नासन्नमरणस्योच्यते, किन्तु यो मरणं वाञ्छति, तस्य तादृशस्य साधनं फलमाह आश्रितेस्तत्र तिष्ठेतेति—

निबन्धः—आश्रितेस्तत्र तिष्ठेत् बुद्ध्या वा तनुमुत्सृजेत् ।

लिङ्गं च तत्र त्यक्त्यमं गत्वाथ वा त्यजेत् ॥ १४ ॥

धर्मस्य वासनाशेषाद्यदीच्छा पारलौकिके ।

स्थूलस्य भावनायां हि यदि श्रुत्युत्तदा भवेत् ॥ १५ ॥

चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि ।

मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वमुच्यते ॥ १६ ॥

स्थूलेन भाविते चित्ते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः ।

भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे विशते मनः ॥ १७ ॥

प्रकाशः—योगेनायुर्वृद्धौ बुद्धिपूर्वकं वा तनुमुत्सृजेत् । तत्रापि पक्षद्वयम् । सर्वकामनाभावे देहत्यागसमये एव लिङ्गमपि त्यक्तव्यं, तदा सद्योमुक्तिः । क्रमेण वा अंशतस्त्यागस्तदा क्रममुक्तिरिति । ननु सद्योमुक्तौ सत्यां कथं क्रममुक्तिपक्षस्तत्राह धर्मस्य वासनाशेषादिति । पूर्वं कृता धर्माः स्वर्गादिसाधकास्ते योगं साधयित्वा क्रमेण निवृत्ता अपि फलांशे वासनाशेषास्तित्थन्ति, तदा परलोकेच्छा । इदानीं ध्येयभेदेन फलभेदमाह स्थूलस्येति । 'अन्ते या मतिरिति सो'ऽपि विराट् भवति । तस्यै लोकाध्यवहार्यरूपं चतुर्मुखत्वम् । सूक्ष्मे तु प्रधानफलं सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिरिति । एवं सति योगेनैव मुक्तिर्न भवत्येति पूर्वमुक्तः अत्रादिमार्गो व्यर्थ एवेत्याशङ्क्याह

अयत्नवमाहेति, द्वाम्यामाहेत्यर्थः । ज्ञानफलमिति, नित्यनिरतिशयजैवानन्दाभिष्यक्तिम् । वदेत्यादि । इदं 'गुणानां प्रेरकत्वे ही'त्यर्थस्य व्याख्यानम् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एतद्विति, योगाभ्यसनम्—इदं सर्वद्वितीयाध्यायस्थानां 'स्मिन्नं सुख'मित्यादीनां तात्पर्यम्—

१. ज्ञानफलमिति । नित्यनिरतिशयजैवानन्दाभिष्यक्तिः । २. सूक्ष्मे अग्ने गच्छेति । लिङ्गं कल्पयामेत्येदित्यर्थः । ३. सूक्ष्मे तदा स इति । तादृशे चित्ते यदा भक्तिः, तदा मनः सूक्ष्मे स्थिते । ४. सांस्पीति । उपासकोऽपीति । ५. तस्येति, विराजः ।

मनोमय्या अपीति । अत्राष्टाङ्गे योगे ध्यायमेव प्रसाधकं विषयभ्रान्त्यात् । ततः कैमुतिक्रियायः । श्रवणादिना तु स्वामेविको भगवानाभिर्मवतीति महानेव विशेषः । नन्वेवं कल्पनायां किं प्रमाणं ? तत्राह स्थूलेन भाविते चित्त इति । यतोऽयं ध्येयद्वयमाह । तत्रापि यावत् जायेतेति वाक्येन स्थूलध्यानस्य भक्तियोगत्वमुक्तम् । सूक्ष्मज्ञानस्य च भक्तिसाध्यत्वेनैव फलसाधकत्वम् । तदाह भक्त्यभावात् इति ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

अन्यदपि नियामकमस्तीत्याह सर्वस्येति—

निबन्धः—सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम् ।

निर्वाहकं तदन्योन्यं तेन त्रयमुदीर्यते ॥ १८ ॥

प्रकाशः—'न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः' इत्युपसंहारे भक्तियोगत्वैर्नैव सर्वमुपसंहृतम् । तस्माच्च हेतुः श्रवणादिकं यद्यपि प्रत्येकमेव भक्तिसाधकं, तथापि तदन्योन्यनिर्वाहकम् । तेन त्रयमुच्यते । अन्योन्यनिर्वाहकत्वं टीकायां निरूपितम् ॥ १८ ॥

ननु श्रवणयोगयोर्विकल्पे किं सर्वदा श्रवणेन ? अन्ते योग एव साधनीयोऽयं फलसाध्यत्वादित्याशङ्क्याह बहुकालविलम्बे चिति—

निबन्धः—बहुकालविलम्बे तु सुगमं त्वेतदेव हि ।

अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः ॥ १९ ॥

अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत्फलम् ।

एवं श्रीकृष्णभजनमध्यायद्वितयेन हि ॥ २० ॥

श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यमेतन्न चेतर्त् ।

प्रकाशः—अन्तकालसन्देहे योगे प्रवृत्तो दुःखं प्राप्नोति श्रवणादौ तु सुखम् । अतः सुगमत्वात्पूर्वोक्तं-यायेनावश्यकत्वाच्च श्रवणं कर्तव्यम् । किञ्च, योगपक्षेऽपि

प्रसाधकमिति । यमादिपञ्चकं तस्याङ्गं, धारणा तु तस्यैवावस्थामेव; समाहित्यु योग एवेति ध्यानमकथंसाधकमित्यर्थः । उक्तमिति । तथा च तदेवैवं कल्पनायां प्रमाणमिति श्रवणादिमार्गो न व्यर्थ इत्यर्थः । नन्वस्तु स्थूलध्यानस्य भक्तियोगत्वं, तथापि सूक्ष्मध्यानस्य तथात्वाभावात्तेन योगस्य फलदत्वे व्यर्थित्वेयं कल्पनेत्यत आहः सूक्ष्मेत्यादि । तथा च भक्त्यभावे तदभावात्तस्यापि भक्तियोगत्वमेवेति न श्रवणादिमार्गो व्यर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

१. द्वाभावाधिक इति । यानेन विषयभ्रान्त्यमुक्तम् । २. भक्तिमन्दात् सूक्ष्मज्ञानस्य फलसाधकत्वकल्पने ।

श्रवणभावश्चकमित्याह अन्यथेति । श्रवणाभावे नित्यमुपचयमानपापेन योगाङ्ग-  
त्यागो न भवेत् । श्रवणे तु न योगापेक्षेत्याह अत्यागोऽपीति । प्रथमप्रकरणार्थमुपसं-  
हरति एवमिति । योगस्य गौणत्वाङ्गकर्मार्थ एवोपसंहृतः, तत्र हेतुं वदन् योगस्य  
गौणतामाह नित्यमेतदिति । श्रवणमेव मुख्यं, योगो न मुख्य इत्यर्थः । नियतफलसा-  
धकं वा । अकरणे प्रत्यवायो वा । तस्यैप्रत्ययस्यापि लोके विधित्वाङ्गीकारतः ॥१९॥२०॥

एवमध्यायद्वयार्थं विचार्यं तृतीयाध्यायार्थं विचारयति कामेन त्वन्यभजनमिति-  
निबन्धः—कामेन त्वन्यभजनमस्मिन् कामोऽपि सिध्यति ॥२१॥

सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यमसेवायां भविष्यति ।  
निषिद्धार्थत्वसाम्येन द्वयमेकत्र चोदितम् ॥ २२ ॥  
श्रोतुरुत्साहकथने मन्देहाञ्छौनके कृतम् ।  
भजने बाधनिर्धारो द्वयमेकत्र सिध्यति ॥ २३ ॥  
यावत्प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा ।  
न सम्यगवगम्यन्ते तावद्भजनसंशयः ॥ २४ ॥

प्रकाशः—आवश्यकत्वाभावाद्वाधाभावाच्च नान्यभजनं प्राप्नोति, किन्तु कामे  
विद्यमाने तत्तद्विषयाधिकारिणां भजनं भवति । तन्महाप्रभोरपि भजने भवतीति  
ज्ञापयति । प्रत्युताऽभजने सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यं च । अतो भजनावश्यकत्वाच्च तृती-  
याध्यायः । अनेन ज्ञानिनोऽपि देहेन्द्रियाणां वैफल्यं निरूपितम् । कामाभावेऽपीन्द्रि-  
याणां सार्थकत्वाय भजनं कर्तव्यम् । तत्तदभिमानिन्यो देवता भगवत्सम्बन्धमप्राप्य

नियामकमिति, कल्पनानियामकम् । । शिष्टमतिरोहिताथम् ॥ १९ ॥ २० ॥

एवमेकादशभिरध्यायद्वयार्थो निरूपितः, विषयत्वैन्यात् । अतः परं सार्थैर्निषि-  
द्वृतीयाध्यायार्थमाहुः एवमित्यादि—

बाधाभावादिति, तस्याकरणे भगवद्भजनबाधाभावात् । ननु ज्ञानवत् इन्द्रिया-  
दिभ्याल्लभुद्भवभावादिन्द्रियवैफल्येऽपि को दोष इत्यत आहुः कामाभावेऽपीत्यादि ।

१. श्रवणभावाच्च इत्यादि । २. 'प्रतिष्ठः कर्मरन्ध्रेण स्वानो भावसरोऽहम् । पुनोति शमलं कृष्णः  
सत्कल्प्य यथा शरदिति वाक्यात् । ३. तस्यैप्रत्ययस्येति तस्माद् मातेति पयोःकथितः । ४. ज्ञापयतीति ।  
'लक्ष्मः सर्वकामो वेति वाक्ये श्रीभुक्तो ज्ञापयति तथा वासिष्ठिः सम्यग्भजने काम एव न सिध्यति,  
किन्तु कामा मोक्षधेयुस्तं विषयतीति सूचार्थः । ५. वैफल्यमिति । 'अथिष्वरूपेऽप्यादिगोच्यारण्यं ।

दुःखिताः सत्यो मोक्षे ज्ञाने वा विचातुं कुर्वन्ति भावः । आत्मभूतत्वेऽपि वैफ-  
ल्यात् । यथा अकल्पोऽपि प्रविशति । अतः सर्वेन्द्रियैर्भजनं कर्तव्यमिति श्रद्धा निरू-  
पिता । नन्वेकस्मिन्नध्याये कथमर्थद्वयनिरूपणं, देवतान्तरभजननिषेधो, भगवद्भजननि-  
षेधथेति ? तत्राह निषिद्धार्थेन्त्वसाम्येनेति । तृतीयाध्याये श्रोतुः श्रद्धा वक्तव्या ।  
तत्र राजनि श्रद्धा निश्चिता । पूर्वस्कन्ध उच्यमाधिकारित्वेन निरूपणात् । शौनके  
सन्देहः । श्रोतुरुत्साहकथने वक्तव्ये शौनके सन्देहात्तत्रैव कृतं निरूपितमित्यर्थः ।  
भजने बाधनिर्धारस्तु देवान्तरभजनरूपः । स साधारण इति शेषः । इन्द्रियाणां  
दुष्टत्वं च । द्वयमेकत्रैव प्रकारेण सिध्यतीति, विधिमुख्यतया तृतीयाध्यायार्थः । देव-  
ननु सिद्धज्ञानस्य तु नाथमपि दोष इत्यत आहुः आत्मभूतत्वादि । तथा च तत्रे-  
न्द्रियवैफल्यमेव तस्यानीशवात्पादकमिति स एव तत्र दोष इत्यर्थः । निरूपितेति, सर्व-  
मुक्तत्वाये 'एतावानेव यजता'मिति द्वान्यां श्रोतुप्रोत्साहनेन श्रीभुक्तैरेव निरूपितेत्यर्थः ।  
एकस्मिन्नध्याये । ननु श्रोतुश्रद्धाध्यायार्थः, सा तूत्साहनादेव सिद्धेति शौनकमभोपनिबन्ध-  
नस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः तृतीयेत्यादि । निरूपितमिति, श्रद्धालुत्वं निरूपितम् ।  
तथा च श्रोतुमात्रे नान्यत्वरूपैव श्रद्धा पलोपकारिणी, न तु केवलश्रवणपादस्यात्ररूपेति  
ज्ञापनार्थं तत्कथनमित्यर्थः । ननु निषेधद्वयस्योच्यश्रोतुश्रद्धायामस्तु प्रकारता, शुक्देवेन  
तद्गारा तस्मोत्साहनात् । जघन्ये कथं प्रकारतेत्यत आहुः भजन इत्यादि । साधारण इ-  
तीति । श्रद्धाद्वयेऽपि सर्वधार्थक्षितः । चेति बाधकतया साधारणमित्यर्थः । ननु प्रकार-  
तया विवक्षितस्य निषेधस्याप्रतीयमानत्वात्कथं तेन रूपेणाध्यायार्थतेत्यत आहुः द्वयनि-  
त्यादि । एकेनेति, अनन्यभजनरूपेण । विधिमुख्यतयेति । 'थ्येत पुरुषं पर'मित्यस्य

१. तृतीयाध्याये 'सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यमसेवाया'मिति कारिकाव्याख्याने आत्मवैफल्येऽपि वैफल्य-  
दिति । अत्रात्मवन्देनेन्द्रियाणां । सेवा वैफल्यं, तदादिन्द्रियैर्भगवत्सम्बन्धाभावः । तदापि जीवस्य वैफल्यं भगवत्स-  
म्बन्धाभावादेतोः, तृतीयाध्यायस्य भगवद्भजनवश्यकत्वार्थत्वं, एष साधेमान्वयः । अत्रोदाहरण-अकल्पोऽपिः  
मिति । 'यदाकल्पा स्वर्गिकायासित्यनेन अकल्पस्याभिव्येवाः', 'कल्पस्त्वैवं परिजग्ये'त्यनेन कल्पस्य संन्यास उक्तः ।  
अत्र देहस्य फलं सर्वसैन्यासपूर्वकं देहेन साध्यानुष्ठानम् । तस्मान्मर्यामाये सति न सिध्यति । तदा जीवस्यापि ईश्या-  
सकलं न स्यादिति यथा देहैकत्वे जीवस्य वैफल्यं, तथोन्द्रियाणां भगवत्सम्बन्धाभावेऽपि जीवस्य भगवत्सम्बन्ध-  
रूपं फलं न स्यादित्यर्थः ।

२. अत्रेवमे 'भजने बाधनिर्धार' इति कारिकाव्याख्याने विधिमुख्यतया तृतीयाध्यायार्थं इति । तृती-  
याध्यायार्थः श्रोतुः श्रद्धा सा एव प्रकरणार्थोक्तो पर्यवसानार्थः 'साक्षात्सेवा वरिदुर्लभे'त्यनेन निषेधमुख्येन निरूपिता ।  
अथ तु भजने बाधनिर्धार इत्यनेन श्रोतुः साक्षादेव भगवति श्रद्धा निरूपिता । शुक्ले श्रोतुः प्रोत्साहनाय 'महाभक्त-  
काम' इत्यारभ्य 'यजेत पुरुषं पर'मित्यनेनऽन्यभजने निषेधेन भगवद्भजनं बाधते, भगवद्भजनोऽन्यभजनं बाध्यत  
इति नियमितम् । शौनके तु इन्द्रियदोषो भगवद्भजनबाधकः, भावद्भजनं च तद्बाधकमिति निरूपितम् ।  
तदेतान्तरभजनमिन्द्रियदोषक, अन्यपर्यवेष्टं भूतं भगवद्भजनबाधकमिति समुदादेशाभावेन व्यसनेन निरूपितमिति ।

तान्तरभजनमिन्द्रियदोषश्च बाधक इति । इन्द्रियदोषे च देवतान्तरभजनम् । अन्य-  
भजने चेन्द्रियदोष इति । नन्वेवं शौनकास्य भजनावश्यकत्वज्ञाने सिद्धे किं प्रभेदे-  
स्याशङ्क्याह यावत्प्रभोरिति । स्वरूपावज्ञानेऽपि भजनं न सिध्यतीति तदर्थं  
प्रश्नः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥  
एवं शौनकोत्साहं निरूप्य राज्ञोऽप्युत्साहं चतुर्थीध्यायादौ निरूपयतीत्याह  
भजनार्थमिति—

निबन्धः—भजनार्थं समुत्साहो ममतानाशपूर्वकः ।  
त्यक्तोऽपि विषायोऽन्तःस्थो ज्ञानादेव निवर्तते ॥ २५ ॥  
तस्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः ।  
नमनेनैव निर्धारं सामान्येन शुको जगौ ॥ २६ ॥

प्रकाशः—अभ्याप्त्यैव ममतानाशो निरूपितः, स सामान्यतः भद्राप्रतिपादकः ।  
ननु पूर्वमेव प्रायोपवेशनात् त्यक्ता राज्यादौ ममता, कथं त्विदानीं पुनस्त्याज्येत्या-  
शङ्क्याह त्यक्तोऽपीति । ज्ञानं सर्वं हरिरिति । स एव भजनीय इति वा । उचमयो-  
द्वितीय इति स्वोत्साहबोधक इत्युक्तं ज्ञानमात्रं प्रथमे । परित्यागसहितं द्वितीय इति ।  
स्वाधिकारानुसारेण शुक्तस्योत्तरं नमनादिवाक्यैरुच्यते । नमनप्रार्थनाभ्यां चोत्सा-  
होऽपि सिध्यति ॥ २५ ॥ २६ ॥

विषेः परिसङ्घाररूपेण द्वारतया । मूलस्य नाशपदस्य 'करणाधिकरणयोश्चे'ति करणार्थकल-  
बोधनायाहः बाधक इति । ननु करणच्युत्पन्नस्य बाधकपदस्य कश्चिन्मयसङ्गाहकत्वेत्यपिशा-  
याभाहः इन्द्रियेत्यादि । चद्वयमवधारणार्थकम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥  
एवं सार्धैस्त्रिभित्तुर्तीयाध्यायार्थं उक्तः । अतः परं चतुर्थीध्यायार्थं चतुर्थीध्यायार्थं वदन्तः  
प्राथमिकानामेकादशश्लोकानां पूर्वशेषित्वेऽप्युत्तरशेषत्वाच्चतुर्थीध्यायारम्भे तदुक्तिरित्याशयेनाहः  
एवमित्यादि—

त्रयाधानां सूक्तानां चतुर्णामर्थमाहुः—अश्रद्धेत्यादि । द्वितीय इत्यादि । भजनीयत्व-  
ज्ञानपूर्वकः प्रश्नः, इति हेतोः, स्वोत्साहबोधकः, स्वस्य ज्ञेहनं श्रवणं य उत्साहो हर्षस्तदो-  
धक इत्युक्तमित्यर्थः । अतः परं शुक्तबाधक्यतात्पर्यं वदन्तोऽपि कार्पण्यकरणसमाप्तिबोधनाय  
तस्याधिकारस्योपपत्तयाः स्फुटीकरणाय बाहुः—ज्ञानभात्रमित्यादि । तथा च प्रथमे बक्तुत्व-  
स्याभिमान उपरत्वेनोक्तकथनात् शुक्तस्य तु नमनादिवाक्यैरेव कथनात्तदभिमानाभावो व्यास-  
पादैर्बोधित इति परमवैराग्यसाहित्याद्युक्तम इत्यर्थः । नन्वेतेन सर्वज्ञत्वविरक्तिसिद्धे शेषे द्वे कथं  
सिध्यत इत्यपेक्षायामाहुः नमनेत्यादि । उत्साह इति, कीर्तनोत्साहः । तथा च भगवन्नमन-  
प्रार्थनाभ्यां भक्तत्वं, व्यासनमनेन श्रुतभागवतत्वं च बोधितम् । इति सर्वोऽप्यधिकार एतेन  
सिद्ध इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

उपर्यहरति एवमुत्साहेति द्वाभ्याम्—

एवमुत्साहसंसिद्धिर्विधासार्थं कथावचः ।  
एतज्ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथा ॥ २७ ॥  
इति नारदसन्देहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता ।  
विमर्शोऽपि ततः सिध्येदुत्पत्त्या सा त्रिधा मता ॥ २८ ॥

प्रकाशः—सर्वेषामेवोत्साहः सिद्धः । स्वत एव प्रमेयकथनं परित्यज्य ब्रह्म-  
नारदसंवादश्लेषोऽपि विश्वासार्थः । तत्रापि नारदस्य प्रश्न एवं ज्ञापयतीत्याह एतज्ज्ञान-  
मिति । सर्वज्ञानार्थनिर्धारः सामान्येनोक्तोऽपि न सम्यगवगम्यते भागवतश्रवण-  
व्यतिरेकेणेति सर्वज्ञस्यापि नारदस्य प्रश्नः । अत एव ब्रह्मणोऽप्युत्तरम् । अन्यथा परी-  
क्षकवचनमित्येतेषु स्थानं । तयोर्वचनानुवचनेनैव पूर्वोक्तस्यापि विमर्शः सिध्यति ।  
एवमप्यायत्रयस्योत्पत्त्या विमर्शोऽर्थ इत्युक्त्वा तस्य प्रकरणस्याध्यायत्रयात्मकत्वे हेतुं  
वदन्नध्यायार्थान् विभजते सा त्रिधा भवेति ॥ २७ ॥ २८ ॥

तामेवाह अनित्य इति—

निबन्धः—अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ।  
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं सत्त्वतः स्वतः ॥ २९ ॥  
सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वथा ।

प्रकाशः—नित्यापरिच्छिन्नतनावपि द्वेषा प्राकट्यम् । आवेशित्वेनावतारत्वेन

मत्याहारन्यायं प्रकरणसमाप्तिं च बोधयन्ति द्वाभ्यामित्यादि ।

अत्र सर्वेषामितिपदं मत्याहारन्यायबोधकम् । 'एतदेवे'ति श्लोकात्तत्पर्यमाहुः स्वत इत्यादि ।  
एवं सार्धार्थानां चतुर्थीध्यायार्थं उक्तः । अतः परं वदन्तिः पञ्चमाध्यायार्थं तृतीयपरणस्या-  
वान्तरप्रकरणार्थं बाहुः तत्रापीत्यादि । तत्रापि, पञ्चमाध्यायारम्भेऽपि । अत एवेति,  
एतज्ज्ञानायैव । चतुर्थीध्यायः । उचरत्य कथं तथात्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः अन्ययेत्यादि ।  
पूर्वोक्तस्य सर्वरूपत्वस्य, व्यतिरिक्तरूपत्वस्य च ॥ २७ ॥ २८ ॥

तामिति, त्रिरूपां विधाय—

आवेशित्वेनावतारत्वेन भेति । इदं 'सचत स्वतः' इत्यस्य व्याख्यातम् । सत्त्वं  
सथा अवसि बहेरिव सङ्गान्त्या विद्यमानता, तेन त्वं स्वेच्छया प्रादुर्भूतं भगवत्स्वरूपं



च । अनेन लोकेऽपि वस्तुपचिनिर्धारणं भजनं निर्धारितं भवति । अन्यकृता या काचिन्मूर्तिः प्रथमा, स्वात्मानमावाह्यं भजनं द्वितीया, स्वत आविर्भूता तृतीयेति । तत्रापि नित्यस्थिताववतारः । कादाचित्के त्वावेशः । विशेषेऽपि दीकृषा ज्ञातव्यः । इममर्थं ह्यचयति सूक्तार्थकथनं मध्य इति । प्रथमभजनं लौकिकं, द्वितीयं वैदिकं, तृतीयमान्तरानुभवसिद्धमिति ॥ २९ ॥

निबन्धः—तन्मूलत्वाद्धि सर्वस्य तज्जु एव च ॥ ३० ॥

मूलभक्त्यैव भजनमतः प्राकट्यसङ्ख्या ।

तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शं तस्य साधनम् ॥ ३१ ॥

माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम् ।

अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनामिति कीर्तितम् ॥ ३२ ॥

तावन्मात्रत्वकथनमन्येषां वारयत्यपि ।

प्रकाशः—मध्यमभजनं च द्विरूपम् । वेदे सिद्धप्रकारेण ब्रह्मानुभवरूपं यज्ञरूपं

तेनेत्यर्थः । आवेशेऽपि विधाद्वयं पूर्वस्कन्धनिबन्ध उक्तम् । सत्त्वगुणजन्यशरीरस्य शुद्धमिश्रमे-  
देन द्वैविध्यात् । उत्सृष्टिर्वैविध्यकथनस्य फलान्तरमाहुः अनेनेत्यादि । अनेनेति, अध्यायव-  
शेषोत्सृष्टिविषयकथनेन । नन्वन्वनिर्धारणं कथमन्यस्य निर्धार इत्यत आहुः अन्येत्यादि । प्रथमेति,  
उत्सृष्टिमती । भजनमिति, यत्रेति शेषः । सप्तमन्तो वा पाठः । तथा चावाभा मूर्तिद्वितीय-  
त्यर्थः । स्वत आविर्भूतेति, वेङ्कटेशादित्स्वरूपा । तत्राप्राप्ति, स्वत आविर्भूतेऽपि । तत्राविर्भा-  
वोपशो पूजाप्रवाहहतदभावान्सां ज्ञातव्यी, सर्वनिर्णयोक्तस्सारस्यात् । नन्वेवं वस्तुपचिनिर्धारणे  
मूर्तिरूपनिर्धारो भवति, कथं भजननिर्धार इत्यत आहुः इममित्यादि । मध्य इति । प्रकरणं  
मध्यमे षष्ठेऽप्याये । तथा च मूर्तिस्वरूपे तत्त्वमध्यपातात्कार्यरूपविषयिणी तत्कृतिरिति तस्य  
भजनस्य लौकिकत्वम् । तत्रावाहात्त्वज्ञानं परिच्छेदनित्यत्वयोः स्फूर्त्यो अंशत्व एव पर्यवसाना-  
न्मध्यमत्वं, वैदिकत्वं तु भावयात्प्राप्तिः स्फुटमेव । 'मनुस्मृत्याय कथाचिद्विषया प्रादुर्भूत' इत्यादि-  
रूपेण अनुभावाविधिषयेण च सिद्धत्वे उचमत्वमित्येवं भजनस्वरूपनिर्धारो द्वयोर्मध्ये सूक्तार्थ-  
भूतानित्यपरिच्छिन्नकथनेनोत्तरस्योक्तज्ञापनात्सूचितो भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं पञ्चमपञ्चपोरर्थमुक्त्वा सप्तमस्य वदन्ति मध्येत्यादि । इदं 'तन्मूलत्वा'दिति

वा । तत्र यज्ञरूपं तज्जम् । भक्तिमार्गेण भजनं मूलभक्त्यैवेति पुरुषोत्तमभक्तिसिद्धयर्थं  
प्राकट्यरूपैकोक्ता सर्वत्रावतारेषु । अवताराणामपि मूलं कृष्ण इति बोधयितुं विमर्शं  
कृष्णस्य पुरुषोत्तमत्वं च साध्यते । अन्यथा साधनमनुपपन्नं स्यात् । अवतारान्तर-  
वचरित्रमात्रमेव वक्तव्यं स्यात् । तत्र सिद्धमाह माहात्म्यमिति । 'इतरथाजुनयोर्न  
मान्य'मित्यादिना माहात्म्यम् । 'सितकृष्णकेशो यस्माञ्च' इति स्वरूपम् । कथापि  
तत्र निरूप्यत इति शङ्कां वारयति ह्ययमिति । ननु 'ये च प्रलम्बे'त्यादयः सङ्ग-  
येण कथाश्रिताः कथार्थमेव निरूपिता इत्याशङ्क्याह अनेन फलसिद्धिरिति ।  
कृष्णेनैव मोक्ष इत्यर्थः । गणनायात्र प्रयोजनमन्येषां मोक्षनिश्चयः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥  
एवमुक्तव्या विचारशुक्त्वा उपपत्त्या विचारार्थमध्यायत्रयमाह उपपत्त्येति—

निबन्धः—उपपत्त्या विचारोऽपि त्रिधा शङ्कोत्तरे फलम् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलमुपपत्तिः कथागता ।

प्रदर्श्य कथनात्तस्य न मूलान्वेषणं मतम् ॥ ३४ ॥

उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च ।

आक्षेपस्य समाधानमन्यत्स्थूलेऽतिदिश्यते ॥ ३५ ॥

तस्मात्स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपमतः फलम् ।

रूपतश्चायतश्चैव तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥ ३६ ॥

लक्षणोक्तया स्वरूपस्य त्रैविध्यं चार्थतः स्फुटम् ।

आनन्त्याद्धि विशेषस्य स्थूले कथनतोऽपि च ॥ ३७ ॥

प्रकाशः—अध्यायार्थो विभजते शङ्कोत्तरे फलमिति । नन्वस्वोपपत्तित्वं कथम् ?

कारिकान्याख्यायाम् । तज्जमिति । लौकिके ब्राह्मदे मोक्षणादिनालौकिके पदां सविधा-  
पिते यज्ञो निर्धैत्यत इति तथेत्यर्थः । ननु नारदप्रभोचरस्य द्वाभ्यामेव सिद्धाववतारानु-  
कमादेः किम्प्रयोजनमित्याकाङ्क्षामाहुः भक्तीत्यादि । कथं साध्यत इत्याकाङ्क्षामाहुः  
तत्रेत्यादि । स्पष्टमग्रिमम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

एवं पञ्चिह्नुत्पात्प्रकरणं निश्चयम् । अतः परं शिष्टैः सार्धसप्तमिर्द्वितीयं विचारयन्ति  
एवमित्यादि—

शङ्कोत्यादि । अत्राध्यायार्थविभागे । अत्राध्यायस्याक्षेपकप्रयुक्तिमत्त्वादुपपत्तिप्रकरणे

तत्राह ब्रह्मणोऽपि हरिर्भूलमिति । एषोपपत्तिः कथागतता सामान्यतो भूलमित्यर्थः । सर्वस्य भगवन्त्वे भगवानेव वक्ष्यति 'अहमेवासमेवाग्रे' इति । ननु तस्यापि भूला-  
न्तरमन्त्रेषणीयमिति कथमुपपत्तिरूपतेत्याशङ्क्याह प्रदर्श्य कथनात्तस्येति । भगवान्  
स्वस्य रूपं प्रदर्श्य पश्चात्स्वरूपमाह । तेन सन्देहो नोत्पन्न इति न भूलान्तरापेक्षा ।  
एतस्य प्रकरणस्योपपत्तित्वसाधने हेतुन्तरमाह उक्तेर्येऽनुपपत्तिश्चेति । योर्थे उत्पत्त्या  
निरूपितः स पुनः पूर्वपक्षीक्रियते । तस्तिद्वयर्थमभ्यन्त्यान्यपि पृच्छन्त्ये । आश्ले-  
पस्य च वक्ता समाधानं करोति । अन्येषां चोचरं न प्रपच्छति । अन्यथा कथापत्र  
एव स्यात् । तेषामपि परम्परोपबोधोऽस्तीति स्पष्टे भागवते तस्योचराभेत्याह अन्य-  
स्पृह इति । अनेनोपपत्त्यैव यत्सिद्धं तन्निरूपितमित्याह तस्मात्स्पृहश्रुतिरिति ।

निवेशः । नवमस्य सिद्धान्तयुक्तिमत्त्वात् । तृतीयस्य फलाख्ययुक्तिमत्त्वात् देव्यर्थः । फलस्य  
युक्तित्वं तात्पर्यनिर्णायकत्वाद् बोध्यम् । नन्वस्येत्यादि । पूर्वप्रकरणाध्यायेऽप्युपपत्तेः स्फुट-  
त्वाद्युक्तमुत्पत्तिप्रकरणत्वम् । अत्र नवमे शुक्लदर्शनाकथयित्यर्थः । एतेत्यादि । ब्रह्मणः  
सर्वरूपत्वस्य पूर्वप्रकरणे नारदेनोक्तोर्णनाभिदृष्टान्तेनोक्तत्वात्तस्यापि भगवानेव मूलं जेतै-  
वोर्णनाभिदृष्टान्तसिद्धा उपपत्तिर्मुक्ततो कथनादस्फुटापि कथासन्दर्भवशादवगता । पटस्य  
कार्पासमिव सामान्यतो हरिरेव मूलं उपादानं कारणमित्यर्थः । ननु मूलत्वमाधारत्वं,  
तथापि सम्भाव्यते यथा पादमूलमिति, तथा निमित्ततयाऽपि यथा 'कृष्णा मूलमनर्थागा-  
मि'ति । तथा अवश्यापिदयतापि यथा 'धनमर्जय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगदि'ति । अतो  
न तावन्मोत्रेण निर्णयः । तथा सत्यूर्णनाभिदृष्टान्तवाक्येऽप्युक्तम् इतिविशेषणत्वात्तत्र  
एव दृष्टान्तस्य नियन्तुं शक्यत्वाच्चेत्यत आहः सर्वस्येत्यादि । वक्ष्यतीति, उपपत्तिं व-  
क्ष्यति । तथा चैतदनुरोधेनोर्णनाभिदृष्टान्तोऽपि पूर्णो, न तु तावन्मात्र इति पूर्वोक्तयुक्तिरु-  
पादानत्वे उपपत्तिर्न्यस्यहेत्यर्थः । अन्येषणीयमिति । ब्रह्मणोऽपि 'परमतः सेतुमान-  
सन्ध्वमेद्वयपदेशस्य' इतिवदन्वेषणीयम् । नोत्पन्न इति । तथा वेदातीन्तनानामुत्पत्तयामनो  
भ्रान्तिमूलक एव, न शास्त्रविप्रतिपत्तिमूलक इत्यतो नान्यद्विमित्यर्थः । अन्यथेति, सर्व-  
मुचरोक्तौ । तथा च तस्मादपि हेतोः प्रकरणस्योपपत्तित्वमित्यर्थः । नन्वन्वेषणमुचरादाने  
बहुतरानां वा श्रोत्रुस्याग्निनिवेशादवैराग्यं वा स्फुटीभवतीति नान्योपपत्तित्वसिद्धिरि-  
त्याशङ्क्यामाहः तेषामपीत्यादि । को वा उपयोग इत्यपेक्षायामाहः अनेनेत्यादि । नि-  
रूपितमिति, स्पृहे निरूपितम् । तथा चोपपत्तित्वसाधन एव तस्याप्युपयोग इत्यर्थः ।  
तस्याप्युपयोगस्यान्वयफलमाहः दृशेत्यादि । 'इदं तत्स्वरूपमतः फल'मिति चतुर्थपादस्य

१ 'मायाय कर्मो विकल्प' इत्यादिना कल्यादिदृष्टाणि । 'व्यपदेशादि'ति पाठः ।

दशलक्षणं भागवतं श्रोतव्यमिति सिद्धम् । अतः फलाध्याये भागवतस्वरूपमेव  
निरूपितम् । तेन सर्वदा त्रियमाणैर्वा भागवतं श्रोतव्यमिति भागवतं फलत्वेन  
सिद्धम् । अतस्तस्य फलाध्याये रूपतश्चात्तथ स्वरूपनिरूपणम् । तदेव कथयि-  
त्याकाङ्क्षायामाह लक्षणोक्त्येति । दशलीलानां लक्षणकथनेन भागवतस्वरूपस्युक्तम् ।  
आध्यात्मिकादिभेदेनार्थस्यापि त्रैविध्यं स्फुटम् । नन्वर्थतः स्वरूपतो निरूपणे किं  
पुनः स्पृहं भागवतं श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह आनन्त्यादिति । त्रयाणां विशेषस्या-  
नन्त्यात्त्र निरूपणम् । स्पृहे च विशेषेण निरूपणम् । अतो लक्षणत्वेनैवात्र निरू-  
पणं, विशेषतो ज्ञानं स्पृहलभागवत एव ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥  
दशमाध्याये सिद्धमर्थमनुवदति सार्थकं च सुरूपं चेति—

निबन्धः—सार्थकं च सुरूपं च तस्मान्श्रोतव्यता स्थिता ।

तस्यांशश्रवणे चापि निःसन्देहफलं च तत् ॥ ३८ ॥

तादृशार्थस्य सम्प्रश्नः कथाक्षेपार्थमुच्यते ।

विग्रसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये ॥ ३९ ॥

शौनकस्य हि सम्प्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी ।

अतः सर्वात्मभिदमिति वक्तुं तथा वचः ॥ ४० ॥

प्रकाशः—चकारात्फलरूपोऽन्यथो भगवत्प्रसादलक्षणः सङ्गृह्यते । द्वितीयषष्ठा-  
रेण शब्दतोऽप्युच्यते । एवं मुक्ततो माहात्म्यमुक्त्वा कैश्रुतिक्रान्तायेनापि माहात्म्यं  
वक्तुं स्पृहश्रोतारं विदुरमाक्षिपतीत्याह तस्यांशश्रवणे चापीति । लीलाद्वयश्रवणे-  
नापि सम्पूर्णफलं सिध्यति, अतः शौनकेन विदुरकथा पृष्टा । 'थावतः कृववाद्  
प्रश्नाद्' इति पूर्व श्रुतत्वात् । 'यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये' इतिस्पृहकथनप्रतिज्ञायां 'मा-

न्याख्यायाम् । अतः परं तत्र गमकं वदन्तो 'रूपतः फलत' इति कारिका व्याकुर्वन्ति  
अतः फलेत्यादि । फलत्वेन सिद्धमिति, उपपत्तिविमर्शफलत्वेन सिद्धम् । तत एव दश-  
मस्य फलाध्यायत्वं प्रकरणे प्रवेशश्चेत्यर्थः । तदेव कथमिति । ननु दशस्कन्धात्मकस्य  
स्पृहश्रीभागवतत्वैकैनाध्यायेन रूपतोऽर्थतश्च निरूपणं केन प्रकारेण ? । दृशेत्यादि । तथा  
चैवं समासेन निरूपणमित्यर्थः । किं पुनरिति । प्रयोजनाभावात्कुल इत्यर्थः । स्पृह-  
भागवत एवेति । तथा च आध्यात्मिकादीनां विशेषज्ञानस्य प्रयोजनस्य सत्त्वात्स्फुट-  
व्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

गवतं बहुधा प्रवृत्तमिति । यत्र शीघ्रं फलं तदेव कथयेति । कथाविशेषाक्षेपार्थं प्रश्न इत्यर्थः । शुक्रोपि तदेव वक्तुं प्रवृत्त इति श्लतः शीघ्रमाह । अन्यथा विलम्बे शौनकः किञ्चिदन्यत्पृच्छेत्तदा स्वामिप्रेतं न सिद्धयेदिति । ननु शौनकः केनाभिप्रायेण तथा प्रश्नं कृतवान् ? तत्राह स्वकृतार्थत्वसिद्धये शौनकरूपं हि सम्प्रश्न इति । सर्वलीलाश्रवणं सम्भविष्यति न वेति । अयमेवामिप्रायः शुक्रस्यापि । मध्ये राज्ञ उद्वेगे स्वस्य वा निमित्तान्तरापत्तौ वा कार्यं न सेत्स्यतीति सर्वोत्तमांशाक्षेपार्थमेव कथनम् । अतः सर्वोत्तममिदं वक्ष्यमाणं भागवतमिति फलितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मदीक्षितविरचितसप्रकाशात्स्वार्थदीपनिबन्धे श्रीमद्-  
ज्ञागवतार्थप्रकरणे द्वितीयस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ।

आक्षिपतीति, निदर्शनत्वेनोपस्थापयतीत्यर्थः । आक्षेपार्थमिति, उपन्यासार्थम् । इदम्पदस्यैव व्याख्यानं वक्ष्यमाणमित्यादि ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीतत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे श्रीपुरुषोत्तमविरचिते द्वितीयस्कन्ध-  
विवरणं सम्पूर्णम् ॥



१ शीघ्रमिति । स्कन्धान्तरेऽनुपगमस्य द्वितीयस्कन्ध एवोपन्यासात् शीघ्रपदं प्रयुक्तम् । इति द्विती-  
यस्कन्धश्लेषः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ तृतीयस्कन्धाः ।

प्रकाशः—तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुरुक्तविवक्षितयोः सङ्गतिमाह अधिकारि-  
रिष्विति ।

निबन्धः—अधिकारिपु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।

स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥ १ ॥

प्रकाशः—अधिकारः प्रथमस्कन्धाः । साङ्गश्रवणविधिद्वितीयाः । तृतीयादि-  
दशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं दशानां साधारणमर्थमुक्त्वा तृतीयस्कन्धार्थमाह त्रयस्त्रिंशद्दशाध्याया-  
स्तृतीयो सर्गवर्णने इति,

निबन्धः—त्रयस्त्रिंशद्दशाध्यायास्तृतीयो सर्गवर्णने ।

स्वामिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ॥ २ ॥

एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्याप्यस्यै 'त्रयस्त्रिंशद्दशाध्याया' इत्युक्तम् । सर्वेषां सर्ग  
एवार्थः "सर्गः कारणसम्भूतिः" इति वाक्यात् । सर्गश्च लौकिकालौकिकभेदेन द्विविध

अथ तृतीयस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः ।

श्रीकृष्णाय नमः । अथ तृतीयस्कन्धनिबन्धं व्याकुर्वन्तः प्रथमस्कन्धस्य हेतुतारूपां  
द्वितीयस्य विषयित्वरूपां देशाणां विषयत्वरूपाञ्च सङ्गति स्फुञ्जकसुं प्रथमां कारिकां विश्ववन्द्य-  
धिकार इत्यादि ॥ १ ॥

एवमेकेन सङ्गतिरुक्ता । अतः परं साधेयमेव स्कन्धार्थमाहुरेवं दशानामित्यादि ।  
ननु स्कन्धार्थे वक्तव्ये प्रथमत एवाध्यायसङ्ख्याकरणे किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुरेकदेश  
इत्यादि । "सर्गः कारणे"तिवाक्यं पुराणान्तरीयम् । तथा च, प्रत्यध्यायं तस्य तस्य कार-  
णस्य सम्भूतेरुक्तवाच्येत्यर्थः । नन्वेवं सत्यष्टाविंशतिसङ्ख्या युक्ता, न तु त्रयस्त्रिंशदित्यत  
आहुः सर्गश्चेत्यादि । तथा चैतानि कारणानि लौकिकरूपेणोत्पन्नानि लौकिकं देवत्वेनो-  
त्पन्नानि च यज्ञं साधयन्तीत्येवं द्विविधसर्गसाधनात् सङ्ख्या युक्तैवेत्यर्थः । अत्र त्रयस्त्रिंशद्देवाः,  
"अग्निः, प्रथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्योः, सौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणीति षडौ बसवः,  
वश प्राणः, आत्मा, चेति एकादश रुद्राः, संवत्सरस्य द्वादश मासाः, आदित्याः, स्तनयित्पुः,  
पशवश्चेति, इन्द्रप्रजापती" इत्येवं बृहदारण्यकोक्ता ज्ञेयाः । 'स्तनयित्पु'पदेन मेघनादा-  
भिप्रायी । 'आराम'पदेन च मनो ज्ञेयम् । तत्र यज्ञप्रकरण एवोक्तत्वादेतेषां यज्ञसाधकत्वञ्च

१ "तथा" इति पाठः ।

इति । अलौकिके त्रयस्त्रिंशद्देवा सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्तीत्यविवादम् । लौकिकेऽप्यष्टाविंशतितन्वानी चतुर्विधभूतबीजानि कालत्रेति त्रयस्त्रिंशत्प्रकारा सृष्टिर्भवति । अत एव सर्गस्य विशेषणमाह स्वाभिप्रेत इति । न तु सर्गोऽयः कथितमुष्टिताधारणः । तत्र स्वाभिप्रेतः पूर्वश्रुक्तो लौकिकालौकिकभिन्नः । तत्रापि भगवद्भूता सर्वत्रेति विशेषः । तत्रापि स्वोपयुक्तार्थसहितो मोक्षादिफलयुक्तः । जीवस्य हि द्विधा सृष्टिः, बहिः स्वरूपे च । बहिः सृष्टिलोके प्रसिद्धा । सा हि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात्प्रलयो भवति । अतो मोक्ष एव मुख्यसृष्टिः । अधिकादिदेहव्यतिरेकेण स न भवतीति मोक्षार्थमुत्पत्तिरपि निरूप्यते । तत्र गृहस्थस्यैव श्रुक्तिः सान्द्रिगधेति दम्पत्योर्मुक्तिकिरूपणम् । तत्र गृहस्थस्य

भोष्यम् । यज्ञस्य च “ नायं लोकोस्त्ययज्ञस्येति वाक्यात् फलोपयोगित्वम् । फलञ्चाभ्युदयानिःश्रेयसभेदेन द्विविधम् । तत्र वसूनां कर्मफलसाधकवस्त्वाश्रयत्वेन यज्ञोपयोगः । रुद्राणां लोकान्तरगमनसाधकत्वेन, आदित्यानामगृह्णारकतया फलनियामकत्वेन, इन्द्रस्य दानदमदयाबोधकत्वेन, पर्शूनां यज्ञनिष्पादकत्वेन । तदत्र पञ्चप्रकरणैः सेत्स्यतीति तत्प्रकारं समस्तौ वक्ष्यामः । यत्पुनार्द्रितीयस्कन्धमुबोधिन्यामष्टाविंशतितन्वानीत्युक्त्वा ‘ सर्गो द्विविधः, ‘प्रत्येकसमुदायभेदेन । वैषम्यं त्रिविधं चतुर्विधं वा । प्रत्येकं विषमाः, समुदायेनापि विषमा भवन्तीति त्रयस्त्रिंशद्विधश्रुतिस्त्रिंशद्विधो वेत्युक्तम् । तत्र समुदायसर्गो यः सोऽलौकिकसर्गसङ्ग्रहकः, श्रोतानां देवानां समुदायिकदेहाभिमानित्वात् । तदा स सङ्ग्रहप्रयोजक एव, न तु घटको, यथात्र द्वौ, घटकस्तु प्रत्येकसर्ग एव । तदा वैषम्यचातुर्विधेन सङ्ख्यापूर्तिः । यदा सोपि घटकस्तदा वैषम्यत्रैविध्यमिति न सङ्ख्याधिक्यम् । “चतुस्त्रिंशद्दे”त्युक्तिस्तु सर्ववैषम्याभ्यां कृतायां पूर्णानादरसूचनाय । तेनात्रोक्त एव पूर्णप्रकारो मुख्य इति सिद्धम् । तदेतदभिसन्ध्यायादुरत एवेत्यादि, अत एवेति । अत्रोक्तस्य प्रकारस्य तात्पर्यविषयत्वादेव यः कश्चिदिति । अव्याकृतं वा महान्तं वाऽऽऽऽम्योक्तः । स्वाभिप्रेत इति, द्वितीयस्कन्धे लक्षितो व्यासाभिप्रेतः । न “त्वव्याकृतमुणक्षोभान्महत्क्षिप्रतोऽहम् । भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते इति द्वादशस्कन्धे लक्षितः, तस्य पुराणान्तरसाधारणत्वात् । “एवं लक्षणव्याप्ति पुराणानि पुराविद” इत्युपसंहारात् । एतस्मात्प्रतिपत्तये नीचं व्याकुर्वन्ति तत्रापीत्यादि, भगवद्भूततेति । “यथा महान्ती”त्यत्रोत्पत्तिके तद्भूतता । एतादृशस्यैवाभिप्रेतत्वे किं बीजमित्यत आहुस्तत्रापि स्वोपयुक्तत्वादि । स्वपदेन श्रोतान्तराज्ये । ननु कथमस्यैव फलसाधकत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति जीवस्येत्यादि । नाशरूपत्वादि । भाल्गर्वविचारेण “तस्याहं न प्रणयामि स च मे न प्रणयति” इति प्रयोगेण चादर्शनरूपत्वात् । एतस्य

१ ‘उपोपयोगः’ इति अप्याहार्यम्, २ १६० २-१०-४, ३ १६० १२-७-११, ४ १६० १२-७-२४

श्रुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः । तस्यापि भक्तिः, ज्ञानं योगश्चाऽऽज्ञाकरणं च । तस्मादेतत्सर्वं सर्गमध्य इति स्वोपयुक्तार्थित्युक्तम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्याह—लोके सर्गविसर्गोक्तिः ।

निबन्धः—लोके सर्गविसर्गो हि यादृशो नेह तौ मता ॥

किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ॥ ३ ॥

प्रकाशः—सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ । तेनैकैका लीला स्वतन्त्रेति प्रत्येकमेकैकस्कन्धवाच्यता, तेन स्कन्धद्वयवित्तरः ॥ ३ ॥

तत्रापि मैत्रेयविदुरसंवादप्रकारेण लीलाकथनमुचितमित्याह—लीलाद्वयस्येति ।

निबन्धः—लीलाद्वयस्य श्रवणासिद्धः क्षत्ताधिकारतः ।

किं पुनः सकलश्रोतेत्यतस्तस्य कया तता ॥ ४ ॥

प्रकाशः—सर्गलक्षणमाह तत्रेति ।

निबन्धः—तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।

देवस्य तु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः ।

पञ्चधा सा स्वतो द्वेषा बन्धमोक्षविभागतः ॥ ५ ॥

प्रकाशः—“भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः । ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्”

मोक्षार्थत्वे गमकमाहुस्तत्रेत्यादि, तस्यापीति । सन्तोषस्यापि प्रयोजकमिति शेषः । तथा च जीवमोक्षोपयोगिसृष्टिनिरूपकत्वात्साभिप्रेतः इत्यर्थः । एतेनाध्यायार्थानां परस्परं हेतुता प्रयोजकत्वाऽऽन्तादिकं यथासम्भवं सङ्गतिरित्यपि बोधितम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्येति । ननु श्रीभागवतस्य सर्वेदेहिताससारत्वात् पुराणान्तरे यथा सर्गप्रतिसर्गविक्रैवोच्येते, तथैवात्रापि वक्तव्यौ, देहापादकत्वसामान्यात् । तयोर्भिन्नतया कथने तु तत्प्रसिद्धिविरोध इति तमाशङ्क्येत्यर्थः । समाधानमत्रस्तु प्रकटार्थ इति न व्याख्यायते ॥ ३ ॥

ननु तत्रापि संवादान्तरोपक्षेपस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुस्तत्रापीत्यादि । उचितमिति फलाभ्योपादत्तत्वाद्बुधितम् ॥ ४ ॥

तत्रेत्यादि । एतेन “भूतमात्रे”ति ‘रजोभाज’ इतिवाक्ययोर्विरोधः परिहृतः । भूतमात्रेत्यादि । एतेन लक्षणद्वयस्यापि विसर्गित्वस्यासत्वं ‘सर्गः कारणसम्भूतिरिति तृतीयवाक्यस्य कारणपदमादाय परिहृतं भोष्यम् । तेन लक्षणत्रयमपि सङ्गतमिति साधितम् । ननु रजसैव

१ “अपिञ्जले” इति पाठः । २ तथा ।

इति मूले लक्षणम् । तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात् । ब्रह्मण इति सन्देहाभावात् । भगवत इति भूतमात्रेन्द्रियाधियो देहस्त्र्याः, कार्या अपि भवन्तीति कारणजन्यमदा लीलैत्युक्तम् । एवं व्याख्यानस्वार्थान्तरमभिप्रेतम् । रजोभाजोपि लीलासृष्टिर्भूत्यब्रह्मणोपि लीला । कालत्वेन कालस्यापि मृष्टिलीला । जीवोपि-कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितिः सृष्टिप्रयोजनत्वेन सर्गमध्यपतिनि भवति । अगुणवैषम्याद्ब्रह्मणोपि जन्मेति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म घटति खण्डयतीति व्याख्यानम् । अतः प्रकरणानि विभजते, द्वेष्य तु त्रिरूपत्वादिति गुणातीतसगुणभेदेन कारणानां तच्चजीवानां त्रयो भेदास्तेन पञ्चधा पञ्च प्रकरणानि भवन्ति । एकप्रधान्येऽन्यस्य विभूतित्वमिति स्थितिः । यथा तत्त्वसृष्टिर्गुणातीतविभूतिः, यथा सगुणसृष्टिर्विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनामुत्पत्तिः, यथा वा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिर्मतान्तरभाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्षविभेदेन द्विरूपा,

सर्गविसर्गयोः सम्भवे द्वयोरपि लौकिकत्वमेव सेत्स्यति न त्वलौकिकत्वमपीति, कथं तयोः फलपर्यवसायित्वमिति शङ्कायां सर्गलक्षणवाक्यत्रयविचारिते यत् सिद्धयति तदाहुरेवमित्यादि, अभिप्रेतमिति, शास्त्रकाराभिप्रेतम् । मुख्यब्रह्मण इति, “रजोभाजो भगवत” इति वाक्यस्थ-भगवत्सदस्यार्थः । तत्रत्यं लीलापदं व्याख्यातरीतिकलीलाचतुष्टयसङ्गाहकम् । मुख्यब्रह्मलीला-व्याख्यानाय अगुणवैषम्यादिति । एतेन श्रौतीं क्रमसृष्टिरपि सङ्गृहीता । तत्रापि धर्तीतिपदं “कारणसम्भूतिरिति वाक्यस्य सम्यक्त्वव्याख्यानरूपम् । एवं व्याख्यानं बीजन्तु तत्पदव्यायादिषु तत्तत्तत्परिणामपरिरेव । द्वितीयस्कन्धोक्तं लक्षणञ्च द्विविधसृष्ट्यङ्गीकारे बीजम् । अत्र च रजोभजने करणतया गुणवैषम्यस्य व्यापारतया भूतादिजन्मनः फलतया स्कन्धार्थत्वं बोध्यम् ।

एवं सार्धत्रयेण स्कन्धार्थं उक्तः । स एव प्रकरणविभागे बीजमित्याद्येनाहुरत् इत्यादि, विभजते इति । त्रयोदशभिर्विभजते । नन्वेकस्य प्रकरणेऽन्यस्यापि निरूपणदर्शनाद्वं प्रकरणविभागो न युक्त इति शङ्कायामाहुरेकेत्यादि । विभूतित्वमिति शेषत्वम् । एतदेवोदा-हृत्य स्फुटीकुर्वन्ति यथेत्यादिना । तत्त्वसृष्टिरिति, पञ्चमाध्यायोक्ता । सगुणसृष्टिरिति सगु-णविभूतिः । दशविधलीलेति, दशमाध्यायोक्ते दशविधः सर्गः कालविभूतिः । गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्तेति विशाध्यायोक्ता महदादिसृष्टिः । जीवसृष्टिर्मतान्तरभाषयति, चतुर्द-शादिसृष्ट्यायोक्ता शुक्लजीवसृष्टिर्भूतजीवविभूतिरित्यर्थः । एवमिति । कर्तृद्विविधेन कारण-त्रैविध्येन च द्विरूपेति, स्वरूपतो द्विरूपा । ननु बन्धस्य देहस्वीकारात्मकस्यात्र प्रसिद्धत्वात्त्र-बन्धलीला युज्यते, मोक्षस्तु तस्याग्ररूपो नात्र दृश्यते । का वा मोक्षलीलेत्याकाङ्क्षायां तां स्फुटी-

सगुणस्य मोक्षलीलायोगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यमिति । तस्मादर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति । तदाह बन्धमोक्ष-विभागत इति ॥ ५ ॥

तान् भेदान् स्पष्टयति गुणातीतादिति ।

निबन्धः—गुणातीतात्सृष्टिरैका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा ॥६॥

कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः ।

प्रकाशः—तत्त्वानां वक्तव्यत्वेपि नामसृष्टेः परिग्रहार्थं नामैत्युक्तम् । तेषां पूर्व-वत्स्वातन्त्र्यं वारयति तत्रापीशेच्छया भव इति न केवलं कालादेः ॥ ६३ ॥

ननु सर्गे भूम्युद्धारस्य कुत्रोपयोगस्तदाह सर्वाचारस्वरूपा या इति ॥

निबन्धः—सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः ॥ ७ ॥

मुक्तोऽपि ज्ञायते जीव इति शापकथा तता ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—भूम्युद्धारः सर्वसृष्ट्युपयोगी सर्वेषामाधारभूतः साधारणः । तेन बन्ध-लीलान्ते निरूपितः । जीवप्रकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह मुक्तोपि ज्ञायत इति । मुक्ति-गौपीति केचित् । वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ता एव पूर्वं सिद्धज्ञाना एवोत्पन्ना, अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात् । तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानामीश्वरेच्छया सम्भवः । अतः शापकथा । एकः कर्ता अपरो विषय इति ॥ ७३ ॥

कुर्वन्ति सगुणस्येत्यादि । सगुणो हि तेन तेन भावेन तत्तत् सृजन् भयादिकं प्राप्नोति । तद्भावत्यागे च स्वरूपेऽवतिष्ठत इति विचित्रचिन्तितोऽर्थस्यैव तत्र कारणत्वमिति स तस्य मोक्षलीला । ‘एवं भवे सन्तमि’त्यादिना अज्ञानादेव सृष्टेरुक्तत्वादज्ञानस्य च ज्ञानादेव निवृत्तेर्गुणातीतस्य ज्ञानमेव सा । एवं दशविधो वक्ष्यमाणः कालात्मको भजनेव मुच्यत इति भक्तिस्तस्य सा । तत्त्वानां प्रतिसङ्ग एव स्वरूपलाभ इति स तेषां सा । जीवस्य तु वैराग्यं स्फुटमेव, तथा च मोक्षजनका, अत्र मोक्षपदेनोच्यन्त इति ते तथेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

तेषामित्यादि । कालजीवनानमतत्त्वानां सगुणनिर्गुणब्रह्मदुलौकात् स्वातन्त्र्यं वारयती-त्यर्थः । मूले तत्रापीति, शब्दब्रह्मात्मके नामीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

तेनेति, निवाहकत्वेन । आहृति, उपोद्घातेन सार्धफलमाह । मुक्तिरिति, जयविजय-मुक्तिः । ततापदस्यार्थमाहुरेकः कर्तव्येति । न च मोक्षोत्तरे बन्धस्य “न स पुनरावर्तत” इति श्रुतिविरुद्धत्वात्तेषां शापतः पातस्तेषां लिङ्गेन गौणैव मुक्तिरज्ञीकार्येति वाच्यम्, “देहेन्द्रिया-सुधीनां वैकुण्ठपुरवासिनामिति” इति सप्तमस्कन्धीयवाक्यविरोधात् । अत्र स्वरूपावस्थानस्यैव

निबन्धः—उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥ ८ ॥  
मतान्तरेण हि फलं राजसत्वाभिरूप्यते ।

प्रकाशः—एवं जीवोत्पत्तावुपपत्तिरेवोक्ता, न त्वयं प्रकारो मागवताभिमतस्तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं साङ्ख्यप्रकरणम् । मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुमाह राजसत्त्वादिति ॥ ८१ ॥

तथा सति फले वैषम्यमाशङ्क्याह फले हि नास्तीति ।

निबन्धः—फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्भवाभिधा ॥ ९ ॥  
उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।

क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ॥ १० ॥

प्रकाशः—यत ईश एवोद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति । अतोऽस्यां लीलायावन्-  
तारद्वयम्, क्रियावतारो बराहो, ज्ञानावतारः कपिल इति । ननु मृष्टौ किमर्थमव-  
तारस्तत्राह कर्माधीनाऽन्यथाभवेदिति ॥ १० ॥

नन्वपूर्वं निरूप्यते यन्मुक्तानां पुनरुपपत्तिरिति तत्राह मुक्तेपीति ॥

निबन्धः—मुक्तेपि यदि नोत्पत्तिरुत्पन्ने मुक्तिरेव वा ।  
तदा कृष्णेच्छया मृष्टिरित्यर्थो हि विरुध्यते ॥ ११ ॥

प्रकाशः—तदा ईश्वरत्वं व्याहृतं भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

स्रुष्टत्वात् । न च कोपासम्भवः शङ्क्यः, तस्येधेरच्छेयव भवनात् । न चेच्छायां मानाभावः,  
“न विदुस्तस्मिन्कीर्षितमि”ति तत्रैव वाक्यात् ॥ ७१ ॥

तेदेतदभिसन्धायाहुरेषामित्यादि । शापकथावित्तारेण मुक्तजीवोत्पत्तावुपपत्तिरेवोक्ताऽतो  
न मुक्तिर्गोपीत्यर्थः । नन्वत्रैवकारेण कस्य व्यावृत्तिरित्यपेक्षायामाहुर्न त्वित्यादि । प्रकार इति  
उत्पत्तिप्रकारः । किमत्र गमकमित्यपेक्षायामाहुस्तेषामित्यादि । तेषामिति मुक्तिगोप्यानाम् ।  
तथा चानभिमतले साङ्ख्यप्रक्रियाकथनमेव गमकमित्यर्थः । नन्वयमप्यभिमतः, अन्यथा पुनः  
कतिपयैः स्थानं प्रपत्त्येतेह जन्मभिरिति फलं नोक्तं स्यादित्याशङ्कयामाहुर्मतान्तरेत्यादि ।  
अस्याः कथामां मतान्तरवन्दु “अथात्रापीतिहासोयं श्रुतो म” इति पराक्तिकथनादवसीयते ।  
राजसत्त्वादिति, संरम्भिलेन राजसत्त्वात् ॥ ८१ ॥

अत इति । मुक्तोत्पत्तिमुक्तफलयोग्यवद्भिनन्तशपनस्यावश्यकत्वात् । कर्माधीनान्यथा  
भवेदिति, सृष्टावतारामावे मुक्तोत्पत्तिः कर्माधीना भवेत् । अवतारे तु यथा स इच्छया,  
तथा सापीति बोधनायावतार इत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मृष्टिः सफलेति स्पष्टयति स्त्रीपुंसेति ।

निबन्धः—स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं मृष्टिकृद्भरिः ।

ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति ॥ १२ ॥

तस्मात्सृष्टयवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात् ।

प्रकाशः—किमत्र स्कन्धायां फलितमित्याशङ्क्याह ऐहिकामुष्मिकफल-  
मिति ॥ १११ ॥

ननु साङ्ख्यप्रकरणे तदनुसारिणी मृष्टिः कथं नोक्ता, तत्राह साङ्ख्येनेति ।

निबन्धः—साङ्ख्येन मुक्तिकथनात्सृष्टिः सामान्यतोदिता ॥ १३ ॥

तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात्रिधा ।

गुणसृष्टेरन्तन्मतत्वाद्गोणत्वाच्च विरुध्यते ॥ १४ ॥

प्रकाशः—सामान्यतो मता या काचित्कल्प्येत्युक्ता, उदितेति सन्निधार्थ-  
ख्यापकः । अत एव गौणी तदविरोधार्थं निरूपिता ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्य मुक्तौ साधनं नोक्तमिति चेत्तत्राह ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वादिति ।

निबन्धः—ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता ।

उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात् ॥ १५ ॥

प्रकाशः—उपदेशेन स्त्रीमुक्तिः ॥ १५ ॥

निबन्धः—चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।

अधिकारस्तथा मृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा ॥ १६ ॥

प्रकाशः—तेन क्रमात्प्रकरणचतुष्टयं भवति । दश प्रकरणानि पूर्वं निरू-

स्त्रीपुंसैरित्यत्र मूले तदर्थमिति, गृहस्थमुक्त्यर्थम् ॥ १२१ ॥

तदनुसारिणीति, मरुतिपुरुषसंसर्गत्वभावजन्या । मूले, साङ्ख्येन मुक्तिकथनादिति,  
मुक्त्यर्थमत्र साङ्ख्यप्रक्रियोक्ता । मुक्तिस्तु परमा, तत्प्रकारकृष्टिज्ञानात् भवतीत्यतो नोक्ते-  
त्यर्थः । तर्हि सत्त्वादिगुणजस्या किमिच्छुक्त्येत आहुरत एवेत्यादि । अत एवेति साङ्ख्येन  
मुक्तिकथनादेव । तथा चोभयसामञ्जस्यार्थमेवं निरूपितेत्यर्थः ॥ १४ ॥

पूर्वं निरूपितानीति, शुकोक्तरीत्या निरूपितानि । अस्मिन् पक्षेऽध्यायविभाग एवं  
प्रतिभाति । अधिकारेण सह षड्गुणातीतलीला । ततस्त्रिभिः समुणलीला । ततो द्वान्यां  
काष्ठस्य, तन्मध्य एव पथमे काष्ठार्धानयोस्तत्त्वामुक्तजीवयोः सृष्टिः, ततो द्वादशे मुक्तजीवसृष्टिः,

पितानि । स्यूहानि गणयति अधिकार इति ॥ १६ ॥

निबन्धः—पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।

चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः ॥ १७ ॥

अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ॥ १७१ ॥

प्रकाशः—पञ्चधा सृष्टिः पूर्वमेवोक्ता । चतुर्णामेव दशधात्वमिति । तत्र सृष्टिः पञ्चविधा, उपपत्तिद्विधा । त्रिधा मुक्तिः । एवं त्रयाणां दश भेदाः । अधिकारस्तु ततो भिन्नः, तस्य स्कन्धद्वयोपयोगाद्, स्कन्धद्वयमेकं प्रकरणत्वात् । तेन षष्ठ्यध्यायाः सर्गविसर्गयोः । अधिकारे चतुष्टयमिति । भगवतः कला निरूपिता भवन्ति ॥ १७१ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारेऽध्यायचतुष्टयमिति तत्र प्रथमाध्याये यादृशोऽधिकारः सपञ्चस्तं प्रतिपादयितुमाह प्रतिबन्ध इति ।

ततः सप्तमित्तदुपोद्घात इत्यष्टाध्याय्या मुक्तजीवसृष्टिरवमेकोनविंशत्या पञ्चधा बन्धलीला । तत एकेन मोक्षोपोद्घातश्चतुर्भिः पुम्मुक्तिः, सा च तत्स्यकानां तत्त्वानां स्वस्वरूपापादकत्वयोर्था मुक्तिरूपा । तत एकेन मुख्यभक्तिः, सा कालस्य मुक्तिरीला । ततो द्वाभ्यां ज्ञानं, सा गुणाती- तस्य । तत एकेन योगः, स सयुगस्य । अग्निमे याऽस्ति भक्तिः सा योगस्यैव शेषः । ततो द्वाभ्यां वैराग्यं, तज्जीवस्य मोक्षलीला । ततो द्वाभ्यां स्त्रीमुक्तिः, पूर्ववदेवेति चतुर्विंशतिर्भोक्ष- लीलेति । गणयतीति, मैत्रेयाभिप्रेतपक्षेण गणयति ॥ १६ ॥

अत्राध्यायविभागमन्यथा वक्तुं पूर्वस्यास्माद्वैलक्षण्यं स्मरयन्ति पञ्चधेत्यादि । पूर्वमिति, बन्धलीलाविभागे, चतुर्णामिति, स्यूक्तप्रकरणानाम् । इति हेतौ । अत्रत्यविभागं स्पष्टयन्ति तत्रेत्यादि । आधांश्चतुरो विहाय पूर्ववदेव पञ्चधा सृष्टिर्द्वादशाध्यायावधिः । ततः सप्तभिन्नो- पपत्तिरेकेन मोक्षोपपत्तिरीत्यष्टाभिर्द्विषोपपत्तिस्ततो भक्तिसाङ्ख्ययोगोक्तिषा मुक्तिः, तत्र चतुर्भिः पुम्मुक्तिः साङ्ख्यचक्ररूपा । तत एकेन सफला मुख्यभक्तिः । ततो द्वाभ्यां साङ्ख्यम्, ततो द्वाभ्यां योगस्तच्छेषभूता भक्तिश्च । ततश्चतुर्भिर्वैराग्यसर्वनिन्दारी सर्वशोभा, योगफलभूता देवहितमुक्ति- श्वेति प्रकृषणत्रये दशभेदाः । नन्वस्मिन् पक्षेऽधिकारस्य प्रकरणित्वे किं बन्धयत आहुरधिकार- र्वित्यत्यादि । ननु स्कन्धद्वये कुत एकाधिकार इत्यत आहुः स्कन्धेत्यादि । कलेत्यादि, तेन मैत्रेयोक्तिविचारे स्कन्धद्वयात्मकं भगवत्कलाप्रकरणं भवतीति तद्वैक्यदेवकोषिकार इत्यर्थः । एवं त्रयोदशभिः प्रकरणार्थो निरूपितः ॥ १७१ ॥

↓ 'एवं' इतिप्रायः \* प्रथमः १ कारिकात्मकः प्रथमः स्तवकः सप्तसप्ततिपुठे, ३॥ कारिकात्मके द्वितीयः स्तवकोऽस्तीति पुठे समाप्तोभूत् । अत्र तु १३ कारिकात्मकस्तृतीयः समाप्तः ।

निबन्धः—प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थार्थानं मता ॥ १८ ॥

बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽभ्यन्तरी मता ।

कृष्णप्रसादयुक्तश्चेदधिकारी परः स्मृतः ॥ १९ ॥

प्रकाशः—प्रतिबन्धनिवृत्तिः शुद्धिस्तीर्थार्थानमिति । भगवदीयत्वेपि त्रयो गुणा अधिकारः । तेन पूर्वस्याद्विष्टोऽयं प्रथमः । तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेततोऽप्युत्तमो भवति । तत्राऽप्यान्तरिक्षेऽङ्गवद्गुणो भवति तदा तृतीयः । भगवत्कृपायां चतुर्थ इति । भगवदीयत्वेपि चतुष्टयं चेतपरमोऽधिकारी भवति । बाह्या शुद्धिर्द्विधा, दोषनिवृ- त्तिरूपा गुणाधायिका च । तत्र प्रथमाध्यायार्थः गृहासक्तिरेव प्रतिबन्धः । अतः तन्निवृत्तिरेवैक्येति शेषः ॥ १९ ॥

ननु क्षत्रियाद् भगवदीयाच्छूद्रः कथमधिकारी ततोऽप्युत्तमो वा कथं ? तत्राह शतं वर्षाणीति ।

निबन्धः—शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद्वाजन्त्यताऽस्य हि ।

तावत्क्षता ततो मन्त्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता ॥ २० ॥

अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तं तु जीवनम् ।

प्रकाशः—“शापाद्द्वर्षातं यमः” इति वाक्यात् । शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम् । अन्यथा ब्रह्मवीजस्य मुख्यशूद्रत्वं नोपपद्येत, राजत्वार्थं प्राथितत्वात् । क्षत्रियत्वमेव पश्चात् । अत एव मन्त्रादाह्वानम् । तस्याऽशूद्रत्वे हेत्वनन्तरमप्याह कृष्णसभोज्य- तेति । अतः क्षत्रियत्वाच्चतस्याऽधिकारः । ब्रह्मवीजत्वं चाऽधिकप्रयोजनम् । ननु स शत- वर्षाण्येव जीवतीत्यभिप्रायेण कथं न शाप इत्यभिप्रायेणाह यथायुक्तमिति । जीवनं तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते । स हि धृतराष्ट्रसमानः दुयोधनसमानो श्रीमः । ततोपि कनिष्ठोऽर्जुनः । तत्तमानः कृष्णः । तत्र च “पञ्चविंशतिः कश्चिदप्युक्तम्” इति वाक्यम् । अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति ॥ २० ॥ \*

एवं चतुर्णामेवमुक्त्वा प्रथमाध्यायार्थमाह अपमानाद्भिर्निर्विण्ण इति ।

निबन्धः—अपमानाद्भिर्निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ॥ २१ ॥

अतः परमध्यायार्थं वदन्त्येवमित्यादि । आहेति, सामान्यतोऽध्यायचतुष्टयार्थं त्रिभि- राह । पूर्वसमादिते परिश्रितः, प्रथम इति प्रथमाध्यायोक्तोषिकारी । एवमेति । भगवद्गुण इति, स च शोकनिवर्तकज्ञानरूप इति प्रतिभाति । तत्रैति प्रकरणे ॥ १९ ॥ २० ॥

अर्थमुत्तरेति, शुकाशयगोचरमर्थं सामान्यत उक्त्वा । प्रथमाध्यायार्थमिति संवादो- पयोगिनं तदर्थम् । आहेति चतुर्भिराह ॥ २२ ॥

क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रशन्नितयकृद्धरेः ।

सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा ॥ २२ ॥

प्रकाशः—स्वतो निर्विण्णः कदाचिदागच्छेदपि । अतो हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः, स चेन्निरिण्णोऽन्यत्र तिष्ठेत्पुनरासक्तिर्भवेत् । अतस्तीर्थेसेवैव कर्तव्या । तत्रापि तीर्थं देवताबुद्धिस्तदैव सेवा भवति । तत्रापि कामनाभावात् विशुद्ध इति । क्षत्तेति पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा । सत्सङ्ग उद्धवसङ्गः, तेनैव प्रीतः, नतु प्रशार्थम् । तत्र प्रशन्नं कृतवान्, भगवतः कुशलप्रश्नः सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवतः सामान्यप्रश्नश्चरितप्रश्नश्चेति । तदाह सामान्येनेति ॥ २२ ॥

उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात्प्रकारमाह अन्तिमं मध्यतः कृत्विति ।

निबन्धः—अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।

मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम् ॥ २३ ॥

प्रकाशः—अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरमुक्त्वा सामान्योत्तरमनुक्त्वा मध्ये चरित्रमुक्तम् । “कृष्णयुगलिनिल्लोचे” इति विशेषोत्तरं “राजैस्त्वयाऽनुपृष्टानाम्” इति सामान्योत्तरम् । मध्ये भगवत्चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितमित्यर्थः । तत्र हेतुः, सम्बन्धकारणादिति, भगवत्चरित्रकथनव्यतिरेकेणोत्तरासम्भवात्सम्बन्धे कारणम् । ननु भगवत्चरित्रं नेदं समीचीनं, भक्तानां बन्धूनां मारणादतः कथमाधिकारसिद्धयर्थं तच्चरित्रमुक्तमित्याशङ्क्याह मारणे प्राप्तदोषस्येति । यद्यपीश्वरत्वात् दोषस्तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि ते सर्वे भक्तास्तेन प्रकारेणोक्तुता इति दोषनिवृत्तिः ॥ २३ ॥ ननु तथापि विदुरः परीक्षिदेष्वया कथमुत्तमो भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह सेवनादिति ॥

निबन्धः—सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि ।

माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम् ॥ २४ ॥

अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी ॥ २४ ॥

प्रकाशः—पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता । तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां इति सामान्योत्तरमिति एक जातीयकम् “अथ ते तदनुज्ञाता” इत्यादि श्लोकद्वयोक्तं सामान्योत्तरम् । द्विविधमिति बन्धुनांसेवदेव द्विविधम् ॥ २३ ॥

भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादिति, भगवदीयत्वे सति गृहसकत्यभावादीनां परीक्षित्युक्तत्वादिति भावः । उत्तमत्वमित्यादि, द्वितीयतृतीयाध्यायोक्तं श्रुतमाहात्म्यत्वमुपचम-

रखा । विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च । एतद्धेतुत्रयं परीक्षिति नास्तीति ततोऽप्ययमुत्तमः । उत्तमत्वं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह कृष्णविश्वासदायिनीति । विश्वासस्याभिज्ञापिका निःशङ्कं प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥

एवं प्रकरणार्थमुपपाद्य द्वितीयाध्यायार्थमाह द्वितीय इति ।

निबन्धः—द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तममुच्यते ॥ २५ ॥

तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च ।

प्रकाशः—विशेषमाहात्म्यमेव प्रशस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति । तदैवमर्थः । भगवत्प्रश्नो जीवानां साधारणप्रश्नः, विशेषप्रश्नस्तु तच्चान्नाम्ना । अतो भगवतोऽन्यशेषत्वाच्च विश्वासायै भगवत् आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमम्, पश्चात्कृतं निरूप्यते ॥ २५ ॥

तस्योत्तराङ्गत्वमाह कृतमिति ।

निबन्धः—कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात्सम्बन्धतोऽपि तत् ॥ २६ ॥

अत्रोक्तं फलसिद्धयर्थमुद्धवप्रेम चोच्यते ।

प्रकाशः—तृतीयाध्याये चरित्रमुक्तमिति । तत्साम्यादिदमप्युत्तरशेषत्वेनोच्यते । कथया कथा सम्बन्धयत इति हेत्वन्तरम् । नन्वेवं सति किमत्र कथानिरूपणेनेत्याशङ्क्याह अत्रोक्तमिति । द्वितीयाध्याये विश्वासायै भगवत्कृतं फलमुक्तम्, तच्चरित्रेपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धमुक्तम् । भगवतो वार्ताकथनमध्यायार्थः । तत्रोत्तरात्मविकारो कस्मिन्नेव उपयुज्यते । प्रज्ञात्तरिति, भगवद्वाक्यश्रवणार्थां मैत्रेयसोपसर्गप्रवृत्तिः ॥ २४ ॥

एवं चतुर्थः प्रथमाध्यायार्थ उक्तः । द्वितीयाध्यायार्थं त्रिभिराहुरेवं प्रकरणार्थमुपपाद्येति, अधिकारभेदव्युत्पादनेनोपपाद्य । ननु सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवत्प्रश्नो हि भगवतः सामान्यप्रश्नस्तदुत्तरं तृतीयं “अथ ते तदनुज्ञाता” इत्यनेन वक्ष्यते, “कृष्णयुगलिनिल्लोचे” इति तु विशेषोत्तरमतो द्वितीयं कथं तस्योत्तरमित्याकाङ्क्षायामाहुर्विशेषेत्यादि । ‘कविद्विरूपाधिपतिरि’त्यादिनोक्तप्रशस्य जीवपरत्वे युगलिनिल्लोके विशेषमाहात्म्यं जीवसामर्थ्यसम्पादनाभिप्रायेण सामान्यमाहात्म्यं भवति तदेवमित्यर्थः । बक्ष्यमाणरीत्या प्रथमाध्याये प्रशङ्क्यम् । अत एव प्रश्नविचाराङ्गवतो जीवशेषत्वात् तत्र भगवति विदुरस्य विश्वासायैगीश्वरत्वबुद्धिदादवार्थिकसम्बन्धि माहात्म्यं प्रथमं युगलिनिल्लोके । तथा चैवं विचारे तत्सामान्योत्तरमित्यर्थः ॥ २५ ॥

फलमुक्तमिति, “अहो वकीय”मित्यादिना दयारूपं फलमुक्तम् । यथा भवतीति, यथा ज्ञानं भवति । तत्रेत्यादि, अत्रायायार्थं माहात्म्यं कथाया माहात्म्यबोधकत्वञ्चेति द्वयं



इदं च । विश्वासार्थं महात्म्यम् । कथाया अपि तथात्वं च । पूर्वाद्भवेकम् । परमा भक्तिः । अभक्तोक्ते सर्वथा न विश्वास इति उद्धवप्रेम शोच्यते ॥ २६६ ॥

तत्र श्लोकान् विमज्जते षडभिरिति ।

निबन्धः—षड्विंशत्यैकेन पुनर्दशयुक्त सप्तमिस्तथा ॥ २७ ॥

दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥ २७ ॥

तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं केवलं कृतम् ॥ २८ ॥

विशेषस्योत्तरं तुयं श्लोकान्मां विंशतिः पुनः ।

भक्तोद्दारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥ २९ ॥

द्वयोरज्ञाप्रसिद्धयर्थं पञ्च सन्देहवारणे ।

चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः कमतोदिताः ॥ ३० ॥

प्रकाशः—विशेषस्य कुशलस्य । चतुर्थाध्याये उत्तरं श्लोकद्वयेन । तदोपपरि-  
हाराय पुनर्भक्तोद्दारे विंशतिः । अविद्यमाने भक्तोद्दारे चत्वारि वाक्यानीति  
शेषः । एकं वियोजकम् । “ इति सह विदुरेण ” इति । उभयोरुद्धवविदुरयोः ।  
सन्देहनिर्वाचः परीक्षितः । चतुर्भिर्गुरुशिष्यङ्गमः । विद्यमानो भक्त उद्धवः ।  
अविद्यमानो विदुरः, एतदकथने कूरत्वाद्भगवन्जीयः स्यात् ॥ २९ ॥ ३० ॥

एवं श्रोत्रुपरिकारं निरूप्य वक्तुरपरिकारमाह मैत्रेयस्यापीति ॥

निबन्धः—मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम् ॥

अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ॥ ३१ ॥

तृतीयाध्यायोक्तयाङ्गम् । तयोः प्रयोजनं विश्वास इत्यर्थः । पूर्वाङ्गमिति, सामान्योपारत्या-  
ङ्गम् । पूर्वं विश्वासदायिनीति यदुक्तं तदेतेन हृदीकृतम् ॥ २६६ ॥

एवं त्रिभिर्द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः । अर्धेन तृतीयस्य, त्रिभिस्तृतीयस्यार्थं बदनो व्याकु-  
र्वन्ति विशेषस्येत्यादि । अविद्यमानभक्तोद्दारे इति, विदुरोद्दारे । सन्देहनिर्वाचरिति,  
‘अज्ञाप्रसिद्धयर्थं’ मित्यनेन मूले या भगवदाज्ञापिदिरुक्ता, तद्विषयकसन्देहनिर्वाच-  
रित्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

१ इति ३ कारिकात्मकः षण्डः स्तम्भकः । २ अत्रगणह । ३ इति ३ ॥ कारिकात्मकः सप्तमः स्तम्भकः ।

प्रकाशः—श्रोतयैवाऽनुप्रवेशः । ननु वक्तुः प्राधान्याङ्गितया निरूपणशु-  
चितं, उत्कर्षं श्रोत्रुशेषत्वमित्याशङ्क्याह अत एवेति । न हि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो  
निकटे स्थापितः, किन्तु विदुरकृपया । अतो भगवन्मार्गे भक्त एव श्रेष्ठो नाऽन्य  
इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवं चतुर्भिरधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयतीत्याह  
अधिकार इति ।

निबन्धः—अधिकारेऽय संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूपयते ।

तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ॥ ३२ ॥

प्रकाशः—उभयोर्भेदकमाह तत्त्वकार्यविभेदेनेति । कार्यं पुरुषशरीरम् ।  
गुणातीता द्विधा हि सृष्टिः । अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरू-  
पितम् ॥ ३२ ॥

तत्र तत्त्वेषु सन्देहाभावात्समष्टेः कारणत्वं साधयति समष्टेरिति ।

निबन्धः—समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।

प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ॥ ३३ ॥

षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहतिः ।

द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु ॥ ३४ ॥

जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च ।

प्रकाशः—एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारसारमते । तत्र प्रथमं विदुरस्य  
प्रश्नः “सुखाय कर्माणि” (३-५-२) इति षड्दशभिः श्लोकैः । तत्र किं पृष्टमिति वि-

मूले श्रवणाऽऽज्ञापनादिति, श्रवणसहितादाज्ञापनात् । एवं त्रिभिश्चतुर्थाध्यायार्थं  
उक्तः । तावता सार्धैर्नवभिः प्रथमं प्रकरणं स्थूलपक्षे विभक्तम् ॥ ३१ ॥

अतः परं द्वादशाधिकशतेन बन्धसृष्टिप्रकरणं बदिष्यन्तस्तस्य प्रथमं प्रकरणं नवभिः  
स्फुटीकर्तुमाहुरेवञ्चतुर्भिरित्यादि । निरूपयतीति, मैत्रेयो निरूपयति । उभयोः कारणत्वा-  
दिति, तस्यपुरुषशरीरयोर्वैगुण्यकारणत्वात् ॥ ३२ ॥

साधयतीति, व्याख्येयमग्रे “हि” शब्देन मुखतोऽर्चत प्रोक्त्वादीनामर्थं सङ्गहन् साध-  
तित्यर्थः । एवमिति, गुणातीतत्वेन तत्त्वकार्यविभेदेन न नैतानि कर्माणीत्यादि, “श्रेयस्त्वं  
कतमद्भान्जन् कर्मपालम् इहसे, दुःखहानिः सत्यं तासिश्रेयस्तत्तेह वेष्यते” इति प्राचीनबर्हिं  
प्रति नारदवाक्यादित्यर्थः । नन्वत्र तान्येषामिभेतानीति कथं ज्ञेयमित्यत आहुरन्यथेत्यादि ।

चारणीयम् । उचरत्वेन भगवच्छ्रीलामाह उत्पत्तिस्थितप्रलयरूपाम् । ततस्तदुरोधेनैकः प्रश्नः कर्तव्य इति भवति तदभावाद्दिचारः । तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः, फलार्थं विहितानि कर्माणि क्रियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्तीत्येकः प्रश्नः । तत्रांशत्रयमस्तीत्याह कर्माणि प्रति वर्णिनामिति । नैतानि कर्माणि लौकिकानि, किन्तु वैदिकानि । अन्यथा आन्तस्य फलविपर्यये न किञ्चिद्दृष्यम् । अतो वर्णिनामेवं कर्माणि प्रति प्रश्नत्रयम् । कथं सुखं न जायते ? दुःखमात्रो वा उद्वेगभेदेन । कथं वाञ्छकूलितं दुःखं जायते ? इति । अथ यदि कर्ममार्ग एतादृश एव तदा प्राणिना किं कर्तव्यमिति प्रथमः प्रश्नः । तत्र यद्युचरं भगवद्भजनं कर्तव्यमिति, तत्रापि भजनमपि कर्मेति, येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथयेति द्वितीयः प्रश्नः । अवतारचरितप्रश्नस्तृतीयः । अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम्—उत्पत्तिस्थितप्रलया नानात्वमिति । कार्यप्रश्नः पञ्चमः । सर्वत्र भिन्नप्रकारकरणहेतुः प्रश्नः षष्ठः । एवमवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति । एवं सति प्रश्नत्रयं भवति । जीवकर्माणि द्विविधानि, स्वार्थानि भगवदर्थानि चेति । भगवत्कर्माणि च तृतीयानि, तत्सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति । एतत्पदं पूर्वाणि सम्बन्धते, वर्णिनामित्यनेन तदघोतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन, साधारण्येन च प्रतिज्ञा प्रश्नत्रयमिति । तृतीयं भगवत्कर्मप्रश्ने अवतारानवतारभेदेन द्वैविध्यम् । तत्राञ्जवतारप्रश्ने षट् भेदाः । स एव प्रथम इति प्रथमे पुनरित्युक्तम् । पश्चादवताराः । उद्वेगेन ग्रहणसन्देहं वारयति नाञ्जवतारे इति । अतोऽभिष्यक्तमपायस एव षट् प्रश्नाः कृताः, उपसंहारोऽपि निरूपिताः । “यानीश्वरः कीर्तय तानि मद्यम्” (३-५-१६) इति गृहीतावतारस्य च तेन भगवत्कर्मत्वे च द्विविधेष्वपि तस्योपसंहार इति तत्रैवोचरभ्युक्तमिति न दोषः । यतः साधने जीवकर्तृकर्मणि नोपसंहारः । हेत्वन्तरमपि द्यौरपि विन्धेनेति ।

तथा च प्रश्नकर्तुः स्वभावाविचारादेव ज्ञेयमित्यर्थः । कर्माणि प्रतीति कर्माणि लक्ष्मीकृत्यः । प्रथमः प्रश्न इति, उक्तप्रश्नव्यवहितः ‘सुखाय कर्माणि’ इति पयोक्तः । द्वितीय इति, ‘तत्साधुवर्षादिशे’ति (३-५-४), पयोक्तः । ‘करोति कर्माणि’त्यादिभिः पञ्चमैः सप्तप्रश्नानाहुर्भवतरेत्यादि । एवं सतीति, श्लोकाष्टकतात्पर्यं विचारिते सति । एतत्पदमित्यादि, “एतच्च नो वर्षाय विप्रवर्षे”त्यश्लोकमेतत्पदं (३-५-९) । ‘करोति कर्माणि कृतावतारा’ (३-५-५) इत्यादिभिन्नेनापि सम्बन्धत इत्यर्थः । तदघोतितमिति, चकारद्वेषितं वैदिककर्मवियत्यं घोतितमित्यर्थः । स एव प्रथम इत्यादि, प्रश्ने पश्चादुक्तेषु उचरेऽनवतारप्रश्ने एवोचरित इत्याशयेन प्राथम्यमुक्तमित्यर्थः । ग्रहणसन्देहमिति, प्राथम्यग्रहणसन्देहस्य । हेत्वन्तरमपीति, द्वाभ्यामुपसंहारितरूपं तत्रैवोचरोक्तौ

‘तदस्य कौपारव’ (३-५-१५) इति । “स विश्वजन्मस्थिती”ति (३-५-१६) । इदानीं प्रश्नान् गणयितुं प्रथम उद्देशप्रकारेण एक एव प्रश्न इत्याह प्रकटे श्लोक एव त्विति । प्रकटोऽन्तरः । अप्रकटे षट्भेदान् वदति जन्माद्य इति, उत्पत्तिस्थितप्रलयाः यथा “सप्तजोधि” इत्यादिना । प्रवेशनानात्वे एकत्वेन गणिते । तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः, “येस्तत्त्वभेदेः”, “येन प्रजानामि”ति ३-५-३ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं भगवत्कर्मप्रश्नेषु क्रियमाणेषु पूर्वयोरुत्तरं न वक्तव्यमिति स्वरूपा शास्त्रनिर्धारणे च निरूपयतीत्याह हेतुकत्या शास्त्रनिर्धार इति ।

**निबन्धः—**हेतुक्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ॥ ३५ ॥  
स्वरूचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वे प्रतिष्ठितम् ।

प्रकाशः—“कस्तुप्लुपात्” इति (३-५-११) चतुर्भिः प्रश्नैर्हेतुकैः । अनेनैव शास्त्रनिर्धारः । गृहासक्तिकुःखात्मकं संसारं प्रयच्छति । कर्माणि तु गृहासक्तिकर्माणीपि । अतो दुःखजनकत्वमुचितमेवेति । ननु स्वयं षट्त्वा स्वयमेव कथमुचरयतीत्याशङ्क्याह भक्तत्वज्ञापनाय हीति । भक्तो हि कर्मणामसारातां ज्ञात्वा भगवद्भक्तौ रमते ततः कर्मप्रश्नस्तस्याऽप्युक्तो भवति । एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वम् । रुचापीत्याह स्वरूचिश्चापीति । “परावेषाम्” (३-५-१०) इति श्लोकेन स्वरूचिरुक्तः । ‘मद्यमि’त्युपसंहारेपि । नन्ववतारचरित्रमपि नोचते निरूप्यत इत्याशङ्क्याह षट्सु सर्वे प्रतिष्ठितमिति । स्थितावतारानां प्रवेशं मन्यते । पुरुषे वाऽनुप्रवेशः ॥ ३५३ ॥

ननु “तत्साधुवर्षादिश वरमं शं नः” (३-५-४) इति प्रश्नोऽनुपपन्नः, प्रश्ने वा उचरे वा समानाभावादित्याशङ्क्य समापत्ते इष्ट इति ।

**निबन्धः—**इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगवत्प्रीणनेऽपि च ॥ ३६ ॥

हेत्वन्तरमित्यर्थः । प्रथमे उद्देशप्रकारेणेति, उद्देशप्रकारेण प्रथमे प्रश्ने ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं व्याख्येयमग्रे “प्रकारद्वयमेव च”त्यनेन श्रीभागवतस्यप्रश्नानां सङ्गहात् षट्प्रश्नानां तात्पर्यमुक्तम् । अतः परमभिमाणां वक्तव्यम् । तत्र पूर्वयोः स्वार्थभगवदर्थकर्मप्रश्नयोरुत्तरं कृते नोक्तमित्याकाङ्क्षायां प्रश्नमन्यतेः “कस्तुप्लुपादि”त्यादिभिश्चतुर्भिर्विद्वेगेषु स्वतस्तदुचरस्य निर्धारितलाभोक्तमित्याशयेनाहुर्देवं भगवत्कर्मत्यादि । पूर्वयोरिति, स्वार्थभगवदर्थकर्मणोः । दृतीति, इदं निरूपयतीति, विदुरो निरूपयति । प्रश्नैरिति, प्रश्नगतैः श्लोकैः । मन्यत इति, मैत्रेयो मन्यते । अनुप्रवेशमिति, अनुप्रवेशं प्रवेशम् ॥ ३५३ ॥

इति प्रश्न इति, भगवदर्थकर्मप्रश्नः । मूले प्रसिद्धान्यहेतोरिति, वक्तव्यत्वाविति

उत्तमे पथि संप्रश्न आद्यावेतो यथोत्तरम् ।

प्रकाशः—इष्टे सुखदुःखाभावे भगवत्कीर्णने वा प्रसिद्धहेतोरभावादन्यो हेतु-  
र्वक्तव्य इति लोकोपकारार्थं प्रश्न उचितः । अत एवाद्यावेतो सर्वसाधारणो लोकोप-  
कारार्थं स्वार्थं च यतनीयमिति । नन्वस्योत्तराभावात्कथं प्रश्न इति, तत्राह यथोत्तर-  
मिति । यथावदुत्तरम् । उक्तत्वाक्ये प्रथमत एव 'लोकान् साधनुरुद्धता' (३-५-१८)  
इति प्रशंसायाः कृतत्वात् । तृतीयोत्तरेणैताऽऽद्योत्तरं यथावदुक्तमित्यर्थः ॥ ३६३ ॥  
तत्र हेतुः उत्तरत्वेन कथनादिति ।

निबन्धः—उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम् ॥ ३७ ॥

अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः ।

प्रकाशः—तदेव स्पष्टयति उत्तरं कर्मणि स्थितम् । भगवत्परिकथने  
पर्यवसितम् । अत एव सभाजनम् । तदुत्तरेणैव आद्ययोरप्युत्तरमिति, दुःखाभावः  
सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव, तेनैव भगवानपि तुष्यति ॥ ३७३ ॥

ननु तत्त्वानां स्तुतिः कुत्रोपयुज्यते तत्राह कार्यमुद्यौ स्वतन्त्रत्वमिति ।

निबन्धः—कार्यमुद्यौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः ॥ ३८ ॥

विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करम् ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः ॥ ३९ ॥

प्रकाशः—पौरोल्पतौ पुत्राणामिव न प्रकृते तत्त्वानां स्वतन्त्रता । ननु  
सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि निरूपणं भारतादावप्येतावच्छ्रुतत्वादित्याशङ्क्याह  
विशेषतस्तु कथनमिति । तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनं, तत्राह श्रवणादिप्रसि-  
द्धयर्थमिति । श्रवणकीर्तनादेर्विषय एतादृश इति ज्ञापनार्थः ॥ ३९ ॥

अत्रतारचरित्रस्याऽन्तर्भावमाशङ्क्याह सर्वोक्तारचरित्राजत्वादि ।

निबन्धः—सर्वोक्तारचरित्राजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा ।

गुणातीतात्मृष्टिलीला द्वयेनेवं निरूपिता ॥ ४० ॥

शेषः । उत्तमे पथीति भाक्तिर्मां । आद्यावेताविति, आवश्यकाविति शेषः । तत्राद्रेति, तादृश्या-  
माशङ्क्यायुत्तरमन्ये उत्तरं सूचितमस्तीत्याहेत्यर्थः । कुत्र सूचितमस्तीत्यपेक्षायामाहुत्तरवाक्यं  
इत्यादि 'सुष्यती'त्यन्तेन । तृतीयोत्तरेणेति, भगवत्परिकथने । एवं नवभिरव्यायद्वयार्थ-  
कथनेन उद्यौ प्रथमः प्रकारः स्पष्टीकृतः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

\* इति ९ कारिकात्मकोट्यः स्तवकः ।

अध्यायद्वयार्थस्युपसंहरति गुणातीतादिति ॥ ४० ॥

निबन्धः—सगुणां तु त्रयणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।

ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥ ४१ ॥

प्रकाशः—सगुणा तु लीला त्रिभिः । सृष्टिभगवतोर्मध्ये गुणानामधिकारत्वात् ।  
ते हि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धा निरूप्यन्त इति ज्ञापयितुमाह पूर्वपक्षा-  
धिकत्वत इति । अत्रापि कारणसम्भूतिः । कार्यसम्भूतिरित्यध्यायद्वयम् । तत्र कारणं  
ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत् । तत्कालशेषत्वेन निरूपणीयमिति स्तोत्रमेव कार्यत्वेन  
निरूप्यते तत्फलम् ॥ ४१ ॥

एवं सामान्यतत्त्ववाणामध्यायानामर्था निरूपिताः । अधुना विचार्यन्ते ।  
नन्वियं लीला विसर्गं प्रविशति न सर्गं इत्याशङ्क्याह एतद्विभूतिरूपत्वादिति ।

निबन्धः—एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता ।

साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुज्यते ॥ ४२ ॥

अतः परं सपदैकचत्वारिंशद्विभूतयत्रयार्थकथनेन द्वितीयप्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति सगुणा  
तु त्रिभिरित्यादि । ननु पूर्वसिद्धापि प्रकरणे गुणानामेव मध्ये प्रवेशादत्रैव कृतोऽध्यायत्रय-  
मित्यपेक्षायान्नाहुस्ते हीत्यादि । पञ्चमाध्याये त्रैत्रयेण मायाविशेषणभूतगुणमयपदेन ये  
गुणाः सूचितास्ते द्वितीयस्कन्धे 'निर्गुणस्य गुणस्य' इत्यन्तेनोक्ता मुख्याः । अत एव  
मायायास्तत्त्वानां च शक्तिमदभिन्नत्वाय भगवच्छक्तिव्युत्पत्कम् । सा वा एतस्य  
सन्द्रष्टुः शक्तिरिति 'इति तासां स्वशक्तीनामिति' । अतस्तत्र भगवतः कर्तृता, तासाम-  
समर्थतायाः सूचितत्वात् । परन्तु, भारताद्युक्तशब्दसाम्याद्बिदुरेण तत्त्वरूपे न बुद्धमिति  
सप्तमाध्याये भिन्नगुणाभिप्रायेण विदुरेण "लीलाया वापि युञ्जेत् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः"  
इत्यादिः पूर्वपक्षः कृतः । तदा त्रैत्रयेणापि "परमसिद्ध्याऽपरो बोधनीय" इति न्यायेन विदु-  
स्त्वोपेक्षनाय 'सर्वं भगवतो माये'त्यादिना पृथक्पक्षमादायैव समाहितम् । तेन तस्य परितापं बुज्या-  
ऽष्टमे तानेवाऽऽद्या सप्तमाध्यायोक्तपुराणप्रभोरमुच्यत इति मतान्तरसिद्धा एव निरूप्यन्त इति  
पूर्वपक्षाधिक्यादध्यायत्रयमित्यर्थः । अत्र सगुणां ब्रह्मा'दीन्द्रतत्त्वेऽपिशयानं' 'सौतः शरीरेर्षित-  
मत्सूत्रम्' इत्यादिना शयानं, ब्रह्मोदेरेभिन्नताया गुणानाद्युक्तत्वात् ॥ ४१ ॥

एवञ्च, पूर्वपक्षः कारणसम्भवः कार्यसम्भवश्चेत्यव्यायत्रयार्थ इत्याहुरेवं सामान्यत  
इत्यादि । विसर्गं प्रविशतीति "विसर्गः पौरुषः स्युत" इति महाद्विसम्बतशरीराभिमानिगुण-

अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।  
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते ॥ ४३ ॥

प्रकाशः—एतदिति प्रथमसृष्टिस्वरूपपुरुषरूपमुच्यते । अन्येषां ब्रह्मादीनाम्  
अस्ति विभूतित्वं, ब्रह्मादीनामास्ति च विसर्गता । उभयोः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षा-  
यामाह स्थाधारण्येन कथनमिति । भागवतं हि सारोद्धाररूपकमुद्यमधिकारस-  
हितं च । तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम् । स हि विसर्गो न  
वक्तव्य इत्याशङ्क्याह यादृशो हि विसर्ग इति । तस्य न विभूतित्वं सम्भवत्ये-  
तीति भावः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

गुणातीतात्सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वत एव निरूपिता भगवदाज्ञया । तावता  
विदुरस्याकाङ्क्षायां असमाप्ता सर्वसन्देहवारकं भागवतमेवेति धृतवत् शुक्रवद् भागवत-  
मेवोपशयति । तत्राऽस्य परम्परा शेषात्सङ्कर्षणात् । तथा सति ब्रह्मादिक्रमेण नाऽऽ-  
तमिति कथं भागवतत्वमित्याशङ्क्याह कृष्णोक्तमिति ।

निबन्धः—कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।  
अयमर्थस्त्वन्यमुत्पन्नोद्भवित्यति कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

प्रकाशः—भागवता प्रोक्तं भागवतम् । गीतादीनामपि भागवतत्वमेव, परं  
न पुराणत्वम् । न ह्यन्यो भगवद्गीतां जानातीत्यभिप्रायेणाऽह् अयमर्थ इति ॥ ४४ ॥  
नन्वत्र परम्परायां पराशरान्मैत्रेययोऽध्ययनम् । स तु विष्णुपुराणमाहेति प्रसि-  
द्धिस्तस्मादस्य न भागवतत्वमित्याशङ्क्याह वैष्णवादिपुराणानीति ।

निबन्धः—वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।  
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा ॥ ४५ ॥  
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽप्यपि ।

अन्यब्रह्माद्युपविचिसर्ग इति लक्षणस्यात्रापि दर्शनात् प्रविशतीत्यर्थः । प्रथमसृष्टिस्वरूपमिति  
अष्टमाध्यायोक्तं सगुणब्रह्मरूपम् । विभूतित्वमिति, भगवदावेशित्वमिति सामान्यलक्षणं  
प्रतिभाति । अत्र तु, सप्तधा भगवत्सम्बन्धित्वाच्छेषत्वेन विभूतित्वममे वक्तव्यम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

कथं भागवतत्वमिति, “प्रवर्तये भागवतं पुराण”मिति मूलेकं भागवतत्वं तल्लक्षणा-  
भावात् कथमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

१ ‘समाप्तौ’ पाठः ।

प्रकाशः—“त्रयोविंशति वैष्णवम्” इति । त्रयोविंशतिसहस्रपरिमितं पुराणं  
भिन्नमेव, तद्भासेनैव कृतम् । “अष्टादशपुराणानाम्” इति वाक्यात् । इयं तु पराशर-  
संहिता भिन्नैव । पराशरो हि भागवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथा बोधितवान् । तस्मा-  
त्तदपि भागवतमेवेति न कोपि विरोधः । ननु तथापि परम्परा भिन्नैवेति कथं भा-  
गवतमिति चेत्तत्राह सर्वतोमुखत्वमिति । भगवतो हि स्वरूपं ( भगवतैव ) भागवते  
वक्तव्यम् । तद्भगवन् स्वयमेव कदाचिद्भवेति । कदाचित्सङ्कर्षणो वासुदेवस्यैव  
तत्त्वं वदति, “तत्त्वमतः परस्य” इति वाक्यात् । ननु तत्र वाक्यानुपूर्वी विसृष्टशी  
तत्कथनमायोरुक्तं तत्राऽह् अर्थमात्रप्रधानत्वादिति । सर्गाद्योर्थो यादृशा  
भागवते विवक्षितास्त एव पराशरवक्तृव्येति सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ४५ ॥

केचित्पुनः ह्यसं भागवतं भगवद्ब्रह्मसंवादपरम्परया समागतं द्वितीयस्कन्ध-  
भात्रम् । स्पृष्टं तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतमिति । तं पक्षं दूषयति  
स्थूलेति ।

निबन्धः—स्थूलमुद्गमविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत् ॥ ४६ ॥  
पञ्चमादन्वयत्कृत्वा तथा शास्त्रविरोधतः ।

प्रकाशः—पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरोक्तं, नापि व्यासः पराशराच्छ्रुत्वा  
पञ्चमादिकं कथयति । तथा सति ‘कस्मै येन पुरे’ति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्पर्यां विरु-  
ध्येत । मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात् । अतः सर्वतोमुखत्वख्यापनार्थमेव अर्थ-  
प्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपितेति निश्चयः ॥ ४६ ॥

एवं दूषणसमाधानमुक्त्वा प्रकृते सङ्गतिमाह गुणातीतादिति ।

निबन्धः—गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽतिगोप्यतः ॥ ४७ ॥

“अष्टादशपुराणानामि”तिवाक्यादिति, एतेनाष्टादशपुराणानीति पाठो भ्रान्ति-  
कल्पित इति ज्ञापितम् । एतस्य भ्रान्तिकल्पितत्वं मया “श्रीभागवतस्वरूपविषयकशास्त्रानि-  
रसवादे” निपुणतरं व्युत्पादितमिति, ततोऽवधारणीयम् । इयमिति, विष्णुपुराणत्वेन प्रसिद्धा ।  
विसृष्टशीति, भगवतः सगुणत्वख्यापनार्थनाद्व्याहरी ॥ ४५ ॥

केचिदिति बोधदेवाभाः । समागतमिति वदन्तीति शेषः । समाप्तमिति, द्वादश-  
स्कन्धसमाप्तौ । विरुध्येतेति ‘कस्मै येने’ति श्लोके ‘अयमि’तीदम् । प्रयोगेणास्यैव परम्परयास्तत्र  
कथनत्, परम्परयाश्च शेषे प्रवेशाद्विरुध्येतेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

सङ्गतिमाहेति, प्रसङ्गरूपां सङ्गतिमाह । मूले, अतिगोप्यत इति, भावप्रधानो  
निर्देशः ॥ ४७ ॥

१ शुद्धितोष्यं वादोऽनुवादसहितः । २ विरुध्येतेति पाठः श्रीपुरुषोत्तमानाम् । विरुप्यते इति पाठः ।

अन्ये, मन्वे, ३

## कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वात् स्वतन्त्रता ॥

प्रकाशः—एतत्पारशरसूत्रात् श्रुतमिति किमत्र मूलमित्याकाङ्क्षायामाह कृष्णाज्ञया तन्मुखत इति । अनेन मैत्रेयस्य कृष्णसूत्रादेव भागवतश्रवणमिति निरूपितम् । भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच, । अवतीर्य तु मैत्रेयोद्भवाभ्याम् । उद्भवात्परंपरा न स्यात् । मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ॥ ४७६ ॥

इदमत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकम् । विदुरस्तु नैवविध इत्याह अत्यन्तशुद्धचित्तस्येति ।

निबन्धः—अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नापेक्ष्यते क्वचित् ॥ ४८ ॥

इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः ।

प्रकाशः—अनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम् । भगवदीदो यः कश्चिद्भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतमिति सामान्यलक्षणम् ॥ ४८६ ॥

युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः । भागवतार्थस्त्वलौकिक इति । तथाऽप्यधिकारामावे सोऽर्थो न स्फुरतीति सन्देहे जाते तत्रिंशत्कारणमवश्यं कर्तव्यम् । तत्र भावता यो मन्यते तथा तस्मै निरूपणीयमिति स्थितिः । तथा मैत्रेयोपि विदुरबुद्धिमाश्रित्य समाधत्ते । तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तश्चाह गुणातीतादिति ।

निबन्धः—गुणातीतात्सुष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४९ ॥

कार्यकारणवैजात्याल्लोकहेतोर्भावतः ।

निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ॥ ५० ॥

पूर्वपक्षं सिद्धान्तश्चाहेति, सप्तमाध्यायोक्तं तदुभयमहालेख्यैः । तथा कल्पयन्निति, मोहेनमात्रं कल्पयन् । कारणमित्यादि, अयमर्थः ब्रह्म जगदुपादानं, जगदात्मकत्वात्, जगत्पूर्वरूपाद्वा, यदेवं तदेवम्, घटात्मकघटवैरूपशुद्धद्विदितिसापने, ब्रह्म न जगदुपादानं, जगद्विलक्षणत्वात्, घटविलक्षणतन्मुबदिति प्रतिपक्षोक्तयनं पूर्वहेतुना कियते । तथा ब्रह्म जगत्कर्तृ, तन्निरूपितक्रीडाकामत्वात्, मार्त्तिक्रीडनक्रीडाकामतत्कर्तृबालवदिति सापने, ब्रह्म न तत्क्रीडाकामं, अकामत्वाद् बुद्धादिवदिति स्वरूपासिद्धत्वोत्पन्नं द्वितीयं हेतुना कियत इत्यत एव सन्देहद्वयमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

१ मेहनमिति क्वचित् पाठः २ “भा” इति लिखितम् हस्ताक्षरेऽशुद्धं भाति ।

प्रकाशः—यथा बालः पुरुषस्य निषेकाज्जन्माज्ञात्वा भोजनमेहनावेव पचयन्, तत्रापि तथा कल्पयन्, तदप्यनुपपन्नमिति संशयीभवति । तत्र वक्ता बालं यथाकथञ्चिद्बोधयति, वस्तुतस्तु न स सिद्धान्तः । किन्तु, यथा निरूपितं “भगवानेकं आसेदम्” ३-५-२३ इति स एव सिद्धान्तः । विदुरस्य संशये हेतुताह कार्यकारणवैजात्यादिति । कारणं गुणरहितम् । कार्यं सगुणमिति । लोकहेतुश्च कामः । एवं गुणातीते सन्देहद्वयम् ॥ ५० ॥

तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिक एव जगत्कर्ता निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति । तथापि तदेव न सम्भवतीति तृतीयो दोषः समायातीत्याह सोपाधित्व इति ।

निबन्धः—सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति ।

तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ॥ ५१ ॥

प्रकाशः—एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् तृतीयो ब्रह्मणः सिद्ध इत्युक्तम् । इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेपि ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भगत्वादिर्न सम्भवतीति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्ये च निरूपयितुं शक्ये सति भवतीत्याह मायासम्बन्ध इति ।

निबन्धः—मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात् ।

प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ॥ ५२ ॥

प्रकाशः—एवमेका शङ्का ब्रह्मणा अपरा जीवगेति । पूर्वपक्षं निरूप्य सिद्धान्तं

तत्परीत्यादि, यदि च पूर्वोक्तदोषपरिहारार्थं पक्षः सोपाधित्वेन विशिष्यते तथा वैलक्षण्यकामत्वनिरुचौ प्रतिसाधनानवकाशात् परिहारो भवति । तथापि, ब्रह्म न सोपाधिकं पूर्णज्ञानत्वात्, यैवैवं तत्रैवमस्मादिवदित्यनुमानेन विशेषणमेव न सम्भवतीति साधकहेतुना-नाश्रयासिद्धत्वेन प्रतिसाधनस्य पुनरुज्जनादुक्तेरुक्तस्तृतीयो आयातीत्यर्थः ।

एवं जीवभावेपीति, ब्रह्मजीवभावानर्हत्, अनुपाधित्वात्, यैवैवं तत्रैवमित्यनुमानात् । पूर्णज्ञानवस्त्वम् अनुपाधित्वञ्च दूषणमित्यर्थः । दूषणान्तरमाहुर्मायैत्यादि । तथा च, जीवो दुर्भगः क्लिष्टो भवितुं नाहति, ब्रह्माभिन्नत्वात्, यद् यदाभिन्नम्, तत् तदविरुद्धधर्मकम्, महाकाशाभिन्नघटाकाशावदित्यपि दूषणमित्यर्थः । इत्याहति, इति हेतोः एतं परिहार्यं इत्याशये-नाहेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

१ “भगवतनेक” इति पाठः । २ “मायासम्बन्धे” इति पाठः ।

निरूपयति प्रथमस्य परीहार इति । “ सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ”  
३-७-८ इति भगवतो मायायाश्च नित्य एव सम्बन्धः पृष्ठया निरूपितः ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सति भगवत्त्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह भगवत्त्वाविरोधित्वमिति ।

**निबन्धः—भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।**

असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ॥ ५३ ॥

प्रकाशः—भगवत्पदेनेत्यर्थः । ननु विक्षेपशक्तिपक्षेपि भगवत्त्वाविरोध उप-  
पद्यत इत्याशङ्क्याह असमासात्प्रधानत्वमिति । भगवतो मायेति पदद्वयस्याऽसमा-  
सादेकार्थत्वाभावः । तेन न मायावैशिष्ट्यं भगवतः, किन्तु, सा पृथगेव दासीवत्ति-  
ष्ठतीत्युक्तम् (भवति) ॥ ५३ ॥

एवं भगवति परिहारमुक्त्वा जीवे परिहारमाह द्वितीयस्पेति ।

**निबन्धः—द्वितीयस्य परिहारे विरोधात्कार्यवाधानम् ।**

विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं दृशियतः ॥ ५४ ॥

प्रकाशः—भगवतो मायेति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः । द्वितीये पक्षे  
विकल्पयति विरोधात्कार्यवाधानं, आहोस्विद्विरोध एवेति । आद्ये समाधानं सेयं  
दृशियत इति । कार्यवाधानं कर्तुं न शक्यते संसारस्याऽसिद्धत्वात् । नन्वेतदेव न  
स्यादित्युच्यत इति चेद्भगवन्मायाया तदुपपत्तिरिति बुध्यताम् ॥ ५४ ॥

मूले प्रकृत्येत्यनन्तरं, प्रस्तुत्येत्यर्थः । विक्षेपेत्यादि, तद्वैशिष्ट्येन मायावादि-  
भेदस्थाज्ञीकारादुपपद्यते, तथाप्युपाधिसम्बन्ध एव पूर्वोक्तयुक्त्या नोपपद्यत इत्याशङ्क्यानुपाधि-  
त्वाविरुद्धं तत्सम्बन्धमाहेत्यर्थः । एकार्थत्वाभाव इति, शाकल्याभावः । तेनेत्यादि, तथा च,  
शुद्धं ब्रह्म, मायासम्बद्धत्वविक्षेपजनोदुपादानम्, अनुपहितत्वेपि मायासम्बद्धत्वात् । यद्  
यदनुपहितत्वेपि यत्सम्बद्धम्, तत्तत्सम्बद्धत्वविक्षेपकार्योपादानम्, नागार्णवर्षणसम्बद्धत्वविक्षे-  
क्षणप्रकाशापादानसूर्यवत् । शुद्धं ब्रह्म कामाभावे जगत्कर्तुं, अदृक्प्रमायासम्बन्धेन क्रियावत्त्वात् ।  
यद् यददृक्प्रमासम्बन्धेन क्रियावत् तत्कामाभावेपि कर्तुं । अयःकान्तसम्बन्धेन भ्रमदयोवदित्यनु-  
मानान्यां परिहार इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

विरोधादित्यादि, ब्रह्मत्वविरोधाधुर्भगत्वादिवाधानं वा । ब्रह्मत्वधुर्भगत्वोर्विरोधो  
वेत्यर्थः । नन्वेतदेवेत्यादि । कार्यस्य दृश्यमानत्वाच्चद्विरोधेन ब्रह्मणो जीवरूपेण सर्वक्षेत्रेष्वव-  
स्थितत्वमेव न स्यात्, किन्तु जीवस्य भिन्नत्वमेवाज्ञीकार्यमित्युच्यत इति चेत्, मायाया ।

१ विरोधो वेति पाठः ।

तथापि युक्तिविरोध इति द्वितीयपक्षे समाधानमाह द्वितीय इति ।

**निबन्धः—द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।**

विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्णयते ॥ ५५ ॥

प्रकाशः—कथं भूषणमित्याशङ्क्याह विरुद्धकार्यसम्बन्ध इति । मायाया हि  
विरुद्धं कार्यं दृश्यते । शिरसिष्ठयते जीवति । अन्त्राणि निष्कास्यन्ते स्वस्थेष्वेति ॥ ५५ ॥

नन्वत्रापि कोपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह विरोधोपि प्रतीत्येवेति ।

**निबन्धः—विरोधोपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।**

दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ॥ ५६ ॥

इति दृष्टान्ततत्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।

तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—सर्वभवनसमर्थत्वाद्ब्रह्मणस्तच्छक्तिवन्मायायाश्च तथात्वम् । अय-  
मात्मविपर्यय ईश्वरस्य कार्यण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दर्शनं  
विरुद्धभ्रमकर्त्र्या तदुपपत्तिरीश्वरत्वेपि कार्यण्यायुपपत्तिरिति बुध्यताम् । तथा चैतत्प्रापि “सेवम्ब-  
गवतो माये”त्येनैवोचरं सिद्धमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

समाधानमाहेति, यन्न येनेत्यादिना समाधानमाहेत्यर्थः । दृश्यत इति, ऐन्द्रजालिकेषु  
दृश्यते ॥ ५५ ॥

अन्त्रापीति, युक्तिविरोधेपि । सर्वैत्यादि, तथा च, कार्यण्यबन्धनाविरेपेण माया मवतीति  
न कार्यण्यं न कर्मणमतो न वस्तुतो विरोध इत्यर्थः । वस्तुत्वरूपं मूले उक्तम्, यतो बृहदिति, यतो  
जीवोपि ब्रह्मात्मक एवेति, तथा च, विरुद्धधर्माणांमध्यासमात्रत्वात् तावन्मात्रेण जीवानां वस्तुतो  
ब्रह्मभिन्नत्वं न कल्पयितुं शक्यत इति यन्न येनेत्यस्य तात्पर्यम् । नन्वयं कार्यण्यबन्धनाविभ्रमो  
जीवत्वरूपानभिज्ञस्य वा तदभिज्ञस्याऽपि वा ? आद्ये तु समाधिरुपपद्यते, परन्त्वाव पक्ष एवा-  
सक्तः । ज्ञानिनापि मैत्रेयेण तदुक्तेः, उक्तीनाद्यानुभवपूर्वकत्वात् । एवं सिद्धे उक्तप्रमस्य  
साधारण्ये अनरहितादीश्वरासिद्ध एव जीवस्य भेद इत्याशङ्क्यायां ज्ञानिन्स्तादृशमतीतावपि  
न भेदसिद्धिरिति प्रतिपादयितुं “यदर्थेन विने”त्यादिश्लोकद्वयस्य तात्पर्यं वदन्त आहुः  
अयमित्यादि, उक्तरूपः । अर्थे विना भ्रमः ईश्वरस्य कार्यण्यादिः ‘पराभिष्यान’पृथोक्तं यजीव-  
बन्धरूपं कार्यं तस्यादिः, पूर्वकालीनः, स जीवस्वरूपे ईश्वराभिषे ज्ञाते न भविष्यतीत्या-  
शङ्क्य ज्ञानतोत्येपि तत्समाधानमाहेत्यर्थः । अत्र कार्यण्यादिरित्यत्र कार्यण्यादिरिति पाठः

१ इदं विवरणे मां १-७-७-७ आरम्भ मैत्रेयोको । २ “बन्ध”पाठः । ३ “ज्जाला” इति पाठः ।

ज्ञानिनोऽप्येवमिति । यस्तु जीवे ज्ञानी जीवस्वरूपाभिः । जीवस्वरूपं तु सर्वावस्थायु  
भासत एव, ईश्वरस्वरूपमेव परं न भासते । अतः स्वप्नद्रष्टा भगवानेवेति तेन सह  
स्वस्याऽभेदज्ञानात्स्वशिरश्छेदः स्वप्ने भासते । यस्तु तस्तु जीवस्वाप्नशरीरस्य शिरश्छेद  
ईश्वरेण दृश्यते, स्वयं च तदभेदात्पश्यति । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेददर्शनम् । शरीर-  
रात्मा शरीरानाऽऽत्मना सम्परिवृक्तोऽनारूढ इति भेदेन निरूपणात् । ब्रह्मविदरतत्र  
भेदेनाऽनुभवः । अन्यस्य स्वभोषसदाह इति दृष्टान्तन इति । स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये  
भगवत्स्वरूपे देहाभेदो निरूपितः । तत्र द्रष्टा भगवानेवेति । तर्हि शिरो जीवस्यैत्यत्र  
किं प्रमाणम् ? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमस इति । यस्तु देहादिसंसारो  
बलप्राये अहमिति मन्यते तस्यैव कृपादिर्न त्वाकाशस्यस्य । अतोऽभेदेऽपि जीवस्यैव

श्रुतिमिति । जीवस्वरूपाभिः इति, तस्याप्येवं स्वशिरश्छेदादिवर्षनम्भवतीति भूलेन सह  
योगेना । ननु तत्र का वा उपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुर्जीवस्वरूपं त्वित्यादि । भासत  
एवेति, सर्वेषां भासत एव । अत इति, जीवस्वरूपस्य सर्वदा भासात् । भगवानेवेति, द्वितीय-  
स्कन्धप्रथमाध्यायसमाप्तौ “स्वप्नजेनेक्षितैक” इत्यस्य सुबोधोपनिषां स्वप्नगोलकस्य मिथ्यात्वा-  
त्तदभावेनेन्द्रियलयेन च जीवस्याद्रह्यत्वव्युत्पादनाद्भगवानेव । अभेदज्ञानादिति, भेदज्ञाना-  
त्भावात् । तथा च, जीवस्वरूपानभिज्ञस्य निद्रया ईश्वरभेदस्फूर्त्यभावात्स्वशिरश्छेदो भासते ।  
ज्ञानी तु तदभेदात् स्वयं पश्यतीति दर्शनमुद्योगः समानम् । तथा च, यथा स्थानदर्शने जीव-  
भेदापादकं न भवति, तथा जाग्रत्स्यैव कार्पण्यादिदर्शने न जीवश्वरभेदापादकमित्यर्थः । ननु  
यथा जीवस्वरूपज्ञानरहितः स्वप्ने ईश्वरभेदस्फूर्त्यभावात्स्वशिरश्छेदादिकं पश्यति, तद्वत्  
ज्ञान्यपि पश्यतु, न स्वभेदादित्यत आहुः सुषुप्तीत्यादि । तथा च, तत्रैवमिदं “सर्वोपि  
भूतानि प्रतिरूपन्त” इतिज्ञानित्ववचनात् । ज्ञानवत् एव तत्र तथात्वादन्यथाभेदादेव दर्श-  
नम्, न तु भेदास्फूर्त्यर्थः । नन्वेवं ज्ञानिनस्तत्र भेददर्शनम्, स्वप्ने भेदास्फूर्तिरेवादिद्यत्वात्,  
किमप्येवमिहेत्येतत् आहुः ब्रह्मेत्यादि । अनोच इति, न बाधं भेदान्तरमिति तत्र ब्रह्मणा-  
दन्वस्थाबोधः । तथा च, ज्ञानिनोऽज्ञानान्तरे भेदस्फूर्त्यभावे अज्ञानस्य बीजत्वेन वज्रमशक्त्वत्वात्,  
ज्ञानमेव बीजत्वेन वक्तव्यम् । तथापि ईश्वरभेदज्ञानं तथा, तदा सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेदबोध-  
कायाः श्रुतेर्वीर्य इत्यवस्थान्तरे अभेदज्ञानमेव हेतुत्वेन वक्तव्यम्, तथा सति सिद्ध एवा-  
वस्थान्तरे ज्ञानिजीवस्य ईश्वरभेदस्वतन्त्रमदृष्टान्तेनाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वमेत्यादि । इति  
दृष्टान्ततः सार्वभिककस्तृतीयायै तसिः । स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवतः स्वरूपे द्रष्टरि सति  
तस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिनम् ब्रह्मः स्वामावेहाभेदो निरूपित इति योजना । तथा च, तत्र स्वाम-  
न्नो ज्ञान्यज्ञानिनापारण इति मैत्रेयोकदृष्टान्तवाक्यवलेन जीवत्वेभ्यरभेद आपादयितुं न

तच्छिरः । अस्याऽनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो न भवतीति तन्निवृत्त्युपाय उच्यत इत्याह  
तन्निवृत्तिप्रतिकारा इति, “स वै निवृत्तिचिधर्मेण” (२-७-१२) इत्यादिना ॥५६॥५७॥

मार्गद्वयेनानर्थनिवृत्तिः, भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च । तत्र प्रथमे शून्यैस्तिरोभाव  
इति मैत्रेयाभिप्रायः । सर्वैस्तिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे । तदा न स्वमदर्शनम् ।  
जागरणेऽपि न देहादावत्प्रबुद्धिः, किन्तु सुषुप्तिवत्स्वैवाद् ब्रह्मानन्दानुभवः ।

निबन्धः—निदर्शनं सुलभं साधनं च गृह्य सृक्तिरन्तेन वै तत्प्रकाशः ।

तदुक्तं वै दर्शनं यत्र भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या ॥५८॥

प्रकाशः— तत्र प्रथमपक्षे श्रुक्तिर्वक्तव्येति मैत्रेयः कैमुतिकन्यायेन “अशेषसिद्धे-  
श्रयणम्” ३७-१४ इति श्लोकेन निरूपयतीत्याह निदर्शनं सुलभमिति । दृष्टान्तोऽत्र  
सुलभः । सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात् । साधनं च सुलभं सर्वत्र सतां  
भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात् । चकाराञ्च देशाद्यपेक्षा । नन्वेवं सति कथं न सर्वेषा-  
मनयो निवृत्तौ तत्राह गृह्य सृक्तिरिति । समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः, गृह्य गुणा ।  
तेनैव हि भगवत्प्रकाशः स च दुर्लभ इति न सर्वश्रुक्तिः । अत एव भक्तिमार्गो दुर्लभ  
इति तददर्शनमुक्तम् । ज्ञानमार्ग उक्तः । तदपि तदेव दर्शनम् । यत्र भेद्यमात्मनो भेदं  
न भासयति । एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः । भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यत इति । सापि  
सेवा शास्त्रनिष्ठा पश्चारात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित्कृता । इयमाद्या प्रथमत एव  
कर्तव्या । पश्चाद्भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

अयं सिद्धान्तो ज्ञातव्य इत्येवामिष्येत सर्वं पृष्ठमित्याह तदर्थमेवेति ।

निबन्धः—तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः ।

अतोऽपि न विसर्गत्वमन्यशेषाद्यनीयसा ॥ ५९ ॥

शक्यत इति कांपण्यादेमाधिकत्वमेव विरोधपरिहारे उपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयदृष्टान्ततत्कार्यमाहु-  
स्तर्हीत्यादि । तर्हीति जीवेश्वरयोरुभयोरपि सामदेहाद्भिन्नत्वे । एवं जीवेश्वरभेदेऽपि जीवस्यैव  
आन्त्या संसार इति श्लोकद्वयेन समर्थितम् । तथा सति तस्य निवृत्तिस्तकारणनिवृत्त्या भवति  
नान्यथेति कारणनिवृत्त्युपायोऽन्वेष्टव्यः । स को वैत्यपेक्षायाम् स वै निवृत्तीत्यादिकं बढतीत्याश-  
येनाहुः अस्थेत्यादि ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ शून्यैरिति, मार्गस्य दुर्लभत्वाच्चमैरिति भूयानु-  
सारेण बोध्यम् ॥ ५८ ॥ सर्वं पृष्ठमिति, विदुरेण पुनः सर्वं पृष्टम् ।

प्रकाशः—अनेन सम्यक्त्वमेव समर्थितमित्याह अतोपि न विसर्गत्वमिति । यवीयसां ब्रह्मादीनां सृष्टिकर्तृभंगवतो विभूतिशेषत्वात् । एवं पूर्वपञ्चाध्याये विभूतिज्ञानार्थं प्रश्नः समर्थितः ॥ ६९ ॥

विभूतिज्ञानं च भागवतादेव भवतीति तस्य प्रस्तावनेत्याह श्रीभागवतमेवाधेति ।

निबन्धः—श्रीभागवतमेवाऽत्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि ।

स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यानमीरितम् ॥ ६० ॥

प्रकाशः—अन्यतः श्रवणं वारयितुं परम्परामाहेत्याह स्वज्ञानख्यापनार्थमिति ॥ ६० ॥

कथं ब्रह्मणो विभूतित्वमित्याशङ्क्याह तदुद्भवस्तदाज्ञस इति ।

निबन्धः—तदुद्भवस्तदाऽऽज्ञप्रस्तपसा तोषिते हरौ ।

स्तुते सम्प्रार्थिते चैवं बोधितः सर्वमेव हि ॥ ६१ ॥

चतुर्मुखश्रकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया ।

इति दर्शयितुं पृष्ठ उपोद्घातं त्रिभिर्जगौ ॥ ६२ ॥

प्रकाशः—सप्तधा यो भगवत्सम्बन्धी स तस्य विभूतिः । आवेषी भवतीत्येके । अत्र गुणातीतात्सृष्टियुक्त्वा सगुणात्सृष्टिर्वक्तव्या, सापि “विरिञ्चोपि तथा चक्रे” ३-१०-४ इति दशमाध्याये वक्तव्या । मध्येऽध्यायत्रयेण कथं सगुणात्सृष्टिरित्याशङ्क्याह इति दर्शयितुं पृष्ठ इति । त्रिभिरुपोद्घातो निरूपितः । अनेन विभूतित्वनिरूपण एव तात्पर्यमिति ज्ञापितम् । यतः सृष्टिरत्येनैवोक्ता ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

पद्मकल्पस्य विशेषतो निरूपणे हेतुमाह पद्मकल्प इति ।

निबन्धः—पद्मकल्पः सात्त्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान् ।

अनेनेति सप्तमाध्यायस्थेन ‘तद्विभूतीर्वदस्व’तिप्रश्नेन मूले “यवीयसाव विसर्गत्वमि”-त्यन्वयः । एवं सप्तमाध्यायो विचारितः ॥ ५९ ॥

अष्टमाध्यायं विचारयन्ति विभूतिज्ञानमित्यादि । भवतीति, विभूतिर्भवति । सप्तप्रकरास्तु तदुद्भवत्वं तदाज्ञप्रत्वं तपसा तपोपकत्वं तस्त्वावकत्वं तत्पार्थयितृत्वं तद्वोधितत्वं तदाज्ञकारित्वमित्येते मूलाद्बोध्याः ॥ ६० ॥

अथेति, सृष्टिप्रकरणे । इतीति इत्यादिभिः षड्भिः । अध्यायत्रयेणेति, सप्तमादित्रयेण । इति दर्शयितुमिति, उक्तप्रकारैः सप्तधा भगवत्सम्बन्धित्वेण विभूतित्वं दर्शयितुम् । अनेनेति, अष्टमाध्यायस्थेन “स पद्मकोश” इत्यादिक्लोकद्वयेन ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये ॥ ६३ ॥

प्रकाशः—पद्मकल्पत्वात्पूर्वकल्पस्याप्तमसौ भवितुमर्हति । अतस्तस्य प्रलयो निरूप्यते, तत्र यः शिष्टः शेषश्चासी भगवान् स चोत्तरत्र हेतुत्वार्थं निरूप्यते । अतः पद्मकल्पोऽत्यन्तं शुद्धो भवति ॥ ६३ ॥

अत्र कल्पभेदेषु पदार्थानामन्यथात्वं दोषाय न भवतीति ज्ञापयितुं पृथिव्यास्तिरूपत्वमाह जघनान्जघनपृथिवीरिति ।

निबन्धः—जघनान्जघनपृथिवीयुपेस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम् ।

ब्रह्मे पादो वराह च तेन नाऽन्योन्यदूषणम् ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—ब्रह्मकल्पे विराजो जघनरूपा पृथिवी । पद्मकल्पे तस्यैव नामिषमरूपा । वराहकल्पे तु पृथिव्या । तन्नाम्नादिवराहकल्पे ब्रह्मणाऽजलादिपञ्चलोकानां हस्त्येनोद्भूतिः कृता, पुष्करपर्णे च स्थापिता । सैव मन्ना पुनर्भगवतोद्भूता वराहकल्पे । अर्थं तु श्वेतवाराहकल्पस्ततोपि विसदृशस्तेन दृश्युतयोर्विरोधो न मन्तव्यः ॥ ६४ ॥

ननु बहूनां कल्पानां विद्यमानत्वात्कथं त्रयमेव निरूपितं तत्राह । प्राकृतं त्रयमेतदिति ।

निबन्धः—प्राकृतं त्रयमेतत्स्यादन्येष्वेकं यथोचितम् ।

अतस्त्रिधा भागवते भुवो रूपनिरूपणम् ॥ ६५ ॥

प्रकाशः—अन्ये कल्पा एतद्विकाराः । अत एतेषामन्यतरस्य तेषु पृथिव्यादीनां रूपं भवति । अत्र निदर्शनार्थमाह अतस्त्रिधा भागवत इति ॥ ६५ ॥

तेषु कल्पेष्वन्यानपि धर्मान् विवेचयति पुरुषावयववैरिति ।

निबन्धः—पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ्क हि ।

पृथिवी वा समुद्रा वा परिसामध्यवत्पुरम् ॥ ६६ ॥

तदा सर्वं हरिर्मानो न मानीत्यपरे विदुः ॥

प्रकाशः—ब्रह्मकल्पस्यवस्थेयम् । तदा भगवतः सकाशत्सृष्टिव्यादीनां न

पुष्करपर्णे च स्थापितेति, एतेन “तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयति”ति श्रुतिः स्मारिता, पद्मकल्पीयाण्डस्थितिश्च बोधिता ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

अतस्त्रिधेति मूले । अत इति, सर्वेवेदितहाससारत्वात्वात् ॥ ६५ ॥



मिन्नतथाश्वस्थानम् । एकमेव विराड् रूपमावरणजलमध्ये परिखामध्यनगरमिव तिष्ठति । तस्मिन् कल्पे सर्वे हरिरेव शरीरत्वात्, यतः स मानी । अन्ये त्वाहुः, विराट्शरीरं भगवता नारायणेन लीलायै करणत्वेनैव गृहीतमिति । तस्मिन्पक्षे क्रीडाभाण्डं विश्वं न भगवत्स्वरूपमित्यर्थः । स्वस्यैव समवाप्तित्वेपि कामवेत्नादिदृष्टान्तैर्न तत्राऽऽत्मस्फूर्तिः । किन्तु आत्मीयत्वेनैव स्फुरणम् ॥ ६६१ ॥

द्वितीयपक्षं निरूपयति धेति ।

निबन्धः—यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि ॥ ६७ ॥

जलं च मध्यतः सृष्टमथवाऽण्डस्य मध्यगम् ॥ ६७१ ॥

प्रकाशः—पद्मकल्पपक्षे प्रलयजलमपि नास्ति । किन्तु तिरोहितो नारायणः केवलं नाभिपद्ममेव स्थलकमलवत्तिष्ठति । जलं च तन्मध्ये पुनः सृष्टम् । अण्डनमध्ये वा

परिखामध्ये इत्यादि, द्वितीयकल्पे ब्रह्मकल्पस्य निरूपितत्वात्तत्रत्यसन्देहेन तथा तिष्ठतीत्यवसीयत इत्यर्थः । ननु मानित्वपक्षे भगवतो नात्मत्वेन जगत्सृष्टिः, तथा वचनाभावात् । अत आत्मीयत्वेनैव धकञ्चया, तथा सति कर्म मानित्वमित्यत आहुः स्वस्यैवेत्यादि । तथा आत्मीयत्वेन स्फुरणमपि न मानित्वान्निरित्यर्थः ॥ ६६ ॥

एवं ब्रह्मकल्पयिविराड् व्यवस्थामुक्त्वा पद्मकल्पीयां वज्रमाहुः द्वितीयपक्षमित्यादि ।

जलमपि नास्तीति । नवमाध्याये “कञ्जनाभस्तिरोध” इत्युक्तेत्दावरणमृतजलमपि तिरोहितमतो नास्तीत्यर्थः । ननु तर्हि “न्यायाद्वायुं सहाम्भसे”त्युक्तस्य विरोध इत्याहङ्गात्प्रायाहुः जलं चेत्यादि । “तद्वैवं तन्नाभिसरःसरोजमाल्यानमम्भःश्वसनं विष्ये”ति वाक्ये नाभिः सरस्वतिरूपमेतं तत्र तत्पुनः मृष्टमित्यवगम्यते । अन्यथा नारायणनिवासभूतस्य महाजलस्य ब्रह्मणा मातृमशकयत्वा “व्यपादि”त्युक्तिविरोधापत्तेः । ननु तत्र “विष्टुद्भविज्ञानचल” इति ब्रह्मविशेषणान्महाजलधारेणिविरोध इत्याहङ्गायां पद्मान्तरमाहुः अण्डमध्ये वेत्यादि । तथा चैवं तज्जलसद्भावात्कौरेपि सत्कल्पे अण्डनिर्भेदस्यानुकत्वात्पदसञ्चारिकार्या । तथा सत्यावरणजलं तिष्ठत्यण्डोपरि । मध्ये विराडितिरोहिते मध्यजलस्यैव न्यायादित्यनेन पानमुच्यत इति न कोपि विशेष इत्यर्थः । ब्रह्मकल्पादस्मिन् विशेषान्तरदाहुः तदेष्यादि । “अनेन लोकान् प्राणानान् कल्पितास्मी”तिवाक्यतः कमलात्सर्वम् । “एते मेवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः” इतिवाक्यतः सर्वे भगवदंशा भगवन्मायासहिताथेति श्रेयमित्यर्थः । न चात्र कालसाहित्यं कुतो नोकमितिसङ्गमम्, कालसाहित्यस्य ब्रह्मकल्पेपि सत्त्वात्, “कालं कर्म स्वभावं वे”तिवाक्यत्वात् । एवं चोक्तवाक्ये कालमात्रस्योक्तत्वेपि परिणामजननोः कार्यवोर्दर्शनात् स्वभावकर्मणोरपि साहित्यं विवक्षितं श्रेयम् । किञ्च, यथा द्वितीयस्कन्धे “अयन्तु ब्रह्मणः रूपः सविकल्प उदाहृत” इतिवाक्याद्विकल्पसहितमहाकल्पस्य

विराडितिरोहिते कमलमात्रं प्रादुर्भूतं तिष्ठति । तदा कमलात्सर्वम् । सर्वे भगवदंशा भगवन्मायासहिताथेति ॥ ६७१ ॥

तृतीयकल्पमाह कदाचिज्जलवद्भूमिरिति ।

निबन्धः—कदाचिज्जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता ॥ ६८ ॥

कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते ।

न समुद्रास्तदा सप्त न तथा विस्तृता च भूः ॥ ६९ ॥

प्रकाशः—यथा पद्मकल्पे जलनिर्माणमेवं बराहकल्पे भूमिर्माणम् । कटाहमूले रसातले तदा सप्तसमुद्राणां सङ्घावे प्रमाणाभावात्पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा पृथिवी न भवति । ज्योतिःशास्त्रविरोधाच्च ॥ ६९ ॥

अन्यदपि वैलक्षण्यमाह न शेन इति ।

निबन्धः—न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि ।

द्वितीये शयनं तस्य तृतीयेपि कचिद्भवेत् ॥ ७० ॥

प्रकाशः—नतु ब्रह्मकल्पातिरिक्तकल्पेषु कथं सर्वस्य भगवन्मूलत्वं तत्राह तदुद्भारादिति ।

कथा, तथा “पार्श्वं कल्पमथो शृण्वति”ति प्रंतिज्ञाय तृतीयस्कन्धे कर्तृस्वरूपद्वैविध्यकथनादत्रापि महाकल्पे पापे गुणातीतात्तद्विषयेषु सगुणादिति बोध्यम् ॥ ६७ ॥

एवं पापकल्पव्यवस्थामुक्त्वा बाराहकल्पमाहुः तृतीयेत्यादि । भूमिर्माणमिति, नारायणेन कृतमित्यर्थः । मूले तस्येति, आदिबाराहस्य ब्रह्मणश्च । तदेति, बाराहकल्पे । एवं च पद्मकल्पेपि पृथिवी ब्रह्मकल्पपेक्षया स्वलेतिप्रतिभाति, पद्मस्याण्डमध्यगतत्वात् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

मूले, न शेते इति, ब्रह्मकल्पे गोलस्य ऊर्ध्वत्वात् शयनस्यानुकत्वात् तिरोभावस्योक्तत्वाच्च तथेत्यर्थः । ( मूले ) तस्येति, नारायणस्य । भगवतैवोद्भारा इत्यादि । एतेन पद्मकल्पे अवयवांशत्वात्सर्वस्य भगवन्मूलत्वम् । बाराहकल्पेपि पूर्वमतलादिपञ्चोद्भारास्य तन्मज्जनस्य च कथनेन शेषलोकास्थितिस्तुचनत्वात्पूर्वाण्डस्थितिसिद्धौ तदुद्भारादित्यनेन अवयवांशभूतत्वा एवोद्भारा आयातीति सर्वस्य परम्परया भगवन्मूलत्वमित्यर्थः । कः पूर्वपक्ष इत्यत आहुः विराडितिरोहिते, तथा च “विराडतिरिक्तः कः शेते” इति पूर्वपक्ष इत्यर्थः ।

१ “प्रतिज्ञायाः पाठः । २ “शृणु” इति कियत्पदस्य कर्म “पापकल्पम्” तस्य महाकल्पविषयभेदेन स्वस्वरूपद्वैविध्यकथनात् ।

निबन्धः—तदुद्धारात्तदाधारात्तन्मूलं सर्वमत्र हि ।

अयं नारायणः शोते पूर्वमृष्टं निपीय तु ॥ ७१ ॥

प्रकाशः—भगवतैवोद्धारः श्रुतिव्याः कृतः । पद्मकल्पे पद्मस्य स एवाऽऽधारः, अतस्तन्मूलत्वम् । एवं कल्पभेदेन विरोधे परिहृत्य “उदाच्छुतं विश्वम्” इत्यत्र कल्प-विच्छन्नं निरूपितम् । तत्र पूर्वपक्षपरिहारार्थमाह अयं नारायणः शोत इति । विराजः शयनं न सम्भवतीति शङ्का । उत्तरं तु तिर्यग्गोलाभिप्रायेण । अस्यापि कल्पस्य पूर्वमपि पद्मकल्प एव । “अनेन लोकान् प्राण्ठीनान्” इति वाक्यात् ॥ ७१ ॥

शयनस्थानमाह स्वाधार इति ।

निबन्धः—स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तस्स्थितिः ।

उदरस्थं जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते ॥ ७२ ॥

प्रकाशः—स्वस्मिन्नेव जलं कल्पयित्वा तस्मिन् शोते दैनंदिनप्रलयस्तादृशोपि भवति । अन्यथा नारायणस्य शयनं न सम्भवति । अथवा, यथाश्रुतानुरोधेन पश्चान्तरं कल्पनीयमित्याह अण्डकटाहं वेति । तदा निद्रानिमिषं प्रलयोऽण्डोलोकत्रयस्य । तदा नारायणोऽनेन मित्र एव, पूर्वोक्तपुरुषाद्विभक्तस्य वान्तर्थाभिरूपः । उभयत्रापि

तिर्य्यंगित्यादि । ज्योतिःशास्त्र इत्यादिपि कल्पे तिर्यग्गोलोकाँ विराजोपि शयनं सम्भवत्येवेति पूर्वपक्षपरिहार इत्यर्थः । ‘उदाच्छुतमि’त्यनेनोक्तस्य कल्पस्य पद्मकल्पविकल्पत्व-बोधनायाहुः । अस्यापीत्यादि ॥ ७० ॥ ॥ ७१ ॥

स्वस्मिभित्यादि । उदाच्छुतमित्यादि । सन्दर्भे स्वस्य लोकपद्माधारत्वमुक्त्वा तल्लो-कपक्षे “स उ एव विष्णुः प्राचीविशिष्टः”त्यादिना स्वस्वैवाधेयमुच्यते इति जलाधारत्वमपि तस्य सुवचमित्यर्थः । तादृश इति, सर्वप्रलयरूपः । यन् सर्वप्रलयरूपताकल्पनस्य किं प्रयो-जनमत आहुः अन्यथेत्यादि । स्वाधारे स्वस्य शयनकल्पनं क्लिष्टमित्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः । अथवेत्यादि । यथा श्रुतानुरोधेनेति, अष्टमाध्याये अण्डनाशनिरूपणभावात्तदनुरोधेन । नन्वस्मिन् पक्षे विराजः स्थितत्वेन सर्वलोकान्यथाभावाद्दन्तःशरीरे तस्स्थित्यभावे नारायणेन स्वान्तः किं दृष्टं ! कश्च नारायण ! इत्येवशायामाहुः लोकत्रयेत्यादि । पूर्वोक्तपुरुषादिति विराट्शरीरात् । अनुकल्पाद्भेदेपि वक्रमशक्य इत्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः तस्य वेत्यादि । नन्वेवं कल्पनात् क्लेशस्य किं प्रयोजनम् ? यथा कथञ्चित् श्रुतमपि पापानि हरिण्यतीत्यत आहुः

१ “स्थिते” पाठः ।

जलमध्ये एव स्थितिः, यावत्सम्भवानां पदार्थानां हानोपादाने कर्तव्ये । अत्र विरो-धमाशङ्क्य परिहरति उदरस्थं जगत्सर्वमिति । जले मयं जगदिति प्रथमतो निरूप्य “अन्तःशरीरेऽर्पितभूतवृक्षम्” इति पुनरन्तर्निरूप्यते । तत्राधिभौतिकं नष्टम्, आ-ध्यात्मिकमन्तःप्रवेशितामितिष्यवस्था । तदाह जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते इति ॥ ७२ ॥

राजसत्त्वे हेतुमाह न मृदमिति ।

निबन्धः—न मृदं न प्रकाशं च कृष्णदृष्ट्या तदुद्गमः ।

सङ्कोचश्च विकाशश्च नाऽन्यथेति तथोद्गमः ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—तस्य निर्गमने हेतुमाह कृष्णदृष्टयेति । तत्रापि हेतुमाह सङ्को-चश्चेति । अन्यथा सङ्कोचविकाशां न सम्भवतः ॥ ७३ ॥

अस्मिन् कल्पे तत्त्वानां न नियम इति ज्ञापयितुं स्थानापत्तिमाह प्रथमे तु महत्त्वं यथेति ।

निबन्धः—प्रथमे तु महत्त्वं यथा पद्मं तथाऽपरे ।

परिपालकरूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः ॥ ७४ ॥

ब्रह्मा स्वयमभूद् द्वेषा स्वयमर्थोन्तरः पृथक् ।

अनन्तदृष्टितो भ्रान्तस्तददृष्ट्या तस्य दर्शनम् ॥ ७५ ॥

यावत्सम्भवानामित्यादि, यावान् सम्भवो येषां ते यावत्सम्भवालोपात् । अत्र यावत्सम्भा-वनमिति पाठः प्रतिभाति । तथा च, विद्वेषणापि संशयनिरासार्थं प्रयतितत्वादापुनिकैरपि यावच्छक्यं विधेयमतस्तथेत्यर्थः । एवं विरोधार्थं स्थानविषयकं स्वरूपविषयकं च परिहृतम् । जगद्विषयकं स्वरूपविषयकं परिहर्तुमाहुः अत्रेत्यादि ॥ ७२ ॥

कृष्णदृष्टयेति । भगवद्विचारेण । तत्रापीति, विचारालोकदृष्टावपि । अन्यथेति राजसत्त्वाभावे । तथा चोद्गमविचारे जगतो राजसत्त्वं हेतुरित्यर्थः ॥ ७३ ॥

अस्मिभित्यादि । प्राथमिकाल्पकल्पाद्विकल्परूपे अस्मिन् सर्वेषां तत्त्वानां नोत्प-त्तिनियमः, कतिचनप्राचीनान्येव तिष्ठन्ति, कानिचिदेवेत्येवमन्त इति ज्ञापयितुं विश्व-किंस्थानस्योत्पत्तिमाहेत्यर्थः । महत्त्वेत्यादि । पूर्वन्तु मायायां उपरूपेण भगवद्गर्भात्तत्त्वो महत्त्वरूपो जगदङ्कुरस्ततोऽण्डात्पुरुष एव विश्वरूपः । तद्विच्छान्नात्रेण वास्तुवर्णयन्तान्

१ नापत्येति ।

प्रकाशः—महत्त्वस्वस्थानीयं पद्मं, तदेव जगदाधारम् । ततः कथं ब्रह्मोत्पत्तिरित्याशङ्क्य भगवानेव तत्र प्रविष्टा ब्रह्मरूपेण जातः, परं शब्दब्रह्मरूपेण प्रविष्टः । अतः पुरुषस्थानीयोऽप्ययं ततो न्यूनरूपतया व्यपदिश्यते । पद्मकल्पेऽयमेव विराट्स्थानीयः । अस्य शब्दब्रह्मात्मरूपस्य कार्यद्वयसिद्धयर्थं रूपद्वयमाह ब्रह्मा स्वयमभूद् बेधेति । तत्र श्चर्यरूपः स्वयं चतुर्मुख एव जातः । यतो रूपप्रयत्नोद्भवः । अतः शब्दब्रह्मरूपीति जातः । यतो वेदा जाताः । यद्यप्यभेदेन वचनं तथाऽप्यर्थोच्छेदात्मकः पृथक् । नन्वेवं महत्त्वस्तस्य पद्मे समुद्भूतस्य कथं स्वकारणान्वेषणे अमस्तत्राह अनन्तदृष्टितो भ्रान्त इति । यदा पुनस्तद्दृष्टिरन्तर्दृष्टिस्तदा तस्य दर्शनम् ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

तत्र यादृशे दृष्टस्तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमित्याह साकारमेवेति ।

निबन्धः—साकारमेव तद् ब्रह्म कारणं च तदेव हि ।

इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मत्वाय वर्ण्यते ॥ ७६ ॥

प्रकाशः—अस्मिन्कल्पे पद्मं ब्रह्मा च नाऽतोऽन्यत्किञ्चिदस्ति । एतस्य यत्कारणं तत्रैसाकारं तदा ब्रह्मैव तथा । कारणान्वेषिणा हि कारणमेव दृश्यते । अतस्तदेव कारणमिति ज्ञात्वा भगवद्वर्णनं स्तोत्रं च । अस्मिन् स्तोत्रे भगवत्स्वरूपनिर्णयः ॥ ७६ ॥

सङ्ख्यापि स्तोत्रश्लोकानां ब्रह्मत्वनिर्णय इत्याह एकविंशतिनिरिति ।

निबन्धः—एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम् ॥

चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम् ॥ ७७ ॥

प्रकाशः—“एकविंशो हि पुरुषो भवति दशहस्त्या अङ्गुलयो दशपथा आर्क्षै-

सृष्टिः । अत्र तु, महत्त्ववज्जगद्ब्रह्मरूपं समन्ततो माण्डोल्पिस्तस्यात्र प्राचीनस्यैव विद्यमानत्वात्, अतः कथं ततो ब्रह्मोत्पत्तिरित्याशङ्क्येत्यर्थः । अत इति शब्दब्रह्मरूपत्वात् । कार्यद्वयसिद्धयर्थमिति नामरूपात्मकार्यद्वयसिद्धयर्थम् । पृथगिति, नामरूपयोरेक्याभावात्पृथगित्यर्थः । तस्य दर्शनमिति, कारणस्य दर्शनम् ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ एवमष्टमाध्यायो विचारितः ।

नवमं विचारयन्ति । तत्र यादृश इत्यादि । अन्यदिति महत्त्वविक्रमम् । स्तोत्रप्रयोगनमाहुः अस्मिन्नित्यादि । तथा च, स्वरूपनिर्णयाय स्तोत्रमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

१ पद्म । २ अन्तः पाठः कश्चिदुभयं नास्ति ।

कविशः” इति । किमनेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह नित्यं भजनम्, तदेव जन्मनः फलम्, तच्चतुर्भिः श्लोकैः प्रार्थ्यते, वस्तुतो भगवत्प्रसादः प्रार्थनीयः । तस्याप्येतत्कारणमिति तावदिदमेव प्रार्थ्यते । यतः संसारे दुर्लभमेतन् । भजनसिद्धयर्थं तत्र चत्वारोऽर्थाः प्रार्थिताः । तेनैवाथार्थ्यजनं प्रार्थितं भवति ॥ ७७ ॥

तान् गणयति सात्त्विकत्वमिति ।

निबन्धः—सात्त्विकत्वं गुणासक्तिकर्वाचकाविस्मृतिस्तथा ।

अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नाऽन्यथा ॥ ७८ ॥

प्रकाशः—नन्वेतच्चतुष्टयं प्रमाणदेव साधनीयमित्याशङ्क्याह कृष्णतस्तद्धि नान्यथेति ॥ ७८ ॥

नन्वेवं प्रार्थनायां कथं न सिद्धवत्कारेण सर्वं दत्तवान् ? किमिति साधनमुपदिष्टवानित्याशङ्क्याह प्रेम्णा न सेवनं यस्मादिति ।

निबन्धः—प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः ।

आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनाऽन्यस्तत्फलं ततः ॥ ७९ ॥

द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेनैवाऽविस्मृतिस्ततः ।

प्रकाशः—ननु प्रार्थनानुत्तारेण नोत्तरं किन्तु “भूयस्त्वं तप आतिष्ठ” इत्यादिभिन्न एवोपदेश इत्याशङ्क्याह आद्ये तप इति, साधनं ह्युपदिश्यते सात्त्विकत्वं तपसा भवति । भगवद्गुणेष्व्वासक्तिकर्त्तव्येन भवति, तेनैव वाचकाविस्मृतिरपि, वेदानामविस्मरणम् । एतन्नित्यसम्पत्तौ तत्फलमनुद्वेगः सेत्स्यति । अन्यदपि फलं भगवद्गीलापरिह्वानम् । तस्मिन् सिद्धे हृदयोत्साहोऽपि वेदाविस्मरणमपि सम्पत् सेत्स्यति ॥ ७९ ॥

अनुद्वेगे हेतुन्तरमप्याह कृष्णासक्त्येति ।

निबन्धः—कृष्णासक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा ॥ ८० ॥

स्तोत्रे पञ्चविंशतिपद्यानीति शिष्टानां प्रयोजनं वक्तुमाहुः किमनेनेत्यादि । अनेनेति स्वरूपनिर्णयेन । ननु ‘सोयं समस्तजगतामि’त्यादिषु चतुर्षु भजनमार्थनं न दृश्यत इति शङ्कानिरासायाहुः भजनसिद्धयर्थमित्यादि ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

भगवद्वाक्यतापर्यं वदन्ति नन्वेवं प्रार्थनायामित्यादि । साधनमिति, प्रार्थितानामर्थानां साधनम् ॥ ८० ॥

अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता ।

प्रकाशः—नन्वप्राप्ते कृष्णे सुतरामुद्वेगः स्यादत आह प्रीतो भक्ते हरिः सदेति । नित्यं प्रीतियुक्तभक्ते हरिः प्रीतः सन्नोद्वेगं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ८० ॥

इममेवार्थं ज्ञापयितुमष्टभिः श्लोकैर्भगवद्बचनं निरूपितम् । तेनैव रूपेण तिरोभूत इति नित्यताऽपि तस्य । एवं नवमेनाध्यायेन ब्रह्मपितृब्रह्मणा साधिता ॥ ८० ॥

ननु नवमाध्याय एव सगुणात्मूर्ध्विकल्प्या तदर्थं प्रथमं कर्तव्यस्तत्कथमत्रानु-  
क्त्वा कालप्रकरणे दशमाध्याये प्रश्नोचरे इत्याशङ्क्याह चरित्रपरचित्त्वादिति ।

निबन्धः—चरित्रपरचित्त्वाद्ये पृष्ठं न पूर्वतः ॥ ८१ ॥

अत एव गुरुः प्रीतः क्रमेणैवाऽऽह नाऽन्यथा ।

प्रकाशः—उपोद्घातत्वेन भगवच्चरित्रं मध्ये प्रस्तुतम्, तत्परं चित्तं जातमिति तत्पूर्वपर्यन्तं न किञ्चित्पृष्ठमित्यर्थः । प्रश्नाभावादेवोचरामपि न । उचरन्नोच्यमानमपि पूर्वशेष एव भविष्यतीति भावः । अनेन भगवद्भक्तानां प्रसङ्गादपि भगवत्कथास-  
म्पत्तौ प्रकान्त औदासीन्यं द्रष्टव्यम् । तदेव भक्तत्वम् । एतत्परीक्षार्थमेव गुरुणा तथोक्तम् ; 'प्रीतः प्रत्याह' इतिवाक्यात्, पश्चात्तन्नेन प्रीतस्तदाह अत एव गुरुरिति । प्रीतिलिङ्गमाह क्रमणैवाऽऽह नाऽन्यथेति । पूर्वसम्बद्धरूपेणैव प्रश्नोचरमाह न तु भिन्नतया । अन्यथा तथा प्रश्नान् पूर्वसम्बद्धानेव वदेत् ॥ ८१ ॥

यद्येक एव पद्मकल्पः स्यात्तदा "अनेन लोकान् प्राग्लोान्" इति वाक्यं नोपपद्येत । अतस्तत्समर्थनार्थमाह पद्म कल्पश्च बहव इति ।

निबन्धः—पद्मकल्पाश्च बहवस्तेन ज्ञानं तथोदितम् ॥ ८२ ॥

पद्मतः सर्वसम्भेदं ब्रह्मभेदं तथोक्तवान् ।

अष्टभिरित्यादि । यद्यपि भगवदुक्तौ पद्मदशश्लोकास्तथापि मार्थनानुसूक्ततया मुख्यं एते उक्ताः शेषास्त्वेतच्छेषाः । ननु क्रमदिवा सङ्गः । आद्ये तप इति, द्वितीयारम्यैव ग्रहणादिति ॥ ८१ ॥ एवं नवमाध्यायो विचारितः ।

दशमाध्यायं विचारयन्ति । ननु नवमेत्यादि । उचरन्निति दशमाध्याये ॥ ८२ ॥

नोपपद्येतेति, कल्पान्तरेऽस्याभावेनास्मिन् लोककल्याणभावदान्यैः कपालैरेतद्व्यवस्थान-  
न्यत्र लीलानामनेन कर्तुमशक्यत्वान्नोपपद्येत्यर्थः । मूले, बहव इति । तथा चास्य पद्मकल्प-

प्रकाशः—किं तेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह पद्मतः सर्वसम्भेदमिति । ननु "तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूद्" इतिवाक्यं विरुद्धयेतेत्यत आह ब्रह्मभेदं तथोक्तवान-  
मिति । ब्रह्माण्डान्तरे भिन्नस्य ब्रह्मणः पूर्वपराध्यायान्तपक्षे न दोषो भवतीति ब्रह्मभे-  
दोऽप्यनेन द्रष्टव्य इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अथवा वर्षाभिप्रायोन्तश्चन्द्रः, तदा त्रिशतं पृष्ठिर्ब्रह्मकल्पा भवन्ति, तदाह सामान्यतो विभागोयमिति ।

निबन्धः—सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि ॥ ८३ ॥

सृष्टिर्द्विधापि सम्पूर्णा कारणानामतः कथा ।

प्रकाशः—न तु चरमदिवसस्य । एवं कल्पान्तराणामपि विभागः द्रष्टव्यो ज्ञातव्यः । अथवा, सगुणाद्ब्रह्मणः सृष्टिः कथं न विशेषाकारेणोक्तव्याशङ्क्याह सामान्यत इति, सामान्यप्रकारेण सर्वेषामेवोक्तम्, एतवान् जीवलोक्तयेति ॥ ८३ ॥

उपसंहरति सृष्टिर्द्विधापीति । किञ्चित्त्रयं मुख्येति कालद्वारा सृष्टिं वक्तुमाह कारणानामतः कथेति ॥ ८३ ॥

निबन्धः—कालो जीवश्च वै रूपे नास्मि वैदिकमुच्यते ॥ ८४ ॥

विकल्पत्वाद्यनुपपत्त्यभावेन वाक्योपपत्तिरित्यर्थः । सर्वसम्भेदमिति । सर्वत्र कार्यं पद्मभि-  
श्रणमित्यर्थः । विरुद्धयेतेति बहुवचनकारेण कल्प इत्येकवचनव्याकोपाद्विरुद्धयेत्यर्थः । अने-  
नेति । पराध्यायान्तकल्पैकत्वकथनमुत्तेन ॥ ८३ ॥

एवमेतद्वाक्यद्वयोपपत्तावपि ब्रह्माण्डान्तरवृत्तान्तकथनप्रयोजनं न स्फुटमित्यरुच्या पश्चा-  
न्तरमाहुः अथवेत्यादि, प्रयोजनविशेषस्यास्फुटत्वेपि माहात्म्यज्ञानरूपस्य सामान्यप्रयोजनस्य स्फुटत्वादिदं व्याख्यानमनर्थकमित्यरुच्या पश्चान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । एवं सपदि-  
कचत्वारिंशतिभिः सप्तमाद्यध्यायत्रयं दशमस्य नवश्लोकाश्च विचारिताः । तेन पद्म-  
विधसृष्टौ देवद्वैतरूपेण द्विधा सृष्टिः सम्पूर्णव्याहुः उपसंहरतीति । अतः परं त्रिधा विधसृष्टौ देवद्वैतरूपेण द्विधा सृष्टिः सम्पूर्णव्याहुः उपसंहरतीति । अतः परं त्रिधा विधसृष्टौ पादोक्तैकपृष्ठिभिर्विष्णुं प्रथमतः पादोक्तैकपृष्ठिभिः कालसृष्टिं तद्द्वारा तत्सृष्टिममुक्त-  
जीवसृष्टिं चाहुः विष्णुतिरित्यादि । ननु सर्गलक्षणे भूमादिपदैल स्वाम्येवोक्तानीति कारणसम्भू-  
तिवाक्येपि तान्येव ब्राह्मणि, तथा सति कालजीवयोः सर्गकथनस्य कोऽभिप्राय इत्येतो मूलमाहुः कालेत्यादि ॥ ८४ ॥

कालस्य कार्यतो जन्म तदुपाधिवशादपि ।  
अन्यक्तत्वात्कृष्णभावान्नोपपत्तिः कापि तस्य तत् ॥८५॥  
तथापि कारणत्वाद्धि प्रश्नो युक्तं तथोत्तरम् ।

प्रकाशः—तत्र कालस्याध्यायप्रथमेन निरूपणं कथयन् भेदमाह कालस्य कार्यत इति । स्वभावतो जन्माभावे हेतुमाह अन्यक्तत्वादिति । 'जनीं प्रादु-  
र्भावे' इति धात्वर्थोभावाद्भवदवतारत्वाच्च त्रिविधाऽप्युत्पत्तिर्नास्ति । तर्हि मूढो कथं तत्कथेत्साशङ्क्याह तथापीति । कालस्य कारणत्वमनुभवसिद्धम्, "यद्भयाद्भाति वातोयम्" इत्यादिक्याह । अतः प्रश्न उत्तरं च युक्तम् ॥ ८५ ॥

निबन्धः—लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणताऽपि च ॥ ८६ ॥

सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वापरिच्छेदकरः स्वयम् ।

प्रकाशः—कालस्य कारणत्वे यन्निमित्तं तदाह सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वादिति । कालेनैव परिच्छिन्नं कालेनैव क्रियते ॥ ८६ ॥

कथमेवं सामर्थ्यमित्याशङ्क्यैतदर्थमेव कालरूपत्वमित्याह इदं कालस्य कालत्वमिति ।

निबन्धः—इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावोदिकं स्वतः ॥ ८७ ॥

कार्यतः कालकथनात्सामान्येन निरूपणम् ।

प्रकाशः—रसायनिनये हि केवलैव हस्तेन सर्वं पदार्थोद्घातविशेषेण प्रदर्शयेत्, अतः काल एव ब्रह्मणः सर्वभावेनाऽऽविर्भावे परिच्छेदहेतुः । केचन आविर्भावहेतु-  
त्वेन वर्णयन्ति तन्निर्णयार्थमाह आविर्भावोदिकं स्वत इति । आविर्भावितोर्भावो-  
दिकं ब्रह्मणः स्वत एव, परिच्छेद एव परं कालात् ॥ ८७ ॥

रूपे तत्त्वामके रूपसर्गे, तथा च, तत्पमेयं वेदसारोद्धारत्मकत्वाद्वैदिकम् ।  
तैत्तिरीये "सर्वे निमेषा जश्चिरे विदुतः पुलादधि, कला मूहृषीः काष्ठाश्वाहोरात्राश्च सर्वशः ।  
अर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरश्च कल्पन्तामि"त्युपाधित उत्पत्तेः श्रानितत्वाद्बुध्यत इत्यर्थः ।  
तत्—पदमग्रिमस्योकादाऽऽशुभ्याश्च योजनीयम्, तत्र तस्यानन्वयात् । त्रिविधाऽप्युत्पत्तिर्नास्तीति,  
अन्यक्तत्वात्क्रान्तरूपा, भगवत्वात्समागमरूपा, अवतारत्वाद्बुध्यतिरूपा, च नास्तीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

कालेनैव क्रियत इति, उपादानपदसार्थः, कर्तृक्रियाव्याप्तस्यैव समवायिन उपा-  
दानत्वात् ॥ ८७ ॥

कालो हि निरूपणीयः, स सामान्यविशेषप्रकारेणाऽध्यायद्वयेन निरूपणीयः,  
तत्र कार्यनिरूपणस्य कुत्रोपयोग इत्याशङ्क्यामाह कार्यतः कालकथनादिति,  
कार्यनिरूपणमेव सामान्यतो निरूपणम् ॥ ८७ ॥

नन्वत्र दशविधगणना किमिति कृता, सामान्यत एव कालकार्यत्वेन सर्वमेव  
जगद्रक्षयमित्याशङ्क्याह कश्चित्प्रकारमन्त्रित्येति ।

निबन्धः—कश्चित्प्रकारमाश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये ॥ ८८ ॥

संगानां गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षता ।

पक्षिजातिविशेषो वा तच्छब्देन तथोदितः ॥ ८९ ॥

प्रकाशः—तथा सति सर्वं कार्यं न ज्ञातं भवति । बुद्धिसौकर्यसिद्धयर्थं ततो  
गणना । तत्र खगानां गणनामध्ये भल्लूको गणितः, स च मृगविशेषो लोके प्रसिद्धो  
जाम्बवज्जातीयः । तस्य पक्षिषु गणना न युक्तेत्याशङ्क्याह भल्लूके लोमपक्ष-  
तेति । पक्षान्तरमाह पक्षिजातिविशेषो चेति ॥ ८९ ॥

ननु "अवार्क् स्रोतस्तु नवमः" इत्यत्र कथं नराणामेकविधत्वं, मानुषेषु उच्यते  
अपि "मध्यमा मानुषा ये तु" इत्यादिषु भेदेन गणनात् । तत्राह अकृत्रि-  
मनराणां चेति ।

अत इति "योग्यं कालस्तस्य तेऽप्युक्तवन्नोद्घेष्टामाहुश्चेष्टे येन विश्वमि"ति वाक्येन चेष्टा-  
रूपत्वात् । स्वत इति यथेदानीं तथा चाग्ने पश्चादप्येतदीदृशमित्येवं तात्पर्यम् । सामान्यतो  
निरूपणमिति, तथा च, कालसत्साधने तदुपयोग इत्यर्थः । एतेन 'दिकालाकाशादिभ्य' इति-  
साङ्ख्यमवचनसूत्रोक्तं निरस्तं ज्ञेयम्, सर्गादावाकाशाभावात् । न च खगावादेव गुणव्यतिकर  
इतिवाच्यम्, सर्गानादित्वापत्तेः । स्वभावस्यैतर्गतत्वात् । न चेष्टापत्तिः । प्रतिसङ्क्रमामाव-  
प्रसङ्गात् । कापिलैरपि तदङ्गीकारात् । तथा सति पुनः सङ्क्रमनिमित्ततया गुणशोभस्याव-  
श्यकत्वेन शोभकस्य कालसाधोपस्यैव सिद्धेः । न च पुनः सङ्क्रमो नास्त्येति युक्तम्, तथा  
सति सदसत्तापत्त्यार्थवैनाशिकमतप्रवेशेन सिद्धान्तहानिप्रसङ्गात् । अतः सर्गादेः कालसाधक-  
चिरक्षिमव्यवहारोदिरूपकार्यान्तरामात्रेण शोभस्यैव तत्साधकत्वमतः सामान्यतो निरूपण-  
मिति भावः ॥ ८७ ॥

अतः परं सर्गे नवविध इत्यादिकं विचारयन्ति नन्वत्र दशोत्यादि ॥ ८९ ॥

निबन्धः—अकृत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हि ।

ते जायस्व त्रियस्वेति मार्गगा एव कीर्तिताः ॥ ९० ॥

प्रकाशः—एते हि कालकार्यत्वेन कृत्रिमनरा गणिताः । अकृत्रिमाः सह-  
जास्तु त्रिविधाः । उत्तमाः सात्त्विकाः । ते ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा । अन्येऽपि  
ज्ञातव्याः । तेषां कर्मोपनिबन्धमाह ते जायस्व त्रियस्वेति ॥ ९० ॥

आत्मानं लीलया सृजतीत्यभिप्रायमाह अनेकविधसृष्टिश्रेयैदिति ।

निबन्धः—अनेकविधसृष्टिश्रेयैषम्यादि हरेर्भवेत् ।

आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नाऽत्रोक्तदृषणम् ॥ ९१ ॥

प्रकाशः—नन्वेते दश प्रकाराः सर्वदा कालांजायन्ते आहोस्वित्सकृदि-  
त्याशङ्क्य सकृदेव कारणतया जाता इत्याह तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वादिति ।

निबन्धः—तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तता ।

कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः ॥ ९२ ॥

प्रकाशः—तत्कथा कालकथा । परमाणुपदनिरुक्तिमाह कार्यनाशोऽणु-  
पर्यन्तमिति । स्थौल्याभावे हि सूक्ष्मता सा यत्र पर्यवसिता स परमाणुः ॥ ९२ ॥

तत्र कालस्य परमाणुत्व उपपत्तिमाह मानसोत्तरभूमेरिति ।

निबन्धः—मानसोत्तरभूमेस्तु सौंशः सूर्यस्थेन हि ।

यावता क्रम्यते कालः परमाणुः स उच्यते ॥ ९३ ॥

सर्वं नभोमण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु ।

कृत्रिमनरा इति भगवद्वाचा एवाभिनयेन दर्शिताः सर्वे इत्यर्थः । अन्येपि ज्ञातव्या  
इति, भगवदुपासका अप्युत्तमत्वेन ज्ञातव्याः । तेषामिति मध्यमादीनाम् ॥ ९० ॥

मूले, नात्रोक्तदृषणमिति । अत्यां सृष्टौ तृतीयमार्गप्रवेशरूपं दूषणं नेत्यर्थः  
॥ ९१ ॥ एवं दशमाध्यायो विचारितः ।

एकादशं विचारयन्ति । परमाणुपदेत्यादि । मूले० मानसोत्तरेत्यारभ्य संवत्सरः  
परः प्रोक्त इत्यन्तेन संवत्सरान्तस्य कालस्य सूर्यगत्याच्छिन्नत्वात्सैव तच्छब्दप्रवृत्तिमिति-

निबन्धः—संवत्सरः परः प्रोक्तस्तदावृत्तिरतः परम् ॥ ९४ ॥

षष्टि भेदा द्वादशात्मा तेन पञ्चात्मकः स्मृतः ।

प्रकाशः—पञ्चसंवत्सरादिभेदेषुपपत्तिमाह षष्टि भेदा इति । प्रमवाद्यः  
षष्टि भेदा बार्हस्पत्यमान एव सिद्धाः । तत्र बृहस्पतिद्वादशारं कालचक्रं द्वादश-  
भिवर्षैराक्रामति, तस्य षष्टिवर्षेषु पञ्चवारमाक्रमणमिति संवत्सरादयः पञ्च ॥ ९४ ॥

सङ्ख्या च परपर्यन्ता न ततोऽधिका । संवत्सरगणनया ऋणयो दिनं  
गणयितुमशक्यमिति युगकल्पना कृतेत्याह यत्राऽऽवृत्तिरिति ।

निबन्धः—यत्राऽऽवृत्तिर्न वैवास्ति परार्धानधिकत्वतः ॥ ९५ ॥

सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरुदीर्यते ।

प्रकाशः—“यत्र धर्मो विधीयते” इत्यादिनिरूपणं कालनिरूपणे व्यर्थमि-  
त्याशङ्क्याह उत्पद्यमानसन्देह इति ।

निबन्धः—उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः ॥ ९६ ॥

दिनरात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः ।

प्रकाशः—“कृतकृत्याः प्रजाजात्या” इत्यादिधर्मैः कृतादिशब्दप्रवृत्तिः ।

धम् । संवत्सरादिपञ्चकशब्दप्रवृत्तौ तु टीकायां बृहस्पतिगतिर्निमित्तम् । युगतद्विषेपवाचकशब्द-  
प्रवृत्तौ तु तदुभयगतिरप्रयोजिकेति तत्रोपायो वक्तव्य इति हृदिहृत्वाहुः यत्रेत्यादि ॥९४॥९५॥

व्यर्थमिति शब्दप्रवृत्त्ययोजकत्वाद्ब्रह्मधर्मम् । मूले० उत्पद्यमानेत्यादि । उत्पद्यमाने  
धर्मविषयके सन्देहे विभेदतः युगविभेदात् । धर्ममाह, तदुपपादनार्थं धर्मसूक्तवानित्यर्थः ।  
तदिदं व्याकुर्वन्ति कृतकृत्या इत्यादि । तन्निरूपणार्थमिति, शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानिरूपणार्थम्,  
तथा च तस्य व्यर्थमित्यर्थः । नन्वेवं सर्तीत्यादि । धर्मस्य युगविषेपवाचकशब्दप्रवृत्ति-  
निमित्तत्वे सति सूर्यादिगतिवक्तृतादिष्वहोरात्रव्यवस्थायामपि धर्मप्रवृत्तिनिमित्तं स्यादित्यर्थः ।  
तत्र साधारणमिति, कार्याकार्यविभजनं सर्वयुगेषु तुल्यम् । साधारण्यं व्याकुर्वन्ति दिवस  
इत्यादि । अतो न तच्छ्रुतापहोरात्रवचनप्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु, युगविषेपवाचकस्यैव प्रवृत्ति-  
निमित्तमिति ज्ञापनायात्रैवोक्तमित्यर्थः । मूले० सर्वत इति, सार्वभौमिककृतासिः । सर्व-  
युगेष्वित्यर्थः । साधारणे इति शेषः ॥ ९६ ॥

अतो मनुष्या अपि तन्निरूपणार्थं निरूपणीयाः । तेषां च धर्मभेदको धर्म एवेति धर्मनिरूपणम् । नन्वेवं सति कृतादिष्वहोरात्रमपि धर्मप्रज्ञाभिः स्यात्तथाह दिनरात्रिव्यवस्थायामिति, तनु साधारणं, दिवस एव कार्यं न रात्राविति ॥ १६ ॥

**निबन्धः—**तत्राऽपि कार्यभेदान् हि वक्तुं धर्मादिवर्णनम् ॥ १७ ॥  
तत्सिद्धये षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक् ।

**प्रकाशाः—**किञ्च, रात्रौ दिवसे च कार्यविभेदाः प्रतिकल्पं भिन्नाः । अतोऽपि धर्मादिवर्णनं कर्तव्यम् । धर्मसिद्धयर्थमेव मन्वन्तरनिरूपणम् । मन्वन्तरस्य षड्विधत्वं षडङ्गनिरूपणार्थम् । यतस्ते मन्वाद्यः षडपि भिन्ना, देशाद्यो यतो भिन्नतया स्थिताः । अतः षण्णां योगे धर्मो भवतीतिसिद्धम् ॥ १७ ॥

**निबन्धः—**सर्वेषां स्थितिसिद्धयर्थं भगवत्कृतिवर्णनम् ॥ १८ ॥  
तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिवृत्तिः ।

**प्रकाशाः—**यथाकथञ्चिदप्युत्पन्नाः परस्परं विरुद्धगुणा नाशं यास्वन्तीत्याशङ्क्य भगवता पालनशुक्तम् । तर्हि कदाचित्प्रलयो न स्यादित्याशङ्क्याह तन्मूल एव प्रलय इति, भगवतैव प्रलयः क्रियते । ननु परमदयालुः किमित्येवं करोतीत्याशङ्क्याह शयने सर्वनिवृत्तिरिति, निरन्तरशुत्पत्तिप्रलयाभ्यां पीडिता जीवा भगवच्छयन एव निवृत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ १८ ॥

एतच्छयनं पद्मकल्प एव भवतीत्याह पद्मानुसारीति ।

**निबन्धः—**पद्मानुसारिशयनं ब्रह्मा चाण्डवपुः स्मृतः ॥ १९ ॥

यथा युगविशेषव्यवस्था धर्मकृता, तथा कल्पविशेषव्यवस्थापीति ज्ञापनायाहुः किञ्चेत्यादि । एतेन तत्रापीत्यर्थं विदुतम् । तत्रापीति, कल्पभेदेपि । तत्सिद्धया इत्यर्थं व्याकुर्वन्ति धर्मसिद्धयर्थमित्यादि । भिन्नतया स्थिता इति भिन्नप्रकारेण स्थिताः ॥ १७ ॥ सर्वेषामित्यर्थं विदुष्वन्ति यथाकथञ्चिदित्यादि । तर्हीति, भगवतां रक्षणे क्रियमाणे सति ॥ १८ ॥

एतच्छयनमित्यादि । “अन्तः स तस्मिन् सरसी”तिपयोक्तं शयनं पद्मकल्प एव भवति,

**भोक्तृत्वं कर्तृता चैव तन्मः भेदेन वर्णयते ।**

**प्रकाशाः—**नन्वेवं सति त्रिलोक्या नाशे “स्तूयमानो जनालयैः” इति वाक्यं नोपपन्नं स्यादत आह ब्रह्मा चाऽण्डवपुः स्थान इति, ब्रह्माऽण्डविग्रहः, एवं लोकत्रये कल्पादिष्ववस्था, अन्यथा “तस्यैव चान्ते” इतिवाक्यं नोपपद्येत । नन्वेवं सति नाभिकमले को वा ब्रह्मा को वा सत्यलोक इति शङ्कायामाह भोक्तृत्वं कर्तृता चैवेति । अभिमानी ब्रह्माण्डविग्रह इत्ययोपाम । एवं त्रयो ब्रह्माणो भवन्ति ॥ १९ ॥

दैनन्दिनप्रलये कर्तृब्रह्मणः शयनोपायमाह पद्मे नोदरग इति,  
**निबन्धः—**भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी ॥ १०० ॥  
प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा ॥

**प्रकाशाः—**अनेनाऽभेदेन वर्णनपक्षो निवारितः । द्वितीयपद्मकल्पे पुनस्तस्यैव सर्गः । वाराहकल्पे त्वन्यथा, तां सुष्ठिमग्रे वक्ष्यामः ॥ १०० ॥

नन्वेकेनैव सर्गेण भगवल्लीलासिद्धौ किमित्यनेकवर्णनं तत्राह अस्मिन्नण्ड इति ।

**निबन्धः—**अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्याऽसन् कल्पाः सर्वकथोक्तये १०१  
तेषामुक्तिस्तथा चाये नाम्ना रूपस्य वर्णनम् ॥

“तस्यैव चान्त” इत्युपसंहारनैकब्राह्मणस्य नैकत्वेपि तत्रैतारशे जले शयनानुक्तेश्चास्तित्रैव भवतीत्यर्थः । नन्वेवं मनीत्यादि, महर्लोकामोवत्सलिले शयने सति त्रिलोक्या नाशे स्तूयमानवाक्योक्तानां स्थावकामांशुपरिष्ठलेनाविनयप्रसक्त्या इदं वाक्यं नोपपन्नं स्यादित्यर्थः । ब्रह्माण्डविग्रह इति, तथा च, “कालेनानुगतशेष आस्ते तृष्णी दिनात्यये” इत्यनेन य उक्तः, स सत्यलोके जनालयैः स्तूयमान आस्त इति ब्रह्मभेदानुगतोपपत्तिर्वाक्यस्यैः यर्थः । ब्रह्मद्वयकल्पने बीजमाहुः एवमित्यादि, एवं कल्पने क्रियमाणे लोकत्रयविषयिणी कल्पमानवन्तरयुगाव्यवस्था सिद्धयति । एवमकल्पने तु ब्रह्मकल्पे उत्पन्नस्यार्द्धाद्युत्पत्तवतो ब्रह्माणो विषयान्त्वात्स्यैव चान्त इत्यत्र लोकतरोहदं यदुक्तं तत्र को वा उत्पत्स्यते, अत एतदवस्था-नुपपत्त्या ब्रह्मद्वयकल्पनमावश्यकमित्यर्थः । अभिमानीति, रजोगुणामिमानी । एवमिति रजोभिमानीब्रह्माण्डभोक्तृलोकत्रयकर्तृभेदान्वास्थाभेदादाधिदैविकादिभेदेनेत्यर्थः ॥ १९॥ १०१ ॥

अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते ॥ १०२ ॥

प्रकाशः—पौरुषोऽत्र विभूतिरूपः । सोऽस्मिन्नण्डे चारुशस्तादृशो वर्णनीयः । अतः सर्वेषां कथासिद्धये कल्पानामुक्तिः ॥ १०१ ॥ तत्र प्रथमकल्पे ब्राह्मे सृष्टिकर्ता ब्राह्मा छन्दोमयो निरूपितः, स नोपपद्यत इत्याशङ्क्य समाधानमाह तथा चायं इति । नामसृष्टिर्मिथ्या निरूपिता, सापि रूपसृष्टिपरतन्त्रेति न कोपि दोषः । आधिदैविकं वा रूपम् । अत एव “अथात्म्याकात्मनः” इतिवचनम् । अन्यथा प्रकारान्तरेणेति पूर्वैषैव सम्बन्धते । आधिदैविकस्य शरीरित्वसम्बद्धत्वं भगवत एव युक्तं, नान्यस्तथा कर्तुं शक्नोति । इममर्थं शब्दप्रसिद्ध्यापि समर्थयते तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते इति । ब्रह्मशब्देन भगवानेव ॥ १०२ ॥

कालनिरूपणप्रस्तावे सर्वप्रभृत्त्वं कालस्य निरूप्य अक्षरेपि प्रभृत्त्वं भविष्यती-  
त्पाशङ्क्य आध्यात्मिकमेदानां तत्र प्रभृत्त्वमावमाह अतोऽधिककल्पेति ।

निबन्धः—अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरुषे ।  
तत्रोपपत्तिकथनमेवं कालो निरूपितः ॥ १०३ ॥

प्रकाशः—भेदे हि सङ्ख्या नियामिका, द्विपराद्धाधिकसङ्ख्याया अभावात् ।

पौरुष इति, विसर्गः । सर्वेषामिति, विभूतिरूपाणां ब्रह्मणामन्येषाञ्च । नोपपद्यत इति, रूपान्मात्कर्तृत्वेन नोपपद्यते । निरूपितेति, “तस्मोऽधिगासीशोमस्य” इत्यादिना द्वादशाध्याये निरूपिता । इति न कोपि दोष इति, इति हेतोरन्यथानुपपत्त्या अर्थादेव रूपसिद्धेर्न कर्तृत्वानुपपत्तिदोष इत्यर्थः । नन्वेवं सति नामरूपसृष्टिकर्तारो द्वावापचेताम्, तथा सति मन्यादिपाठकोन्यः, तज्जनकोन्य इति बहु वैरूप्यं कल्पनायां स्यादित्यलक्ष्या पक्षान्तरमाहः आधिदैविकं वेत्यादि । अन्यथेत्यस्य व्याख्यानं प्रकारान्तरेणेति । तथा आधिदैविकत्वेन ब्रह्मकल्पे भगवानेव नामसृष्टिकर्तृत्वार्थः । निरूप्येति, द्विपराद्धन्ति ईश्वर इतीश्वरपदेन निरूप्य । भविष्यतीति, कालस्य भविष्यति । एवं पादोनविधायिभिः कालसृष्टिरेकादशेध्याये विचारिता ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

अतः परं सपादैः पञ्चदशमिर्जीवसृष्टिं निरूपयन्तो द्वादशाध्यायं विचारयन्ति । अतः परमित्यादि । मुक्तिप्रकरण इति । मुक्त्युपाध्यायरूपे विचारयन्ति । न कारणभूता इति । न सृष्टिकारणभूताः किन्तु तत्त्वाधीनत्वेन तत्त्वविभूतितया कार्यभूता इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

१ ऋषिरव इति पाठः ।

कालप्रवृत्तिः पुरुषे नास्ति, “निमेष उपचर्यते” इति तत्रोपपत्तिः । अध्यायद्वयेन काल-  
प्रकरणं निरूपितमित्युपसंहरति एवं कालो निरूपित इति ॥ १०३ ॥

निबन्धः—अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्तविभेदतः ।

मुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशमा यतः ॥ १०४ ॥

प्रकाशः—अतः परमेकेनाध्यायेन जीवा निरूप्यन्ते, तत्राशुक्ता जीवा  
सृष्टिप्रकरणे वक्तव्याः । तेन कारणभूताः । मुक्तास्तु जीवाः कारणभूता एकेनाध्यायेनो-  
च्यन्ते । मुक्तानां कथं कारणत्वमित्याह मुक्तानामिति, मुक्ता हि भगवत्सम्बिधाने  
सिद्ध्यन्ति, अतो यदा भगवान् सृष्टिं कर्तुमिच्छति तदा स्वलीलासिद्धयर्थं तान्नेरयति,  
अतो भगवदिच्छावशास्ते कारणभूता इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

तत्र मुक्तानां द्वैविध्यमाह लोकातीता इति ।

निबन्धः—लोकातीता लौकिकाः च तत्राऽऽया नाऽधिकारिणः ।

उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषामविद्या निर्मिता ततः ॥ १०५ ॥

प्रकाशः—प्रथमानां मुक्तौ कारणत्वम्, सा हि जीवानां स्वरूपत ( एव )  
आविर्भावरूपेतेति पूर्वमुक्तम्, तत्र लोकातीता वैकुण्ठेपि विरक्तास्तिस्रन्ति । अतः  
सृष्टौ ते नाऽधिकारिणः । मुक्तयश्च चोत्पादनीयाः । ज्ञानार्थं त एव गृहीत्वावतरन्तीति,  
अतस्तान् व्यामोहयितुमविद्याया उत्पत्तिः ॥ १०५ ॥

निबन्धः—अभिमानो देवतेयं यतः सर्वं भविष्यति ।

मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पञ्चैका वाऽत्र देवता ॥ १०६ ॥

प्रकाशः—सा हि आधिदैविकी, तेन सर्वानेव व्यामोहयिष्यतीति सर्वकार्य-  
सिद्धिः । अत्राऽविद्यायां पञ्चदशमाह मूलेति । एकैव देवतेति सिद्धान्तः ॥

ननु लोकातीता यदि सृष्टौ न कारणभूता तदा सृष्टिप्रकरणे किमित्युच्यन्ते इत्याशङ्क्या-  
माहः प्रथमानामित्यादि । (मूले) उत्पत्तिर्दुर्घटेति व्याकुर्वन्ति अतस्तान्नित्यादि ॥ १०४ ॥ १०५  
सिद्धान्त इति अविद्या पञ्चपर्वत्येकत्वनिर्देशान् सिद्धान्तः ।

१ चार पाठः ।



लोकातीतोत्पादनार्थमुत्पादिता ॥ १०६ ॥

प्रथमं ब्राह्माभावाद्ब्रह्माणमेव मोहितवतीत्याह मूढ इति ।

**निबन्धः**—मूढस्तया चतुर्वक्त्रः कृष्णध्यानं चकार ह ।

लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम् ॥ १०७ ॥

**प्रकाशः**—देवतारूपत्वान्न ध्यानप्रतिबन्धिका, लोकातीतानामुत्पत्त्यनन्तरं तदध्यानं सृष्टिप्रकरणे जातं, ब्रह्मणः शरीरे प्रतिष्ठितं तत्कार्यमेव भविष्यति ॥ १०७ ॥

मध्ये सनकादीनामुत्पत्त्यनन्तरं क्रोधो जात इत्याह सर्गावेशादिति ।

**निबन्धः**—सगविशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भवः ।

तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे ॥ १०८ ॥

**प्रकाशः**—ब्रह्मणो हृदये सृष्टिराविष्टा तत्प्रतिबन्धे क्रोधस्फूर्तिर्धुक्चैव । अविद्यासन्निधानमपि हेतुः । तथापीच्छाभावे कथमुत्पत्तिरित्याशङ्क्याह अविद्याकार्यसम्भव इति, क्रोधस्त्वविद्याकार्यं तत एकोत्पद्यते, स च क्रोध आधिदैविकः । आध्यात्मिकब्रह्माक्षयिमनार्थं प्रवृत्त इत्याह तदुत्पत्तिविचारेणेति । सनकादयो महान्तो ज्ञानार्थमेवोत्पादिता इति तदुत्पत्तिविचारः ॥ १०८ ॥

**निबन्धः**—क्रोधे हि ध्यानसंयोगात्कृष्णांशः प्रविवेश ह ॥

तेनोभयस्य निःस्तारो हान्यर्थैकस्य संक्षयः ॥ १०९ ॥

**प्रकाशः**—आधिदैविकः क्रोधो न नियम्यः । ततो नियमनार्थं व्याप्तो ब्रह्मशरीरं दग्धुमुद्यतः । तत्र पूर्वं ध्यानं प्रतिष्ठितमिति क्रोधस्य ध्यानेन सह सम्बन्धो जातः । ततो ध्यानयुक्ते क्रोधे कृष्णावशाः प्रविष्टः । ततो यज्जातं तदाह तेनोभयस्येति । सनकादीनां ब्रह्मशरीरस्य च ॥ १०९ ॥

तस्य रोदनमयुक्तमित्याशङ्क्याह उत्पत्त्यमानानिति ।

**निबन्धः**—उत्पत्त्यमानानखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम् ।

संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मप्रीत्यै स्वयं पुनः ॥ ११० ॥

एकत्वं कार्यतोऽभिर्गमयन्ति लोकेत्यादि ॥ १०९ ॥ ननु तथा मोहने भगवद्ब्रह्मणमेव कथं भवेदित्यत आहुः देवतेत्यादि ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

अयमंश इति, रोवनांशः । संश्लिष्टवचनत्वे किं गमकमित्यत आहुः तथा वचनस्येत्यादि ॥ ११० ॥

संसारानुपशुक्तान् हि स्त्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन् ।

**प्रकाशः**—अयमंशः कृपारूपः । “ नामानि कुरु मे घातः ” इतिवाच्यं रोदनस्य नामादिकरणहेतुत्वात् न भवतीत्याह संश्लिष्टवचनमिति । तथावचनस्य प्रयोजनमन्वदप्यस्तीत्याह स्वयं पुनरिति । तदाज्ञाप्यतिरेकेण सृष्टिरक्षय्या, तस्यैव तत्राधिकारात् ॥ ११० ॥

**निबन्धः**—अतः शीघ्रमनेकेषामुत्पत्तिः प्रतिकूलतः ॥ १११ ॥

निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये ।

**प्रकाशः**—स तु पूर्ववद्ब्रह्मा विज्ञेयानभिन्न आत्मां दत्त्वान्, तच्छ्रीब्रह्मनेकेषामुत्पादनय, तैः कारणस्ये हृष्टिर्न भविष्यतीति निवारणम् ॥ १११ ॥

निवारितः प्रतिबन्धं करिष्यतीत्याशङ्क्य तपोबोधनम् ।

तपसा हि क्रोधकारणीभूताऽविद्या नाशमेप्स्यति, ततः शुद्धः क्रोधो यथायुक्तमेव कार्यं करिष्यतीति ( ब्रह्म ) वाक्यार्थः । तमाह उपाधिबिनिवृत्त्यर्थमिति ।

**निबन्धः**—उपाधिबिनिवृत्त्यर्थं कारणत्वाच्च निर्गमः ॥ ११२ ॥

अतोऽभिनेन्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह ।

**प्रकाशः**—नन्वेव सति ब्रह्मदेवे क्रोधकारणीभूताऽविद्या तपसा कथं न दग्धा, दग्धार्थां वा कारणस्य नष्टत्वात्कथं न लयः, कथं केवलं प्रतिबन्धनिवृत्तिरेवेत्याशङ्क्याह कारणत्वाच्च निर्गम इति, ब्रह्मदेवस्य कारणभूता सा । कार्यभूतं तु तपः । तेन कार्येण कारणस्य न निर्गम इत्यर्थः ॥ ११२ ॥ अतः प्रतिबन्धनिवृत्तिरेव जातेत्याह अतोऽभिनेन्य कृष्णस्येति ॥ ११२ ॥

एवं लोकातीतानामुत्पत्तिमुक्त्वा लौकिकोभेत्स्यत एवोत्पादयेत्तदाऽभीष्टमिच्छिन्ने भविष्यतीति तदुत्पादने प्रकारं कृत्वाऽन्त्याह सृष्ट्यर्थमिति ।

**निबन्धः**—सृष्ट्यर्थं भगवद्ब्रह्मानामरीच्याद्युद्भवः पृथक् ॥ ११३ ॥

पूर्वैदित्यस्य आत्मां दत्त्वानित्यनेन सम्बन्धः । मूले, प्रतिकूलत इतिभावप्रमाणः, प्रतिकूलत्वादित्यर्थः ॥ १११ ॥

वाक्यार्थे इति ब्रह्मवाच्यतात्पर्यम् । न निर्गम इति, न नाशः ॥ ११२ ॥

प्रकारमिति पृथक्त्वानकत्वम् ॥ ११३ ॥

धर्मव्यवायसिद्धयर्थमेका स्त्री पुरुषाः परे ।

प्रकाशः—पृथक् स्थानात्सर्वे उत्पादिताः । तत्प्रयोजनं धर्मव्यवायसिद्धिः । एवं सात्त्विकानां राजसानामुत्पत्तिशुक्ला तामसोत्पत्तिं करिष्यन् “पुत्रैर्निवारितः” इति वक्तुं कथं ब्रह्मणः सकाशात्तामसोत्पत्तिरित्याशङ्क्यादासायाह एका स्त्रीति, वागेका स्त्री, अन्ये सर्वे पुरुषाः, आस्याद्भागिति ॥ ११३३ ॥

ततः किमत आह अविद्यासन्निधानादिति ।

निबन्धः—अविद्यासन्निधानाद्धि मृष्ट्यावेशाच्च तद्भुवि ॥ ११४ ॥

जांतः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे ।

प्रकाशः—दोषत्रयात्कर्त्यां सर्गार्थं मतिं चक्रे । अविद्यामृष्ट्यावेशो हृदि कामोत्पत्तिः ॥ ११४३ ॥

निवारणे हेतुमाह अधर्मे धर्मेनाशः स्यादिति ।

निबन्धः—अधर्मे धर्मेनाशः स्यादिति ऋणेन वारणम् ॥ ११५ ॥

तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत्तनुः ।

प्रकाशः—तामसीमपि सृष्टिं भगवाननुमन्येव, यदि सा धर्मेनाशिका न स्यात् । तथा सति पूर्वसृष्टिद्वयमपि गच्छेत्, अतो निवारणं युक्तम् । ननु तनुत्यागो नाम कः पदार्थस्तत्राह तद्भावस्य परित्याग इति, तनोः किं प्रकृतिकत्वमित्या-  
काङ्क्षायामाह सा रिरंसेति ॥ ११५३ ॥

तत्तृतीया सृष्टिर्न जातेति तदर्थं ध्याने क्रियमाणे वेदानामुत्पत्तिर्जातेत्याह सृष्टिध्याने वाचकानामिति ।

निबन्धः—सृष्टिध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः ॥ ११६ ॥

तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्राह्मणो रूपकीर्तनम् ।

प्रकाशः—प्रकारः पूर्वादिशुक्लतेः । तेन शब्दानां प्रकारभेदः । लौकिका-  
॥ ११४४ ॥ ११५३ ॥

तत इति, रिरंसात्यागात् । तदर्थं ध्याने क्रियमाण इति, तामससृष्टयर्थं भगवद्भ्याने क्रियमाणे । प्रकारभेद इति, लौकिकालौकिकभेदः । सिद्धे इति, तामससृष्टित्वेन सिद्धे । अरण्यमृष्ट्यर्थमिति, नित्यसम्बन्धेन वाचकत्वार्थम् ॥ ११६३ ॥

१ ‘अधर्मेः सर्वनाशः’ पाठः ।

लौकिकभेदेन तृतीया सृष्टिः । तेन जीवानां रूपनामनी सिद्धे नाम्नामत्स्यमृष्ट्यर्थं तन्मूलदेवतामाहेत्याह तन्मूलस्येति ॥ ११६३ ॥

एवं गुणसृष्टिशुक्ला केवलैः मपञ्चब्रह्मभावमाशङ्क्य सन्निपातसृष्टिं वक्तुं मष्टव इति वदन् सन्निपातविरोधिने परित्यक्तवानित्याह नामावेशं परित्यज्येति ।

निबन्धः—नामावेशं परित्यज्य रूपावेशात्तु पूर्ववत् ॥ ११७ ॥

इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम् ।

प्रकाशः—ततोऽपराशुपादायेत्यादिना । तत्र ब्रह्मणोन्तःकरणं न सन्निपात-  
रूपमिति भगवदपेक्षायां भगवदिच्छया तच्छरीरमेव द्विधाभूतं तदाह इच्छाध्याने  
इति ॥ ११७३ ॥

एवं चतुर्विधा सृष्टिं निरूप्योपसंहरति कारणत्वादिति ।

निबन्धः—कारणत्वान्मुक्तजीवा एवमेके निरूपिताः ॥ ११८ ॥

नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा

प्रकाशः—अमुक्तानामुत्पत्तिः पूर्वमेवोक्ता ॥ ११८ ॥ जीवप्रकरणे नामोत्पत्तिर-  
युक्तत्वमाशङ्क्य पुनः स्मारयति नामोत्पत्तिश्च तच्छेषेति ।

इदानीं तृतीयाः कल्प उच्यत इत्याह तृतीया इति ।

तृतीयस्यधुनोच्यते

कल्पस्तत्र हि सृष्ट्यानां न पूर्वस्माद्दिशिष्यते ॥ ११९ ॥

मपञ्चब्रह्मभावमिति तस्य मुक्तिम् । अपरामिति, रूपसृष्टीच्छाम् । न सन्निपातरू-  
पमिति “असदामनुजादि”तिवेदस्तुतिवाक्यान्नुप्योपरिकशास्त्रानां मनसः सत्त्वेन  
तथेत्यर्थः ॥ ११७३ ॥ पूर्वमिति दशमाध्याये “सप्तमो मुख्यसर्ग” इत्यादौ ॥ ११८३ ॥

एवं सपादैः पञ्चदशभिर्द्वादशाध्यायविवारे मुक्तजीवसृष्टिर्निरूपिता ।

अतः परं सप्तभिर्ध्यायैस्तदुपोद्घातात्तत्र पादोर्नैवभिन्नयोद्दशाध्यायस्यार्थं  
विचारयन्ति । इदानीमित्यादि ॥ ११९ ॥

“द्वेषाध्याय” पाठः

भूसंस्थानविशेषोऽस्ति तदेवात्रोच्यते परम् ।

ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षुत्तुः प्रश्नस्तु पूर्ववत् ॥ १२० ॥

पित्राज्ञयैव तद्धर्मलोभेद्येवं कथा तता ।

प्रकाशः—कालशीवीं निरूपितौ । तदर्थं ब्रह्मकल्पपञ्चकल्पौ च निरूपितौ । अधुना भूमिर्निरूप्यते सापि सर्वकारणमिति । तदर्थं वाराहकल्पोपि निरूप्यते । अत्र आदित आरभ्य सर्वेनिरूपणमाशङ्क्याह तत्र हि सृज्यानामिति । अतिदेशन्यायेन सर्वकल्पेषु साधारणधर्माः समायान्ति, विशेषधर्मा एव वक्तव्याः । ते चैकस्वचित्स्थाने समायान्ति तदा स्थानानां बाधः । तत्र भूसंस्थानं न पूर्ववदिति तदुच्यते, तेन पञ्चजनयोर्बाधः । पूर्वधर्माणामनुवृत्तिं ज्ञापयितुं मनोरत्र प्रयोजकत्वं निरूपयतीति तस्य भावमाह ध्यानरूपो मनुर्जात इति । पूर्वमिच्छाध्याने निरूपिते तत्रेच्छा शतरूपा । ध्यानं मनुः । तेन ब्रह्मणो विस्मरणेपि ध्यानमेव तं प्रेरयतीति भावः । विधृतिविस्तारार्थं मनोरूपत्विः, सा भगवच्छीलिते भक्तत्व-ज्ञापनाय मश्र इत्याह क्षुत्तुः प्रश्न इति । सर्वं कामाबोदनया वा मृष्टिः । तत्र कामप्रवृत्तौ वराहकल्पो न मोक्षपर्यवसायी भविष्यतीत्याशङ्क्य चोदनया मृष्टिमाह पित्राज्ञयैवेति । “उत्पाद्य शासधर्मण” इति वाक्ये मजोत्पादनं पृथिवीपालनं यज्ञकरणमिति धर्मा उक्ताः । ते ब्रह्मण एव आज्ञया कृताः । एवं ज्ञापयितुं मनुब्रह्मसंवादप्रकार इत्यर्थः ॥ १२० ॥

नन्वत्र कल्पे का व्यवस्था । ब्रह्मा हि पूर्वकल्पे नाभिपद्ये स्थितः सृजति । तदभावे ब्रह्मणः सृष्टिरस्ति न वेति सन्देहः । सृष्टिकरणपक्षे किं मनुना कुत्र वा सृजतीत्येतद्व्याख्यय, तत्राह सत्ये स्थित इति ।

निबन्धः—सत्ये स्थितः सृजत्येवमित्यर्थो विनिरूप्यताम् ॥ १२१ ॥

स्थानमन्विष्य तु पुनर्गतस्य वचनं मनोः ।

दिनान्ते दर्शनात्पूर्वं सृजतः प्रातरेव हि ॥ १२२ ॥

तदर्थमिति, जीवनिरूपणार्थम् । तदर्थं वराहेति, भूमिनिरूपणार्थम् । मूले० सृज्याना-मिति । ‘सृष्टि’रिति शेषः । भावमिति सृष्टिप्रयोजकतानिरूपकं स्वरूपम् । सेति विभृतिः ॥ १२० ॥

१ ज्ञात पाठः ।

प्रकाशः—असंगपक्षे “सृजतो मे क्षितिर्वाग्भिः” इति वाक्यं चिरुष्यते । अनेनैव वाक्येन पूर्वं ब्रह्मणा स्वयं भूमिरुद्भूतेति ज्ञातव्यम् । तस्यामेव पालनाज्ञापनम् । तथा सति या म्रियत्रतादीनां पूर्वं सृष्टिरुक्ता सा आदिवराहकल्प इत्येव ज्ञेया । विज्ञापनं तु द्वितीयदिवसे प्रातरित्याह स्थानमन्विष्येति । “आदेशेऽहं भगवतो वचं” इति ज्ञापनापेक्षा कथं ब्रह्मण इत्याशङ्क्याह दिनान्ते दर्शनात्पूर्वंमिति । आदिवराहकल्पस्य दिनान्ते यावद्ब्रह्मव्यादीनामदर्शनं भवति तावदेव ब्रह्मा सत्यलोके गतः । तत्रैव च सृष्टिं करोति तदा प्रातरेव मनोर्विज्ञापनमित्यर्थः ॥ १२२ ॥

निबन्धः—विज्ञापनेऽतिनैकटयात्तथा वचनमादरात् ।

सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायतः परमात्मनः ॥ १२३ ॥

प्रथमं श्वाससम्भेदस्तेन कृष्णस्तथोद्गतः ।

नन्वेवं सति कथमिन्द्रानिमेव प्राण्यमानेति वचनस्युपपद्यते तत्राह अतिनैक-टयादिति । आदरादित्यग्रेण सम्बध्यते । पुनरुद्धारोपि पूर्ववदेव घृवनं भविष्यतीति भगवद्ब्रह्मणम् । यादृशो ध्यायतस्तादृशस्तमज्ञापयित्वैव निर्गत इत्याह प्रथमं श्वास-सम्भेद इति । भक्तस्य दुःखनिश्चासारपूर्वमेव भगवानाविर्भवेतीति ज्ञापितम् । अस्याऽनारस्य स्वरूपमाह कृष्णस्तथोद्गत इति वराहरूपेण ॥ १२३ ॥ तथारूपे हेतुयाह यज्ञेन समता त्वस्येति ।

निबन्धः—यज्ञेन समता त्वस्य जलादस्तुद्धृतौ क्षमौ ॥ १२४ ॥

गजो वा शूकरो वाऽपि यज्ञस्त्वेवंविधः पुनः ।

प्रकाशः—यज्ञो हि मनुशब्दवाच्यः । अत एव पशुन्मारयति । वराहोपि तथा । “पशुनां वा एष मण्डुः” इति श्रुतेः । हेल्स्त्ररमण्याह जलादस्तुद्धृतौ नाशिति । अवश्यमेकं रूपं कर्तव्यं मन्मथ्युद्धारार्थम् । तत्र गुणातीतकार्यं यज्ञादेव भवतीति गजरूपता न कृता ॥ १२४ ॥

यज्ञस्य जगत्कारणत्वे युक्तिं वक्तव्येत्यत आह सृष्टाशिति ।

निबन्धः—सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरूपत्वतः स्फुटम् ॥ १२५ ॥

ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्य हि रूपं भगवतो निजम् ।

उद्धृतेति । पञ्चरूपत्वेन भूसर्गाभावे ज्ञानवासम्भवादिति भावः ॥ १२१—१२५ ॥

१ चित्तापितेति पाठः ।

प्रकाशः—तर्षस्य क्रियांशत्वमेवास्तु किमित्यन्तरत्वमित्याशङ्क्याह ब्रह्म-  
णोप्यचित्तकर्म्यं हीति, एतादृशं रूपं निजमेव भवति ॥ १२५३ ॥

स्वरूपमाह एतदानन्दरूपं हीति ।

निबन्धः—एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञस्ये तथा ॥ १२६ ॥

लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम ।

प्रकाशः—अन्यथासतीती हेतुमाह क्रियांशज्ञस्य इति । भगवतः क्रिया-  
शक्त्यन्तर इति ज्ञापयितुं यन्नायुकारिरूपपरिमहः । 'सलिले स्वसुराक्रान्ते' इति  
वचनात्पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णानं भविष्यतीति लक्षमात्रमित्युक्तम् । जम्बूद्वीपस्यैव  
कर्मशेत्रत्वादियं च भूमिर्ज्ञानेमेवेति । मतिर्ममेति नात्राऽन्यसम्मतिः । 'पञ्चाश-  
त्कोटिविस्तीर्णा' इतिवाक्यं कल्पानन्तरपरम्, पञ्चसहस्रमात्रमेवेति ज्योतिर्विदः ।  
तच्च विंशतिभागगणनयापि फलमायातीत्येतज्ज्ञापनार्थम् । इयं च भूमिर्ज्यो-  
तिश्चक्रमध्ये वर्तते ॥ १२६ ॥

अत्र स्तोत्रप्रयोजनमाह यज्ञत्वबोधकमिति ।

निबन्धः—यज्ञत्वबोधकं स्तोत्रं कथञ्चिन्मारणं त्विह ॥ १२७ ॥

उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रमः ।

प्रकाशः—नाऽस्माकमत्र श्रद्धाभाव इति । हिरण्याक्षमारणं तु यथाकथञ्चित् ।  
इदं प्रकरणं भृशमुद्धार एव पर्यवसितम् । नाऽत्र मारणमधिभेदम् । अन्यथावाक्यभेदः  
स्यात् । तस्मात्प्रधानानुरोधेनाऽन्येषां कालादिकल्पिताः । अकिञ्चित्कराऽस्मिन्कल्पे  
दैत्यः । यज्ञश्च तस्य दाहक एव । अत आगमनमात्रेणैव मारणम् ॥ १२७ ॥

ननु भूपैलक्षमात्रत्वाङ्गीकारे ज्योतिःशास्त्रविरोध इत्यत आहुः पञ्चैत्यादि । अयमर्थः, ज्योतिः-  
शास्त्रं हि शुभाशुभफलबोधनाय प्रवृत्तं, न तु वस्तुस्वरूपनिर्णयाय, कलं तु लक्षमात्रस्य विंशत्यं  
पञ्चसहस्रात्मकमयवर्षेण कृत्वापि अङ्गानां सूक्ष्मतायां सुखेन बोधयितुं शक्यतेऽतो लक्षमा-  
त्राङ्गीकारेण न विरोध इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । युक्त्यन्तरमाहुः इयञ्चैत्यादि ।  
अस्माकमिति श्रोतृणां । यथा कथञ्चिदिति, अनुप्रसन्नप्रतिमित्यर्थः । अन्येषामिति  
स्थापनादीनाम् । एवं च उद्धृतिमारणं स्तोत्रं स्थापनमित्युक्तानुसारी क्रमः ॥ १२७ ॥

एवं पादोन्नैवभिक्षयोदशाध्यायो विचारितः ।

मारणमुत्पद्यते क्रममाह उद्धृतिरिति । स्तोत्रं यद्यपि सन्दिग्धं तथाप्युक्तवैभवेन  
तस्य दुःखं भवतीति पूर्वमुक्तम् ॥ १२७ ॥

ननु कल्पादीं भृशमुद्धारस्तत्कृत्यो हिरण्याक्ष इत्याशङ्कयामाह पूर्वक-  
ल्पेऽस्य जननमिति ।

निबन्धः—पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः ॥ १२८ ॥

देवानामूर्ध्वगमनमन्येषां नाश एव हि ।

ऋषीणां तस्मृतानां च ब्रह्मसाम्यमवाधके ॥ १२९ ॥

प्रकाशः—महाकल्प एव पूर्वसृष्टेर्नाशः । अवान्तरकल्पेषु तु बिलोक्यां  
विद्यमानानां मध्ये असुराणामधोगमनम् । देवानामूर्ध्वगमनम् । मनुष्याणां तु  
नाशः । मनुप्रभृतीनां देवत्वम् । ऋषीणामन्यूर्ध्वगमनम् । विरोधोपस्थितिः । सत्त्वलोके  
स्थितिः । तेन कल्पपरस्योर्ध्वगमने द्वितोरधोगमनमिति विमर्शः ॥ १२९ ॥

अत्र षडध्याया हिरण्याक्षवधमस्तावे निरूपिताः भवान्तरभाषासिद्धाः, अतो  
भागवतार्थेण न विरोधः । अत्रैषा व्यवस्था । प्रकृतकथायां भासन्निक्रम्या चेत्त्रि-  
शोपाकारेण पृच्छयते तदा न तावन्मात्रं वक्तव्यम् । किन्तु यस्मिन् कल्पे तल्पमे-  
यमुच्छ्रयता सिद्धं तदेव वक्तव्यम्, भक्तिजननस्य प्रयोजकत्वादिति । अतो यस्मिन्कल्पे  
हिरण्याक्षादीनामुत्कर्षः स निरूप्यते । तत्र वैकुण्ठगतानां कथं पुनरावृत्तिः, ॥ १२९ ॥  
न च वक्तव्यं कुत्रिमवैकुण्ठगतानां पुनरावृत्तिरिति । तत्राह कृत्रिमेऽपि हि  
वैकुण्ठ इति ।

निबन्धः—कृत्रिमेपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापि तु ।

कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी ॥ १३० ॥

प्रकाशः—ये 'अनिमित्तनिमित्तेन धर्मणाऽऽराधयन् हरिम्' इति भग-  
वदाराधनया वैकुण्ठगताः पुनरावृत्तिरहितमेव पदं प्राप्नुवन्ति, तथापि कृष्णेच्छया  
जयविजययोजेन्म । तत्रेच्छायाः प्रयोजनं लोकज्ञापनम् । तत्र किं ज्ञापयतीत्याका-  
ङ्क्षायामाह नष्टानां गतिरीदृशीति । बिलोक्यां हिरण्याक्षादिमुखमिन्द्रादरपि

अतः परं सप्तदशभिः षडध्यायां विचारयन्ति । (मारणं)मुख्येत्यादि । मुखरूपं इति ।  
कल्पान्तरीयकथायां विदुरप्रभानुरोधेन यत्र मारणं मुख्यं तस्मिन्कल्पेः । नन्वष्टादशोष्याये  
उद्धृतिः स्थापनं मारणमिति त्रयमेवोक्तमिति क्रममध्ये स्तोत्रनिवेशो न युक्त इत्यत आहुः,  
स्तोत्रमित्यादि । तस्येति, हिरण्याक्षस्य । पूर्वमिति, सुत्रोपनिषत् । तथा च तस्य दुःखजननेन  
तेजोमज्ञाय तदप्योचित्यबलाश्विदेश्यत इति नायुक्त इत्यर्थः ॥ १२८-१३० ॥

दुर्लभं, तद्दुष्कृच्छ्रयुतानां निरूप्यते, सा हि तेषां परमाऽऽप्तम् । अनेन वैकुण्ठसुखदु-  
श्लेषमितिभावः ॥ १३० ॥

निबन्धः—भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयाऽमुक्तिरस्य हि ।

मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम् ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—अस्मिन् पक्षे भूमावेव युद्धम् । भगवदिच्छयैव हिरण्यासस्याऽमुक्तिः ।  
क्रियाशक्त्या हननाद्वा, युक्त्यर्थमवतार एव, मुक्तिरिति वा । उदरभेदेनेन न पारर्थं,  
किन्तु मारणानन्तरमुदरभेदः । अन्यथा प्राणा भगवन्मुखे प्रविशेयुः । पुनर्नैत्यत्वा-  
भावाय संस्कृतानामशानां स्वस्मिन् प्रवेशनार्थमुदरभेदनम् ॥ १३१ ॥

हिरण्यासस्य माहात्म्यार्थमाह ब्रह्मणो दिवमेकं हीति ।

निबन्ध—ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धमिति लक्ष्यते ।

अथवा देववत्तस्य दिनं मेरुगतञ्च सः ॥ १३२ ॥

प्रकाशः—अनेन वराहकल्पस्तेनैव समाप्त इतिज्ञापितम् । पश्चात् श्वेतवारा-  
हकल्पे सृष्टिहिरण्यकशिपुराज्यं चेति ज्ञापितम् । पश्चान्तरमाह अथवेति । तदा

ननु 'ये ये हताश्वकपरेणे'तिपाण्डवमीतावाक्ये भगवद्गतानां मुक्तेरुक्-  
त्वादिप्रत्याक्षस्य मुक्तिर्वक्तव्या, सा कथं नेत्यत आहुः भगवदिच्छयेत्यादि ।  
'न विदुस्तत्किञ्चिदस्मि'तिवाक्ये किञ्चिद्विभीषेयं तथाकृतोद्योगनाचयैव तथेत्यर्थः । वाक्ये  
चक्रभेदेन हनने तस्य करणत्व एव मुक्तिरत्र कुत्रेण कर्मभूलेऽङ्गिति साधनान्तरोपदेशात्  
सेत्याशेषेन पश्चान्तरमाहुः क्रियेत्यादि । सल्लोतसल्लयोः प्रपदेन दन्तवद्भ्रमस्य  
कौमुदकस्या हननेपि मुक्तेर्भक्त्यापि न प्रयोजकत्वमित्थाद्येन पश्चान्तरमाहुः  
मुक्त्यर्थमित्यादि । एतेनेच्छापक्ष एव दृढीकृतो बोध्यः । 'तं वंद्याद्विभिव वज्रधरो वदारे'-  
त्यत्र दारणस्योक्तत्वाद्दृष्ट्या हननमाशङ्क्य नेत्याहुः, उदरेत्यादि । कुत एवमित्यत आहुः  
अन्यथेत्यादि । तथा च मुष्यभावादिदेव ज्ञायत इत्यर्थः । तर्हि दारणं कुत इत्याकाङ्क्षा-  
यामाहुः पुनरित्यादि ॥ १३१ ॥ अनेनेति । लक्ष्यता इत्येकदिव्युद्दानुमानकभवेन । तत्रैवम्,  
आदिवाराहकल्पे प्रियव्रतादीनां जन्मनि निश्चिते तत्रैव हिरण्यासस्यपि जन्म, विभिन्नजन्मः, समुद्र-  
क्रीडाः, ततो रात्रौ रसायां स्थितौ वरुणमासिरररात्रे, ततः मातर्भूत्युद्धारे नारदावबगते युद्धा-  
रम्भो वराहकल्पमाह । "तत्रापुनैपोजिज्ञाम न यावदेव वदंते"तिवाक्यदर्शनाद्यदन्वयानुपपत्त्या  
ज्ञेयम् । एवं कल्पने वाराहकल्पीयवृत्तान्तबोधकविष्णुपुराणसप्तदशमस्कन्धादिष्वन्यत्रापि वाक्ये

मासपट्टं युद्धम् । अस्मिन् पक्षे ब्रह्मवाक्यानां सद्गुण्यैमाह मेरुगतञ्च स इति ।  
श्रुतिस्थापनानन्तरं पूर्ववन्मेरावेव ब्रह्मा स्थितः ॥ १३२ ॥

किमनेन सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाह षड्भिः संसारकथनमिति ।

निबन्धः—षड्भिः संसारकथनमुत्पत्तिर्मरणं च सः ।

उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च ॥ १३३ ॥

प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यत्ता नशिस्तथा ।

ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत् ॥ १३४ ॥

प्रकाशः—युक्तानां जीवानां भगवदिच्छया संसारः । सा भगवद्भूयति षड्भि-  
रध्यायैः संसारे निरूप्यते । संसारस्वरूपमाह उत्पत्तिर्मरणं च स इति । उत्पत्ति-  
श्चिरिध्यायैर्मरणं च तथेति । "अनित्ये जननि"त्यादिना त्रिविधोत्पत्तिरुक्ता ।  
"कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः" इति मरणमपि त्रिधा । तत्र बीजोत्पत्तिः  
प्रथमाध्यायार्थः । तत्र जीवसम्बन्धो द्वितीयाध्यायार्थः । भगवन्निरुत्यावेशस्तृतीयार्थं  
इति । अन्यथा तथा महत्त्वं नोपपद्येत । तदाह उपाधिजननमिति बीजजननम् ।  
स्थानभ्रंशो वैकुण्ठासक्तिः जन्म प्रादुर्भावश्चैकेन । उत्कर्षस्य नाशस्वरूपमिति  
ज्ञापयितुं नाशाध्यायेषु निरूपणम् । वरुणवाक्येन नाशबीजकथनाद्विनश्यत्ता षड्-  
माध्यायार्थः । "नाशभोजं विनश्यत्ता विनाशश्चेति तद्विदा" । कथं सुजीवस्यैवम्भाव  
इत्याशङ्क्याह ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणमिति ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

अन्यथा वाधकमाह दक्षकन्येति ।

निबन्धः—दक्षकन्या ऋषेः पत्नी सन्ध्यायामग्निहोत्रिणम् ।

निर्लज्जा बोधिता स्थानुं क्षणं न त्यक्तवत्यपि ॥ १३५ ॥

प्रकाशः—सत्कुलोत्पन्ना ऋषेरतीन्द्रियभृदुः पत्नी क्षणमात्रं स्थित्यर्थं याचि-  
ताऽपि न स्थितवती । न गौतमगवदिच्छाव्यतिरेकेण मर्यादया सिध्यति ॥ १३५ ॥

इत्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः अभवेत्यादि । मासपट्टमिति । "अयुनैवे"त्यादिवानयनलोदेव सद्भवसायादौ  
पूर्वोत्तरावधीकृत्य तथाज्ञीकार्यमित्यर्थः ॥ १३२ ॥ अनेनेति अध्यायपट्टेन । सेति भगवदिच्छा ।  
विभूत्यावेशस्य तत्रास्फुटत्वात्तदर्थं नामकमाहुः अन्यथेत्यादि । तथा महत्त्वमिति, चतुर्थाध्यायोक्तं  
महत्त्वम् । प्रादुर्भाव इति । "तावादिदैत्यो सहसा व्यज्यमानात्सपौरुषावि"त्येत्योक्तः पौरुषप्रादु-  
र्भावो आवेशकृतः । चतुर्थाध्यायस्य कथं नाशाध्यायत्वमित्यत आहुः वरुणेत्यादि । इदं भूले  
सर्वतश्चेति चकोरेण सूचितम् । सर्वत इत्यनेन उच्यतसद्दहः ॥ १३३—१३४ ॥

अस्तु वा स्त्रियाः । स्मरेपि तथाभावे जोषपथत इत्याह मौनत्याग इति ।

निबन्धः—मौनत्यागस्तयोर्भाषा स्तोत्रं तद्व्ययता तथा ।

अन्यत्रागमनं तत्र प्रतीकाराकृतिसंभवे ॥ १३६ ॥

स्वभावविनिवृत्त्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः ।

प्रकाशः—सुनी षट्पां अनुपपन्नाः । पुनर्यो धर्मस्यः संवादः सोपि शापकः । नैतयोरयं स्वभाव इति । एवं मयमाध्यायार्थस्याऽयुक्तत्वग्रहणप्रादितम् ॥ १३६ ॥

तथापि द्वितीयाध्यायार्थस्याऽयुक्तत्वमाह सङ्क्षोभ इति ।

निबन्धः—सङ्क्षोभो न कचियेषां काले देशे च वस्तुनि ॥ १३७ ॥

ते कृष्णभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्णभृत्ययोः ।

सनन्दनादयः क्रुद्धाः शापं दुर्विषहं ददुः ॥ १३८ ॥

प्रकाशः—वस्तुनि अयुक्तकरणे अवस्था च कृष्णभावनायुक्ता । स्वयं च क्रुद्धाः । शापश्च दुर्विषहः ॥ १३८ ॥

एवं सुनीनामयुक्ततां निरूप्य जयविजयोरपि तथात्वमाह भगवद्भावसम्पन्ना इति द्वाभ्याम् ।

निबन्धः—भगवद्भावसम्पन्ना भगवद्गुणतत्पराः ।

लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः ॥ १३९ ॥

सालोक्यसाष्टिसामिप्यसारूप्यं सर्वथा गतौ ।

वैकुण्ठे भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ ॥ १४० ॥

स्वभावविनिवृत्त्यर्थमुभयोश्च तथा कृतिः ।

प्रकाशः—पूर्वकदत्रापि स्वभावनिरवृत्त्यर्थं शापानन्तरचेष्टेत्याह स्वभावविनिवृत्त्यर्थमिति ॥ १३९ ॥ १४० ॥

अग्निहोत्रिणमिति । जानन्तीति शेषः । स्वभावविनिवृत्त्यर्थमित्यर्थं त्वार्यामाहः, पुनरित्यादि । उपपादितमिति । उत्सर्पेर्भावदित्च्छेकहेतुकत्वबोधनायोपपादितम् ॥ १३९—१३६ ॥

मूले चक्रुरिति । जयविजयकारिकाद्वयं त्वेवं योज्यम् । वैकुण्ठे

भगवद्भावस्यादिगुणयुक्ताः सर्वे सर्वथा सालोक्यादिवचुष्टयं येषां तादृशाः गतौ भगवद्दर्शनार्थकगतौ गमने भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुः । इदं बहुवचनं वैकुण्ठस्थितान्भक्तसमतपैतमहन्नाभिप्रायेणोक्तम् । व्यासपादा ऊचुरितिवद्, विन्नकरणे वैषम्यात्तमहत्त्वं गतमित्येकत्वविवक्षया गर्वितावियुक्तम् । चतुर्गुणोपाध्यायास्तु “विघ्नं चक्रुश्च गर्वितावि”ति निबन्धप्रतीकम् । तत्रेयं शब्दाः । ननु गर्विताविति द्विवचनान्ते कर्त्तरि चक्रुरीति वक्तुमचितमिति चेत्त्रयार्थं समाधिः । “कुर्भक्षे”ल्योणादिक (२२) सूत्रेण कृत्वातोस्तुजादिवक्तास्मान्मान्ये कुपत्ये कृते चक्रुरितिरूपम् । अकरोदिति चकारेति वा चक्रुः कर्ता । ननु करोतेस्तस्मिन् ग्रहणाऽभावात्कथं कुपत्ययः ? कथं च द्वित्वम् कथं चाभ्याससंज्ञां विना तत्त्वयुक्तकार्योणीति चेत्त्रयं त्रुम् । उद्देश्यविधेययोः प्रायेण पाठतः क्रमिकत्वस्वीकाराद् ब्रूःकुक्षेतिकत्वयोः प्राक्प्रत्ययनिर्देशाद् अथेति प्रकृतिसंस्मरणे चकरणे प्रकृत्यन्तरसमुच्चयाद्वाऽन्यस्मादपि धातोः कुपत्ययो भवतीति सिद्धान्तात्, ‘योद्धेवे’त्यस्मात्सूत्राद् उणादेः २१ द्विग्रहणमनुवर्त्तत इति द्वित्वस्यापि सुवचत्वात् । ‘पूर्वोऽभ्यास’ ( ६. १. ४. ) इति सूत्रेण षाड्द्वित्वप्रकरणस्यद्वित्वत्वेनाभ्याससंज्ञायाः प्राप्तावप्यत्र ३३-३-१ ‘उणादयो बहुलमि’ति बहुलप्रहणादभ्याससंज्ञायाः सौलभ्याच्च । न च ‘शः कित्सन्वेषे’ति (२० उणादि)भूत्रात्सन्वदित्यनुवर्त्तमाने सत्यातिदेशिक्यभ्याससंज्ञा सिध्यतीति वाच्यम्, तदनुवर्त्तमाने ‘सन्वत’ (७-४-७९) इतीत्वे कृते चिकुरित्यनिरूप्यसङ्गात् न च व्युत्पत्तिषु विन्नमित्यनभिहिते कर्मणि द्वितीयाऽनुपपद्येति ‘कृत्यत्यययोगे कर्तृकर्मणोः कृती’ति वक्ष्येव भाष्यमिति वाच्यम् । “क्विदपवादविषयेऽनुपपत्तौऽभिनिविशत” इति परिभाषया द्वितीयाया अपि सौलभ्यात् । अत एव ‘कृत्योपे’त्युणादि (१) सूत्रे करोतीति कारुरिति योगामिप्रायेण मनोरमायां “राघवस्य ततः कार्यं कार्त्तानर-पुत्रवः । सर्ववानरसेनानामाभाषाममनमादिशदि”ति भट्टिप्रयोगमुदाहरणमुपैक्षेत् । अत एव च भट्टिकृतापि “भ्रूत्वे”ति वक्तव्येऽभूदित्युत्सर्गसूत्रोदाहरणं दत्तम् । “अभूत्तुषु विवृध-सस्रः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः, गुणैर्ष्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरसु-पागमत्सवमि”ति । एतेनैतत्परिभाषामेव स्वीकृत्य लुङ्प्रवादकं लिटं विहाय लृङ्क्विसितसर्ग-युदाहृतवान् भट्टिकारः । ननु ‘तदहंमि’ति सूत्रेऽहंशब्दः पञ्चाक्षरान्तस्योपे कर्मणि षष्ठी प्राप्ता सौत्रो विभक्तिव्यत्यय इत्येक इत्युक्त्वाऽन्ये तु “कर्तृकर्मणोरिति”ति षष्ठ्या अनित्यत्वे लिङ्ग-मिदं, तेन ‘ध्वैरामोदमुचममि’ति भट्टिप्रयोगः समाहित इत्याहुरित्युक्तं भट्टोजिदीक्षितैर्नोरमा-याम् । दत्तकं ‘क्विदपवादविषयेषी’त्यस्य सञ्चारः कृत्यत्ययस्थले कृत इति चेतस्यम्, उपा-यलोपायान्तराऽनूचकत्वात् । इदमेवाऽभिप्रेत्याऽभिव्यक्तिरूपकम् “उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता” इति । एतेन “समयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रत्वेद्दशुचाऽसुरी, पितरवन्वतयेत्वा

तृतीयाध्यायार्थोऽप्ययुक्त इत्याह मोहनमिति ।

निबन्धः--मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा ॥ १४१ ॥

द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वे कृष्णोच्छ्रयाऽभवत् ।

प्रकाशः--मोहनवाचयैः सनकादीनां मोहनम् । तयोस्तेषां । तथा वैकुण्ठा-  
दुर्घटं पतनम् । भगवति द्वेषोत्पत्तिः । अन्योत्तरत्र द्वेषवृद्धिर्न स्यात् ॥ १४१३ ॥

एवमध्यायत्रयार्थं दुर्घटत्वेन निरूप्य पुनरन्वेषं तथात्वं निरूपयति अलौकिकी  
तदुत्पत्तिरिति ।

निबन्धः--अलौकिकी तदुत्पत्तिर्वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा ॥ १४२ ॥

स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा ।

संमुखे मरणे कृष्णात्न मुक्तः किं ततोऽद्भुतम् ॥ १४३ ॥

प्रकाशः--न हि महत् उत्पत्तौ दुर्निमित्तानि भवन्ति । वृद्धिर्दिग्बिजयश्चा-  
लौकिकौ । पञ्चमाध्यायार्थानुपपत्तिमाह स्वामिनो दुर्वचो वाद् इति । युद्धमपि  
स्वामिना सहाऽयुक्तम् । ब्रह्मणश्च भ्रमः श्रुतरामयुक्तः । षष्ठ्याध्यायार्थोऽप्ययुक्त इत्याह  
संमुखे मरणे कृष्णादिति ॥ १४३ ॥

पुत्रयोरुपौ बलमिति श्रीभागवतं व्याख्यातमिति । तत्र बुध्यते 'रिपुपञ्जामीकरः क' इति  
कप्रत्यये नन्तत्पुरुषे च कृते बलमबोद्धारविपर्ययः । यद्वाऽऽसादेव धातोः, 'किपचै'सि किपि  
ताह्ररूपं बोध्यम् । अन्यत्र पूर्ववत् । ननु चक्रुरिति प्रथमान्तस्य "गर्वितावि"तिविवचनान्तेन  
सामानाधिकरण्यामनुष्पन्नमिति चेतनम् । यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यवृहस्पती, एकराशौ  
समेप्यन्ति तदा भवति तस्मिन्मिति श्रीभागवते कर्तृगतबहुत्वाऽभावेपि तद्वरूपाऽनेकवदार्थ-  
सम्बन्धाऽभिप्रायेण 'समेप्यन्ती'तिबहुवचनानुपपन्नत्वस्यजयविजयोः पार्थक्येन सम्बन्धे  
एकवचनानुपपन्नत्वस्य खपुण्यायमाणत्वात् । अत एवोक्तं भद्रोजिदीक्षितैः कौमुद्यां 'तदसि-  
न्वृद्धयारलामशुक्लोपदा दीयत' इति सूत्रे वृद्धिर्दीयत इत्यादिक्रमेण प्रत्येकं सम्बन्धा-  
देकवचनम् । ननु "व्यत्ययो बहुलमि"ति सूत्रे भाष्ये सुसिद्धग्रहलिङ्गनराणामिति श्लोकवा-  
हित्केन छन्दसि तिङ्म्यत्यये कृते दीयत इति प्राप्ते दीयत इत्येकवचनप्रयोगः सेत्स्यतीति  
ह्रस्वस्य स्यात्सतिरसम्भता विदुषामिति चेष । लौकिकरीत्येव समाधाने प्रतिष्ठिते छान्दसस्व-  
कल्पनाया अगतिकगतित्वात् । 'वृद्धिरादैचू'सूत्रस्यभाष्योक्तस्य छन्दोवैस्त्राणि भवन्तीत्य-  
न्निदेशावश्यकस्य स्वीकारे आतिवेशिकच्छान्दसस्वकल्पनाया अतिशयितगौरवातिविशिष्टत्वा-  
न्नेत्यलमतिविश्लेषणम् । "विभ्रं चक्रू च गर्वितावि"तिपाठे तु न कश्चित्सन्देह इत्याहुः ।  
अन्येषामितिचतुर्थीषाध्यायानाम् । एवं समदशभिः षडध्यायी विचारिता ॥ १४३ ॥

जपसंहरति सोपपत्तिकमिति ।

निबन्धः--सोपपत्तिकमारुयानं जीवानां जननं हरिः ।

ऐहिकासुष्मिकफलं दातुं सृजति नाऽन्यथा ॥ १४४ ॥

प्रकाशः--हरिरेवोत्पादयत्यैहिकासुष्मिकफलदानार्थम् । अतः सर्गो लीला  
भवतीत्युक्तं भवति ॥ १४४ ॥

एवं भाषान्तरेण निरूप्य समाधिभाषायामप्यथेवार्थ इति निरूपयितुमाह  
इति दर्शयितुमिति ।

निबन्धः--इति दर्शयितुं साङ्ख्यमते सृष्ट्यादिवर्णनम् ।

तेषां गुणप्रधानत्वाद्वाहीणौ सृष्टिर्निरूप्यते ॥ १४५ ॥

तथा सति द्वादशाधिकशतेन वन्धसृष्टिलीला पञ्चमिः प्रकरैर्गैश्चतुर्विधां सूक्ष्मविभागे  
सम्यगुपपादिता । स्थूले विभागे त्वष्टमिः पञ्चमा सृष्टिः । सप्तमिर्बन्धोपपत्तिरित्येवं षट्  
अधिकारमादाय च सप्तप्रकणानुपपादितानि ॥ १४४ ॥

अतः परं द्विषष्टिभिर्गोक्षीलां पञ्चविधां वदित्वाः सूक्ष्मविभागे स्थूलविभागे च या  
या बहुश्रुतिमिता सा सा मोक्षोपपत्तिर्विशेषोऽप्यथे उच्यते इत्याशयेनाहुः एवं भाषान्तरेत्यादि ।  
अयमिति । भगवदिच्छाया एवं प्रावल्ग्यमित्युपपत्तिरूपः । मूले इति दर्शयितुमित्यस्य सोपपत्ति-  
कारुण्यनिर्वाहनाप्यन्वयः । सोपपत्तिकमित्यस्य सृष्ट्यादिवर्णनमित्यनेनाप्यन्वयो बोध्यः ।  
आदिपदेन "विससर्जोत्सः कायं नामिन्दुं ससोममजम् यद्गृह्यैश्वरशांसि रात्रिम्" भा. ३-२०-१३  
इत्यादिनोक्तयोर्भावत्यागतदग्रहणयोर्ग्रहणमुपपत्तेः । स्वरूपमाहुः साङ्ख्यपुरुषा इति । ते च महावादि-  
स्वरडन्ताः । एतेन मोक्षलीलोद्घातत्वमपि बोधितम् । साङ्ख्यानुसारेणेति महावादिः सृष्टि-  
प्रकरेण । नन्वेवं सति तावदेव वक्तव्यमेव यशस्वः प्रभुत्व्याद्यद्यसृष्टिभेदाः कुत उच्यन्ते  
इत्याकाशयामाहुः तत्रेत्यादि । एकादशप्रकारा इति, छायादियोगान्तकरणकः । हेतु-  
मिति, ऐहिकफलदानरूपं हेतुम् । मूले, तेषां गुणप्रधानत्वादिति । तेषामष्टादशानां राणा-  
दिरूपमाहकत्वेन तत्प्रबलवतुप्रधानकत्वात् । समासान्तस्तुवैकल्पिक इति तदनुक्तावप्यदोषः ।  
अत एवेत्यादि । यतोमिमाध्यायेप्यैहिकासुष्मिकफललोकिहृदयते । त एव प्रथमतीक्ष्णज्याये  
छायादिब्रह्मगुणग्रहणेन तद्वती ऐहिकफल्युक्ता सृष्टिर्निरूप्यते । भगवान् जीवानैहिकासुष्मिक-  
फलदानायोत्पादयतीति ज्ञापनायोच्यते इत्यर्थः । तथा च शुकोक्तिप्रसे भगवदिच्छैवात्र  
मोक्षोद्घातत्वेन बोध्यत इतिभावः ॥ १४५ ॥

प्रकाशः—साङ्ख्यपुराणा जीवन्मुक्ताः । अतस्तन्मतानुसारेणोत्पन्ना मुक्त्यर्थ-  
मेव भवन्तीति सिद्धम् । तत्र सृष्टियेदा एकादशप्रकाराः । तत्र हेतुमाह तेषां गुण-  
प्रधानत्वादिति । अत एव प्रथमतो गौणी सृष्टिर्निरूप्यते ॥ १४५ ॥

अत्र शौनिकानां भगवत्कथामस्तावे मनुकथामश्रो न युक्त इत्याशङ्क्याह  
प्रकारान्तरसम्प्रभश्च इति ।

निबन्धः—प्रकारान्तरसम्प्रभश्च स्वकृतः परतस्तथा ।

भक्तकर्तृत्वतस्तस्य कृष्णलीलात्वमुच्यते ॥ १४६ ॥

प्रकाशः—अयमपि प्रश्नो भगवत्कथाया एव किं तु प्रकारान्तरेण । मनुर्भ-  
क्तस्तेन क्रियमाणं भगवत्कीर्तिजनकमेव भवतीति लीलाहेतुत्वात्सा लीलेव ॥ १४६ ॥  
“एवमुक्त्वाः पृष्टः” इति व्यासवाक्यं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह प्रक्रियान्त-  
रबोधायेति ।

निबन्धः—प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुक्रसूतयोः ।

एकरूपत्वकथनादेकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः ॥ १४७ ॥

प्रकाशः—तथा शुक्रसूतयोरप्युक्तिः शुक्रवाक्येनैव निरूप्यते । अन्यथा सूतो  
विद्वरवाक्यं न वदेत् । शुक्रश्च वदेदिति । एकोक्तो हेतुः एकरूपत्वकथनं, शब्दतोऽ-  
र्थतश्च समानम् । अन्ययोः परीक्षिककथयोः पाक्षिकोऽयं ज्ञातव्यः । यथा शौनिकेन  
पृष्टं तथा राज्ञा पृष्टं, यथा सूतेनोचरितं तथा शुकेनेति तुल्यत्वादेकः पक्षः कश्चिदुक्त  
इति ॥ १४७ ॥

मनुकथा प्रश्न इति । ‘मही प्रतिष्ठामध्यास्ये’त्येकश्लोकोक्तो न युक्तः । ‘किमन्-  
पृच्छन्मैत्रेयमि’त्यादिना तेषां भगवत्कथास्वेवासाक्षिदर्शनादसङ्गत इत्यर्थः । मूले प्रकारान्तरे-  
त्यादि । सकृतः शौनिककृतः प्रकारान्तरसम्प्रभः परतस्तथा मैत्रेयतः प्रकारान्तरकथनार्थ  
इत्यर्थः । उच्यत इति मैत्रेयेणोच्यते । तदेतद् व्याकुर्वते अयमित्यादि ॥ १४६ ॥

नोपपद्यत इति प्रस्तावस्य प्रागेव कृतत्वात्सङ्गतिविच्छेदस्याभावेन नोपपद्यत इत्यर्थः ।  
समार्थि व्याकुर्वन्ति तथेत्यादि । तथेति । पूर्वप्रकरणं समाप्तम् ॥ प्रक्रियान्तरमारभ्यत इति  
बोधनार्थं यथा व्यासोक्तिसंज्ञा शुक्रसूतयोरपि तदर्थमुक्तिरितिबोधयितुं शुक्रमुक्त्येनैव व्यासेनो-  
च्यते । तथा च सङ्गतिविच्छेदाभावेपि प्रक्रियान्तररूपविशेषबोधनाय व्यासवाक्यमुपपन्न-  
मेत्यर्थः । ननु शुक्रमुत्तेन वदतीत्यत्र किं मानमत आहुः अन्ययेत्यादि । विदुरसंवादनस्य  
सूतेनानुपकान्तत्वात्स न वदेत् । शुक्रश्चोपकान्तत्वाद्देवत उपक्रमवशात् ज्ञायते, शुक्रमुत्तेन  
वदतीति स एव मानमित्यर्थः । हेतुरित्यस्यैव विवरणं एकरूपत्वकथनमिति । पाक्षिक  
इत्यस्य विवरणं शब्दतोर्थतश्च समानम् इति । तस्यैव तात्पर्यमाहुः यथेत्यादि ॥ १४७ ॥

साङ्ख्यमतसृष्टिः कस्मिन् कल्पे जातेत्याकाङ्क्षायामाह आपण्डकोदो पद्मकल्प इति ।

निबन्धः—आण्डकोदो पद्मकल्पो विशेषेणोच्यतेऽधुना ।

साङ्ख्याचार्यास्तु कल्पेऽस्मिन्मुक्तिमार्गं हरीच्छया १४८  
ज्ञानमेकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः ।

प्रकाशः—प्रमाणमध्यमे यः पद्मकल्पः केवलद्विभक्तस्मिन्नेव साङ्ख्यमते प्रसि-  
द्धम् । तत्रैव ते सिद्धा इति हेतुः । ननु तेषां ज्ञानं तत्सम्यग्निन्दितमिति कथं शुक्ति-  
रित्याकाङ्क्षायामाह हरीच्छया ज्ञानमेकप्रकारेणेति ॥ १४८ ॥

निबन्धः—इति दर्शयितुं साङ्ख्ये कल्पस्याऽस्य च वर्णनम् ॥ १४९ ॥

पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिस्तत्त्वत्वज्ञापनाय हि ।

प्रकाशः—अस्य कल्पस्य पद्मकल्पस्य । चकाराद्वाराहकल्पस्य च वर्णनम् ।  
अन्यथा प्रकृते तेन मार्गेण मुक्तिर्न स्यात् । तस्य सृष्टिकारस्य पूर्वसाहैलक्षण्यं  
ज्ञापयितुमाह पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिरिति । ‘पञ्चभिः पञ्चभिर्भ्रक्षन्’ इत्यग्रे वक्ष्यति ।  
तथा साङ्ख्यायुक्तत्वकथने साङ्ख्यं मते भवति । तन्मता च पदार्थानां भवति ॥ १४९ ॥

केवलमिति यत्र लोकत्रयप्रलयजलमध्ये पदं भवति तस्मात् । अत्र साङ्ख्याचार्यास्तु  
इत्यादिनेकं गमकमाहुः तत्रैवेत्यादि । ‘तस्य नामेरमूल्यं सोनुमविष्ट’ इति प्रथमाध्याय  
उक्त्या अभिमाध्ययेषु क्लीपुमुक्तिरुच्यते । अतस्ताथा ज्ञायत इत्यर्थः । मूले ज्ञानमेके-  
त्यादि । एतेन तत्त्वसूत्रोक्तनिन्दाया भगवदीयसाङ्ख्यव्यतिरिक्तविषयत्वमिति श्रीभागवतशाश्वो  
ज्ञापितः ॥ १४८ ॥

वराहकल्पस्य चेति । एकादशाध्याये पद्मकल्पवद्वाराहकल्पस्यापि प्रस्तुतत्वेनात्र  
पद्मोक्त्या तत्समभिव्याहृतस्य स्मरणात् तथैत्यर्थः । स्मरणप्रयोजनमाहुः अन्ययेत्यादि ।  
प्रकृत इति श्वेतवाराहकल्पे । पूर्वस्मादिति । ‘भगवानेक आसेदमि’त्यादिना पञ्चमाध्यायोक्तात् ।  
ननु प्रकृतिपुरुषमहदाया ये तत्रोच्यन्ते, त एवात्रापि सन्तीति किमत्र वैलक्षण्यमित्येषेक्षायामाहुः  
पञ्चभिरित्यादि । समाप्तसाङ्ख्ये हि अष्टौ प्रकृतयः, षोडशविकारा, पुरुष इत्युक्तम्य एत-  
त्परं याथातथ्यमिति कथनात्साङ्ख्यायोगेन तेषाम्भिन्नतया तच्चता कथनेन मतप्रसृतिः सिद्धा ।  
तथैवात्रापि पञ्चभिरित्यादिना सिद्धा । पूर्वत्र भगवन्तमुपकल्प्य तच्छक्तित्वेन तेषामुक्तिरिति  
सुदृढमेव वैलक्षण्यमित्यर्थः । सैवसृष्टिः प्रकारान्तरेणेति ‘द्वैतेन युक्तिर्कथये’त्यादिनापदार्थो-  
क्तिरथनपूर्वकं सृष्टिकथनाज्येयं पूर्वोक्तसृष्टिः किन्तु साङ्ख्यसृष्टिरेव युक्त्युपोद्घातत्वेन रूप्यत  
इत्यर्थः । एतेन मैत्रेयोक्तौ सृष्टिरेन प्रकारेण गौणीत्वं, न तु पूर्वोक्तप्रकरणेति बोधितम् ।  
एवं वृष्टिः कारिकाभिर्द्विधाप्युपपत्तिर्निरूपिता ॥ १५० ॥



अस्मिन्ने छष्टेर्विस्तरेणाऽकथने हेतुः उपलक्षणमात्रत्वादिति ।

उपलक्षणमात्रत्वादल्लोक्तिर्न विरुध्यते ॥ १५० ॥

तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः ।

प्रकाशः—सैव सृष्टिः प्रकारान्तरेण निरूप्यत इति निरूपकं वाक्यमुपलक्षकं भवति । तत्रैकस्मिन्नेवाध्याये एकादशधा सृष्टिनिरूपितेत्याह तत्रेति । स्वभावगुणानां कार्यभेदात् । तत्र स्वभावस्य भेदद्वयम् । गुणानां नव भेदा इति ॥ १५० ॥

तानेवाह त्रैगुण्यमिति ।

निबन्धः—त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भंगवञ्चिन्तनं तथा ॥ १५१ ॥

एवमेकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा ।

प्रकाशः—निर्गुणावस्था दशमं ज्ञानरूपम् । भगवञ्चिन्तनमेकादशरूपमिति उपसंहरति एवमिति । गुणसृष्टिरेकाध्याये सङ्क्षेपेणोक्ता । स्वभावसृष्टिस्तु ज्ञान-भक्तिभेदेन चतुर्भिर्नवभिः क्रमाद्विस्तरेणोक्ता स्वयमेव अग्रे स्फुटा भविष्यति ॥ १५१ ॥

तत्र प्रथमं तामसादिभेदानाह यक्षरक्षांसीति ।

निबन्धः—यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमाख्यः ॥ १५२ ॥

उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम् ।

प्रकाशः—अत्राविद्योत्पत्तिः पूर्ववदेव । विशेषस्त्वत्र यक्षरक्षसामप्युत्पत्तिर-विषया सह । तथा भावान्तरेण देवानामप्युत्पत्तिः ॥ १५२ ॥

निबन्धः—चिलक्षणत्वसिद्धयर्थं देहत्यागः प्रजापतेः ॥ १५३ ॥

तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः ।

प्रकाशः—तत्रापि तनुत्यागो भावान्तरग्रहणार्थः । तनुनां स्वरूपमाह तत्त-त्कालाभिमानिन्य इति ॥ १५३ ॥

ननु पञ्चर्वाविद्योत्पत्त्यन्तरं किमिति देहं त्यक्त्वास्तत्राह देवतोपाधि-सम्बन्धादिति ।

निबन्धः—देवतोपाधिसम्बन्धात्कार्योत्पत्त्याप्रतिविह्वलः ॥ १५४ ॥

तामसत्वानु ते भूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः ।

अतः परमसृष्टिस्तच्छेषमाहुः तत्रैकेत्यादि । स्वभावस्येति ब्रह्मत्वभावस्य । निर्गुणा-वस्थेत्यादि । तेन मनुसृष्टिः ऋषिसृष्टिश्च स्वाभाविकीत्युक्तम् । पूर्ववदेवेति, एकादशाध्यायवदेव । तर्हि किं पूर्वसाङ्ख्येयमत आहुः विशेष इत्यादि । मूले-उपाधिरिति, तज्जनकं ब्रह्मशरीरम् ॥ १५४ ॥

प्रकाशः—देवतारूपा पञ्चर्वाऽविद्या, सा ब्रह्मण उपाधिरूपा जाता यदा, तदेव यक्षरक्षसामुत्पत्तिस्ततस्तांस्विस्तृष्टान् दृष्ट्वा भयविह्वलः सन् तनुमुत्ससर्जेति मनस्यम् । तदा भगवदिच्छया जातास्ते ब्रह्मा तत्र सद्य इति भगवत्येरणया यस-प्तित्वा मृष्टाः । तर्हि कथं निवृत्ता इत्याशङ्क्याह तामसत्वत्वादिति । “अहो मे यक्षरक्षांसि” इति वाक्यमात्रेण निवृत्ताः ॥ १५४ ॥

देवपसस्तु मुगम इत्याह सात्त्विक इति ।

निबन्धः—सात्त्विके नास्ति शङ्कैव राजसेषु महान् श्रमः ॥ १५५ ॥  
पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयः ।

प्रकाशः—राजसेषु महान् श्रमः । अतो यमनमारभ्य भगवदाह्वया तनु-त्यागपर्यन्ता कथा निरूपिता । अन्यास्तनवः शीघ्रमेव कालरूपतामापन्नाः काल-भेदेनैव व्यवह्रियन्ते । रजसा राजसी त्वेषा तनुनीं सन्ध्यायामेकभावनामापन्ना किन्तु पृथक् स्थिता कियत्कालम्, अतस्तां वर्णयन्तीत्याह पृथगिति । पश्चात्कालेन सहैक्यं दैत्यानां निवृत्तिरिति भावः ॥ १५५ ॥

त्रितीयं त्रिकमाह गन्धर्वाश्चेति ।

निबन्धः—गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितरस्त्रिविधा गुणैः ॥ १५६ ॥  
सत्त्वं तमो रजश्चेति न तैर्दोषोऽस्वभावतः ।

प्रकाशः—तत्र गुणक्रममाह सत्त्वमिति । तेषु दोषा न वर्णिताः । तत्र हेतुः अस्वभावत इति । तेषां गुणत्वेपि न दोषस्वभावत्वम् । दोषरूपेणैतन्म-शाभावादिति भावः ॥ १५६ ॥

तृतीयं त्रिकमाह सिन्धवाश्चेति ।

निबन्धः—सिन्धवाश्च किन्नराः सर्पाः सत्त्वादिभिरुदीरिताः ॥ १५७ ॥  
प्रकाशः—का निर्गुणावस्थेत्याकाङ्क्षायामाह कृतकृत्यता च नैर्गुण्यमिति ॥

किमितीति, प्रथमं अविद्यां कृत्वा न त्यक्तवान्—इदानीं किमितीत्यर्थः । तत्र सहने इति, तदुत्पत्तिं नाभिनन्दति ॥ १५७ ॥

अन्यास्तनव इति । यद्यपि पूर्वं राज्यहनी द्वे एव तनु उक्ते, तथापि क्रमसम्बन्धात् प्रमुत्तव इतिपदेन मध्ये प्रातःसन्ध्याप्यायाति, अग्रे सायंसन्ध्यावर्णनाच्चेतिबोधनात् षडुत्पत्त्यम् । रजसा राजसीति, एतेनैतत्पूर्वोक्तान्तोः सात्त्विकीत्वं तामसतामसीत्वं च बोधितम् ॥ १५७ ॥

कृतकृत्यता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः ।

ऋषिभावस्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः ॥ १५८ ॥

कृतकृत्यता नाम स्वस्यैव परमपुरुषार्थता । तपआदिभिस्तु कृष्णत्वम् । प्रकृते स ऋषिभावः । ततो ब्रह्मणापि स भावो भाव्यः । ततः किमित आह नाऽन्यत्र विरमेद्बुध इति । अन्यथा सृष्टिं कुपयित्वा ब्रह्म न विरेतेत् । एवमेकाध्यायार्थो निरूपितः ॥ १५८ ॥

अतः परं ज्ञानभक्त्योर्विस्तारं वक्तुं त्रयोदशाध्याया इति तत्र भेदद्वयमाह चतुर्भिरिति ।

चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः ।

एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्णप्रसादतः ॥ १५९ ॥

प्रकाशः—ननु कथमेवमेकस्यात्यमपरस्य बह्विति तत्राह एकस्य तु स्वतः सिद्धमिति । पुरुषस्य तु पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धयर्थं चत्वारोऽध्यायाः । तत्रापि तस्य साधनरूपं ज्ञानं स्वतः सिद्धम् । भगवत्कृपयैव पुरुषार्थानां ससाधनानां सिद्धेः ॥ १५९ ॥

निबन्धः—अन्यस्या उपवेशे हि स्त्रीत्वात्सर्वं प्रकाशयते ।

नवकन्याः कारणत्वात्स्त्रीजीवा अत्र बोधिताः ॥ १६० ॥

प्रकाशः—अनेनैव स्त्रिया अपि धर्मार्थकामाः सिद्धाः, सहभावात् । मोक्षः परं पृथक् वक्तव्यः, स केवल एव भवति न मिथुनीभावे । अतो बहुवक्तव्यत्वाभावात्पुम्मुक्तिरेकेन । स्त्रीमुक्तिस्तु अन्तःकरणदोषाणां नवानां गुणरूपाणां त्याजनार्थं नवभिरध्यायैर्वैदेव साधनजातं निरूप्यत इत्याह अन्यस्या उपवेशे हीति । नन्वत्र नवकन्यानामुक्तिरयुक्त्याशङ्क्याह नव कन्या इति । स्त्रीजीवाः प्रकृतिपरवशाः ॥ १६० ॥

अग्रिमविभागे गुणस्वरूपानुक्तिस्तु गुणानां स्वभावरूपत्वाभावादित्याशयेनाहुः अस्वभावत इति । भाव्य इति भावनीयः । निरूपित इति, चतुर्दशभिः कारिकाभिरुक्तः ॥ १५८ ॥ साद्वैत मुक्तिप्रकरणार्थं विभजन्ति अतः परमित्यादि ॥ १५९ ॥

चतुर्भिः पुम्मुक्तिप्रकरणार्थं विचारयन्ति नन्वत्र न वेत्यादि । अत्र जीवपदेन केवल-शिवदेशो नोच्यते, किन्तु सल्लिङ्ग उच्यते । “एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्तचोदशवित्तुत्तम् । एष जेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत” इति चतुर्थस्कन्धावकायात् ॥ १६० ॥

(अ. २०) सावरणभङ्गे सप्रकाशे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे ।

ननु जीवानां कारणत्वं पूर्वमेव निरूपितं, पुनः किमर्थं निरूप्यत इत्याशङ्क्याह प्रकृतेः कारणत्वाद्येति ।

निबन्धः—प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी ।

रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्त्वादिभेदतः ॥ १६१ ॥

प्रकाशः—स्त्रीजीवो हि प्रकृत्यधीनः । अतस्तस्य कारणत्वे प्रकृतेः कारणत्वं सिद्धयति, तथापि नवानां कोपयोग इत्याशङ्क्याह मायाशक्तिर्हि तादृशीति, सा हि गुणमयी प्रत्येकं गुणानां त्रैविध्यान्नरूपेतिभावः । ननु स्त्रीत्वं नाम किमि-  
त्याशङ्क्यायामाह रमणौपयिकरूपा हीति । प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका । तत्र गुणभा-  
धान्ये कोषादिवशानागपि स्त्रीत्वं स्यात् । गुणातिरिक्ता तु प्रकृतिर्नास्तीति मतं निराक्रियते ।

“गुणभावे परित्यज्य स्वरूपेण स्थिता तु या ॥

पुरुषं रमयन्ती सा स्त्रीरूपेति निगद्यते ॥ १ ॥

पुरुषस्य च तस्याश्च सर्वतत्त्वेध्वयांशवः ॥

पृथक् सन्ति ततो यत्र दृष्टादृष्टादिकारणात् ॥ २ ॥

भोग्यभावत्वमापन्नाः प्रकृत्याः समागताः ॥

बीजभावं प्राप्नुवन्ति तद्बद्धौ स्त्रीभवे तु सा” ॥ ३ ॥

एवमभिधेत्याह शुद्धसत्त्वादिभेदत इति । मिश्राणामेव गुणत्वम् ।

सत्त्वप्राधान्ये देवस्त्रीत्वम्, रजःप्राधान्ये मनुष्यस्त्रीत्वम्, तमःप्राधान्ये पशुस्त्रीत्वमिति ॥ १६१ ॥

कारणत्वं सिद्धयतीति । मुक्तिप्रकरणे एतदुक्त्या मुक्तावपि सात्विकज्ञानद्वारा प्रकृतेः कारणत्वं सिद्धयतीत्येतदर्थं निरूप्यत इत्यर्थः । इदं च “यच्चबिगुणमन्यकमि”-  
त्यस्य सुवोधिपान्यां व्युत्पादितम् ।

ननु स्त्रीत्वं नाम किमितीति । “भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वैशादि”वित्वाक्यात्मकृति-  
पारवश्यस्य देहिमात्रे विद्यमानत्वात्त्रैव सङ्ख्याकाः केपि देहिनो भवन्तु, कुतो हेतोस्तेषु स्त्रीत्वं  
नामेत्यर्थः । तत्प्रयोजनमाहुः प्रकृतिरित्यादि । तथा च तन्मतनिराकरणायात्र स्त्रीत्वमुच्यत  
इत्यर्थः । तत्स्वरूपं सपरिकरं कारिकाभिराहुः गुणभावेत्यादि । स्वरूपेणेति शक्तिरूपेण ।  
अंशव इति अंशाः । दृष्टादृष्टादिकारणादिति । दृष्टं व्यञ्जनम्, अदृष्टं धर्मागर्भौ, आदिपदेन  
विद्या पूर्वप्रज्ञा च ‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेतं पूर्वप्रज्ञा चैतिक्रुतेः’ ॥ १६१ ॥

श्लोके आनन्दोऽशस्वरूपेणेति० भोग्यत्वमितिशेषः । \* अवस्तुत इति । आयुस्तुकात्

\* इदं “शुद्धसत्त्वाद्यवस्तुत” एवं पाठ्याभ्यामितिप्रतिपाति ।

निबन्धः--आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्त्वादिरूपतः ।

शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्त्वतः पुरुषाकृतिः ॥ १६२ ॥

प्रकाशः--आनन्दांशस्तत्र प्रविष्ट इति भोग्यत्वम् । यद्यपि पुरुषेऽप्यानन्दांशः प्रविशति स्त्रियाः पुरुषो भोग्य इति तथापि गुणाः प्रबला इति शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वम् । पुरुषाकृतिस्तु तत्त्वतः परमाथेयम् । पुरुषांशसमवाये पुरुषत्वमिति भावः ॥ १६२ ॥

किमत्र नियामकमित्यत्र आह मोहकत्वमतः स्त्रीणामिति ।

निबन्धः--मोहकत्वमतः स्त्रीणां शक्त्याकृतिविशेषतः ।

विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न उत्तरत्रोपयुज्यते ॥ १६३ ॥

प्रकाशः--पुरुषं मोहयन्ती यतः, अतः प्रकृत्याकृतित्वं स्त्रीणामित्यर्थः । ननु सर्गलीलायां मनुवंशादे रूपायैर्वंशप्रभः कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न इति ॥ १६३ ॥

नन्वेवं सति मध्ये कर्दमचरित्रमत्र किमर्थं निरूपितं तत्राह नित्यसम्बन्धता-सिद्ध्या इति,

निबन्धः--नित्यसम्बन्धतासिद्ध्यै कर्दमोऽत्रैव योजितः ।

प्रकाशः--भक्तितुल्यव्योमित्यः सम्बन्ध इति ज्ञापयितुं कर्दमस्य कथा । सम्बन्धस्तु सर्गं उपयुज्यते । भिन्नतया प्रसिद्धावपि स्वभावेन एव परस्परकाङ्क्षा युक्तौ । अतोयमर्थो निरूपणीय इति कर्दमः सर्गं निरूपितः । सहजयोरपि विश्लेषे भुक्तिर्भवतीति (न्यायेन) त्यागेनोभयोर्भुक्तिकथनं च युक्तं भवति ।

एवं प्रकरणार्थं शोधयित्वा प्रथमाध्याये तपसा भगवत्तोषस्य प्रयोजनमाह सर्वस्येति । अत एव प्रकरणादौ भगवत्तोषार्थं कर्दमवृत्तिः ॥ १६४ ॥

सर्वस्य कारणं कृष्णप्रसाद इति तत्कथा ॥ १६४ ॥

उत्तरत्रेति अग्रिमस्कन्धे विवृतौ । एवं प्रकरणार्थं विचारितः ॥ १६३ ॥

अतः परं ब्राह्म्यामेकविंशोऽध्यायस्यार्थमाहुः एवमित्यादि । स्वार्थमिति, मूलस्थस-  
र्गस्यैव विवरणमिदम् ॥ १६५ ॥

ननु केन तृष्टो भगवानित्याकाङ्क्षायामाह भक्तानां निर्णय इति ।

निबन्धः--भक्तानां निर्णयस्तोत्रे सर्गार्थमुपयुज्यते ।

कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति ॥ १६५ ॥

व्यर्थं वचनमित्यर्थं बोधयत्युत्तरं च न ।

प्रकाशः--भगवान् तपसा न तृष्टः । नापि स्तोत्रेण, किन्तु ययार्थभाषणेन, तत्रापि स्वयमहर्षकथनेन, तदा हि भक्तानां निर्णय इति । तथावचनस्य प्रयो-  
जनं स्वार्थम् । महतो निकपटभजने प्रसादो भवति । भगवत्प्रसादस्याऽनित्यता-  
माशङ्क्य समाधानमाह कामितमिति । पूर्वमेव करुणा कारणसाध्यत्वम् ।  
कारणमपि प्रसाद एव । भगवदीयपदार्थभोगार्थं शरीरेन्द्रियसंस्कारतपआदीनां  
कार्यम् । अतो भगवन्ते प्रति प्रार्थनावचनं व्यर्थम् । एतद्भगवत्प्रसादादेवावगम्यते ।  
अन्यथा वृत्तान्तं न कथयेत् ॥ १६५ ॥

नन्वीश्वरभरणाव्यतिरेकेण कथं पदार्थसिद्धिः । प्रेरणार्थां वा को हेतुः ?  
निर्हेतुकत्वे वा सर्वेष्वेव पदार्थसिद्धिः स्यादित्याशङ्क्याह पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे इति ।

निबन्धः--पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये ॥ १६६

इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयमुद्यम्य याचनम् ।

प्रकाशः--भगवत्प्रियत्वमेव साध्यं नाऽन्यत् । तेनैव सर्वसिद्धिरिति भावः ॥ १६६ ॥  
कर्दमस्य कन्यावर्णनमयुक्तमित्याङ्क्याह दुहितुर्वर्णनं प्रीत्या इति ।

निबन्धः--दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्तत्वतः सम्मम् ॥ १६७ ॥

भक्तिश्च कार्यशुद्ध्यै हि तपश्चैव स्वमुक्तये ।

प्रकाशः--राजकर्तृत्वं वा वर्णनमृपिमीर्यं । ननु सकृद्रूपभोगप्रतिज्ञायामपि  
कथं कन्यादानं तत्राह राज्ञो भक्तत्वतः तममिति । सर्वां पुरुषार्थसिद्धिर्भव-  
त्सिति समता । ननु विवाहानन्तरं कथं भक्तिः ? कथं वा तपः ? इत्याशङ्क्याह  
भक्तिश्चेति । अन्यथा कार्यदोषेणापि कारणं द्रष्टुं भवेत् । पुत्रापरिवारे पितुर्नैकवत् ।  
कार्यं दुहितरः । चकारेण भक्तैर्नान्तरीयकार्यधर्मा गृह्यन्ते । तपसो भिन्नं प्रयोजनमाह  
स्वमुक्तये इति । चकारात्तस्या अपि हुक्ये । अथवा तपसोपि भक्तिसाद्ग्रहः ।  
तस्यास्तु तपः पूर्ववत्संस्कारार्थम् ॥ १६७ ॥

सादेनं ब्राह्मिशाध्यायस्यार्थमाहुः नन्वीश्वरेत्यादि ॥ १६६ ॥

त्रयोविंशस्यार्थं ससमिराहुः ननु विवाहेत्यादि । कथं भक्तिरिति, कथं देवह-  
तिकृतं भजनम् । नान्तरीयकधर्मा इति, इजितकोविदत्वादयः । पूर्ववदिति, कार्यशुद्धि-  
जननाय ॥ १६७ ॥

प्रार्थिताधिकरणे हेतुमाह अलौकिकस्य करणादिति ।

निबन्धः—अलौकिकस्य करणादनासक्तिः फलिष्यति ॥ १६८ ॥

ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत् ।

कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते ॥ १६९ ॥

स्त्रिया माहात्म्यबुद्ध्यर्थमृषिकर्तृत्वमुच्यते ।

प्रकाशः—विमानादिनिर्माणमलौकिकमन्यथा चित्ते अनासक्तिर्न भविष्यति । “कर्मो योगमास्थितः” इत्यत्र योगप्रदार्थमाह ध्यानं भगवतो योग इति । अन्यथा भगवत्प्रसादजन्यत्वं न स्यात् बन्धश्च भवेत् । तर्हि कथं विमानोत्पत्तिस्तत्राह भगवत्प्रेषितं च तदिति । विमानं तामसं, कन्या राजस्यो, ज्ञानं सात्त्विकमिति । नन्वेवं सति किमिति स्पष्टं नोच्यते तत्राह स्त्रिया इति १६८ । १६९ ॥

तथापि नियतोपपत्तिर्वैकन्येत्याशङ्क्याह अत एव ऋषौ यात इति ।

निबन्धः—अत एव ऋषौ यातेऽप्यवस्थानं तु तस्य हि ॥ १७० ॥

कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम् ।

प्रकाशः—यस्माद्भगवता प्रेषितं न योगेन ऋषिणा जातम् । अन्यथा भोगार्थं सृष्टा भोगाभावे गच्छेद्युः । अत्र “नोधा विधाया रूपं स्वम्” इति निरूपितं तत्कथं नवधा निरूपणमित्याकाङ्क्षायामाह कायव्यूहेनेति । अग्रे परस्पर-विवाहसिद्धयर्थं भिक्षुपारम्पर्यकथनाय नवरूपाणि । गौण्येवैषा सृष्टिः । शुषातीता तु भगवद्भूयाः । अतः कायव्यूहं कृत्वा नवधा बीजाधानं कृतवान् । १७० ॥

नन्वेवं क्रियमाणे देवहृतिः कथं मन्यत इत्याशङ्क्याह समानत्वात्त वैषम्यमिति ।

निबन्धः—समानत्वात्त वैषम्यं दोषाभावः फलं ततः । १७१ ॥

रेतःसेकः क्रमेणैव सूक्ष्मत्वात्स न दृश्यते ॥

प्रकाशः—अत एव दोषाभावोपि । फलं तु रेतःसेकलक्षणं भिन्नं भिन्नं जातमेव । ननु सेकमेवे कथं तस्याऽज्ञानं तत्राह सूक्ष्मत्वादिति । कालः सूक्ष्म इति भेदो न दृश्यते ॥ १७१ ॥

अनासक्तिरिति, देवहृत्या अनासक्तिः ॥ १७० ॥

एवं करणे प्रयोजनान्याह मरीच्यादीति ।

निबन्धः—मरीच्यादिविवाहेच्छां बहुपत्ये स्त्रियास्तथा ॥ १७२ ॥

स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुं गमनं स्त्रीविरक्तये ।

प्रकाशः—पैथुनप्रमैणैव सृष्टिर्भवेत्त्विति भगवदिच्छया मरीच्यादीनां भार्या-पेक्षया स्त्रिया अपि बहुपत्येच्छा । स्ववाक्यं “यावत्तेजो विभूयादात्मनो मे” इति । नन्वेवमपि वाक्यं स्वकीयं न कृते तेजस एकत्वाभावात्, पत्युत बहुपुरुषसम्बन्धेन स्वस्य स्त्रियाश्च दोषजननमिति चेन्नैवम् “आत्मनो मे” इत्यत्राहङ्कारो व्याख्येयः । स च त्रिगुणात्मक इति नवरूपाणि भवन्ति । साङ्ख्यमक्रिया शेषम् । जात्यपेक्षया वैकचनम् । मन्वादीनां चित्तपरीक्षाधेमेव तथा तचनमिति युक्तम्व्यव्यामः । नन्वेवं समर्थस्य योगेन देहत्यागेपि मुक्तिः सम्भवत्यर्थं वनगयनमित्याशङ्क्याह गमनं स्त्रीविरक्तये इति । वस्तुतस्तु योगेपि त्यागोऽपेक्षितः । गृहत्यागेनाऽऽर्द्धं कैवल्यं भवति । ततोऽर्धं देहान्तःकरणभेदेन द्विधा कृत्वा चेत्तज्जति तदैव कैवल्यमिति योग-साङ्ख्ययोर्निष्कर्षः । भगवन्मार्गं तन्न्यथा पराश्रयत्वात् । यथा भगवानेव फलं तदीकायासृष्टपादितमिति विरम्यते ॥ १७२ ॥

ननु कपिलावतारस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह विरक्तो ज्ञान-सिद्ध्यर्थमिति ।

निबन्धः—विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थं कृष्णं भावयते यदि । १७३ ॥

ज्ञानांशश्च तदा व्यक्तो येन सर्वं फलिष्यति ।

प्रकाशः—अनेन ‘यावत्तेजः’ इत्यत्रैव वाक्यं पर्यवसितं श्रेयम् । नव रूपाणि तन्न्यानि ॥ १७४ ॥

एतत्सर्वं ब्रह्मणोऽभिप्रेतमिति ब्रह्मगमनम् । लोकात्मतीत्यर्थं प्रयोजनान्तरमप्याह अबतार इति ।

भिक्षुपारम्पर्यकथनायेति, भारद्वाजशुक्रभारद्वाजवद्विन्नगोत्रत्वकथनायेति ॥ १७२ ॥ एवं करण इति, बहुसृष्टिकरणे । मुले । ऋतमित्यत्र लिङ्गविपरिणामो बोध्यः । युक्तमिति तत्र तात्पर्याभावाच्चुक्तमित्यर्थः । तत् इति, गृहत्यागानन्तरम् ॥ १७३ ॥

साऽर्द्धं स्त्रियश्चतुर्विंशत्याध्यायस्यार्थमाहुः ननु कपिलेत्यादि । विरक्त इत्यादि । तथा च, सर्वफलदानार्थं कपिलावतार इत्यर्थः ॥ १७४ ॥

निबन्धः—अवतारो हरेर्योवान् तत्र ब्रह्मा स्वयं ब्रजेत् ॥ १७४ ॥  
 वरादनुक्तेष्वेवं हि स्तुतिः पूर्णं तु सर्वतः ।  
 बोधनं सर्वबोधाय गमनं सर्वबोधकम् ॥ १७५ ॥  
 पुत्रेपि च हरौ सर्वत्यागादावद्रयकी भजिः ।

प्रकाशः—नन्वेवं सति सर्वत्र तद्व्रमं वक्तव्यं स्यात्तत्राह वरादनुक्तेष्वेवं इति । “यत्स्फुरिष्यति पृथ्वीनद्युणावतारः” इति प्रार्थनया वरो दत्तः । अतोऽनुक्तेपि स्थले ब्रह्मगमनं ज्ञातव्यम् । परं मुख्यतया स्तुतिः पूर्णं कृष्ण एव । कन्यादानबोधनं भगवानयमिति च बोधनं सर्वेषामेव बोधाय । दम्पत्योस्तु बोधः पूर्वमेव सिद्धः । ननु मरीच्यादीनां विवाहानन्तरं यद्गमनमुक्तं तस्य कुबोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह गमनं सर्वबोधकमिति । अन्यथा स्वेच्छया स्त्रीणां पतिसम्बन्ध इत्यस्मिन् कल्पे बोधितं स्यात् । हरेर्ज्ञानरूपस्य परित्यागेन गमनमुक्तमित्याशङ्क्याह पुत्रेपि च हराविति ॥ १७५ ॥ ॥ १७६ ॥

पुम्मुक्तिमुपसंहरति एवमिति ।

निबन्धः— एवं चतुर्भिर्भोगादिमुक्तयन्तं पुंसि वर्णितम् ॥ १७६ ॥  
 वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा ।

प्रकाशः—अतः परमेकैनाऽध्यायेन स्त्रीयुक्तिर्कल्पेत्याशङ्क्याह वैराग्यादिरिति । वैराग्यादयोऽत्र विशेषतो वक्तव्या इति नैकेन वक्तुं शक्याः । पुंमुक्तेः सकाशाद्दीना भविष्यतीत्याशङ्क्याह उत्तमेति, साधनप्रकारैरुत्तमा ॥ १७७ ॥  
 ननु कपिलेन औपनिषदं परित्यज्य किमिति साङ्ख्यं ज्ञानमुपदिष्टमित्यत आह यदौपनिषदं ज्ञानमिति ।

वरो दत्त इति । “कृपिमार्धं न ब्रह्मती”ति रजोवन्भावस्वरूपो वरो दत्तः । कृष्ण एषेति । ब्रह्मकृतस्तत्राभावाचथावसीयत इत्यर्थः । बोधनमिति, ब्रह्मकृतं बोधनम् । अन्यथेत्यादि । यदि मरीच्यादयः स्वस्वाश्रमेषु न गच्छेयुस्तदास्त्यनुभेनावस्थाने तथास्यादित्यर्थः । मूले आवश्यकी भजिरिति । तथा च, भजनार्थं गमनमित्यर्थः । १७५-१७६ ॥

उपसंहरतीति, अष्टादशभिरुत्तमोपसंहरतीत्यर्थः । अतः परमित्यादि । ननु द्वितीयमुक्तिर्बहुभिर्ध्यायैः कुत उच्यते त्रिविधोऽपि पूर्वमेव सिद्धत्वादेकैवेत्याशङ्क्येत्यर्थः । हिनेति, अपिभारजापन्याहनेत्यर्थः । साधनप्रकारैरिति, योगमक्तिसाङ्ख्यज्ञानैः ॥ १७७ ॥

निबन्धः—यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा ।

वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽप्यथा ॥ १७८ ॥

प्रकाशः—गार्गी मैत्रेयीप्रभृतीनां भर्त्रां सह यज्ञसम्बन्धो वेदसम्बन्धोऽस्तीति तासां मुख्यमेव ज्ञानम्, कर्दमस्य तु न तथा । अन्यथा “श्रीशूद्रद्विजवन्पुत्राय” इत्यत्र स्त्रीप्रहर्णं व्यर्थं स्यात् । भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव उपासनायाः प्राधान्यात् । यदेव भगवता ब्रह्मणे प्रोच्यते तत्रैवर्णिकानामेवेति ज्ञातव्यम् ॥ १७८ ॥

निबन्धः—विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद्द्वीजरूपयोः ।

अतः साङ्ख्यप्रकरणे तस्यै ज्ञानमुदीर्यते ॥ १७९ ॥

प्रकाशः—अत्र मुख्यप्रकरणी विदुरस्तस्याऽप्यनुगुणं साङ्ख्यमेव ज्ञानम्, ननु अतिशूद्रस्य साङ्ख्येपि नाधिकार इत्याशङ्क्याह प्राधान्याद्द्वीजरूपयोरिति । बीजं ब्राह्मणस्य । रूपं क्षत्रियस्य ॥ १७९ ॥

ननु स्त्रीणामौपनिषदज्ञानानधिकारे गार्गी कथं ब्रह्मवादिनी वयुना धारिणी पितृकल्पे च मैत्रेयी च कथमुपदिष्टेत्यत आहुः गार्गीत्यादि । मैत्रेय्यादीनां यज्ञसम्बन्धो, गार्ग्यादीनां वेदसम्बन्धः युगान्तरे स्त्रीणामप्युपनयनस्य धर्मशास्त्रेऽप्युक्तत्वात् । कर्दमस्य तु न यज्ञसम्बन्धो, न च देवहत्या वेदसम्बन्ध इत्यत औपनिषदं नोपदिष्टमित्यर्थः । ननु “विवाहस्य समन्त्रक” इतिवाक्यात् स्त्रीणां विवाह एतौपनयनस्थानीय इति तावताप्यधिकारसिद्धेयज्ञादिसम्बन्ध एतौपदिष्टत्वं नेतरेत्यत्र किं गमकमित्येषेक्षायामाहुः अन्यथेत्यादि । तर्हि श्रीभागवतीयमेव कुतो नोपदिष्टमित्येषेक्षायामाहुः भागवतेत्यादि । (तत्र हेतुः उपासनाया इति, मनवादेः । नन्वेवं सति युक्तेन “तस्माद्भारते”त्यत्र सर्वसाधारणतया श्रवणमुपदिश्य श्रीभागवतं किमित्युपदिष्टम्, द्वादशस्कन्धे च “विमोऽपीत्यामुयात्सज्ञा”मित्यत्र “शूद्रः शूद्रपदे पातकादि”ति शूद्रस्य पाठफलं किमित्युक्तमित्येषेक्षायामाहुः यदेवेत्यादि ।) ॥ १७८ ॥

नन्वेवं सति मैत्रेयेण “भगवतैक आसेद”मित्यादिना भागवतं ज्ञानं विदुराय किमित्युक्तम् भगवता च किमिति तदर्थमाज्ञसमित्यत आहुः अत्रेत्यादि । अनुगुणमिति मैत्रेयेण कथनेपि तस्य हृदयारूढं तन्माभूदिति तदनधिकारमवगत्य “उदात्तमिति”त्यादिना साङ्ख्यमिश्रितं समुपसम्बन्धेबोध्यमतस्तत्सर्वमेवानुगुणम् । भगवता तु ज्ञानोपदेशायाज्ञसम्बन्धे न तु निर्बन्धेन साक्षात्लोचज्ञानोपदेशाय । यदि तथा स्यान्मैत्रेयोपि निर्बन्धेन तदेव वेदेत् । अत इदमेव तदनुगुणमिति शूद्रभागवतज्ञानेपि नाधिकार इत्यर्थः । अतिशूद्रस्येति । “दैन्यो वै वर्णा ब्राह्मणः । अयुर्वै शूद्र” इति श्रुतेर्जातिशूद्रस्य ॥ १७९ ॥

प्रमेयबलमाश्रित्य समाधानमाह यथा कथञ्चिदिति ।

निबन्धः—यथाकथञ्चिदात्मा हि ज्ञायतां साधने दृष्टे ।

ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा ॥ १८० ॥

अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता ।

प्रकाशः—साङ्ख्ययोगो भक्तिमार्गश्चेति त्रयमुपदिष्टम् । तत्रैषा योगेन परं गता ।

तेन त्यागाभावेपि न दोषः—भगवतो गमनेपि ॥ १८० ॥

ननु देवहृतिः कथं “निर्विण्णातितराभ” इत्यादिवाक्यं कथयति, किमर्थं चैत्याकाङ्क्षायामाह गुरुपसस्येति द्वाभ्याम् ।

निबन्धः—गुरुपसस्यया निर्विण्णो हेयांशं पञ्चायेद्गुरो ॥ १८१ ॥

श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चाऽन्यथा ।

भर्तुंश्च ब्रह्मणो वाक्याद्भगवत्त्वं तु तस्य हि ॥ १८२ ॥

साङ्ख्यप्रणेत्तुतां चैव ज्ञातवत्याऽऽह तादृशम् ।

प्रकाशः—तत्र प्रथमे प्रकार उच्यते । तथा वचने हेतुस्तु ब्रह्मणो वाक्याद्भर्तुंश्च तस्य भगवत्त्वं निश्चितम् । अतो भगवति तथा वचनं नास्तुम् ॥ १८२ ॥

सामान्य(तो) भर्ता साङ्ख्यप्रकारो निरूपितः, अतः प्रकारकथनमित्याह देहादिष्वात्माविज्ञानादिति ।

प्रमेयबलमाश्रित्येति । ननु यथेवं तदा निर्वन्धेन भगवदुक्तेर्योपदेष्टव्यम्, साङ्ख्यज्ञानस्य का वाऽनुगुणतैवत्य आहुः प्रमेयेत्यादि । तथा च, फले तात्पर्यम्, तद्यु वितयान्यतमेन येन केनचित्साधनेन भविष्यतीत्यतो न निर्वन्ध इत्यर्थः । ननु वितुर्कर्मयोरर्द्धकैवस्यानुचितं ज्ञानम्, देवहृतेस्तु तदभावात्कथन्तदित्यत आहुः तत्रैषेत्यादि । ननु तथापि भगवतो गमने कथं तदनुमतिः—“स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोनुमतो ययावि”ति, तत्राहुः भगवतो गमनेपीति, अनुमतिर्हि भक्तिविरुद्धा, न तु योगसाङ्ख्यविरुद्धाऽतो न दोष इत्यर्थः । एवं चतुर्भिः प्रकारणार्थो विचारितः ॥ १८०-३ ॥

अतः परं सार्द्धत्रयोदशभिः पञ्चविंशाध्यायार्थं विचारयन्ति ।

निबन्ध्यादि । प्रथम इति साङ्ख्ये (प्रथमश्लोके वा) । एवं देवहृत्युक्ता—“निर्विण्णो”त्यादिश्लोकचतुष्टयार्थं उक्तः । “त्वं त्वे”तिपञ्चमस्यार्थं बक्तुं देवहृतेरापातलक्षणज्ञानमस्तीत्यतः प्रश्न इत्याहुः सामान्य इत्यादि । निरूपित इति । “वृत्तप्रतासी”त्यादि-

निबन्धः—देहादिष्व्यात्मविज्ञानान्मोहस्तेनेह संसृतिः ॥ १८३ ॥

मोहाभावः साङ्ख्ययोगस्तद्धेतुस्तेन याचितौ ।

प्रकाशः—मोह एव संसारस्तदभावः साङ्ख्यात्, तद्धेतुः कपिल एवेति तेन कारणेन याचितौ प्रकृतिपुरुषो ज्ञातो ॥ १८३ ३ ॥

प्रकृतिपुरुषयोर्विवेके प्रार्थिते योगादिकथनमयुक्तमित्याशङ्क्य ससाधनस्युपदिशतीत्याह शाब्दं साङ्ख्यमिति त्रिमिः ।

निबन्धः—शाब्दं साङ्ख्यं नोपयोगि सहकारि तु चेतसः ॥ १८४ ॥

ज्ञानशङ्कानिवृत्तिश्च मनसः सहकारिणी ।

अतो हि यादृशं चेतः साक्षात्कारे प्रयोजकम् ॥ १८५ ॥

तादृशं साधनैः साध्यमित्याह गुरुराहतः ।

अतो दोषनिवृत्त्यर्थं योगः प्रथममुच्यते ॥ १८६ ॥

निर्दुष्टमेव रमते समता लिङ्गमस्य हि ।

प्रकाशः—तत्रादौ योगो मुख्यो दोषनिवर्तकत्वात् । दोषनिवृत्तिपर्यन्तं स कर्तव्यस्तदभिज्ञापकमाह समता लिङ्गमस्य हीति ॥ १८६ ३ ॥

केवलयोगेनापि कार्यं न सिद्ध्यतीति तदर्थं भक्तिमाहेत्याह शुष्कयोग इति, निबन्धः—शुष्कयोगे नैव शक्यं स्वनिर्वाहोऽपि दुर्लभः ॥ १८७ ॥

अतो भक्तिर्भगवति विना सद्भिर्न सा कश्चित् ।

प्रकाशः—भक्तिरहितो योगो न चित्तशोधकः तस्य स्वनिर्वाहोऽपि सद्भिर्भः । योगोऽपि न सिद्ध्येदित्यर्थः । तत्राऽपि भगवत्येव भक्तिः सर्वसाधिका । सापि स्वत उत्पन्ना अन्यदसैनमनिता वा न पुरुषार्थपयसयाधिनीत्यभिप्रायेणाऽऽह विना सद्भिर्न सा कश्चदिति । नूतनसन्देहानां तत एव निवारणसम्भवात् ॥ १८७ ३ ॥

श्लोकद्वयेन चतुर्विधो निरूपितः । प्रकारकथनमितिसाङ्ख्यरीत्या प्रश्नः । याचितोक्ति, भर्तुंवाक्यादापातको ज्ञातो प्रकृतिपुरुषो विशयतो ज्ञानाय प्रार्थितावित्यर्थः ॥ १८३ ॥ देवहृतिवाक्यार्थमुक्त्वा भगवद्वाक्यतात्पर्यमाहुः प्रकृतीत्यादि । उपदिशतीति । प्रकृति-पुरुषज्ञानस्युपदिशति । तत्रेति, साधनेषु ॥ १८७ ॥ विलोमविधिं प्रदर्शयन्ति

निबन्धः—सन्तश्च लक्षणैरेव सङ्गश्च हरिवाचकः ॥१८८॥

अतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति ।

प्रकाशः—सन्तोपि न लोकप्रसिद्धया स्वरूपा वा मन्तव्याः, किं तु लक्षणैरेव ज्ञातव्याः । सङ्गोपि भगवत्कथाधैमेव । कथायामेव तत्साधने वा । एवं शृङ्खलारूपेण पदार्थाभिरुच्य पर्यवसानमाह अतो विलोमविधिनेति ।

सत्सङ्गे कथाश्रवणे तदुक्तप्रकारेण योगसिद्धौ चित्तनिर्भूते तद्वर्षकस्या सङ्गाधे सम्पन्ने भगवत्साक्षात्कारस्ततः सर्वज्ञता ततः स्वरूपज्ञानमिति विलोमविधिः ॥ १८८२॥

साङ्ग्ये भक्तेरङ्गत्वं निरूप्य स्वमार्गं प्रधानरूपतेत्याह भक्त्यैव हि सतां सर्वमिति ।

निबन्धः—भक्त्यैव हि सतां सर्वमिदं यथादुक्तमित्यवैत् ॥१८९॥

अतो भक्तिं च योगं च द्वयं पृच्छति सा पुनः ।

श्रद्धया पृष्टमित्याह भक्तिं ज्ञानं च तस्य तत् ॥१९०॥

प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात्साङ्ग्ये ज्ञानं फलं तथा ।

प्रकाशः—मां प्रति तु भक्त्यादेवोक्तवानित्यवैवैवहृतिः । तेन सङ्गार्थे न यत्नं कृतवती । पुनर्विशेषभेदे अयमेव हेतुः । मां प्रति यदि वक्ष्यति तदा भक्तियोगो योगो वा मया कर्तव्य इति वेद एव साधारण्येन पदार्थाभिरुच्यति । अन्ये पुनः मधुरभिकारापुनःसारेणेति तदाह अतो भक्तिं च योगं चेति । प्रक्या भजे पुनःभावो गत इति सन्तुष्टः सन् चतुष्टयमाह । भक्तिरालानात्मविवेको ज्ञानं योगश्चेति । तत्रात्मनात्मविवेकस्याङ्गत्वात्त्रयं प्रतिज्ञातं “विदित्वाथैव” इति श्लोके । तच्चात्रायं साङ्ग्यम् । भक्तिवितानेन सहितो योगश्च । तेन त्रयं भवति । नन्वेवं सति प्रथमनिर्दिष्टं साङ्ग्यमनिरूप्य कथं भक्तिनिरूपणं तत्राह साङ्ग्ये ज्ञानं फलमिति । ज्ञानं हि सुख्यम् । तच्च प्रतिज्ञातं मन्तव्यम् । अन्याथा केवलसाङ्ग्यप्रतिज्ञा व्यर्था स्यात् । अतः ससाधनस्य ज्ञानस्य बहुवक्तव्यत्वात्प्रकृतेः प्रथमं निरूपणमित्यर्थः ॥ १९० २॥

सत्सङ्ग इत्यादि ॥ १८८॥ मनु भक्तेः साङ्ख्याङ्गत्वे “अनिमिषा मागवती भक्तिः सिद्धैर्गरीयसी”—त्यादिना भक्तेर्गुरुत्वं किमिच्छुकमित्यत आहुः साङ्ग्येत्यादि । नन्वेवं सति श्रेष्ठस्या भक्तिप्रकार एव पुनः कुतो न पृष्ट इत्यत आहुः मां प्रतीत्यादि । त्रयमिति मासङ्गिकज्ञानम् । तदाहेति, वेदवैलक्षण्यज्ञापनायाहेत्यर्थः । निरूपणेनैवेति अष्टाविंशे

एवं प्रतिज्ञां सन्दिग्धां मत्वा स्पष्टमाह एवं चतुर्भिरध्यायैरिति ।

निबन्धः—एवं चतुर्भिरध्यायैश्चतुष्टयमुदीर्यते ॥१९१॥

भक्तावनधिकारित्वमस्या अर्थादुदीरितम् ।

त्रयं तदर्थमेवाऽऽह कृतियोगे प्रतिष्ठिता ॥१९२॥

प्रकाशः—प्रथमाध्याये भक्तिः साङ्ग्यज्ञानयोगा उत्पन्न । ननु भक्तेरसाहायशूरत्वात्किं चतुष्टयनिरूपणेनेत्याशङ्क्याह भक्तावनधिकारित्वमिति । न हि देवहृत्यर्थं भक्तिर्निरूपिता स्त्रीत्यासत्सङ्गाभावात् । “अथ ते सम्भवस्थायि” इति भिन्नक्रमेण देवहृत्यर्थमेव साङ्ग्यादेरुक्तत्वाच्च । तत्रापि साङ्ग्ययोगयोः प्रकारभेदात् देवहृत्याः किं, को मार्गः सिद्ध इत्याका इत्यायामाह कृतियोगे प्रतिष्ठितेति । भक्तिमार्गवत्साहाय्यस्यापि तदनुपयोगो निरूपणेनैव ज्ञायत इति साङ्ग्यनिरूपणमिति भावः ॥ १९२॥

नाऽत्र भक्तिस्वरूपं निरूप्यते किं तु सर्वापि मार्ग इत्याह भक्तिमार्गस्येति, निबन्धः—भक्तिमार्गस्य निर्धारस्त्वयोद्देशनिरीर्यते ।

द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽप्ये त्रयमेकेकेतस्तथा ॥१९३॥

सफले लक्षणे मोक्षे लोकेष्वैहिकवस्तुषु ।

हेतौ च सम्मतौ सर्वनिर्धारं क्रमतो मतिः ॥१९४॥

प्रकाशः—देशानामित्यादिभिः । त्रयोद्देशश्लोकानामवान्तरविनियोगमाह—अत्र सप्त पदार्थानिरूप्यन्ते । भक्तेः स्वरूपं, नान्तरीयकं फलं मोक्षः, लोकेषु भयाभाव-निर्धारः, लोकानां विशेषणमैहिकवस्तुष्विति ज्ञानविषयत्वे तु नैवमिति भावः । हेतुश्च सम्प्रतिश्च महतां सर्वनिर्धारश्चेति । तत्र श्लोकानां त्रिभागः । द्वाभ्यां भक्ति-स्वरूपं निरूप्यते । ‘नैकात्मताम्’ इत्यादित्रिभिरानुपपन्निकं फलम् । ‘अतो विधुतिश्च’ इति द्वाभ्यां सालोच्यलक्षणो मोक्षः । तथा चाऽप्ये द्वाभ्यामिति योजना । पुनर्द्वाभ्यां मोक्षनिर्धारः, एवं मोक्षे भेदत्रयं सर्वभावभजनवैराग्यभेदेन । तथा सति

“योगस्य लक्षणं वक्ष्य” इत्यादिना योगनिरूपणेन, “सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुग्मि”त्युपसंहारे(अ० ३३)योगात्कृतार्थता निरूपणेन च । साङ्ग्यनिरूपणमिति, अत्रत्येन साङ्ग्यनिरूपणम् ॥ १९२॥ ऐहिकवस्तुत्विति ऐहिकं वस्तु श्रेष्ठित्यर्थः । द्वाभ्यां तेषु भयान्मावनिर्धारः । ज्ञानेत्यादि । भगवतः ज्ञानविषयत्वे तु न भयमित्यर्थः । हेतुरिति भयहेतुः । अस्मिन्मध्येऽष्टावर्थाः । तत्र श्लोकानामित्युक्ते पक्षे सप्तार्था श्रेयाः ।

एवं साङ्ग्ययोद्देशिः पञ्चविंशत्याध्यायार्थ उक्तः ॥ १९४ ॥

ब्रह्मार्थां प्रत्येकं त्रयं सिद्धं भवतीति । अग्रिमाणामेकैकत इति एकैकैकेन निरूपणम् । एवं सप्त वा अष्टौ वा अर्था निरूपिता भवन्ति, एवं सोपपत्तिको भक्तिमार्गो निरूपितः ॥ १९४ ॥

तत्र देवहृतेरनधिकारमाह सङ्गाभावादिति ।

निबन्धः—सङ्गाभावान्मुमुक्षुत्वत्यागाशक्तेरशक्तितः ।

अयुक्ता मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरमुच्यते ॥ १९५ ॥

प्रकाशः—सत्सङ्गाभावात् । मुमुक्षुत्वमपि बाधकम् । बाधकरूपाणां स्त्रीणां त्यागश्च कर्तव्यः । स्वस्य च वैराग्यमशक्यं स्त्रीत्वात् । अतो मुख्यभक्तावप्येत्या तेन साङ्ग्यादिकं निरूप्यते ॥ १९५ ॥

साङ्ग्यनिरूपणमस्तावे ज्ञानमपि प्रतिज्ञायत इत्याह द्वयं तत्र प्रतिज्ञातमिति ।

निबन्धः—द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्विद्धितीयके ।

सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि ॥ १९६ ॥

वेदानधिकृतानां च साङ्ग्यं तस्मान्निरूप्यते ।

प्रकाशः—“अथ ते सम्पत्क्यामि” “ज्ञानं निश्रेयसार्थाय इति” ब्रह्मयाच । ज्ञानार्थमध्यासः षड्भिः श्लोकैर्निरूप्यते । अनेनासङ्गितः परिहृता “अनादिरात्मा” इत्यादीनाम् । ननु सर्वं ब्रह्मेत्वेवं ज्ञानं बोधनीयं किं सङ्गतविलक्षणतामज्ञानेनेत्याशङ्क्याह सर्वभिन्नतयेति । इदं हि खण्डज्ञानं स्त्रीणां मुख्ये ज्ञानेऽधिकाराभावात्कृत्वा । अनधिकारं हेतुः वेदानधिकृतानां चेति । अध्याससमर्थनार्थं साङ्ग्यनिरूपणम्, वस्तुतो भेदे हि अध्यासो भवतीति तदाह साङ्ग्यं तस्मान्निरूप्यते इति ॥ १९६ ॥

तत्र यदुक्तं तदाह उत्पत्त्येति ।

निबन्धः—उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः ॥ १९७ ॥

तदर्थमेव सम्प्रश्नो भेदात्संसारभिन्नता ।

प्रकाशः—ज्ञानार्थं साङ्ग्यनिरूपणमित्यत्र हेतुमाह तदर्थमेव सम्प्रश्न इति भेदज्ञानं बाधकं मत्वा समाधानमाह भेदात्संसारभिन्नतेति । अनर्थरूपात्संसारत्त्वस्य भिन्नतया ज्ञानं मुख्यवानधिकृतैषु न बाधकमित्यर्थः ॥ १९७ ॥

सार्द्धैस्त्रिभिः षड्विधाध्यायार्थमाहुः । तत्र देवहृतेरित्यादि । अशक्यमिति खानधीनम् । अनेनेति उपोद्घातत्वप्रकरणे ॥ १९६ ॥

“प्रकृतिस्थोऽपि पुरुष” इत्याध्यायार्थमाह साधनान्युपपत्तिश्चेति ।

निबन्धः—साधनान्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते ॥ १९८ ॥

अष्टाङ्गश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वाच्च विस्तृतः ।

प्रकाशः—उपपत्तिः प्रथमतः । “यमादिभिः” इति साधनानि । विचारोऽपि साधनमिति चकारार्थः । तेन “पुरुषं प्रकृतिब्रह्मन्” इत्याद्युपपद्यते । “योगस्य लक्षणम्” इत्याध्यायार्थमाह अष्टाङ्गश्चेति । तस्याः कर्त्तव्यत्वाद्भिस्सरेण कथनम् ॥ १९८ ॥

ततो वैराग्यभक्तयोः प्रभानुपपत्तिमाशङ्क्य साधयति वैराग्येति ।

निबन्धः—वैराग्यभक्तयोः सम्प्रश्नः साधनत्वाद्दिशेषतः ॥ १९९ ॥

तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे ।

प्रकाशः—विशेषत इति । उभयाभावे योगो न सिद्ध्यतीति भक्त्यध्याये भयहेतोर्माहात्म्यनिरूपणं भक्तावपि माहात्म्यमङ्गमिति बोधनार्थम् । तत्र भक्तिस्वरूपनिरूपणमष्टाविंशतिश्लोकैः सार्थं “भक्तियोगश्च योगश्च” इत्यतः प्राक्तनैः माहात्म्यं दशभिः श्लोकैः ॥ १९९ ॥

वैराग्यमध्यायद्वयेनोच्यत इत्याह मृत्युजन्मविभेदेनेति ।

निबन्धः—मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः ॥ २०० ॥

तेनाऽध्यायद्वयं प्राक्तं यच्छ्रुत्वाऽभयमाप्नुयात् ।

प्रकाशः—भयाद्वैराग्यम् । तत्र प्रथमाध्याये मृत्युर्निरूपितः । स च जन्मावधिरिति “पुनस्त्राव्रजेत्” इत्युक्तम् ॥ २०० ॥

गर्भस्तुतेरुपयोगमाह सङ्गत्यागं विनेति ।

निबन्धः—सङ्गत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते ॥ २०१ ॥

इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः ।

अर्द्धेन सप्तविंशाध्यायार्थमाहुः प्रकृतिस्थ इत्यादि । अर्द्धेनाष्टाविंशाध्यायार्थमाहुः योगस्थेत्यादि ॥ १९८ ॥ उनत्रिंशाध्यायार्थमाहुः रेकेन । तत इत्यादि । आशङ्क्येति स्वस्य कर्त्तव्यत्वाभावादाशङ्क्य । भयहेतोरिति, कालस्य । भक्तावित्यादि । “कारणं पर” इति पदद्वयन्माख्यानमिदम् ॥ १९९ ॥



प्रकाशः—सर्वेषामेव गर्भे ज्ञानं भवति । अन्यथा तादृशस्यैव संसारकथने नोपपद्येत । तस्माद्द्वैरान्यप्रकरणे ज्ञानस्याऽप्रयोजकता निरूपिता ॥ २०१ ३ ॥

अध्यायद्वयेन सिद्धमाह तस्मान्सर्वपरित्यागादिति ।

निबन्धः—तस्मात्सर्वपरित्यागाद् ध्रमणं साधनं महत् ॥ २०२ ॥

एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तं सर्वनिर्धारकं परम् ।

प्रकाशः—“अथ यो गृहमेधीयान्” इत्याध्यायार्थमाह सर्वानिर्धारकं पर-  
मिति । राजसानां सात्त्विकानां तामसानां च निर्धारो निरूपितः ।  
सात्त्विकनिरूपणे ब्रह्मादीनां निरूपणम् । “ये त्विहाऽऽसक्तमनसः” इति तामसाः ।  
“तस्मान्त्वम्” इति निर्गुणावस्था । एवं सर्वनिर्धारो विस्तरेणैकस्मिन्नध्याये  
निरूपितः । सङ्क्षेपेण निरूपणार्थमन्तिमाध्यायार्थः ॥ २०२ ३ ॥

“नैतत्त्वलाय” इत्यादिश्लोकानां प्रकृतोपयोगमाह भविता सर्वधैवतविति ।

निबन्धः—भविता सर्वधैवैतःसंवाद्स्य निबन्धनम् ॥ २०३ ॥

गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा ।

प्रकाशः—अयं संवादो व्यासादिभिर्भावगतादाववध्यं निरूपणीयः । अतो  
गुणदोषा निरूप्यन्ते । प्रकृते तु नोपयोगः । अतः सङ्कल्पभावो न दोषाय ॥ २०३ ३ ॥

अध्यायाष्टकार्यमुपसंहरति एवमिति ।

निबन्धः—एवं व्यासप्रकारेण तत्त्वमुक्तं विभागशः ॥ २०४ ॥

समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा ।

प्रकाशः—विस्तारप्रकारेण सर्ववस्तुनिर्धारार्थं तत्त्वमुक्तम् । मुख्यप्रतिपत्त्यर्थं  
सङ्क्षेपेणाऽऽह तस्याफलत्वमाशङ्क्य सारोद्धारत्वज्ञानपाय शीघ्रं फलसिद्धिमाह  
सफलमिति ॥ २०४ ३ ॥

त्रिशैकत्रिंशाध्याययोर्द्वयं पादोत्रैस्त्रिभिराहुः वैराभ्येत्यादि ॥ २०१ ॥

मूले, एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तमिति मूल्यजन्मस्तोत्रैः वैराभ्यं भ्रमणरूपं च साधनं प्रोक्तमित्यर्थः ।

द्वात्रिंशाध्यायस्यार्थं द्वाभ्यामाहुः अथेत्यादि । निर्द्धार इति, त्वरूपनिर्द्धारः  
फलनिर्द्धारः ॥ २०२ ॥

अवान्तराध्यायार्थमाह गुरुप्रसादेति ।

निबन्धः—गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः ॥ २०५ ॥

प्रतिपत्तिमकृत्वा चेष्टीना को वेद किं भवेत् ।

इत्यन्धारणया देह जलं चक्रे महामतिः ॥ २०६ ॥

अवतारचरित्रत्वाच्छ्रवणे फलमुच्यते ॥ २०६ ३ ॥

प्रकाशः—स्तोत्रं देवहृतिरुक्तम् । स्तोत्रमात्रेणैव तोषे हेतुमाह वागेवेति ।  
“ज्ञानकलावतीर्णः” इति सरस्वतीरूपः कपिलः । देहस्य संस्कारस्तथा कथं कृत

साद्ब्रह्मणां त्रयस्त्रिंशाध्यायार्थमाहुः सुखेत्यादि । तस्यैति सङ्क्षेपतो निरूपणस्य ।  
ज्ञानकलेत्यादि, \* “यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती”तिश्रुत्या परापर्यन्तीमध्यमावैसरि-  
प्रकारेण च ज्ञानकलाया एव वाग्मूल्याचयेत्यर्थः । तिर्यग्गताविति सद्युद्रगामित्वे ।  
अग्निभाव इति, “सोमिरभवदिति”तिश्रुत्या देवतारूपत्वेन अग्नेराप इति श्रुतेः । कारणप्रतिसङ्क्रमेण  
वा तथाभावे । अत्र तिर्यग्गतावग्निभाव इत्युभयामलौकिकसर्गाया पञ्चप्रकरणी स्मर्यते ।  
अष्टमिर्वासवमेकादशमी रौद्रम्, द्वादशमिरादित्यमेकैः द्रमैकेन प्राजापत्यमिति । तत्रान्तिमे तिथेकस्व-  
सामान्येन पशुपावबोधनाबज्ञानिप्यादकत्वं सस्य । भगवत्सागुण्ये च “माहकूपरूपशुभाश-  
विभोगक्षणे”ति पशुपावविशुद्ध्या फलासिद्ध्यते । न च साक्षात्सुखं विना तस्मान्मन्येन  
यज्ञनिष्पादकत्वमाणिकमिति शङ्क्यम् । मधुदके द्रवत्वसामान्यात्वयोर्विकारः स्यात् । आज्यं  
वा वर्णसामान्यादित्यादिषु तत्त्वसामान्येनैव विध्यन्तं गृहीत्या यज्ञनिष्पत्तिदर्शनात् । अरा-  
मयीमिहोत्रस्याध्यात्मिकसामर्थ्ये सिद्धेः, प्रकृते च योगस्यैव यज्ञत्वात् । “द्रव्ययज्ञास्तोषज्ञा  
योगयज्ञा” इति गीतायां तस्यापि यज्ञत्वेन कथनात् । एवं यज्ञान्तरेपि द्रव्यमत्तो न  
काचिदनुपपत्तिः । एवं फालस्य देवभावे भवति तत्रैवोपान्त्ये सर्वनिर्द्धारोद्गमनोपकलेन  
ततो भूतबीजस्यैद्रत्वे यज्ञनिष्पत्तिः । ऊर्जत्रिशे योगशेषमकृत्वा त्रिशैकत्रिंशयोर्वैराभ्येण च  
त्रयाणां भूतबीजानां देवभावः । अष्टाविंशे योगेन मनसो देवभावः । पञ्चविंशे  
गुरुत्वमकृत्वा षड्विंशतसर्वविशयोः साङ्ख्येन त्रैगुण्यस्य विशाध्यायमारभ्य पञ्चमिर्भूतानाम् ।  
एवं विशाध्यायमारभ्यैकत्रिंशावधिकैर्द्वादशमिहाभूतैर्गुण्यमत्तविषयभूतबीजानां पूर्वोक्त-  
रीत्या आदित्यत्वे यज्ञनिष्पत्तिः । तथा नवममारभ्योनिर्विशतिपर्यन्तैरेकादशमिः

१ “पूर्वता” पाठः । \* “आत्मा शुद्धा समेत्यार्थान् मनो बुद्धे विवक्षया । मनः कायामिमाहन्ति  
सम्प्रेतवति मात्मान् । माहवस्त्वृषि वायु मन्दं जनयति त्वरम् । इति शुद्धवस्तुकेऽधिकम् ।

इत्याशङ्क्याह प्रतिपत्तिमकृत्वेति । स्वस्य स्त्रीत्वाद्गुरोश्च सरस्वतीरूपत्वात्तिर्यग्मा-  
तावपि जलधारणैव कृता । अग्निभावेऽप्युर्ध्वगतिर्गुरुसायुज्याद्भविष्यति इति ज्ञात्वाैव  
तथाकृतवतीत्याह महामतिरिति कथाया अपि सफलत्वमाह ॥२०५॥२०६३॥

इति श्रीमद्ब्रह्मदीक्षितविरचिते सप्तकाशतन्त्रार्थ-  
दीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे  
तृतीयस्कन्धार्थनिरूपणं  
समाप्तम् ॥

क्रमेण पुरुषस्य दशेन्द्रियाणां च देवभावेन रुद्रत्वे यज्ञनिष्पत्तिः । प्रथमतोऽष्टमिर्ग्ल-  
भकृतिप्रकृतिविकृतीनां देवभावेन बहुल्ये यज्ञनिष्पत्तिरित्येवं प्रतिमाति । यदत्रासुक्तं तत्सु-  
भिस्यद्दीयैः कृपया शन्तव्यं विचारणीयं चेति विज्ञातिः । अवतारपरित्रत्वादित्यद्वैतार्थमाहुः  
कथाया इत्यादि ॥ २०६३ ॥

इति श्रीगो०दशदिगन्तविजयित्रीपीताम्बरात्मज श्रीपुरुषोत्तमविरचिते  
श्रीतत्त्वदीपमकाशावरणमन्त्रे तृतीयस्कन्धावरणमङ्गः सम्पूर्णः ॥

॥ तृतीयस्कन्धः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णः

भागवतार्थप्रकरणे  
चतुर्थस्कन्धविवरणं प्रारभ्यते.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अलौकिकं विसर्गं वदन् अनौचित्यमाशङ्क्य सर्गोप्येवमेव वर्णित इति  
पूर्वस्कन्धार्थद्व्युक्तमनुवदति एवं सर्गं इति ॥

निबन्धः—एवं सर्गस्तृतीयं तु सफलः सुनिरूपितः ॥

अपैकत्रिंशताध्यायैर्विसर्गस्तुर्यं उच्यते ॥ १ ॥

अथ चतुर्थस्कन्धप्रकाशावरणमङ्गः ।

श्रीकृष्णाय नमः । अथ चतुर्थस्कन्धार्थं निबध्नन्तो विसर्गस्यैकदेशत्वात्तस्य समाप्तौ  
‘एतद्यः श्रुत्याद्वाञ्छित्व्यनेन फलकथनस्याङ्गे ‘फलश्रुतिरर्थवाद’ इति मीमांसकप्रसिद्ध्या स्तु-  
त्यतिरिक्तप्रयोजनाभावेन विसर्गस्य च बाह्यलीलात्वात्स्तुत्यत्वाभावेन तत्कथनस्यानुचितत्व-  
माशङ्क्य “पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः, तैरर्जितानि पुण्यानि तद्भवेव भवन्ति हि”  
“अहोहि वाक्ये चतुरस्रे द्वे पुण्यस्य पापस्य निदानभूते-उच्चारणादेव नृणां मुनीन्द्रा  
नारायणश्चेति तदर्थवाद” इति नारदीये तद्व्यसिद्धिनिन्दास्मरणाभ्यानौचित्यमितिवक्तुमत्र तृतीय-  
स्कन्धार्थानुवाचो, न तु सङ्गतिबोधनार्थम्, द्वयोस्तादात्म्यस्य पूर्वस्तुक्तत्वेन सङ्गतेस्त्रैव  
सिद्धत्वादित्याशयेनाहुः अलौकिकमित्यादि । एवमेवेति । ‘य इदमभिश्चिनोति, योषिषचे,  
कपिलमुमर्षतमि’त्यनेन सर्गैकदेशफलकथनपूर्वकमलौकिकत्वेनेन ।

[ यद्वा प्रथमद्वितीयो विचारः साङ्गप्रवणविधिष्व प्रतिपाद्यतोयाविरहस्कन्धेषु श्रोतव्यविषया,  
सर्गविरह्यते । तत्र पूर्वोक्ताधिकारिणां अत्रादाविविधत्वेन लौकिकसर्गविसर्गादितिरूपणमनुचितं, महालौकिके  
विषये प्रसक्तमामधिकारिणां लौकिकसर्गादिविषयाः प्रीतिकाराः साधका वा मन्त्रि, मिमाधिकारादित्य-  
नौचित्यो भ्रामके, तन्निवारणार्थं सर्गविसर्गभोरान्नलौकिकत्वमवश्यं वाच्यं, अधिकारवत्तादिति । तद्विदमभि-  
प्रेत्योक्तमलौकिकं विसर्गं वदमित्यादि । मनु पूर्वस्कन्धाध्यायप्रकाशः किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुः । अनौचि-  
त्यमाशङ्क्येति । अलौकिकानामधिकारिणां अत्रनादिविषयसदा लौकिकसर्गवर्णनमनौचित्यो स्तुत्येविति  
तन्मात्स्यशचिति पूर्वस्कन्धे सर्गोप्यनौचित्योतिवृत्तवर्मलौकिकत्वेन निरूपितो यथा, तथापि विसर्गोप्यलौकिक  
एव निरूपयते इति ज्ञापयितुं पूर्वस्कन्धाध्यायप्रकाश इत्यर्थः । तदेतत्पुनोऽशरम्भे स्पष्टमुक्तं “अवन्निवारया-  
न्नायास्तृतीये सर्गवर्णने” इत्यादिकारिकाद्वयेनेति । तेन पौराणिकोऽपि वैदिकप्रवर्णनौकिको,  
आधिदैविकरूपत्वादित्युक्तं भवति । ]

प्रकाशः—अनेन सर्वा लीलाः श्रुत्वा लीला रूपा अपि प्रत्येकं सफलाः ॥ तेनैकदेशसमुदाययोः सर्वत्र फलसिद्धिर्नापिता ॥ अथेति भिन्नप्रक्रमे ॥ तेन लौकिको विविधः सर्गो निराकृतः ॥ विशिष्टः सर्गो हि विसर्गो देवतास्यः ॥ ते च वसुध्वादित्यरूपा देवाः ॥ भगवतो लीलान्या विपरीतताद्भवतोन्ने निरूप्यन्ते ॥ स्मृ मध्ये ॥ आदित्या आदौ ॥ अत एकत्रिस्रदध्यावाश्रुयै स्कन्धे ! ? ॥

विसर्गलक्षणमाह सर्वयुक्तरजोभाज इति ॥

निबन्धः—सर्वयुक्तरजोभाजो लीला कार्यस्य जन्मदा ॥

विसर्गो लौकिको ह्यत्र कार्य बुद्ध्या चतुर्विधम् ॥ २ ॥

प्रकाशः—सर्वैर्जीवैर्युक्तं यद्रजः क्रियाशक्तिस्तेनाऽत्रोत्पद्यमानाः सर्वसामर्थ्ययुक्ता भविष्यन्तीति विशिष्टत्वम् ॥ कार्यपदं युक्तजीवाभिप्रायम् ॥ अत्रोत्पत्त्याः सामर्थ्यं प्रकटीकृत्य युक्ता भविष्यन्ति ॥ अतो लौकिको विसर्गः ॥ एवं स्कन्धार्थं निरूप्य प्रकरणभेदार्थमाह कार्य बुद्ध्या चतुर्विधमिति ॥ यद्यपि भगवत्सामर्थ्यमनन्तम्, तथापि, सद्बुद्ध्या धर्मार्थकाममोक्षा एव साध्या इति कार्यं चतुर्विधम् ॥२॥

अनेनेति, एकदेशफलकचनेन लौकिको विविधः सर्ग इति, "पुरुषानुग्रहीतानाम्-तेषां वासनामयः विसर्गोऽं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरमि'ति द्वादशस्कन्धोक्तो महापुराणान्त-सम्बन्धी ॥ १ ॥ सर्वैर्जीवैरिति, अमुक्तजीवैः । तेनेति, क्रियाशक्तिसंयोगेण । अथेति, विसर्ग-लीलायाम् युक्ता भविष्यन्तीति, न च दक्षे फलयुग्मिचारः दोषः शङ्क्यः तस्य संमं उपसत्त्वेनाऽदोषत्वान्न । नापि सत्याम्, तस्या अपि द्वितीयजन्मपर्यन्तं सामर्थ्यप्रकटनमित्य-दोषात् । नापि सपरिकरे अधर्मं, तेषामपि देवतात्वेन स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं फलस्वाभावात् । अत एव कठवह्दयां मृत्योर्ब्रह्मविचोकिरपि सद्गच्छते । एवमन्यत्राप्युक्तमिति न कोपि शङ्कालेशः । अत्र लक्षणे सर्वयुक्तपदं सर्गलीलोत्पत्त्यानामुक्तानां जीवानां विसर्गं सहकारित्व-दोषनाय । रजोभाज इति पदं भैत्रेयेण भागवतप्रकृत्य रजोभाजो लीलानां कथनात्तन्मध्य-पातित्वेन निर्गुणलीलात्वबुद्ध्यासाय । एतेनासिद्द लक्षणे प्रमाणमुक्तम् । उपक्रमोपसंहारयोर्-निर्णयकत्वात् । भैत्रेयोक्तीनामेतत्स्कन्धान्त एव पूर्णत्वादिति । अत्र यद्यपि व्याख्यानान्तरं नास्ति, तथापि कारणसाभ्यामुक्तिकफलस्य पूर्ववत्कथनाच्च पूर्वतोत्थेन युक्त्यलीलाया अपि सङ्ग्राह्यतया "एनस्माज्जायते प्राण" इति साक्षात्तद्विषयान् विसर्गस्यापि तथात्वाच्च तथा व्याख्यातव्यम् । प्रकरणभेदार्थमाहेति, अत्र रजोभाजोलीलायाः पूर्ववत्करणत्वेन गुणवैषम्यस्य

भागवते विसर्गलक्षणं तथा नोक्तमित्यासङ्ग्याह पौरुषस्त्वयमेवोक्तं इति ॥ निबन्धः—पौरुषस्त्वयमेवोक्तो माहात्म्यं सर्वथा यतः ॥

वंशः प्रसङ्गसिद्धयर्थं लौकिकानुग्रहावापि ॥ ३ ॥

साधारणो न वै वाच्यः सारोद्धारत्वतोऽस्य हि ॥

प्रकाशः—“ विसर्गः पौरुषः स्मृतः ” इति लक्षणम् ॥ तत्र पौरुषपदं न पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिमाह, किन्तु माहात्म्यं सर्वथा यतो ज्ञातं भवति तेन पुरु-षाकारो विसर्गः ॥ एवं सति वंशेन कथं प्रारम्भस्तत्राह वंशः प्रसङ्गसि-द्धयर्थमिति ॥ असम्बद्धार्थकथने लीलानां परिज्ञानं न भवतीति प्रसङ्गो वक्तव्यः ॥ लौकिकाश्च कथाश्रोतारोऽनुयाह्विताः ॥ एवं स्वाभिमें विसर्गमुक्त्वा साधारणं निषेधति साधारण इति ॥ “सर्वैवेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्” इति-वाक्यात् ॥ ३ ॥ प्रकरणैर्विशिष्टं स्कन्धार्थमाह धर्माथेति ॥

व्यापारत्वेन कार्यरूपभूतमात्रेन्द्रियधीजन्मानश्च फलत्वेन स्कन्धार्थत्वम् । तत्र यथा पूर्वस्कन्धेषु व्यापाररूपः फलरूपो वा सामान्य एव स्कन्धार्थः प्रकारविशेषैर्विशिष्टेन प्रकरणभेदकः, तथा नात्र, किन्तु, फलरूपो द्वारविशेषवैशिशिष्टेन भेदक इति तद्विभागार्थं द्वारमूतमर्थमाहेत्यर्थः । कार्यं चतुर्विधमिति, सामर्थ्यकार्यं चतुर्विधम् । तथा च, तद्द्वारा प्रकरणचतुष्टयविभाग इत्यर्थः ॥ २ ॥

ननु द्वितीयस्कन्धोक्तं लक्षणं विहायेदं भैत्रेयोक्तचतुसारी लक्षणं किमित्याहृतमित्या-काङ्क्षयां कण्ठोक्तलक्षणसिद्धयर्थमेवाहृतमित्याशयेनाहुः भागवत इत्यादि, आहेति एतस्य तस्मिन्प्रयोगमाह तत्र पौरुषेत्यादि । विसर्गलक्षणापूर्वं तस्मिन्नेव श्लोके सर्गलक्षणे जन्मपदादस्मिन्नपि तद्विद्वक्षायां पौरुषमिति ननुसक्तं प्रमुञ्जादस्मिन् स्कन्धे च तामेव वेदेदत्तदु-भयाभावाच्चतुष्टयैर्नि विवक्षिता, किन्तु, पुरुषमाहात्म्यज्ञापकोर्थां विवक्षितस्तेन हेतुना पुरुषकारोत्साभिरेतदर्थं आहतः । स च फलं पुरुषार्थत्वादिभिः न्यायेन पुरुषशेष इति पुरुष-जन्माक्षिपतीत्येतदर्थमेव तदाहृतमित्यर्थः । एवं सतीति, ननु विविधसर्गस्यावाच्यत्वे सति । असम्बद्धेत्यादि । तथा चैतदुभयार्थं वंशेन प्रारम्भो न तु विसर्गत्वज्ञापनार्थमनुपपत्ते-रुक्तत्वादित्यर्थः । प्रकाशान्तरेणापि तस्यावाच्यत्वमाह, एवं स्थेत्यादि । तथा चेतोपि केचला विविधोत्पत्तिर्न विसर्गः, किन्तु, माहात्म्यज्ञापकत्वविशिष्टो यः सर्गः स एव विसर्गत्वेनात्र विवक्षित इत्यर्थः । कथमेतस्य माहात्म्यज्ञापकत्वमित्येषायामाहुः प्रकरणैरित्यादि । तथा

निबन्धः—धर्मार्थकाममोक्षाख्यं कार्यं कृष्णाङ्घ्रिसेवया ॥ ४ ॥

सिद्धयेत सर्वजीवानां नाऽन्यथेतरस्य सम्भवः ॥

प्रकाशः—अस्य स्कन्धस्य सम्भवः ॥ ४ ॥

विविच्य धर्मार्थधिकारिण आह धर्म इति ॥

निबन्धः—धर्मः सिद्धस्तु दक्षस्य ध्रुवस्याऽर्थस्तथा पृथोः ॥ ५ ॥

कामः प्रचेतसां मोक्षः सुख्यादेवेन सिद्धयति ॥

प्रकाशः—पृथोः कामः ॥ पूर्वं दक्षस्याऽपि न धर्मसिद्धिः ॥ सुखेनार्थसिद्धिः ॥

इन्द्रस्य न कामसिद्धिः ॥ पूर्वं पुराणनस्याऽपि न मोक्षः ॥ अतः

कृष्णाङ्घ्रिसेवयैव पुरुषार्थसिद्धिर्नाऽन्ययेति समर्थितम् ॥ ५ ॥

विसर्गस्वार्थान्तरत्नमाशङ्क्य निराकरोति विसर्गं इति ॥

निबन्धः—विसर्गः पौरुषो वाच्यः पुरुषार्थः स नेतरः ॥ ६ ॥

तत्कर्तारोऽथवा वाच्या विशिष्टत्वं तदेव हि ।

मतान्तरमाशङ्क्य निराकरोति स्त्रीवालेति ॥

निबन्धः—स्त्रीवालयुवद्वन्द्वानां प्रक्रियेति मतिर्वृथा ॥ ७ ॥

स्त्रियान न कापि संसिद्धिस्तत्त्वं नाऽत्र प्रयोजकम् ॥

सेन्द्रियत्वं न चाऽन्यद्भि भजनाङ्गं विवेकिनाम् ॥ ८ ॥

प्रकाशः—स्त्री सतो ॥ बालो ध्रुवः ॥ युवा पृथुः ॥ दृढः प्राचीनवर्हिः ॥

एवं स्त्रीपुम्भेदोऽनस्थाभेदश्च विसर्गार्थे इत्युक्तं भवति ॥ एवं मतिर्वृथा ॥ सर्वथा

साक्षाद्भगवत्कृतं कार्यं कथं पुरुषार्थरहितं वेदे अनर्थपर्यवसायि वा ॥ तस्मात्स्त्रिया

यैवं माहात्म्यज्ञापकत्वमित्यर्थः । येन भगवन्माहात्म्यं ज्ञायते ॥ ३-४ ॥ तत्कार्यं कस्य सिद्ध-

मित्यपेक्षायामाहुः विविच्येत्यादि ॥ ५ ॥ ननु विशिष्टः सर्गो विसर्गश्चेदत्र यत्किञ्चिद्विशिष्टेषुऽपि

तथात्वसम्भवान्माहात्म्यज्ञापनत्वरूपविशिष्टरस्यैवादेर किं बीजमित्यत आहुः विसर्गस्येत्यादि ।

“अस्मै वै श्रूयमाणायामि” तिवाक्यादत्र भक्त्युत्पादकं यत्तदेव वैशिष्ट्यं विवक्षितमत इदमादिद्यत

इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं सार्द्धैः षड्भिः स्कन्धार्थैः प्रकरणाथैश्च निदर्शितः । प्रकरणाथै मत्तान्तरस्य

विद्यमानत्वाच्चान्तरासं विना स न निर्णेतुं शक्य इति तदर्थं यतन्ते मतान्तरमित्यादि

विसर्गार्थे इति । वैशिष्ट्यप्रयोजकः प्रकरणाथैः । पर्यवसायि वेति भवतीति शेषः । स्वरूपत

न प्रकरणित्वम् ॥ स्वरूपतस्तु स्त्रीत्वं न प्रयोजकम् ॥ भजने तु इन्द्रियत्वमेव  
प्रयोजकमित्याह सेन्द्रियत्वमिति ॥ मनुष्याधिकारपसस्तु भ्रान्तपरिकल्पितो  
वाग्रादीनामप्यधिकारात् ॥ ८ ॥

तर्हि स्त्रीसतीमसङ्गः कथं प्रथमप्रकरणे कृत इत्याशङ्क्याह स्त्रीणा-  
मनर्थहेतुत्वमिति ॥

निबन्धः—स्त्रीणामनर्थहेतुत्वं न भार्यापरमेव हि ॥

पुत्र्या मातुस्तथाऽन्यस्त्वं देवताया अपि स्फुटम् ॥

पुरुषार्थविरोधित्वकथनाय तथा वचः ॥ ९ ॥

प्रकाशः—पुरुषार्थविरोधितात्तासां कथनम् ॥ ९ ॥

प्रथमप्रकरणे सप्ताऽध्यायाः ॥ द्वितीये पञ्च ॥ उर्ध्वो मिलितावादित्यः ॥

तत्र सप्तसङ्ख्यायां प्रयोजकमाह सप्तनन्तुरिति ॥

इत्यादि । स्वरूपानिरूपणात्स्वरूपतो न प्रकरणित्वप्रयोजकम् । ननु मातु फलित्वेन  
स्वरूपेण वा तथात्वम् । तथापि भजनेपयोगित्वेन तथात्वे किं वाचकमत  
आहुः भजन इत्यादि, “को नु राजशिल्पिबवान् मुकुन्दचरणानुजम् ।  
न भजेत्सर्वतोऽश्रुलुप्यास्ममरोत्तमि” तिवाक्यात्तथेति न स्त्रीत्वादेस्तत्प्रयोजकत्वमित्यर्थः ।  
नन्विन्द्रियत्वमपि न केवलं प्रयोजकं तथा सति पशुनामप्यधिकारापत्तेः । अतस्तदपि  
मनुष्यत्वेन विशेषणीयं शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वात्, तथा सति तद्वतधर्मस्य स्त्रीत्वस्य कुतो  
न प्रयोजकत्वमित्याह आक्षायामाहुः, मनुष्येत्यादि । वानरादीत्यादिपदेनश्लेषक्षिणज्जादिसङ्ग्रहः ।  
तथा च, विवेकित्वमेव प्रयोजकं न तु जातिविशेषवैशिष्ट्यम्, अतो न स्यादेतः  
प्रकरणित्वमित्यर्थः । न च तत्त्वसूत्रविरोधः शङ्क्यः, ‘तदुपर्यपि चे’ति चकारेण मनुष्यतो  
हीनानामपि सङ्ग्रहात् । हनुमदादिषु तथा दर्शनाच्चेति । एवं त्रिभिः परमतनिराकरणेन  
प्रकरणार्थो निर्णीतः ॥ ९ ॥

अतः परन्तेष्वध्यायान्विभजन्ते प्रथमेत्यादि । उर्ध्ववित्यादि । एतेन त्रिप्रकरणी-  
पक्षोपि सङ्गृहीतः । तथा सति तृतीये एकादशे तुरीयेष्टावित्यर्थादुक्तम् । तेन यथा  
सर्गलीलायां देवभावेन त्रयस्त्रिंशत्तां यज्ञसाधकतया फलोपकारित्वं तथाऽत्रैकत्रिंशत्तां

निबन्धः—सप्ततन्तुर्यतो यज्ञो धर्मे सप्त ततः कृता ॥ १० ॥

धर्मः सिद्धयेद्वरेरेव नाऽन्यथेति निरूप्यते ॥

दक्षो मुख्यो यतो धर्मे ततस्तस्य कथा तता ॥११॥

प्रकाशः—तन्तुशब्दः सूत्रे सन्ततौ च वर्तते ॥ यज्ञश्च सूत्रात्मकत्वाच्चतुर्ध्वरति सन्ततिरूपश्च ॥ अतो ज्योतिष्टोमः सप्तसंस्थो भवतीति सप्ततन्तुः ॥ अतो धर्मप्रकरणे सप्ताऽध्यायाः ॥ बाजपेयो गणनार्थं सप्तम इति ॥ तस्याऽप्युक्तराष्ट्रभूते बृहस्पतिसव्ये विज्ञो निरूप्यते ॥ तस्य प्रयोजनमाह धर्मः सिद्धयेदिति ॥ वसिष्ठोऽपि विद्यमानेषु दक्षनिरूपणस्य प्रयोजनमाह दक्ष इति ॥ अन्यथैतानाम् कर्मपार्श्वे दक्षः ॥ ११ ॥

अत्र प्रकरणे कथानां धर्मोपयोगं वक्तुमाह पीठिकासहित इति ॥

निबन्धः—पीठिकासहितोऽनर्थः प्रसङ्गः पोषकैर्युतः ॥

प्रथमेऽनन्तरे हेतुर्भावित्वज्ञापनाय हि ॥ १२ ॥

प्रकाशः—तत्र प्रथमाध्याये अनर्थप्रसङ्गः सतीसम्बन्धो निरूप्यते ॥ द्वितीयाध्याये तु तस्य प्रसङ्गस्य कार्यमनर्थहेतुरङ्कुरवच्छापकथा ॥ तस्य प्रयोजनमाह भावित्वज्ञापनाय हीति ॥ अन्याङ्कुरोत्पत्त्यभावे बीजात्फलं न भवेत् ॥ १२ ॥

द्विप्रत्ररूपस्तृतीयाध्यायार्थ इत्याह तृतीय इति ॥

निबन्धः—तृतीयेऽनर्थसम्मृतिः स्वशक्त्या च निवारणम् ॥

चतुर्थे पञ्चमे नाशः पष्ठे पूर्वाङ्गमुत्तरे ॥ १३ ॥

सप्तमे यज्ञसंसिद्धिर्विष्णोः स्तोत्रे विनिर्णयः ॥

तथात्वं बोधितम् । सूत्रात्मकत्वादिति । अङ्कर्मणां क्रमिकत्वेन फलावद्यंभावसूचकत्वेन च तथात्वात् । सप्तसंस्थ इति, अग्निष्टो-  
मोत्पत्तिष्टोम उक्थ्यः षोडश्यातिरात्र आसौर्योमोवाजपेयश्चेतिसप्तसंस्थः । ननु वाजपेयात्पूर्वं बृहस्पतिसव्यस्यापि सत्त्वात्कथं सत्त्वत्त आहुः बाजपेयेत्यादि । बृहस्पतिसव्यस्य ततः पूर्व-  
पश्चाच्च फरणत्स बाजपेयस्यैवाङ्कुर इति गणनार्थं बाजपेय एव सप्तम इत्यर्थः ॥ १० ॥  
धर्मः सिद्धयेदित्येदं स्वार्थमाहुः तस्यापीत्यादि । तस्य प्रयोजनमिति विन्नस्य प्रयोजनम् ॥ ११ ॥  
ननु सप्ताध्यायीरूपधर्मप्रकरणं चेत्प्रथमत एव धर्मः कुतो नोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः  
अत्रेति ॥ १२ ॥

प्रकाशः—अनर्थवृत्तस्य सम्यग्भूतिरुद्गमो द्वेषस्थिरीकरणत् । ज्ञेवो न कर्तव्य इति ख्यापनमनर्थहेतुत्वज्ञापनाय । अतः स्वशक्त्या कन्यकया स्वबुद्ध्या निवारणमुक्तम् । चतुर्थीध्यायार्थो न सतीमरणं किन्तु द्वेषस्यानर्थहेतोरवान्तर-  
व्यापारः । पञ्चमे यज्ञस्य नाशः पाङ्क्त्यात् । पष्ठे सिद्धिः पूर्वाङ्गम् । उत्तरं रूपं सिद्धिः । यज्ञस्य सप्ततन्तोः सप्तमे सिद्धिः । तत्रैव स्तोत्रे विष्णोरेव सिद्धिरित्येवः समर्थितः । एवं सप्ताध्यायार्थं निरूपिताः ॥ १३ ॥

अपुना प्रथमाध्याये प्रासङ्गिका बहवोऽर्था वर्तन्ते तेषां धर्मोपयोगं वक्तुमाह षड्भिरिति ।

निबन्धः—षड्भिर्नवादिभिर्मर्मः प्रथमे त्वस्य सम्भवः ॥ १४ ॥

अतः प्रथमपदकस्य स्वरूपं प्रथमं जगौ ॥

प्रकाशः—प्रथमं मन्वन्तरनिरूपणं धर्महेतुत्वात् । “ मन्वन्तराणि सद्भिर्माः ” इति वाक्यात् । अस्यापि हेतुमाह प्रथमे त्वस्य सम्भव इति प्रथमाध्याये मन्वन्तरस्य षड्विधस्यापि सम्भवः । तेन धर्मं स्पष्ट एव हेतुः । अनेन कालो हेतुत्वेन निरूपितः ॥ १४ ॥

कथमुद्गम इत्यपेक्षायामाहुः द्वेषेत्यादि । शिववाक्येषु तथाभानात्स एवार्थ इत्यर्थः । ननु नैतादृशानां स्वजनन्यपेक्षायाम् गृह्यात्प्रतियादित्यादिवान्क्येषु द्वेषं न कुर्यादु गृह एव तिष्ठेदिति तावत्ये प्रतीयत इति कथं द्वेषस्थिरीकरणमर्थ इत्यत आहुः द्वेषो नेत्यादि । अनर्थत्वख्या-  
पनायेति । सतीगमनस्य द्वेषस्य वा तथात्वख्यापनाय, ‘ यदि वृजीप्यसी’न्यन्तिमश्लोके तथाभानोऽकुरूप एवाध्यायार्थ इत्यर्थः । अत इति अनर्थहेतुत्वात् । कन्यकपेत्वत्र कल्पनयैःपाठः प्रतिभाति । चतुर्थीध्यायार्थ इत्यादि । सतीमरणं सतीमरण-  
त्वेन रूपेण नार्थः, किन्तु, द्वेषवान्तरव्यापारत्वेनार्थ इत्यर्थः । न च द्वेषस्या-  
न्यनिष्ठत्वात्सतीमरणस्य च तज्जन्यत्वामावेन कथं न्यापारत्वमिति शङ्क्यम् । तज्जन्यत्वस्यातन्त्रत्वेन द्वारत्वस्यैव तथात्वादिति । पाङ्क्त्यादिति । अग्निहोत्रादिपञ्चमसक-  
त्वात् । पूर्वाङ्गमिति रुद्रभागकल्पनेनानुनयः । ‘यज्ञहेतु रुद्रभागो न कल्पतामथ यज्ञहवि’ति ।  
‘इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्ररुद्राभिमार्शितम्, कीर्यमाने हृषीकेशे सन्निव्ये यज्ञभावन’  
इत्युपवाक्यदर्शनाद्यज्ञसिद्धिः केनेत्यादाङ्क्षायामाहुः तत्रैवेत्यादि । तथा च, यदि रुद्रभागोऽनर्थ-  
सिद्धिः स्वात्था स्तोत्रे न स्वादतो यज्ञसिद्धिर्भवत एव, रुद्रभागकल्पनं तु प्रतिबन्धकाभाव-  
रूपमित्यर्थः । निरूपिता इति चतुर्भिरुक्ताः ॥ १३ ॥ मूले षड्भिरिति, आयश्लोक-  
त्रयादभिर्मेः षड्भिः । षड्विधस्येति, भगवदवतारेन्द्रयनुतत्पुत्रदेवर्षिभेदेन षड्विधस्य ।  
हेतुत्वेनेति यज्ञात्मकधर्महेतुत्वेन ॥ १४-१५ ॥

कर्मारश्च कर्दमजामातरो निरूप्यन्त इत्याह येऽग्निमन्त्र इति ।

निबन्धः—येऽग्निमन्तोऽतिसम्पृष्टा ऋत्विजस्ते हि सम्मताः ॥ १५ ॥

अतो वंशः पृथक् प्रोक्तः सर्वेषां समनुक्रमात् ॥

प्रकाशः—ने धर्मात्मान इति ज्ञापयितुं वंशो निरूप्यते । धर्माधिमानिन्या देवताया निरूपणं स्पष्टमेव ॥ १५ ॥

एवं कथासङ्गतिमुत्सा अनुपपत्तिपरिहारार्थमेपेक्षितमर्थं निरूपयन् रुचि निरूपयति पूर्वकल्प इति ।

निबन्धः—पूर्वकल्पे ऋषिः सिद्धः सत्ये चैव व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

रुचिर्ब्रह्मसुतैस्तुल्यस्तेनाऽयं पुत्रिकापतिः ॥

प्रकाशः—दैवनिन्दनकल्पेषु निरूप्यमाणकल्पात्पूर्वकल्पे रुचेरुत्पत्तिः । प्रकल्पे सत्यलोके स्थितः । तस्य कारणात्वाभावात् तृतीयस्कन्धे निरूपणम् । अत्र तस्य कीर्तनं प्रयोजनायेति । हीनत्वाभावायाह ब्रह्मसुतैस्तुल्य इति । अनेन किञ्चिद्धीनतापि निरूपिता । तैत आह तेनाऽयं पुत्रिकापतिरिति । अन्यथा सर्वोत्तमो न पुत्रिकापतिर्भवेत् ॥ १६ ॥

ततोत्पन्नयोर्विवाहो न युक्त इत्याह लक्ष्मीनारायणो भोक्तेति ।

निबन्धः—लक्ष्मीनारायणो भोक्ता यज्ञस्याऽवततार ह ॥ १७ ॥

इन्द्राधिकारी जीवानामभावाद्दंशतः पृथक् ॥

कथासङ्गतिमिति, अत्र प्रथमे प्रकरणे धर्म उच्यत इति तत्कथासङ्गति निरूप्य कर्मसञ्चिदानामभावे धर्मो न सिद्ध्यतीति तदनुपपत्तिपरिहारार्थमेपेक्षितमर्थं सञ्चितसम्पत्तिरूपं निरूपयन्निन्द्रसिद्धयर्थं रुचिं वदन्तीत्यर्थः । कारणत्वाभावादिति, युक्तत्वेनायुक्तत्वेन च सर्गकारणत्वेनाविवाक्षितत्वात् । अनेनेति, तुल्यत्वकथनेन । अन्यथा पुत्रिकार्थं नास्तीत्युच्यते । स्वस्योपमत्वाभिमाने तदङ्गीकारस्यासम्भवादिति ॥ १६ ॥ लक्ष्मीनारायण इति, शास्त्रस्य जीवाधिकारत्वेन भगवति तस्याप्रवृत्तेर्नायुक्तत्वम्, सम्बन्धनित्यत्वादिति । पञ्चविधत्वादिति स्वबलोपे पञ्चमी, पञ्चविधत्वमा- लोच्येत्यर्थः । मूले—अभावाद्दंशतः पृथगिति । अमावं दृष्ट्वा अंशतः पृथगवततारिति

देवानाप्यभावेन स्वांशान् पुत्रांश्चकार ह ॥ १८ ॥

प्रकाशः—अनेन यज्ञप्रकरणे भोक्ता च निरूपित इति प्रयोजनान्तरम् । तस्य मन्वन्तरस्य पञ्चविधत्वात् षड्विधत्वाभावे हेतुमाह इन्द्राधिकारिजीवाना- मिति ॥ १७-१८ ॥

षड्विधत्वमाह यज्ञस्येति ॥

निबन्धः—यज्ञस्य तु हिरूपत्वात् षड्विधत्वं भुजिद्वयात् ॥

क्रियाज्ञानोभयैस्त्रेधा धर्मायावततिरप्यति ॥ १९ ॥

प्रकाशः—अज्ञावतारित्वेन सर्वभोक्तृत्वमिन्द्रत्वेन हविर्भोक्तृत्वं चेति भुजिद्वयम् । अत्राऽध्यायेऽवतारत्रयं निरूपितम् । तस्य कथ्यप्रयोग इत्याकाङ्क्षायामाह क्रियाज्ञानोभयैरिति क्रियावतारो यज्ञः । ज्ञानावतारो दत्तः । उभयावतारो नारायण इति धर्मार्थं त्रेधाऽवतारणम् ॥ १९ ॥

नारायणदत्तयोर्नैकमन्वन्तरोपयोग इति विशेषमाह नारायण इति ।

निबन्धः—नारायणस्तथा दत्तः सर्वसाधारणौ मते ॥

क्रियाशक्त्यवतारस्तु तत्र तत्र भविष्यति ॥ २० ॥

प्रकाशः—अतो मन्वन्तरान्तरेषु न ज्ञानोभयावतारणनिरूपणम् । प्रथमस्तु वक्ष्यत इत्याह क्रियाशक्त्यवतारस्तिति ॥ २० ॥ ननु धर्मप्रकरणे भगवद्भजन- निरूपणस्याऽनैरुपाख्यानं किंप्रयोजनमित्यासाङ्क्षायामाह अवश्येति ।

निबन्धः—अवश्यं कार्यसृष्टिर्हि बन्धोपि न भवेद्यथा ॥

अतः सर्वत्र सृष्टो हि भगवद्भजनाभिधा ॥ २१ ॥

प्रकाशः—नन्वत्रेः सर्वज्ञस्य भगवद्भजनं परित्यज्य कथं साधारणभजनं तत्राऽह सम्बन्धः ॥ १७ ॥ १८ ॥ षड्विधत्वमाहेति । ननु तथापि त्वरूपमेदानावाक्यं षड्विधत्व- मित्याकाङ्क्षायाम् भोगभेदेन तथात्वमाहेत्यर्थः । कथ्यप्रयोग इति, केन रूपेण धर्मोपयोगः ॥ १९ ॥

विशेषमाहेति । सर्वसाधारण्यरूपं विशेषमुभयोरह अत इति, मन्वन्तरमात्रे त्रेधापयोगा- पेक्षायामपि द्वयोर्विद्यमानत्वात् । प्रथमस्त्वित्यादि अतो न न्यूनतेति भावः ॥ २० ॥ मूले, बन्धोपि न भवेद्यथा । अत इति । बन्धभावोपि विस्मर्त्य भगवत्कृतत्वादावश्यकः । अत उभयो- रपेक्षितत्वादित्यर्थः । भगवद्भजननिरूपणस्येति । प्रपत्तिरूपस्य तद्व्यवणचेतोरूपस्य वेत्यर्थः ॥ २१ ॥

धर्मप्रकरणत्वादिति ।

निबन्धः—धर्मप्रकरणत्वाच्च निश्चयो नाऽभवत्पुरा ॥

अत्रेः सामान्यरूपेण भजनं तेन वर्णितम् ॥ २२ ॥

प्रकाशः—कर्ममार्गं सर्वं देवास्तुत्याः । परब्रह्मणोऽपि देवत्वमेव ॥ २२ ॥

तथापि त्रयाणामागमने को हेतुस्तत्राऽऽह कर्मण इति ।

निबन्धः—कर्मणस्त्रिविधत्वात् त्रयाणां सम्भवाभिधा ।

अभिवैवं त्रिधा यस्माच्चैविध्ये धर्मकर्मणि ॥ २३ ॥

प्रकाशः—त्रिविधज्ञापनाय ॥ २३ ॥

उत्तरं हरिणैवोक्तं त्रयाणां ज्ञानरूपम्, तत्र हेतुः—बोधोऽपि हरिणेति ।

निबन्धः—बोधोपि हरिणा पश्चादेवं द्वेषानुत्तये ॥

तस्मादन्यतरद्द्वेषे नेतरत्कर्म सिद्धयति ॥ २४ ॥

प्रकाशः—अथवा दृष्टं प्रति भगवद्वाक्यं सप्तमे वक्ष्यते । तदप्यत्र सम्मितिलेनोच्यते । कलितमाह तस्मादिति ॥ २४ ॥

नन्वत्र भागवते ऋषयो निरूप्यमाणाः सर्वज्ञास्ते कथमन्यथाऽन्यथा परस्पर-  
विरुद्धानर्थान् वदन्ति । कथं कर्तव्यं विष्णुमेव सेवते । कथमग्निः साधारण  
इत्याशङ्क्याह सर्वेषामिति ।

निबन्धः—सर्वेषां ब्रह्मविच्छेऽपि यस्मिन्ना यस्य तद्वचः ॥

अतो हि भगवोस्तेषु क्रियांशादिविरुद्धानः ॥ २५ ॥

प्रकाशः—ब्रह्मज्ञत्वेपि स्वभावभेदाद्ब्रुचिभिरा । अतो रूच्यनुसारेण तेषां

धर्मप्रकरणत्वादित्यस्य विवरणं कर्ममार्गं इत्यादि ॥ २२ ॥ तथापीति 'य एव  
जगदीश्वर' इति वाक्याद्भजेः परब्रह्मस्वरूपनिश्चयाभावेपि ब्रह्मादीनां परब्रह्मस्वरूपनिश्चयसद्भावात् ।  
कर्मण इति, तपोरूपस्यात्रिकर्मणः । मूलान्वयस्तु, धर्मकर्मणि त्रैविध्ये यस्माद्धर्तव्यं त्रिधा,  
तस्माद् द्वादादीनां त्रयाणां सम्भवाभिधेयतिसात् यस्मात्कलत्रैविध्येन कर्मत्रैविध्यमनुमीयते तेन  
च कर्मोपिदेवत्रैविध्यं, तेन हेतुना त्रयाणामागमनम् । तथा च, तेषां परब्रह्मस्वरूपज्ञत्वेत्यत्रे-  
स्तदभावाच्चरत्यात्रित्वेन त्रयाणामाकाङ्क्षया सोमपर्यैव ध्यातव्याश्च तदनुरोधेन तथैत्यर्थः ।  
उत्तरं हरिणैवेति, यथपि मूले, ऊत्तुरित्युक्तं, तथाप्येकदा त्रिभिः कथने विचित्रिक्षेपात्तदभावात्  
तथैत्यर्थः ॥ २३ ॥ तथापि हरिणैवेत्यनानिश्चयात्सङ्घातरमाहुः अथवैत्यादि । तथा च,  
सप्तमानुरोधेनात्रापि हरैरोत्तरदातुत्वमञ्जीकार्यनिश्चयः ॥ २४ ॥ रूच्यनुसारेणति

तथा वचनमित्यर्थः । ननु रूच्यनुसारेण वस्तु कथमन्यथा भवेत् । तेन विध्या-  
वचनमेव केषाञ्चिद्भ्रवितुं युक्तमित्याशङ्क्याह अतो हि भगवानिति ।  
भगवानेव तथा रूपाणि कृतवान् । तेन न प्रमेये तथा तथावचनं दोषाप ॥ २२ ॥

इदानीं नारायणावतारस्य दक्षस्य चरित्रं उपपत्तिमाह धर्म इति ।

निबन्धः—धर्मे समाधिस्तरुष्टो ज्ञाने साध्यं तपः परम् ॥

गुणाभिमानिज्ञानं हि खण्डे तन्मत ईश्वरः ॥ २६ ॥

प्रकाशः—“अयं हि परमो धर्मः” इति वाक्यालितुष्टुद्धर्था नारायणः  
समाधिं कृतवान्, दक्षश्च ज्ञानावतार इति तपश्च । ननु दक्षावेयो न भगवदवतारो  
गुणाभिमानिदेवलायथा चन्द्र इत्याशङ्क्याऽऽह गुणाभिमानिज्ञानं हीति ।  
खण्डसिद्धान्तं एव त्रिणोर्गुणाभिमानित्वम् । मुख्यसिद्धान्ते तु सत्त्वेऽवतार एव ।  
यथा नारायवतारः—यथा मत्स्यस्यादिप्राकटयं तथाभिमानित्वाप्राकट्यमिति । तथापि  
सन्देहात्कायं जीवमध्ये भगवदवतार इत्याशङ्क्याह तन्मत ईश्वर इति । खण्डमते

तदुक्तमेकादशे स्कन्धे, “कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसञ्ज्ञितं”त्युपक्रम्य सर्वेषां  
भूत्वादीनां मनोः सकाशाद्देवाध्ययनं वेदवेत्तुत्वं बोधया, अर्थकथनविषये “तेषां  
प्रकृतित्रैविध्याच्छुक्त्यर्थो बहुभोरित” इति “यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्वन्ति ही”ति  
च । तथा च प्रमेयनिर्णये भगवत एव वाक्यं प्रमाणं नान्यस्य “किं विधत्ते किमाचष्टे”  
इत्यादिल्लोकत्रयेण तत्र भगवतैव तथानिर्णयस्य कृतत्वादितिभावः । तेन नेत्यादि । तथा  
चान्धहस्तिन्यायेन तेषां तावन्मात्रज्ञानात् मिथ्यात्वादित्वं, भगवतः सर्वरूपत्वाच्च न प्रमेये  
विरोध इति तथा वचनं न दोषायैत्यर्थः । अत एव भीतायां “येऽप्यन्यदेवताभक्ता” इत्याद्युक्तम्,  
अतो मुख्यसिद्धान्तेन उपचिच्छेदोपि नेतिभावः ॥ २५ ॥ इदानीमिति ऋषिस्वरूप-  
तद्वचनविरोधपरिहारादनन्तरम् । उपपत्तिमिति, धर्मोपयोगबोधिकानुपपत्तिम् । गुणाभिमानि-  
ज्ञानमिति, एते गुणाभिमानिन इति ज्ञानम् । तत्कुत्र सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः खण्डसिद्धान्ते  
इति, ब्रह्मविष्णुष्टेषु चैतन्यं भिन्नमिति सिद्धान्ते । सत्येपीति, अपिषाब्दाद्रजस्तमसोरपि ।  
ननु यदि चैतन्यैक्यं, तदा तच्छब्दादे स स एव न प्रकटीमवेत्, नियामकाभावादित्यत  
आहुः यथा मत्स्येत्यादि । तथा च “यद्यद्विद्या त उरुमाय विशावन्त्यी”ति न्यायात्प्राकट्यमिति  
भावनया नियामकत्वात्तथा प्राकट्येऽपि न चैतन्यभेदात्परित्यक्त्यर्थः । तथापि सन्देहादिति,

वैष्णवे स एवेश्वरस्तेन न सन्देहः ॥ २६ ॥

मुख्यसिद्धान्ते अंशतोऽविभक्त इति विष्णुर्भगवानेव । तत्र हेतुः तस्य सर्वकृत्येति ।

निबन्धः—अविभक्तोऽंशतस्तस्य सर्वकृत्या स्वतः फलम् ॥

नांशतोऽभिमतैः पुष्ट्या कार्यासिद्धेर्विभागशः ॥ २७ ॥

अतः सामान्यतो वाञ्छ दोषाभावेपि सिद्ध्यति ॥

प्रकाशः—स एव हि सर्वं करोति । उत्पत्तिविनाशौ यथाकथञ्चिदपि भवतः । स्थितौ तु सर्वा कृतिरपेक्ष्यत इति स्वतः परमेश्वरादेव सर्वं फलं नांशतः अभिमानात् । अन्यथा तामसाह पात्येत् । हेत्वन्तरमाह पुष्ट्या कार्यासिद्धेरिति ।

सोमदुर्वाससोऽवतारत्वाप्रसिद्ध्या सन्देहात् । स एवेत्यादि, गुणाभिमान्येवैश्वर इति दृश्य जीवमध्ये प्राकट्येपि नावतारत्वे सन्देह इत्यर्थः ॥२६॥ नन्वेवं सति खण्डसिद्धान्तान्मुख्यसिद्धान्ते को विशेष इत्यत आहः मुख्येत्यादि । ब्रह्मशिवौ तु विभक्तत्वाद्वाचिति न भगवद्रूपावित्यर्थः । नन्वेतौ विभक्तौ विष्णुरविभक्त इति कथं निश्चयमित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्र हेतुरित्यादि । “स एव हि सर्वं करोती”ति, “यतो वा इमानि”त्यादिश्रुत्या ईश्वर एव सर्वं करोति, अंशस्तु प्रतिनियतं कार्यम्, यथान्तर्गामी । ननु त्रयाणां प्रतिनियतकार्यकारित्वस्यैव सरणात् स्थितिकर्चरि विष्णावेव कथं सर्वकर्तृत्वमत आहुः उत्पत्तीत्यादि । यथाकथञ्चिदिति, अभिमानेपि । सर्वा कृतिरिति, स्थित्यर्थं त्रयीद्विषां हननं तदनुसारिणामुत्पादनं स्थापितानामभिष्टद्वयर्थं तत्तदभीष्टदानमित्यादिरूपा । तथा च, यद्यभिमानो स्यात्तदा स्थानमात्रमेव कुर्यात् हननमुत्पादनं च, तत्करणाच्चानभिमानित्वं निश्चीयते । तेन चाविभाग इति स ईश्वर इत्यर्थः । ननु स्ववर्गपालनं स्वीयमूहत्वं शिवेऽप्यस्तीति नैकान्ततोऽनभिमानित्वं तेन निश्चेतुं शक्यमित्यत आहः अन्यथेत्यादि । तथा च, यदि विभक्तोऽभिमानो स्यात्, \*परमस्वपालनं न कुर्यादतस्कोऽपि पालनात्तद्व्यतिरेकिनिश्चय इत्यर्थः । ननु सामसादिकल्पेषु शिवब्रह्मणोरपि तथात्वं सार्व्यत एवेति चेत्तत्राहुः हेत्वन्तरमाहेति । कार्यमिति । दशमस्कन्धोक्तं सविनयं श्रुत्वावनादिकार्यम् । अन्यथेति पदमत्रापि सम्बन्धते । यद्यपि तथा स्यादितं कार्यं न कुर्यात्, तथा च, तयोः सत्त्वयोगेन परिपालकत्वेऽप्येतद्वशकार्यकर्मवृत्तेन भूयस्त्वपरीक्षणस्य कान्यसारणाद्विष्णावैश्वर्याभिमानित्वस्य सत्त्वाधिक्यस्य वा निश्चय इत्ययमेव तथैत्यर्थः । ननु शिवरात्रिमतकथार्थं भिन्नमृत्रितस्य विस्वपत्रातस्य च शिवेनाभिषेकपूजात्वेनास्त्रीकारकथनात्तत्रापि सत्त्वाधिक्यं निर्णीयत एवेति चेन्न, तत्र लिङ्गव्यवधानेन तथास्त्रीकृतेः साक्षात्तत्त्वात्वावादित्याद्येन

१ अभिमानत्वात् । \* “पारमस्वपालनं कुर्यात्” इति युवप्रतिकल्पके पाठः ।

पुष्टिभाग्येण कार्यं च न कुर्यात् । विभागश्च सर्वमार्गप्रवर्तने न स्यात् । अतो ब्रह्मादीनां सामान्यतो वाञ्छाऽपि सिद्ध्यति । स्वत एवोचमत्तात्तुल्यत्वादिदोषाभावश्च । तस्मात्सुदृक्तं दत्तात्रेयस्य भगवत्त्वम् ॥ २७ ॥

ननु सोमादिषु ब्रह्मादीनां धर्मा न दृश्यन्ते उत्पत्त्याद्यः । तत्कथमवतार इत्याशङ्क्याह भिन्ना जाता इति ।

निबन्धः—भिन्ना जातास्त एवात्र भेदे कार्यस्य सम्भवात् ॥ २८ ॥

अधिकाभिमतित्यागादंशतस्ते हि जज्ञिरे ॥

प्रकाशः—त एवैते परं भिन्नप्रकारेण जाताः तत्र हेतुः, भेदे कार्यस्य सम्भवादिति । एवं प्रकारेणाऽवतारे स्थाभिमेतं कार्यं न सिद्ध्यति । तत्कार्यं वंशकरणम् । योगेन रक्षा । तपसा चानुग्रहनिग्रहौ । कथमेवमत आह अधिकाभिमतित्यागादिति । अंशत एव जाता इति नात्यन्तं गुणाभिमानः स्तेषु ॥ २८ ॥

एवं धर्मं परम्परोपयुक्तान्निरूप्य दत्ते साक्षाद्दर्शोपयोगं विचारयति, अत्यन्तधार्मिको दक्ष इति ।

निबन्धः—अत्यन्तं धार्मिको दक्षः पितृदेवव्रतः पुमान् ॥ २९ ॥

अभिमानो च तेनाऽस्य कन्याः षोडश ताः स्मृताः ॥

हेत्वन्तरमाहुः, विभागश्च इत्यादि । अन्यथेति पदमत्राप्यनुष्यते । तयोः कार्यस्य कल्पसन्ध्यारूपेण एव कालस्तत्र प्रथमकाल उत्पत्तिवैश्वर्यात् सर्वमार्गप्रवर्तनमिति ‘एष आत्मपयोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा, तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मायाभूतमि’त्यादिवाक्येषु नाशप्रवर्तनबोधकपदादिभिरवतीयते । यदि तयोः साक्षात्सामर्थ्यं स्यात् स्वस्वकालेवतीर्यं कुर्याताम्, तदा प्रवृत्तिः स्यादेव, यद्ययमपि तथा स्यादेतत्कालेपि सा न स्यात् । अतो न विभक्त इति निश्चयमित्यर्थः । अन्यमप्युत्कर्षणमकामाहुः, अत इत्यादि । सामान्यतो वाञ्छेति, अवतरणात्तत्राहुः । यद्युक्तुष्टो न स्यादेतदवतारारिक्तं तेषामाकाङ्क्षितं न स्यात् यत एवम्, अत उक्तुष्ट इत्यर्थः । एतेनान्यस्यापि सिद्धिमाहुः स्वत इत्यादि । इदं यथा तथा प्रहस्ते भिन्निपादे च निपुणतमरुपादितं मथेत्युपरम्यते । एवं विष्णावैश्वर्यत्वं साधयित्वा प्रस्तुतमाहुः तस्मादित्यादि भिन्नप्रकारेणैति गुणाभिमानं तिरोभाष्य ॥२७॥२८॥ अधिमानित्वेनेति, धर्माभिमानत्वेन । मूले, पितृदेवव्रत इति. रजोमिश्रो गृहासक्तः ॥२९—३०—३१॥



प्रकाशः—अभिमानित्वेन तामसः । तेनाऽस्य षोडशकलस्य मनोमयस्य कन्याः षोडश जाताः । पञ्चदश सगुणाः । एकाऽतिरिक्ता चेति ॥ २९ ॥

धर्माय त्रयोदशसमर्पणे हेतुमाह सर्वेष्विति ।

निबन्धः—सर्वेषु धर्मो मासेषु तज्जाता शुद्धिरेव च ॥ ३० ॥

त्रयोदश ततः कन्यास्ता धर्माय समर्पिताः ॥

प्रकाशः—कालोयं धर्मं निमित्तमिति । मासाभिमान्यः शुद्धयभिमानिनी चेति ताः ॥ ३० ॥

परमा सिद्धिः सत्त्वेनेति प्रार्थनाभावेपि शुद्धसत्त्वे भगवदवतारो जात इत्याह सत्त्वमूर्त्तौचिति ।

निबन्धः—सत्त्वमूर्त्तौ हरेर्जन्म धर्मादाकल्परक्षणे ॥ ३१ ॥

केवलो धर्ममार्गं हि नाऽयन्तमुपयुज्यते ॥

इति दर्शयितुं रूपद्वयेनाविरभृद्धारिः ॥ ३२ ॥

प्रकाशः—मूर्त्तिरित्येकदेशनाम सत्यादिवत् । अवतारप्रयोजनमाकल्पयान्तं रक्षणम् । अयं विशिष्टः सर्ग इति न केवलं पुष्टिरहितो धर्म उपयुज्यते अत उभयज्ञापनार्थं रूपद्वयेनाऽवतीर्ण इत्याह केवल इति ॥ ३२ ॥

स्वरूपद्वयस्वरूपमाह सर्वातिरिक्तरूपेणेति ।

निबन्धः—सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः ॥

तपोतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चाऽन्यथा ॥ ३३ ॥

प्रकाशः—सर्वकार्यकतृत्वात्सर्वरूपो नारायणः पुष्टिकार्यकतृत्वात्तदतिरिक्तोवतारः । तत्राऽधिकारमाशङ्क्य परिहरति स्वावेशधारक इति । नरस्तु तादृशर्मज्ञे

उभयज्ञापनार्थमिति । मार्गद्वयसम्बन्धिक्रियाज्ञानयोज्ञापनार्थम् ॥ ३२ ॥

सर्वातिरिक्तरूपेणेति । सर्वरूपं ब्रह्माण्डात्मकप्रथमपुरुषरूपम्, अतिरिक्तमन्तर्यामिरूपम् । तथा च, सर्वसहितातिरिक्तरूपेणेत्यर्थः । नन्वेतन्नामवतारानां बीजमित्युपक्रम्यावतारकथने, नरनारायणयोः कथनात् कथयतिरिक्तावतारस्वावगम इत्यत आहुः सर्वकार्यकतृत्वादित्यादि । “यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय सस्ये नृणाम् । धर्मज्ञानप्रमोपेतमाकल्पादासितस्त्वा” इतिवाक्येन सहस्रकवचवधेन च सर्वोपकारकरणतुर्वेशीदानलक्षणपुष्टिकार्यकरणञ्च यथायथं सर्वरूपव-

विभक्तिं न स्वतार इत्यर्थः । “ताविसी वै भगवतः” इति मूलवाच्यं कृष्णः स्वयं भगवानेतेन विरुद्धयत इति समाधत्ते तपोतिरिक्तकार्यं दिव्यति । मार्गद्वयस्थापनाधेयवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न तेऽस्त्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावशाविति मूलार्थः ॥ ३३ ॥

मतिरिक्तरूपत्वं चावगन्तव्यमित्यर्थः । नन्वत्र “मूर्त्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी, ययोर्जन्म-न्यदो विश्वमभ्यनन्दत्युनिर्दृतिमि”ति द्वयोर्जन्मोपक्रम्य परमोत्सवकथनादुभयोरवतारत्वमादाणीयं, न तु नारायण एव द्विरूपत्वम्, तथा वैकैककार्यकतृत्वमुभयोरुभयकतृत्वं वा युक्तमित्याशयेनाहुः तत्राधिकारमित्यादि । नरे तादृशकार्यकतृत्वव्यव्यव्यतामित्यर्थः । तादृशमिति । प्रथमपुरुषीयं धर्मरक्षोपयोगिनंशम् । अयं भावः । “एकोनविंशो विंशतिमे वृष्टिषु प्राप्य जन्मनी” इति वक्तुं धर्मकलासंगे नरनारायणावृषी” स्कं० १-३ इत्यत्रावतारद्वयानुष्ठीकाराण्यद्वयोः प्रथमवतारत्वम्, किन्तु द्वावैकोवतार उक्तकसिद्धावेश एक एवावतार इति वक्तव्यम् । तत्र प्रत्यक्षविरोधादत्रत्यब्रह्मादिकतृकरतुता “वितेन धर्मसदानेन ऋषिमूर्त्तिना” इत्येकवचनाद्, एका-दशेपि (अ० ४) “धर्मस्य दक्षतुहितयजनिष्टमूर्त्त्या नारायण” इत्यारभ्य “उतुनारायणबलं शकल-त्रास विसित” इत्येतेनारायणस्यैव महात्म्यकथनाच्च प्रथमपक्षो दुर्धृष्ट इति नारायणस्यैवावतारत्वम्, नरस्य तु तादृशांशधारकत्वमित्युभयसामञ्जस्याङ्गीक्रियत इति । एवमेकं विरोधे परिहृत्य विरोधान्तरं परिहर्तुमाहुः ताविसीमित्यादि । तप इत्यादि । द्रोणपर्वणि भगवता, “चतुर्मुखैर्दत्तं शश्लोकाजगार्थमुद्यतः, आत्मानं प्रविभज्याहं लोकानां हितमादधे । एकमूर्त्ति-स्तपश्चर्यां कुरुते मे शुचि स्विता, अपरा पश्यन् जगत्कुर्वीणं साधवसापुना, अपरा कुस्ते कर्म मानुष्यं लोकसंस्विता, शेते चतुर्धा च परा निद्रां वर्षसहस्रकीर्णम् । या सा वर्षसहस्रान्ते मूर्त्ति-रुतिष्ठते मम, वराहेभ्यो वरान्श्रेष्ठान्शरभो काले ददाति ते” इतिमूर्त्तौनां प्रतिनियतकार्यबोधनाश्रायणान्-शेन तन्मात्रकार्ये तप आदिकमेव कार्यम्, नत्वतिरिक्तं युक्तमवस्थादिदानरूपम्, अत्र चातिरिक्तं “यत एतद्विद्युच्छये” “भक्तियोगवित्तानार्थमि”त्यादिविरुक्तं दर्शितं च तथेति कार्यलङ्घ-कानुमानयल “कृष्णस्तु भगवात्स्यमि”ति वाच्यं न स्तावकमित्यर्थः । तथा सति कर्म विरोधपरिहार इत्यत आहुः मार्गोत्यादि । पुष्टिमर्थादयोः स्थापनाय, यद्यपि नारायणोन्नतीर्णस्तथापि पुरुषोपमप्राकट्याभावे तथेऽनुभयसामञ्जस्यायैतद्वाक्यमेवं व्याख्येयमित्यर्थः । \* मूलयोजना तु, तौ पूर्वोक्तौ नरनारायणाविभाषेतत्कल्पनीयौ वै निश्चयेन कार्यबलाद्, भगवतो हरेरशौ नत्ववतारशीजयुस एव, मूलभूते कृष्णे आगतौ प्रविष्टौ, च पुनः शुभो भारतव्याय कृष्णौ “कृष्णं च वर्षे तमसा जनास्य” इति कार्योपहितस्य तमसः कृष्णवर्णत्वेन तादृशौ सन्तौ

एतस्मात् स्वाहास्वधोत्यति समर्थयज्ञेवाग्निपित्रोस्तहाने हेतुमाह पितृदेवेति ।

**निबन्धः—**पितृदेवव्रतत्वाच्च स्वाहान्ये सर्वदेवता ॥

तथा चाग्निः पितृणां तु नोपायस्तेन तत्तथा ॥ ३४ ॥

**प्रकाशः—**अन्या स्वधा ते उषे जाते इति शेषः । स्वाहाया अग्निसमर्पणे हेतुः सर्वदेवतेति । यतः स्वाहा सर्वदेवतास्वाहा । अग्निरपि तथा “अग्निः सर्वा देवता” इति श्रुतेः । अतस्तस्मै सा दत्तेत्यर्थः । पितृणामेकरूपस्याभावात्सर्वेभ्य एव सा दत्ता तुभ्यन्वेन स्वधायाः सर्वपितृरूपतया सा व्यवस्थिच्छते ॥ ३४ ॥

भवाय सत्याः समर्पणे हेतुमाह अभिमानेति ।

**निबन्धः—**अभिमानांशमादाय दीपकज्जलवत्पररा ॥

षोडशी कन्यका जाता ब्रह्मावेत्य विचार्य च ॥ ३५ ॥

तदधिष्ठातृदेवाय दापयामास सिद्धये ॥

अभिमानेन सम्बन्धस्तेन द्वेषः प्रवर्धितः ॥ ३६ ॥

**प्रकाशः—**ननु धर्मिणं विहाय केवलय्यस्यैव कथम्युत्पत्तिः सम्भवतीत्यत आह दीपकज्जलवदिति । यथा तेजसः स्वनः शुद्धत्वेन ज्ञेहजत्वे तन्मूलरूपं कज्जलं पृथक् भवति तथा वैदिककर्मणोपि सर्वैरस्तुनायाताम्यप्रकाशकस्य सदोषकर्तृकत्वेनाऽत्र तद्दोषभ्रतोभिमानः पृथक् जात इत्यर्थः । अत एव तस्याः स्वनजनकगृहभर्तृमालिन्गहेतुत्वं

यदुत्कृष्टहो जाताविति । तथा चोभयरूपविशिष्टो नारायणोऽहो भगवत्येव स्थितः । नरांशरुद्र भगवति प्रविश्य ततोऽञ्जने प्रविष्ट इति बोध्यम् । तदुक्तं तन्त्रे, “अञ्जने तु नरावेशः कृप्यो नारायणः स्वयमिति श्रीधरीयात् । अत्र स्वयमित्यनेन मूलरूपमुच्यते, अवतारस्य बद्रिक्राश्रमे सत्त्वादिति । अत्र सर्वत्र तत्तद्वाक्यबोधितकार्यलिङ्गकानुमानमेव मानमिति न कोपि बोधावसरः ॥ ३३ ॥

**एतदन्तं श्रीमदाचार्यैः कृता व्याख्या, एतदग्रे प्राभवीयात्**

सर्वदेवतारूपेति, सर्वदेवतायास्तादृशेत्यर्थः । तद्वदिति कज्जलवत् ॥ ३५ ॥

एवं द्वारिण्यतिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ।

\* श्रीपुराणोत्तमचरणा इवमेवमाज्ञापयन्वि, इतोमे श्रीपुराणोत्तमैः प्रकाशो विचारित इति ।

नाशशापकारणात् । षोडशत्वं च । तस्य प्रान्तभाग एवोत्पत्तिः । ब्रह्मा तस्या एवं रूपत्वं ज्ञात्वा तामसत्वेन स्वमूलकारणेऽर्पिता सती न स्वकार्यसमर्था भविष्यति स्वमूलकारणतैलार्पिततद्वद्, अन्यत्र स्थापिता तु वायुपनीततद्वत्कालवशात्सर्वत्र स्वमचारं करिष्यतीति विचार्य तदधिष्ठातृदेवाय शिवाय दापयामासेत्यर्थः । सिद्धये स्वरूपसिद्धय इत्यर्थः । सात्त्विकादिभ्यो दाने तामसत्वेन तस्याः स्वरूपनाश-प्रसङ्गादिति भावः । यद्वा । सिद्धिः स्वमूलरूपे लयः ।

(अ० २) शिवद्वेषहेतुमाह, अभिमानेति । तस्या भिन्नत्वेन स्थितत्वात्तत्रापि तत्कार्यमिति भावः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

नन्वत्र तत्सम्बन्धेन द्वेषो युक्तो दक्षस्य त्रिभिमानस्य पृथग्भावात्कर्ष्य स इत्याशङ्कयाऽस्याप्यभिमानं सम्बन्धहेतुमाह, दुहितुरिति ।

**निबन्धः—**दुहितुः स्मरणात्त्रित्यमभिमानो विवर्द्धते ॥

द्वेषश्च धर्माकरणात्कर्तृश्लाऽनादराद्द्विः ॥ ३७ ॥

उद्दोषविनिवृत्त्यर्थमदृष्टयै धर्मकर्मणि ॥

सम्बन्धविनिवृत्त्यर्थं शापमाहाधिदैविके ॥ ३८ ॥

**प्रकाशः—**अत एव द्वेषश्च । ननु शापे को हेतुस्तत्राप्येवविषयापे को हेतुस्तत्राह धर्माकरणेनादिति । स्वयं वैदिकधर्माकरणात्तद्वर्तकतुर्दक्षस्यानादरात्तद्विहेतुत्वं शिवनिष्ठं शापे । द्वेषस्यान्तःसत्त्वेन तस्य हविर्भागित्वे दक्षेननियमेन तत्सम्भवे च बहिरपि द्वेषोद्दोषः स्यादिति तन्निष्ठत्वर्यं धर्मरूपे कर्मणि तस्याऽदर्शनाय तादृशे कर्मणि सम्बन्धनिवारणं शापं दत्तवानित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

ननु धर्मो तूष्णींभूते स्वस्यापि तथैवोचितं तत्कर्ष्य नन्दिशाप इत्यत आह धर्म इति ।

**निबन्धः—**धर्मोऽतसहिष्णुस्तु नन्दिरधिदैवनिराकृतिम् ॥

फलहानिमुवाचादौ साधनानामतः परम् ॥ ३९ ॥

**प्रकाशः—**तुशब्देन शिवव्यवच्छेदः । शिवस्य सहिष्णुत्वेपि नन्दिनो धर्मरूपत्वेन स्वाधिदैवनिराकृतिमसहिष्णोः शापोक्तिरित्यर्थः । फलहानिस्तत्त्ववैयर्थ्यम् ।

अतः परं नवभिर्द्वितीयाचार्यैः विचारयन्ति । शिवद्वेषेत्यादि । तत्रापि तद्विषये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ स्वाधिदैवनिराकृतिमिति, धर्मस्य मूलं वेदः शिवसाद्रूपो “वेदः शिवः शिवो वेद” इतिवाक्यात् । अतो धर्मनियामकत्वात्तदेवं तस्य निराकृतिमित्यर्थः ।

सर्वस्यापि धर्मस्य तत्फलकत्वात् । धर्मोणाऽतथाभावेऽपि सत्सद्भादिनापि कदाचि-  
द्वैराग्यादिसाधनसम्पत्तौ तस्याग्निः स्यादिति तस्मिन्स्वयमेवमपि पृथक्साधनहानिनापि ।  
अन्यथा साधनानां स्वतोऽपुरुषाथैत्वात्फलाभावकथनेनैव चारितार्थात्तद्दानिकथनं  
व्यर्थं स्यात् ॥ ३९ ॥

नन्येव कथं ब्राह्मणानां सर्वनाशं कृतवैस्तवाह दैवाभाव इति ।

निबन्धः—दैवाभावे धर्महानिनिरित्येवं मुनिरूपितः ।

सम्बन्धवारकृद्गर्भं तन्नाशासहनो भृगुः ॥ ४० ॥

अदृष्ट्यै धर्मरूपत्वे दर्शनात्शोभसम्भवः ॥ ४०३ ॥

प्रकाशः—नन्दिना स्वयमधिकं किञ्चिदोक्तं किन्तु दसशापकृताधिदैवसम्बन्धाभावे  
धर्मस्य स्वत एव हीनत्वात्तत्फलाभावोप्यनुक्तसिद्ध एव स्पष्टतयोक्तोऽनेनेत्यर्थः ।  
अत एव मुनिरूपित इत्युक्तम् । भृगुशापे हेतुमाह तन्नाशासहन इति । धर्म-  
नाशासहन इत्यर्थः । तत्र हेतुः भृगुरिति । धर्मरूपब्रह्मशरीरत्वग्रूपत्वादिति भावः ।  
प्रथमतो हि त्वय्येव बाहदुःखसम्भवः । अत एव धर्मं तत्सम्बन्धवारणकर्ता जातः ।  
अत्र हेतुः अदृष्ट्या इति । विपरीते वाक्कमाह धर्मरूपत्व इति ॥ ४०३ ॥

पञ्चभिर्भृगुकार्थमनुवदति सार्धेन मुख्य इति ।

निबन्धः—मुख्ये तदप्रवेशश्च तस्याधर्मत्वमेव च ॥ ४१ ॥

अधर्मे परिनिष्ठा च तथा कापालिकावधि ॥

तदुपाधेः स्वधर्मोऽस्मिन्नाधिदैवत्वमेव च ॥ ४२ ॥

प्रकाशः—वैदिके तदर्थस्याऽप्रवेश उक्त इति ज्ञेयम् । अकारात्तत्कृतृणामपि । तस्य  
धर्मस्येत्यर्थः । एवकारेणेतत्त्व्यवच्छेदः । अकारात्तैषामपि । अधिमचकारात्प्रकोऽपि ।

तत्फलकत्वादिति, तत्त्वज्ञानफलत्वात् ॥ ३९ ॥ मूले, सम्बन्धवारकृदिति वारो वारणं,  
तत्कर्त्ता । धर्मरूपत्व इति, शिवभागदानस्य तथात्वे । अत्रेति शिव इत्यर्थः । ४०३ ॥

पञ्चभिर्भृगुकार्थमिति । “भवन्ते” त्यादियच्च श्लोकैर्भृगुणोक्त्यर्थम् । एकेन श्लोकद्वयोक्तमर्थमुक्त्वा  
अर्धेन व्याख्यानभेदैस्त्रयाणामर्थं सङ्गृह्णन्ति तदुपाधिरित्यादि । तत्र हि “ब्रह्म च ब्राह्मणोऽभे”ति  
श्लोके वेदनिन्दया पापण्डित्यमुक्तम् । एष एव हीति द्वितीये भगवत्प्रमाणकस्य वेदमार्गस्य  
सनातनत्वमुक्तम् । तद्ब्रह्मपरममिति तृतीये च तादृशवेदमार्गगर्हणेन भूतनाशधैवत-

“यत्र देवं सुरासवम्” इत्यनेन कापालिकावधित्वम् । तेषां तथात्वात् । तदुपाधिः  
पापण्डत्वोपाधिः । पापण्डत्वप्रयोजको वेदनिन्देति यावत् । यद्वा । तदुपाधेस्तेषां  
पापण्डिनां स्वयमे निन्दत्यनेनाऽधर्मेतावच्छेदक उपाधिर्वेदस्तस्य स्वमत आधिदैवत्व-  
मित्यर्थः । यद्वा । तद्ब्रह्म, उपाधिः पापण्डित्वावच्छेदको धर्मस्तभिन्दा, तयोः  
समाहारस्तथा । तथा च स्वधर्मं वेदस्याधिदैवत्वम् । अस्मिन् पापण्डवर्मे तन्नि-  
न्द्यायास्तथात्वं मुख्यत्वमिति । यद्वा । तत्पदेनाशीचवेदनिन्दादिकमुच्यते । तत्र  
स्वयं तदुक्तधर्माकरणात्तत्प्रयोजकत्वाद्दृशरीरो वा शिव एव तस्य तथात्वमिति “दैवं  
वो यत्र भूतराट्” इति वाक्यात् । एवकारेणेतत्त्व्यवच्छेदः । चाद्ब्रह्मत्वमपि ॥४२॥

अस्य शापस्य पूर्वस्मादाधिक्यमाह, एतस्येति

निबन्धः—एतस्य प्रतिपातस्तु न कदाचिद्भविष्यति ॥

शिवद्वेषनिवृत्त्या तु धर्मः सिद्धयेदपि क्वचित् ॥ ४३ ॥

प्रकाशः—“ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्” इति वाक्यादिति भावः । एतेन वेदानुसारेण  
भगवद्भजनं विहाय नाऽन्यमार्गं यतनीयमिति सूचितम् । ननु नन्दिनापि  
धर्मसम्बन्धवारणात्कथं निस्तार इत्यत आह शिवद्वेषेति । “सम्बुद्धन्तु  
हरद्विषः” इतिवाक्यात्तद्वेदप्रयुक्तत्वेव तस्या शापात्किञ्चित्तो धर्मः सिद्धयेदित्यर्थः ।  
अपीति सम्भावनायाम् । पूर्वोक्तवैपरीत्ये सम्भावनापि नास्तीति भावः । क्वचिदिति  
यदि भगवति समर्पितं भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

पापण्डमार्गमनमुक्तम् । तत्र प्रथमे पापण्डित्वप्रयोजिकाया वेदनिन्दया वैदिकधर्मे न  
नियामकत्वमित्युक्तम् । तेन “गिरः श्रुतायाः पुण्यिण्या मधुगन्धेन भूरिणा, माध्व्या चोन्म-  
शितात्वान्” इति पादत्रयोक्तदोषपरिहारादकिञ्चित्करस्त्वमुक्तमित्येकोऽर्थः । द्वितीयमाहुः ।  
यद्वा, तदुपाधेरित्यादि । तथा च “युन्मन्ते गिरः” इति वाक्यद्विदो धर्मस्याधर्मतावच्छेदकः  
सोऽस्मन्ते तस्य धर्मेतावच्छेदक इति वेदानुसारेण पूर्वोक्तदोषाऽसम्बन्धाच्छापोऽ-  
किञ्चित्कर इत्यर्थः । अस्मिन्त्याख्याने ‘एष एव हीति श्लोको बीजम् । एवं व्याख्यानद्वयेन  
‘ब्रह्म च ब्राह्मणोऽभे’ति श्लोकतात्पर्यमुक्तम् । अधिमव्याख्यानद्वयेन ‘तद्ब्रह्म परमं शुद्धमि’त्यस्य  
तात्पर्यमाहुः यद्वा तद्ब्रह्मेत्यादि । तयोः समाहार इति, तत्सहितो धर्मस्तद्धर्म इति समास-  
बोधितं साहित्यम् । वेदतन्निन्दयोरैककार्यान्वयाभावात्साहित्यमसङ्गतमित्यख्या पक्षान्तरमाहुः  
यद्वा, तत्पदेनेत्यादि । स्वयमिति, नन्दी । तथात्वमिति, विगर्षपापण्डं यतिति  
कथनात्पापण्डाधिदैवत्वम् । वक्तृत्वमिति, पापण्डशाभवकृत्यम् । तेनात्रेदं सिद्धम् ।

शिवस्य पूर्वज्ञानत्वेन कथं वैमनस्येन गगनमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह द्वैतेति ।  
निबन्धः—द्वैतोपस्था शिवः किञ्चिद्विमना न हि पूर्ववत् ॥

अन्तरायसमुत्पत्त्या भीतास्ते कृष्णसात्कृतम् ॥ ४४ ॥

सत्रं विधाय तत्तीर्थं स्नाता निर्मलतां ययुः ॥ ४४३ ॥

प्रकाशः—पाषण्डधर्मोत्पत्त्या शिवो विमना जात इत्यर्थः । तथापि स्वस्य न काचित्सतिरिति किञ्चिदेव तथा । नन्वेवं सति वैमनस्यमयुक्तम्, धर्मस्यापि सत्त्वादित्यत आह न हीति । पूर्वं यथा धर्मप्रचारस्तथापि न हीत्यर्थः । पाषण्डानां मञ्जुरत्नादिति भावः । कालमर्यादया तथात्वे स्वस्य वैमनस्यं न स्यात् त्वनिमित्तं तथात्वे युक्तमेव तथात्वमिति हिशब्द आह । ननु नन्दिशापे सति कथं सत्रसमाप्तिरित्यत आह, अन्तरायेति । सत्रमध्य एव सत्रनाशकविघ्नोत्पत्त्या भीताः सन्त ऋषित्वेन भगवतैव निर्दोषत्वेन तत्सिद्धं ज्ञात्वा तदधीनं तत्र समर्पितं तदेकैवं च कृत्वेति तत्र समाप्ती साधनमुक्तम् । तत्तीर्थं भगवतीर्थं, गङ्गाया लौकिकशरीर-समर्पत्तिर्भविष्यति पूर्वदोषनिवृत्तिश्च सर्वदोषनिवर्तकचरणजोयुक्तत्वात् । कालिन्दी पुष्टिमार्गीयेति मर्यादया तथाभावेपि पुष्ट्यैव सर्वं करिष्यतीति विचार्य तदुभयसङ्गमे स्नाता निर्मलतां ययुरित्यभिधर्मसम्पत्तां हेतुरुक्तः ॥ ४४३ ॥

( अ० ३ ) अतः परं तृतीयाध्यायार्थं विचारयन् कर्मजनिताभिधानरूपसती-सम्बन्धमयुक्तत्वेन द्वेषस्य ज्ञापेन कर्मसम्बन्धाभावे च तत्प्रयुक्तद्वेषः शिवेऽसम्भावितः

शैवव्रतकर्तृणां शैवव्रतस्य च वैदिकधर्मेष्वप्रवेशालत्कर्तृणां तदनुसारिणां च पाषण्डित्वम्, अन्ते कापालिकत्वम् । न चात्र कापालिकस्यैव निन्दा न तु व्रतान्तरस्यैतिवाच्यम् । “ नष्ट-शोभा मूढचिन्त ” इति शिवदीक्षावतां प्रयक्षाणापैयर्थ्यापठेः । तदीक्षारहितानामपि व्रतारणतद्वायुसुरणमात्रेणापि सच्छास्त्रपरिपन्थिले शापान्तरं विनापि तत्सम्भवात् । तथा वेदवैदिकधर्मनिन्दाकरणेन तादृशशापमवनाद्वेदनिन्दायाः पाषण्डताजननद्वारा नरकहेतुत्व-मिति । अपीति सम्भावनायामित्यादि । तथा च शिवद्वेषो न कार्य इत्येव मुख्यः पक्ष इत्यर्थः ॥ ४२॥४३॥४४३ ॥

एवं सन्निपां नैर्मल्यकथनांचेन द्वितीयाध्यायार्थे उक्तः ।

अतः परं तृतीयाध्यायार्थसाधिकाः सप्तभिः विचारयन्ति, अतः परमित्यादि ।

दक्षेऽप्यत एवासम्भावित इत्यत्र द्वेषनिरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य ज्ञापेनेत्यादिनाऽन्य समापचे ।

निबन्धः—ज्ञापेन धर्मसम्बन्धे वारितेपि शरीरतः ॥ ४५ ॥

सम्बन्धसत्तया द्वेषो ह्यनिमित्तं विवर्द्धते ॥

सम्बन्धस्य द्विरूपत्वाद्भयोद्वेषसङ्ख्या ॥ ४६ ॥

प्रकाशः—शरीरत इति । कारणस्य... भावेऽपि प्राचीनतत्कार्याभिमानरूप-सतीशरीरस्य स्वजन्यत्वात्तत्तया तत्प्रयुक्तसम्बन्धस्याऽपि सत्त्वाद् द्वेषोप्यानिमित्तं निमित्तभूतसतीशरीरे मर्यादीकृत्य विशेषेण वर्द्धत इत्यर्थः । शिवे हेतुमाह सम्बन्धस्येति ॥ ४६ ॥

ननु महद्द्वेषिणं ब्रह्मा कथमधिपिकवानित्याशङ्क्य तथाकरणे तस्याभि-प्रायमाह अतिवृद्धयेति ।

निबन्धः—अतिवृद्ध्या पतन् द्वेषं त्यक्ष्यतीति चतुर्मुखः ॥

मानवृद्धधिकारं हि इत्तवान् धर्मेनाशकम् ॥ ४७ ॥

प्रकाशः—महद्द्वेषेण पतनस्यावश्यकत्वेऽप्यतिवृद्धी मानस्य शीघ्रं पतन् पाते तद्द्वेषेण हेतुत्वं ज्ञात्वा तं त्यक्ष्यतीति विचार्य मानस्य वृद्धिरेस्मात्तदशमधिकारं दत्तवानित्यर्थः । अधिकारस्य महद्विषयत्वाद्धर्मेनाशकत्वम् । तत्र तदवमान-सम्भवाच्छिवावमानकर्तृस्तादृशाधिकारो युक्त एवेति हिशब्दार्थः । तेन शिवद्वेष-जपातसहायकरणं ब्रह्मण उक्तम् । अत एव दक्षमतीत्या मानदानं स्वाभिमायस्त्वेतादृश इति सर्वतोमुखमेतत्करणमिति ज्ञापनाय चतुर्मुख इत्युक्तम् ॥ ४७ ॥

तेनाभिमानोऽभूत् । कर्मणा वाजपेयनाप्यभूत् ब्रह्मिष्ठाभिमानेन चेत्युक्तानुक्तसमुच्चयार्थश्रकारः । तत्र हेतुः वाजपेय इति ।

निबन्धः—कर्मणा चाऽभिमानोऽभूद्वाजपेयो यतोऽधिकः ॥

बृहस्पतिसवो मुख्यः क्रममात्रमिहोच्यते ॥ ४८ ॥

सा काष्ठा ब्राह्मणस्योक्ता चितिरङ्गमसत्रिणाम् ॥ ४८३ ॥

महद्विषयत्वादिति प्रजापतिविषयत्वात् ॥ ४७ ॥ ननु वाजपेयात् पूर्वमपि बृहस्पतिसवस्य

प्रकाशः— सर्वेभ्यः कर्मभ्य इति शेषः । तदा बृहस्पतिसवकरणे किमर्थमित्यत आह बृहस्पतिसव इति । ब्राह्मणस्याऽयमेव मुख्य इत्येतत्करणार्थमेव तत्करणे “वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेत” इति विधिवाक्यात् । एतदेवाह क्रममात्रमिति । अत्र सर्वत्र हेतुः सा काष्ठेति उत्कर्षावधिरित्यर्थः । अस्याताशस्वेनैतत्करणेऽन्यस्य वाजपेयादेः करणासम्भवेन तस्य च सर्वाधिकत्वेनोच्छिर्त्सा भूदिति पूर्वकर्तव्यत्वेन विधिरिति भावः । ननु वाजपेयेऽग्निचयनस्य च्छान्दोग्ये उक्तत्वात्कथं न तस्मिन्नित्यत आह चित्तिरिति अस्य सधित्वात् करणापेक्षेति भावः ॥ ४८३ ॥

ननु “अपहतपाप्मा स्वाध्यायः” इति श्रुतेः कथं वैदिके कर्मणि तत्राऽप्युत्कर्षकाद्याभूते ब्रह्मिष्ठब्राह्मणकर्तृके नाश इत्यत आह दैवादित्यादि ।

निबन्धः—दैवा “स्मिर्द्धृतिगृहीते देवयजने”ऽभवन्मखः ॥ ४९ ॥

तेन नाशस्ततो नाऽत्र वैदिकेऽपि हि दूषणम् ॥

प्रकाशः— “निर्द्धृतिगृहीते देवयजने याजयेथं कामयेत निर्द्धृत्याऽस्य यज्ञं ग्राहयेयमित्येतद्ध निर्द्धृतिगृहीतं देवयजनं यस्तदृष्ये सत्याकृशं निर्द्धृत्यैवाऽस्य यज्ञं ग्राहयति” इति श्रुतेस्तादृशदेवयजने मखस्य जातत्वान्नाशस्याऽऽवश्यकत्वे तत्राशे वैदिके मार्गे न दूषणमित्यर्थः । श्रुत्युक्तत्वात्तस्यतु भूषणमिति भावः । इममेवार्थं हिशब्देनाऽऽह । भूमार्दीनां सर्वज्ञत्वेन कथं तादृशदेवयजनसम्पत्तिरित्यत उक्तं दैवादिति । भगवदिच्छातो दक्षादिदुरदृष्टद्वित्यर्थः । एतेनाऽधिकारकर्म तादृशदेवयजनरूपं दोषत्रयमुक्तम् ॥ ४९३ ॥

ननु “तस्मिन् ब्रह्मर्षयः” इत्यादिना दक्षयज्ञोत्सवनिरूपणस्य किं प्रयोजनं कथं वा पतिभक्त्याः सत्यास्तदगमने गमनाभिलाषेत्याशङ्क्य तदभिगमाय, उच्छ्रित्तिरिति ।

निबन्धः—उच्छ्रित्तिः शिवविद्विषे नेयं भवति कस्यचित् ॥ ५० ॥

अतः सा विप्रकर्त्री हि तत्प्रारब्धविनिर्मिता ॥

अधिदेवो महादेवस्तेन वारणमुक्तवान् ॥ ५१ ॥

विहितत्वाच्चनारण्येपि काष्ठासिद्धेर्वाजपेयकरणं किमर्थमित्याशङ्क्यां ‘वाजपेयेनेष्टे’ ति-वाक्यतात्पर्यमाहुः अस्येत्यादि । अधिकारकर्मैत्यत्र दोषत्रयगणने कर्मपदेन ब्रह्मिष्ठमिभवरूपं कर्मज्ञेयम् ॥ ४८३ ॥

प्रकाशः—अयमर्थः । “हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः” इति वाक्याच्छिवविद्वेषे सतीह्युन्नतिरसम्भावितेति जानन्तो तां दृष्ट्वा विप्रकरणाथैरेव प्रवृत्तेति ज्ञापयितुं तन्निरूपणमिति तादृशुच्छ्रित्यदर्शने विप्रमेव न कुर्यादिति भावः । पतिभक्तत्वाद्युक्तं तत्करणमिति हिशब्दार्थः । तर्ह्युन्नतौ कोपपत्तिरित्यत आह तत्प्रारब्धेति । भगवद्भक्तत्वाद्युक्त्यर्थं च । तथा सति तत्र विप्रकरणमशक्यमेव स्यात् । अथवा यतः सा विप्रकर्त्री जाता तत्समात्कारणत्वात्प्रारब्धविनिर्मितैवोच्छ्रित्तिर्न भगवत्कृतेत्यर्थः । ननु प्रारब्धस्य भोगैकनाशत्वेन तन्निर्गतायाः कथमेतन्नाशस्तस्य, न च तत्प्रारब्धं तावदेवैति वाच्यम्, स्वकारणाभावादेव तदभावे सत्यास्त्याऽहेतुत्वापत्तात्, न च कारणनाश एवाऽनया कृत इति वाच्यम् । अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वं तदवधिः । “भोगेन क्षितरे सपयित्वा सम्पद्यते” (अ. ४-१-१९) इमित्यस्युत्रविरोधात् । न च द्वारतपम् । स्वतन्त्रकर्तृत्वोक्तिविरोधात् । अथे च तस्य भोगकथनः क्वेति चेत्तस्यम् । नाऽत्र प्रारब्धनाश उच्यते किन्तु सर्वकर्मदहनत्प-ज्ञानाप्रतिषेद्धस्याऽपि प्रारब्धजनितभोगारम्भस्य महद्द्वेषेण प्रतिबन्धो जात इति यद्द्वेषस्याऽधिकत्वत्वमिति सम्प्रदायविदः । वस्तुतस्तु महद्द्वेषेण तस्य शुभप्रारब्धमपि नष्टम् । न च तस्या अप्रयोजकत्वम् । द्वेषस्य स्वजनितत्वेन तस्मिन् फलपथैवसा-यित्वकृत्वादेतस्याः । न च तत्त्वस्य विरोधस्तयोरीदृशप्रभृत्तद्विषयत्वात् । अत एव

सतीह्यशीति, सति ईहशीति पदच्छेदो बोध्यः । ननुच्छ्रित्तेः

शिवद्वेषोचरकालीनत्वात्सिन् सति तदसम्भवंकथनमित्याशङ्क्य तस्यत्थेपि तद्वचनहेतुकथनाय पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तत्राहेतुत्वापादादिति, उच्चतित्वे जेहेतुत्वापातात् । कारणनाश इति प्रारब्धनाशः । अनारब्ध इत्यादि । अ० ४-१-१५ सूत्रार्थेस्तु, पूर्वं पूर्वसूत्रेके पुण्यपापे अनारब्धकार्ये न आरब्धं भोगायतनशरीरलक्षणं कार्यं याम्यां तादृशे एव ज्ञानेन दधेते, न स्वारब्धकार्ये दधेते, ननु ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वं पूर्वं साधितमिति तस्मिन्कथं तददाह इत्यत आह तदवधेति, तद् आरब्धकार्यस्य कर्मणः अदहनम्, अथथेः सर्वकारणपूर्वोचिभूताया भगवदिच्छायाः सकाशादिति, इच्छा च देहसचानुमेयेति । भोगेन क्षिति अ० १-१-१९ सूत्रार्थेस्तु, प्रारब्धभोगेन स्थुल-लिङ्गशरीरे दूरीकृत्य “अथ सम्पद्यते” अलौकिकभोगेन सप्यसो भवतीति । तथा च ज्ञानेनापि जेत् प्रारब्धनाशस्तदा कथमनयेत्यर्थः । महद्द्वेषस्तत्र साम्प्रदायिकात्मित्वला-पेक्षयाऽधिकत्वत्वं बोधयितुं सिद्धान्तपक्षमाहुः वस्तुत इत्यादि । ननु महद्द्वेषेण शुभप्रारब्धे नष्टे निष्प्रतिबन्धेनाशुमग्रारब्धैरेव तस्य क्लेशो भावीति तस्या न स्वातन्त्र्येणोच्छ्रित्तिविप्रकर्तृत्व-मित्यत माहुः न च तस्या इत्यादि । तस्मिन्निति द्वेषे । तयोस्त्यादि । तत्त्वस्युत्रयोर्महद्द्वेषा-

ताहकृमारब्धदक्षशरीरनाशोपि । अग्रिमा सम्पत्तिस्तु भगवतैव दत्ता जीवनमपि । अत एव भगवान् वादरायणो महता प्रबन्धेन तत्त्वज्ञानिनस्तृभयकर्मनाशं प्रतिपाद्याऽऽह “ अतोऽन्यापि श्लेषेधाशुभयोः ” इति हि यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तश्रुतिविलक्षणऽन्यापि श्रुतिरस्ति, अतो हेतोरन्वेषां पुरुषाणाशुभयोः प्रारम्भापारम्भयोर्नाशो भवतीत्यर्थः । श्रुतिस्तु “ तस्य पुत्रा दायश्रुपपन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम् ” इति । स्पष्टार्थमपि । न च काम्यकर्मविषयेयमिति वाच्यम् । “तदधिगम उत्तरपूर्वाद्ययोरक्षेपविनाशो तदव्यपदेशाद् ” ( अ. ४-१-१-२ ) इति सूत्रेण ज्ञानमात्यन्तरं पूर्वोत्तरपापसम्भवाभाव-श्रुत्वा “ इतरस्याऽप्येवमसंश्लेषः पाते तु ” ( अ. ४-१-१-४ ) इति सूत्रेण पुण्यस्याप्यिदोषेण तथोक्तत्वात्कल्पनेनेव काम्यस्याऽप्युक्तत्वात्स्तुतत्कथनमनुपपन्नमेव स्यात् । किञ्च “ द्विपन्तः पापकृत्याम् ” इतिपदं निरर्थकं स्यात् । पापस्य काम्यस्याऽसम्भवात् । उभयशब्दस्य च व्याससंज्ञिनिपातसमङ्गत्वम् । सन्निधौ जैमिनेरश्रुतत्वात् । सामान्य-शब्दस्योपस्थितार्थकत्वनियमात् । न च पुण्यपापयोरमूर्त्तत्वेन यथाश्रुतावस्थाऽ-सम्भवाद् ब्रह्मविदि सांहादिकरणद्वेषाकरणयोरेव श्रुतेस्ताःपथमिति वाच्यम् । एका-दशपुत्रपासाशक्तस्य पत्नीकृतोपवासादानेन तत्पुण्यमाप्तैः । प्रोश्च यथातिजराप्राप्तैः श्रवणाद्वापि तथासम्भवात् । ननु तद्दृष्टेन कृतकर्मणा तस्मिन्नेव पुण्यमुपयत्त इति चेन्न । पुण्यदानैवैवध्यापातात् । जरायामेव वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च । तदनुद्देशेनाऽपि कृतैकादशरात्रिजागरणपुण्यलेशदानेन भेतलश्रुक्तिश्रवणाच्च । न चोपा-ख्यानानामयथार्थत्वम्, बाधकाभावात् । ननुकर्ममूर्त्तत्वमिति चेत् । अत्रेदं विचारणीयम् ।

समानाधिकरणं यदारब्धकार्यम्, कर्म तद्विषयत्वात् । किमत्र गमकमित्येष्टाश्यामाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यदि तत्त्वसूत्रयोरारब्धकार्ययत्कर्मविवचनं स्यादक्षशरीरनाशोपि न स्यादतस्तथेत्यर्थः । नन्वेवं महद्द्वेषस्यातिबलत्वे अग्रिमा सम्पत्तिरपि न स्यादतः साम्प्रदायिकोक्तं मन्व्यबलत्वमेव साधीय इत्यत आहुः अग्रिमैत्यादि । ननु अग्रिमसम्पत्तेर्भगवत्कृतत्वे किं गमकमत आहुः अत एवेत्यादि । न च काम्यैत्यादि । तथा च, दक्षदेहस्य नित्यकर्मसिद्धत्वान्महद्वेषस्य न तत्राशक्तत्वम्, किन्तु, भोगप्रतिबन्धकत्वमित्येवं युक्तमित्यर्थः । तथोक्तत्वादिति, । असम्पत्-स्योक्तत्वात् । काम्यस्यासम्भवादिति, काम्यत्वासम्भवात् । उभयशब्दस्येति, “अतोऽन्येषामिति सूत्रस्थोभयशब्दस्य । यथा श्रुतावस्थास्यैति पुण्यपापयोरन्योन्ये सङ्क्रमस्य । अयथार्थत्वमिति, असदर्थवादत्वम् । अमूर्त्तत्वमिति । बाधकमितिशेषः । भिन्नविषयत्वे विषयत्वेपि

लौकिकी युक्तिरलौकिकार्थनिरूपणे बाधिका न वेति । किमत्र युक्तम्, नेति, कुतः, भिन्नवि-षयत्वात् । अन्यथा स्वकृतकर्मणान्यस्मिन् फलभोगस्य युक्तिबाधितत्वेन तवाऽपि महत्पुण्यपुत्रित्योद्देशेन कर्मकरणे गयाश्राद्धादिषु च, वचनमेव तत्र साधकमिति चेत्तुल्यम् । ननु स्यादेवं यदि “ सुहृदः साधुकृत्याम् ” इत्यादिषु पूर्व वाक्यार्थयोः स्यात् । स एव न सम्भवति । अमूर्त्तत्वेनाऽप्योक्तत्वाज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अन्यथा-ऽनलः शीतल इत्याप्यन्यवयोः स्यात् । अतोऽन्योर्थः कल्प्यते प्रमाणवाचयत्वादिति चेन्न, अनवबोधात् । तथा हि । न हि पित्रदन्तरसनेन्द्रियस्येदं प्रथमतया सितां भक्षणः सिता मिष्टेति वाक्येऽप्योक्तत्वाज्ञानमस्तीति तत्राकर्ष्यं बाधितार्थं भवति । न ह्यविधा-बलिसुपुत्रीनामनुभवान्दिकं ब्रह्मविदनुभूतिविषयं श्रौतमर्थं बाधितमर्हति । अत एव “ पुत्रा दायश्रुपपन्ति ” इत्युक्तत्वा तदुक्तमेतत्साम्यसूचनार्थम् । तेन महद्दुष्टग्रहादन्त्या-प्रतिबन्धशुभप्रलाप्तिर्विनापि पुण्यमात्तद्द्वेषाचासदशुःस्वप्नासिर्विनापि पापमितिफलतय । एषमेव दक्षेऽपि । प्रकरणाथोऽप्यत एव सङ्गच्छते । भगवतैव धर्मसिद्धिरितिरूपस्तेन महद्दुष्टेषुतदनुग्रहःसहकृतयोरेव शुभाशुभप्रारम्भयोर्भोगैकनाशयत्वमित्यलं विस्तरेण । अथवा, सत्या विप्रकरणावश्यकत्वे हेतुमाह विचारण्येति । तत्राविधिप्रजनकं यत्प्रारम्भं तस्मिन्निता सतीत्यर्थः । पत्यर्थमेव तथा प्रहृष्टावस्थासतेन निवारणं कुत इत्यत आह अधिदेव इति । यज्ञस्य सत्या अप्यधिदेवः शिव इत्यस्यास्तत्र गमनेऽपि नाशो यज्ञस्यापीत्युभयसंघर्षोर्निवारणमुक्तवान्, न तु कुतवान् ॥५१॥

बाधकत्वाङ्गीकारे प्रतिबन्दीमाहुः अन्येषेत्यादि । अन्येषेति अमूर्त्तत्वस्य बाधकत्वे । वचनमिति, विधिरूपम्, तुल्यमिति, भूतार्थवादरूपवचनमप्रापि साधकम्, तस्य स्वार्थप्रामाण्यात् । नानवबोधादिति, किमत्र बोधस्यामासिरापद्यते, तत प्राप्तस्य बाधः । नाधः, प्रत्यक्षबाधात् । आपातबोधाभावे प्रतिबन्धकत्वनाया एवाशक्यत्वात् । द्वितीयेत्येतत् तव बोधाभावो न बाक्यस्य बाधितार्थत्वं साधयितीह इत्याशयेनाहुः सत्या हीत्यादि । बोधे गमकमाहुः, अत एवेत्यादि । तथा च, पूर्ववाक्यमवगोचरं अग्रिमवाक्ययोः क्रिया-काङ्क्षाया उपयन्तीति क्रियाया पूर्णे कृतेन्यवबोधसम्भवस्तदुपरमयोग्यताज्ञाने तस्य बाधसम्भावना, सा च वाक्यपूर्वाभावः(विचार)दशायां बाक्यप्रमालादेवापयन्ती (!) विचारकाणां बोधदार्ढ्यमेवाधत्ते न तु तमपवन्तीत्यर्थः । सिद्धमाहुः तेनेत्यादि, विस्तरेणेत्यन्तम् । नन्वेवं शुभे प्रारम्भे महद्द्वेषेच्छाप्युक्तत्वाशङ्क्य तस्य द्विविधमपि प्रारम्भमस्तीति वक्तुं पक्षान्तरमाहुः अथवा सत्या इत्यादि । एवं सतीचरितादितात्पर्यमुक्तत्वा शिववाक्यतास्यर्थ-माहुः पत्यर्थमित्यादि, यज्ञस्य सत्या अल्प्येदेव इति ‘आवोराजान मधुरस्य रुद्रमिति श्रुतेरहङ्काराधिष्ठातृत्वाच्च तथेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

( अ० ४ ) तत्र हेतुः स्वगृह इति ।

निबन्धः—स्वगृहे मरणे तस्या द्वेषवृद्धिर्भवेत्परा ॥

उपेक्षिता ततश्चके स्वकार्यं सा तु सर्वतः ॥ ५२ ॥

प्रकाशः—दुःस्वभरणं मरणमत्राऽप्यावश्यकम् । परन्तु तत्र मूर्तौ वक्ष्यमाणप्रकारेण कदाचिद्द्वेषनिवृत्तिः स्यादत्र मूर्तौ तु मदद्वेषान्मत्सुद्वेषि मद्गृहमाजिगमिषंतीति मारिता शिवेनेति ज्ञात्वाऽधिकमेव द्वेषं कुर्यादिति न स्थापिता । तथापि मरणस्यावश्यकत्वात्-  
आनुज्ञोचितेति उपेक्षितेत्यर्थः । ( अ० ३ पूर्णः—अ० ४ प्रारम्भः ) तुय्यदः शिवस्य तूष्णीभावेऽपि सती न तथेति भिन्नप्रकारार्थः । स्वकार्यं स्वस्यैवाऽसाधारणं कार्यम् । न हि सतीसरीरनाशः शिवेन दक्षिणाऽन्येन वा कर्तुं शक्यः । न च तन्नाशं विना तद्वेषेनाशः कदाचित्, पातिव्रत्यरक्षणया पतिभक्त्या नन्दिशापसत्यप्रयोजकतया च सर्वत इत्युक्तम् । जन्मान्तरेऽपि तस्यैव भजनात् । तद्द्वेषेपि जनिता देहस्याऽप्यनर्ही-  
कारादजगुत्त्वप्रयोजकदक्षशिरश्छेदोपयोगित्वात् ।

देहत्यागानन्तरं तस्या गतिमाह ध्यानादिति ।

निबन्धः—ध्यानात्प्रविष्टा सा पर्यौ नारदो देवगुह्यकृत् ॥

सेवकानां स्वकथनं लज्जया प्रेषणादपि ॥ ५३ ॥

प्रकाशः—( अ० ५ ) ननु यज्ञादिनाशकं सतीमृतिश्रावणं नारदस्याऽयुक्तमित्यत आह नारद इति । सती त्वभिमानरूपेति स्वशरीरं दम्बवती । अधुना च शिवप्रेहे प्रविष्टा । अत्राऽपि तथा कृतौ देवानां महदनिष्टं स्यादिति तस्मात्तद्रीकरणार्थं स्फुटमहितकरणेऽपि गुप्ततया हितं चिकीर्षुस्तथोक्तवानित्यर्थः । लज्जा पराभवेन स्वजीवनेन च । अपिशब्दाद्भयात् ॥ ५३ ॥

तत्र हेतुरिति, निवारणकरणे हेतुः ॥ ५२ ॥

एवं उपेक्षिता तत इत्यन्तैः सप्तभिरुत्तीयाध्यायार्थ उक्तः ।

अतः परं “चक्रे स्वकार्यं सा तु सवेतः । ध्यानात् प्रविष्टा सा पर्यावि”त्यन्ते-  
नाद्धेन चतुर्थाध्यायार्थमुक्त्वा, नारद इत्यारभ्य पादोर्ननेवपिः पञ्चमाध्यायार्थमाहुः  
ननु यज्ञादौत्यादि । मूले, सेवकानामिति. सम्बन्धमात्रविक्षया तृतीयार्थे षष्ठी ।  
सेवकैस्तदकथनमित्यर्थः । अकथने हेतुत्रयमाहुः लज्जेत्यादि ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

तदा नारदविचारितं जातमित्याह स्वप्रविष्टेति ।

निबन्धः—स्वप्रविष्टिनिराकृत्यै जटामुकृत्य निर्ममे ॥

वीरभद्रं द्वेषयुतमभिमानं सुदुर्जयम् ॥ ५४ ॥

प्रकाशः—अभिमानः कस्याऽप्यथो न तिष्ठतीति जटास्थ इति तस्याः कृन्तनं  
द्वेषयुतं कार्यसहितम् । अधिकारकर्मादिजनितदक्षभिमानेनाऽप्याभिभवमाशङ्कयाह  
सुदुर्जयमिति । सुदुर्जयोऽयं तु तस्यापि तयैत्युपसर्गः ॥ ५४ ॥

तद्द्वारा यज्ञनाशने शिवे दोषमाशङ्क्य तदभावायाऽऽह दैवेति ।

निबन्धः—दैवहीनो यतो यज्ञस्ततो नष्टोऽभिमानतः ॥

तदभिव्यक्तिकर्तृणां साधनानां तु संक्षयः ॥ ५५ ॥

प्रकाशः—यथा शिरोहीनो देहः स्वजनितकृमिभिर्विशोर्षते तथा प्रधानरूपदैवहीनो  
यज्ञः स्वजनिताभिभानरूपवीरभद्रेण नष्ट इत्यर्थः । तेन दक्षदोषेणैव दक्षयज्ञो नष्टो  
न तु शिवेनेति भावः । तादृशयज्ञाभिव्यक्तिकर्तृणां शालापात्रादीनां तथाकरणं  
पुनस्तादृशानभिव्यजनार्थम् ॥ ५५ ॥

दक्षस्यैव शिरश्छेदे हेतुमाह प्रधानत्वादिति ।

निबन्धः—प्रधानत्वाच्छिरस्तस्य छिन्नं यज्ञोऽस्य भावतः ॥

यजमानत्वमापन्नस्तेन तस्याऽपि संक्षयः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः—हेतुतरमाह यज्ञेति । “यज्ञो वै यजमानः” इति श्रुतेः । “यो  
यच्छुद्धः स एव सः” इति वाक्याच्च । तस्य यज्ञविषयकरतितो यज्ञस्तस्यै माह  
इति तदच्छेदे यज्ञस्य सर्वात्मना न नाश इति तथा कृतिरित्यर्थः । फलितमाह  
तेनेति । तस्यापि यज्ञस्याऽपीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

सञ्ज्ञापनेनैव तन्मरणे हेतुमाह प्राणा इति ।

निबन्धः—प्राणास्तत्रैव चेह्नीना मोक्षे ब्रह्मविद्धो यथा ॥

तदौदनत्वमत्राऽपि तथा सञ्ज्ञापनं मतम् ॥ ५७ ॥

सञ्ज्ञापनेनेति । विशसनीयपशोरिव मुक्त्वासासुद्वेपेन । तदात्मनीति, यजमानात्मनि ।  
तदाप्यनभिव्याधेयशक्तिविशेषः । तथेति, आधेयशक्तिरूपः ।  
तदुक्तिरिति, दृष्टान्तोक्तिः ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—“ नाऽस्य प्राणा शुक्रामन्तीर्हिव समवलीयन्ते प्राणाः ” “ ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ” इति श्रुत्युक्तप्रकारेण बोधे यथा ब्रह्मविदः प्राणा ब्रह्मण्येव लीनश्चेत्स्युस्तदा तस्योदनत्वम् । \* भगवद्भोजनयोग्यता भगवदन्तःप्रवेशयोग्यतेति यावत् । “ यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च ” इति श्रुतिरत्राऽप्युसन्धेया । तथा दक्षप्राणा अपि यज्ञभावनया यज्ञभूततदात्मन्येव वेङ्गीना भवन्ति तदा “ यज्ञो वै विश्वः ” इति श्रुतेर्देयं एव सन् स्वाधिदेवयज्ञरूपे विष्णो लीनः सन् पुनरुपचिन्नाकारितो भवतीति हेतोस्तथेत्यर्थः । ननु “ नास्य प्राणाः ” इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मविदि तथात्वं युक्तमत्र तथात्वे कोपपरिचित्यत आह अत्रापीति । साक्षात्तादृशश्रुत्याभावेऽपि पञ्चालम्बने प्रकारान्तरसम्भवेपि यत्सङ्गपनविधिरैवोक्तस्तेन तदापेयविशेषस्यावश्यमाच्यते विश्वत्रिरुपायेन तथैवान्तःश्वसत-योपरतज्ञानमार्गीयस्य ज्ञानरूपात्मनिलयं प्रसिद्धं दृष्टान्तीकृत्य कर्ममार्गीयत्वेनास्य यज्ञरूपात्मनिलय एव तथेति कर्मिणामभिमतमित्यर्थः । प्रसिद्धिनिरूपणार्थमेव पूर्वार्द्धं तदुक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ ५७ ॥

तथापि साक्षाद्यज्ञं विहायीचारिकं किमिति कृतवानित्यत आह साक्षादिति ।

निबन्धः—साक्षाद्यज्ञशिरश्छेदो न युक्तो भगवत्स्वतः ॥

यज्ञस्य यजमानत्वात्तच्छेदो योजनं तथा ॥ ५८ ॥

प्रकाशः—अत एव यथा साक्षाद्यज्ञं तथाऽनुचितत्वेन तदतिवेशवति तथाकरणमेवं साक्षाद्यजमानशिरो योजयितुं द्रव्यत्वेनासक्यत्वात् “ यजमानः पशुः ” इति श्रुत्या तत्त्वेनातिदिष्टपशुशिरोयोजनमित्याह योजनं तथेति ॥ ५८ ॥

ननु तदेव कुतो न रक्षितं दग्धं वेत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह ज्ञानेन्द्रियाणामिति ।

निबन्धः—ज्ञानेन्द्रियाणां सर्वेषां स्थानं मूर्च्छा विभागशः ॥

अदग्धे पूर्ववत्तस्य दोषः सम्भवतीति हि ॥ ५९ ॥

राक्षसानां तु तद्भागो दक्षिणाग्रे ततोऽजुहोत् ।

प्रकाशः—तस्य ज्ञानेन्द्रियाणामेव दृष्टत्वेन शिरसश्च तदाश्रयत्वेन तद्दाहे तयोजने पुनः शिवद्वेषं कुर्यादिति तद्भावाय दग्धमित्यर्थः । तत्संस्कारवत्त्वेन तेषां पुनस्तथात्वं

तथा करणमिति सङ्गपनम् ॥ ५८ ॥ दग्धं वेति । कुतो न योजितमितिशेषः ।

ननु दग्धयोजने को दोष इत्यत आहुः तत्संस्कारेत्यादि ।

\* ‘ भजनयोग्यता ’ इति पाठः ।

युक्तमेवेति हिःसन्दर्भः । दक्षिणाग्रावेव होमं हेतुमाह राक्षसानामिति । तत्पूर्वोक्त-धर्मविशिष्टं शिरस्तामसत्वेन राक्षसानां भागो भवति ततो हेतोर्दक्षिणेऽप्यौ जुहोति भ्रातृव्यमेव वरुणपाशेन ग्राहयतीति ” “ अग्रे रुद्रवते पुरोडासमष्टाकपालं निर्वैषेद् ” इत्यादिभिश्च श्रुतिभिर्दक्षिणाग्रावेव क्रूरहोमस्योक्तत्वात्स क्रूर इति तस्मिन्नेवाऽजुहो-दित्यर्थः ॥ ५९ ॥

ननु मूचनादिदोषभावेण भगवतीना नेत्राद्युत्पादनं न युक्तमित्यत आह पापसाम्येनेति ।

निबन्धः—पापसाम्येन देहेषु च्छेदस्तेन पशोर्यथा ॥ ६० ॥

तथैव कृतवांश्छेदं नाऽन्यथेयस्य सम्भवः ॥

प्रकाशः—“ कर्तुः शास्त्रुरनुज्ञातस्तुल्यं यत्वेत्य तत्फलम् ” इतिवाक्यादनु-ज्ञातानुमेषां नेत्रादिसूचनानीनां दक्षपापसाम्येन ऋषीणां देहेषु तथेत्यर्थः । तर्हि यथैषां नान्येन्द्रिययोजनं तथा दक्षेपि युक्तमित्यत आह पशोरित्यादि । अन्यथा अस्त्रशस्त्रादिभिर्न कृतवानिति हेतोर्दक्षस्य पुनर्जीवनमित्यर्थः । अयं भावः । यथा क्रोधभरयुक्तद्वेषेण स्वसामर्थ्यसचिवशस्त्रादिभिश्च तेषु च्छेदस्तथैव चेदस्मिन्नपि स्यात्तथैव स्यात् । किन्तु शस्त्रादिवैफल्यजन्मिस्मयध्यानादिभिश्च रोषभरस्य क्षीणत्वेन स्वाम्याहया च बधस्याऽऽवश्यकत्वेन तत्साधनं तत्कर्मानुरूपमेव ज्ञात्वा तथा कृतवानिति तत्सङ्ग-सपशुनां देशान्तरप्राप्तिवदस्यापि तथात्वमिति नन्दि शापसत्यत्वाधर्मेश्वरेच्छयैव तन्नैफल्यम् । ननु वैषाहिसाया धर्मत्वेन कथं तत्पकारस्यैतन्न्यहेतुत्वं पापवदित्यत उक्तं तेनेति, पूर्वोक्त-हेतुना । पापसाम्येन । अत्र लौकिकपशुर्हिंसापापसाम्येनेत्यर्थः । अधिवेवरहिततत्त्वेन तन्मस्वस्य वैदिकत्वाभावाद्लौकिकत्वेऽपि तत्सारूप्येण मत्पदप्रयोग इति भावः ॥ ६० ॥ अस्थित्या इति ।

निबन्धः—अस्थित्यै कस्यचित्त्र तथाऽनुपकृतिः फलम् ॥ ६१ ॥

मण्डपज्वालनस्येति गमनं कृतकृत्यता ॥

तत्साधनमिति बधसाधनम्, योजनकर्मानुरूपम् । तद्वैफल्यमिति । सञ्जपनस्य युक्तिफलत्वाभावात् । कथमित्यस्य पापवदित्यनेन योजना, पापस्य यथा न धर्मत्वम्, तथाऽस्याप्यवैषवत्वात्तैत्यर्थः । एतदेव विशृण्वन्ति पूर्वोक्त्यादि ॥ ६० ॥

एवं पादोननविभिः पञ्चमाध्यायार्थं उक्तः ।



प्रकाशः—ज्वालनमिति शेषः । मुख्यं फलमाह तथेति । तत्र च्छायायार्थमपि कस्याप्युपवेशने तदुपकृतिजनितधर्मोऽस्मिन्नागच्छेत्सोपि मा भूदिति मण्डपवचालनं कृतमित्यर्थः । फलितमाह कृतकृत्यतेति । नाऽतः परमत्र कार्यमस्तीति हेतोर्गमन-मित्यर्थः ॥६१॥

अथ षष्ठाध्यायार्थं विचारयन् ब्रह्मण एवान्तिकगमने तेषां हेतुमाह । “गमनं बोधनं स्थानवर्णनं स्तवनं तथा । प्रार्थनं चेति षष्ठाध्यायः क्रमेणैव निरूपिताः (?) विधिश्चतुर्विंशतिविधिरथविंशतिरुच्यते । चतुर्विंशति क्रमेणाऽत्र तत्तत्प्रार्थनं निरूप्यते” ॥ (२) अपराधेषीति ।

निबन्धः—अपराधेषु जनकः प्रसादिति न चेतारः ॥ ६२ ॥

इति ब्रह्मसभां जग्मुर्वोधनं त्रैक्यदर्शने ॥ ६२ ॥

प्रकाशः—अपराधेन तथा भूत्वाऽप्यन्यान्तिकगमनेऽप्यः कोपमेव करोति । पिता तु तथाल्पेपि स्वभावादेव प्रसीदतीति हेतोस्तथेत्यर्थः । अस्त्यर्थः । बोधन-प्रयोजनमाह बोधनं त्विति । ते तु पितृत्वेनाऽस्मन्पक्षपातं कृत्वा शिवे तदनुकूलं किञ्चित्करिष्यति ब्रह्मेति शिवे दोषदृष्टय एवाऽऽगतास्तथा सति नाऽन्यनिष्ठविरिति स्वस्मिन् शिवे च तेषामैक्यज्ञाननिमित्तं बोधनं कृतवानित्यर्थः ॥ ६२ ॥

तत्र गत्वा शिवं दरिद्रं दृष्ट्वाऽस्मत्कृतहविर्भागप्रतिबन्धनेनाऽप्यमेवं जात इति गर्वेषु कृते न सम्यगिति तदैश्वर्यज्ञापनार्थं वनादिवर्णनमित्याह निर्गतित्वेति ।

निबन्धः—निर्गतित्वव्युदासाय सख्युः स्वस्य च सर्वेशः ॥ ६३ ॥

वनादिसर्वरूपाणां वर्णनं स्तवनं तथा ॥

प्रकाशः—सख्युर्धनदस्य । स्वस्य शिवस्य । आदिशब्धेनाऽद्रिपुरीनदीवाप्यादय उच्यन्ते । तेषां सर्वाणि यानि रूपाणि पुष्पफलसंगन्धस्वस्वगन्धसुखीविलास-श्रुत्यादिचतुर्वर्गोपयोगीनि । तेषां तथा स्तुतिप्रयोजनमाह स्तवनमिति तथा ब्रह्मस्वनिरूपणेन तन्माहात्म्यज्ञापनार्थमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

एतच्चैकैव श्लोकेन निरूपितमित्यप्रियाणां प्रयोजनमाह ब्रह्मन्त्वायेति ।

निबन्धः—ब्रह्मरवायोपपत्तिश्च तथैव प्रार्थनं कृतम् । ६४ ॥

यज्ञसिद्धिं चकारिज्ञो न तथाऽभगवत्त्वतः ॥

प्रकाशः—चकारात्क्रोधाभावेपि यया सर्वकर्तृत्वेन ब्रह्मत्वं निरूपितं तथा तेनैव धर्मैतेष्ववयवस्यैवमपि करोति प्रार्थनमपि कृतमित्याह तथेति । देवावपचानां

अतः परं साद्भिः पद्माध्यायार्थं विचारयन्ति । मूले—ऐक्यदर्शनं इति सप्तमी चतुर्थर्थः । एतदिति, परमशिवत्वेन ब्रह्ममिदमत्वम् ॥ ६२ ॥

भगवत्सृष्टिगतत्वेनाऽलौकिकसात्त्वैवोचितमिति भावः ।

(अ. ७) न तथेति । यथाप्रार्थनं न तथेत्यर्थः । तत्र हेतुः, अभगवत्त्वत इति पूर्णभगवत्त्वाभावादित्यर्थः । तथा च संहारशक्तिमात्रवत्त्वेन तमोगुणमात्राधिकृतत्वेन च न तादृशसृष्टिसामर्थ्यमिति भावः ॥ ६४ ॥

तर्हि प्रार्थनया भगवद्द्वारा कृतो न कृतवानित्याशङ्क्य तथाकारणे बाधकमाह, अन्यथेति ।

निबन्धः—अन्यथा दण्डहानिः स्यादन्यथाकरणं स्वतः ॥ ६५ ॥

साञ्चिध्ये सर्वसंसिद्धिरिति सर्वैः समागमः ॥

प्रकाशः—प्रार्थनानुरूपकरणे दण्डः कृतोप्यकृत एव स्यादित्यर्थः । किञ्च । अन्येन तथाकरणे स्वस्य यथापूर्वं समाधानमुचितं न तु स्वकृत इत्याशयवानाह, अन्यथाकरणमिति । अथवा दक्षादिमुक्तादिच्छेदे स्वकृतस्य देवैः सह हविर्भागमाग्निनिषेधस्यैव हेतुत्वात्स्वकृत एव दक्षादित एवाऽन्यथाकरणमित्यर्थः । तथा च तस्य यतो न यथापूर्वंविधानं ततोऽत्रापि तथा । यथोच्छिष्टदानं तथान्यो-च्छिष्टैरिन्द्रिदैरेव तत्कार्यदानमपीति भावः । साञ्चिध्य इति । वचनेनैव सर्वकार्य-सिद्धावपि यज्ञसिद्धया फलोपचानलक्षणा सम्यक्मिद्धिः साञ्चिध्ये शिवादीनां भवेदिति सर्वैः शिवादिभिः सह देवयजन्ते समागम इत्यर्थः ॥ ६५ ॥ दक्षत्याजमुल्लंकरणं शिवस्याऽयुक्तमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यमाहुः यजमान इति ।

निबन्धः—यजमानः पशुश्चैव तौ पशुर्देवपोषणात् ॥ ६६ ॥

सवनीयपशुसुख्यः शिष्टं तस्य शिरः परम् ॥

अपेक्षितं तदेवाऽत्र तेन सन्धानमीरितम् ॥ ६७ ॥

प्रकाशः—एवकारेण लौकिकपशुप्याहृष्टिः । देवपोषणस्य हेतोरविशेषात्तावुभाविप

एवं षष्ठाध्यायं विचार्य साद्भिर्दशभिः समाध्यायार्थं विचारयन्ति न तथेत्यादि । पूर्णत्यादि, स्तुत्युपक्रमे “आने त्वामीश विश्वस्ये”त्यनेन ब्रह्मत्वमुक्तत्वाऽत्र “भवांसु पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयाऽऽरुष्टमतिरि”तिकथनेन तथात्वादित्यर्थः । तत्र गमकमप्याहुः तथा चेत्यादि । तथा चैतज्ज्ञापनार्थैवेत्ये कथनया विधया निरूपितेति हृदयम् । स्वकृत एवेति दक्षकृतस्य । तस्येत्यादि । दक्षादेवेत्यो न माकुसिद्धरुद्रभागादानविधानम् । ननु

पशुरुपावित्यर्थः । एकवचनं त्वेकस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वाद्भुक्तम् । उपनिषत्सु 'यथा पशुः परपोषक एवं यजमानोऽपि पश्चाद्विद्वारा देवपोषक इति यजमानः पशुः' इत्युक्तत्वादितिभावः । अत एव नाऽयुक्तमितिभावः । तत्र कस्य पशोः शिरो योजितव्यमित्याकाङ्क्षायां देवपोषणहेतुत्वेन सवनीयपशोरेव मुख्यत्वेन यजमानशिरस्त्वयोमित्याकाङ्क्षया च पूर्वमेव हुतत्वेन शिरोमात्रावशेषादत्र च तस्यैवापेक्षितत्वात्तस्यैव योजनमुक्तं मूल इत्याह सवनीयेतिश्लोकेन ॥ ६७ ॥

ननु मध्ये वैष्णवयागस्य किं प्रयोजनमित्यत आह यज्ञ इति ।

निबन्धः--यज्ञस्तिरोहितः सर्वो विघ्नाद्दोषात्तथा मृतेः ॥

पुनः कृतिरशक्या हि कालादेर्विनिवर्तितः ॥ ६८ ॥

प्रकाशः--सर्वे आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिकदैविकश्च । तत्र क्रमेण हेतुमाह विघ्नादित्यादिना । अग्निशामनादिरूपविघ्नादायः । रुद्रगणस्पर्शदोषाद् द्वितीयः । यजमानमृतेस्तृतीयः । पुनस्तद्व्यक्रियया यज्ञमादुर्भावकरणे बाधकमाह कालादेरिति । कालः प्रातःसवनादिः । आदिशब्देन प्राग्भादिदेशभोसित्द्रव्यादय उच्यन्ते ॥ ६८ ॥

निबन्धः--तस्माद्दशक्यसम्प्राप्तौ वैदिकत्वप्रसिद्धये ॥

पुरोडाशं निरवपन्नं वैष्णवं सत्त्वमात्रतः ॥ ६९ ॥

प्रकाशः--यस्मात्साधनोच्छिन्नितस्माद्दशक्यसम्प्राप्तौ सत्यां विष्णुरेव पालकत्वेन यज्ञं पालयिष्यतीति विष्णुभजनेऽवश्यकत्वेनैव स्तोत्रादिना करणे चावैदिकत्वेन यागामध्य-पातो भविष्यतीति स्वकृतस्य वैदिकत्वप्रसिद्धये वैष्णवं पुरोडाशं निरवपन्नमित्यन्वयः । नन्वस्य यागस्य प्रधानाङ्गत्वेनैव करणाययज्ञस्य सर्वात्मनाभावे कुत्राङ्गत्वमित्यत आह सत्त्वमात्रत इति । पूर्वोक्तव्रितपरुषतिरोभावेऽपि यस्यैतन्नैव रूपं तस्य यज्ञस्वरूपस्य धर्मिमात्रस्य सत्त्वारूपेण सत्त्वात्तन्मात्राद्भेदोस्तत्करणमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

तर्हि व्यर्थमित्यत आह विशिष्टमिति ।

देवपोषणादेव पशुत्वेमिधेते 'अथ योऽन्यां देवतामिति श्रुतौ द्विवचनमुक्तं त्यागत्वेकवचन-मित्याकाङ्क्षायामाहुः एकवचनं खित्यादि । नायुक्तमिति पशुशिरोयोजनं नायुक्तम् । तस्यैवापेक्षितत्वादिति, देवपोषणस्यैवापेक्षितत्वात् ॥६७॥६८॥६९॥७०॥७१॥

निबन्धः--विशिष्टं तत्तिरोभूतं विष्णुः सर्वोपपत्तये ॥

ध्यातः सत्त्वं तिरोधाय तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥ ७० ॥

प्रकाशः--तयज्ञस्वरूपं देशकालादिविशिष्टं तिरोभूतमित्यर्थः । तादृशस्वैव कार्य-साधकत्वात्तदभिव्यक्त्यर्थं करणमितिभावः । नन्वष्टुभुजमादुर्भावस्य किं प्रयोजन-मित्यत आह सर्वोपपत्तये ध्यात इति । यज्ञस्वरूपसम्पत्तिदोषाभावपालनाद्युपपत्तय इत्यर्थः । विष्णुर्हि सतो यज्ञादेः पालकः । अत्र यज्ञस्वरूपसत्तामपि विद्याय स पालनीय इति क्रियुणक्रियाशक्तमादुर्भाव इतिभावः । एतेन कर्मणैव फलमितिनिरस्तम् । मादुर्भावप्रकारमाह सत्त्वमिति । शुद्धसत्त्वं तिरोभूतरापरूपपश्चिष्टानरूपमिति यावत् । तत्कृत्वा तत्र प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अवतारनोमाह प्रभुरूपमिति ।

निबन्धः--प्रभुरूपमिदं प्रोक्तं सर्वमेतेन सिद्ध्यति ॥

सर्वोत्तमत्वबोधाय वर्णनं स्तोत्रमेव च ॥ ७१ ॥

प्रकाशः--प्रोक्तमिति प्रमाणमूचनम् । शुद्धसत्त्वावतारगणनायां "कल्किर्धन्वन्तरिः यशुः" इत्युक्तत्वात् । कार्यमाह सर्वमिति । सर्वं पूर्वोक्तम् । ननु यज्ञसिद्धिमात्रस्यो-द्देशत्वात्तस्य च स्वरूपमात्रेणैव सम्भवाद्भिरोपवर्णनस्तोत्रयोः किं प्रयोजनमित्यत आह सर्वमिति । एवकारेण स्तोत्रस्याऽऽवश्यकता । चकारात्प्रणामादिः । अत एव सर्वेन यज्ञसिद्धिरितिभावः ॥ ७१ ॥

ननु प्रधानमुख्यत्वार्थकमेव स्तोत्रं सर्वेषामुचितं तत्कथं मत्वेकं पृथक्स्तोत्रकरण-मित्यत आह दोषहानिरिति ।

निबन्धः--दोषहानिः पृथग् वाच्या स्तोत्रभेदास्ततः स्मृताः ॥

एकोनविंशतिभेदाः कृष्णावतरणात्तथा ॥ ७२ ॥

मुख्यं धर्मविरुद्धं च तत्प्रतिप्रसवं विना ॥

प्रकाशः--स्तोत्रं हि स्वस्वापरायनिष्ठस्यैव स च मत्वेकं भिन्न इति तमिष्टतिरपि तथैवेति स्तोत्रभेदोक्तिरित्यर्थः । तत्र कियन्तो भेदा इत्याकाङ्क्षायां भ्रमाभावायाह, एकोनविंशतिरिति । दशभेदाद्वाङ्गणान्तेरुक्तास्तावन्तः प्रकारा इत्यर्थः ॥७२॥ ननु यथा यज्ञदोषनिष्ठस्यैव वैदिकमेव कर्म कृतं तथा स्वस्वदापनिष्ठस्यैवमपि तथैवोचितं तस्मिन्नि-त्वास्तथैवमित्यत आह कृष्णेति । भगवद्भारती हीतरसाधनकरणं न तु मातावपि ।

यतोऽयं कृष्णः सदानन्दरूपः । अतो यथाकथञ्चित्सम्बन्धेनैव सत्त्वेन दोषनिवर्ध-  
कस्यानन्दत्वेन च धर्मादिगुणसम्पादकस्यावतरणात्सेवकत्वेन च सर्वेषां स्वस्व-  
दैर्न्यस्यापनेनेव दोषनिराकरणं तदभेदया मुख्यमित्यर्थः । स्तोत्रकरणे तु पपत्तिमुत्सवा  
कर्मकरणे बाधकमाह मुख्यं धर्मविरुद्धमिति । यथा मुख्ययागनाशे “ वैष्णवं  
त्रिकपालं निर्वपेद् ” इति प्रतिप्रसवो विष्णुयागस्य, तथैतेषां दोषनाशहेतुकर्मणः  
प्रतिप्रसवाभावात्तदर्थं तत्करणं धर्ममार्गविरुद्धमित्यर्थः । चकाराद्भगवत्वाद्भुवर्धानन्तरं  
तत्करणं भगवन्मार्गविरुद्धमपि ॥ ७२ ३ ॥

प्रकरणार्थेषुपसंहरति धर्मं इति ।

निबन्धः—धर्मस्तस्याऽतिसंसिद्धो बोधश्चाऽपि दृढीकृतः ॥ ७३ ॥

वराहमार्तिसंवृद्धिः कथासिद्धये सतीकथा ॥

प्रकाशः—कृष्णावतरणादेव हेतोर्दक्षस्य धर्मः सिद्ध इत्यर्थः । भगवत्कृतत्वमित्यस्य ।  
कालाद्यत्येषुपि तत्सहकृतस्य तस्य सिद्धेरायासाभावाच्च सम्यक्त्वम् । भगवद्भक्त्यानां  
तात्पर्यमाह बोध इति । ब्रह्मविष्णुरुद्रेष्वेक्यदर्शनरूपो बोधः पूर्वसिद्ध एव भगवता  
दृढीकृत इत्यर्थः । तेन नाऽन्यथासिद्धिरिति भावः । “ यथा शिवमयो विष्णुरेवं  
विष्णुमयः शिव ” इत्यादिवाक्यैस्तद्बोधस्य धर्मात्त्वेन तद्वृद्धीकरणेनाऽपि धर्म एव  
दृढीकृत इत्येतेः, अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थश्च । ननु भगवतेन सर्वसिद्धौ देववरस्य किं  
मथोजनमित्यत आह वरादिति । नन्दिज्ञापेन सहजधर्मस्याऽपि सम्भवेन  
वराधर्मस्य शापातिक्रमेण साङ्गस्य वृद्धिर्भवतीत्यर्थः । कथेति । प्रवृत्तिकन्याममृ-  
तिकथनमस्तावे सत्याः पुत्रालाभहेतुकथायाः प्रस्तुतत्वात्तन्मध्ये दक्षकथयान्तरितत्वा  
त्पूर्वकथासिद्धयर्थं पुनः सतीकथेत्यर्थः ॥ ७३ ३ ॥

ननु पुनः शिवपत्नीत्वे गिरिद्विहृतत्वे च को हेतुरित्यत आह तदर्थमिति ।

निबन्धः—तदर्थं व्यक्तदेहत्वात्तामसत्वात्पुनस्तथा ॥ ७४ ॥

प्रक्रियायाः समाप्तत्वात्कीतेनादिकलाभिधा ॥

दोषनिराकरणमिति । भगवति सर्वविनाशकत्वादिज्ञानस्य योऽभावस्तन्निराकरणम् ॥ ७२ ॥  
दृढीकृत इति, एकस्यैव कार्यमेवेन पाचकपाठकवत् सञ्ज्ञाभेदकथनेन रूपमेदस्य  
गुणकृतत्वबोधनात् । यथा पुमाज स्वाज्ञेऽपि शिरःशय्यादिषु कृत्वात्प्राक्पञ्चान्दं कुरुते, एवं  
“मृतेषु मत्सर” इति भूलेष्ववयवत्वबोधनेनाग्निमे त्रयाणां सर्वमृतत्वकथनेन च त्रयाणां तीक्ष्णबोधनाच्च  
दृढीकृत इत्यर्थः । एवं साद्वैर्नैवभिः सप्तमाध्यायार्थं उक्तः ।

प्रकाशः—शिवार्थं तथात्वात् । “ यो यो यां यां तनुं भक्त ” इतिन्यायेन  
पुनस्तत्त्वकीर्तित्वमित्यर्थः । तामसत्वादिति हेत्वनन्तरम् । तेनाद्रावुत्सत्वावपि हेतुरूक्त  
इतिद्वेषम् । प्रकरणसमाप्तिज्ञापिका फलश्रुतिरित्याह प्रक्रियाया इति ॥ ७४ ॥

अतः परं पञ्चभिरध्यायैरर्थप्रकरणमुच्यत इत्याह अत इति ।

निबन्धः—अतः पञ्चभिरध्यायैरर्थप्रकरणं मतम् ॥ ७५ ॥

बालस्यापि हरो प्रीते सिद्धयेवर्थ इति ध्रुवः ॥

प्रकाशः—केचित्तु चतुर्भिरध्यायैर्बालप्रकरणमित्याहुस्तत्पूर्वोक्तसोपपत्तिकदूपणेन नाऽ-  
स्मत्सम्मतं किन्त्वेतदितिज्ञापनाय मतमित्युक्तम् । नन्वन्यथा बालं कथं बदेद्भगवत्स-  
म्पादितार्थानां महतां सत्त्वादित्य आह बालस्येति । अपिरसम्भावनायाम् ।  
न हि पञ्चवर्षिकेण तादृशयोऽर्थो वा साधयितुं शक्यः । हरिप्रीतेरेवार्थसाधनत्वे-  
नोक्त्या तल्पयोजकतपश्चाद्विष्णुपि तदेव साधनमिति सूचितम् । तथा चेत्तिज्ञापनाय  
ध्रुव उक्त इतिशेषः ॥ ७५ ३ ॥

तदर्थद्वयसाधनं व्यर्थमेकैव चरितार्थत्वादित्यत आह अर्थस्त्विति ।

निबन्धः—अर्थस्तु द्विविधस्तस्य ह्युभयोर्विषयमत्वतः ॥ ७६ ॥

मातापित्रोस्ततो राज्यं ध्रुवस्थानं च कामितम् ॥

न्यायेनैकस्य सिद्धत्वाच्चारदेऽन्यस्य संस्तुतिः ॥ ७७ ॥

प्रकाशः—“ यदीच्छसेऽध्यायान्मुक्तमो यथा ” इत्यारभ्य “ भीमं मूलं दिव्यमथा-  
ध्वर्यम् ” इत्यन्तेन मातृवाक्येनैहिकस्य पारलौकिकस्य चार्थस्य फलत्वेन श्रुतत्वा-  
त्तस्य ध्रुवस्य सम्बन्धी कामनाविषयो द्विविधोऽर्थ इत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वपक्षव्य-  
च्छेदकः । तेनोभयसाधनमितिभावः । नन्वभवेत्प्रचित्त्यागादिभिरिन्द्रपदपञ्चादिविषयसैव  
तदुभयसम्भवे पित्रादित एव चैहिकसम्भवे भगवतेव कुतस्तत्करणमित्याशङ्क्य  
तत्र बाधकमाह, उभयोरिति । ऐहिकपारलौकिकयोरैकद्वैकस्मिन् विरुद्धत्वाच्च तपसा  
तच्छक्यम् । मातापित्रोरस्मिन्विषयसत्त्वाच्च ततोपि राज्यम् । अतस्ततो भगवत् एव

अतः परं साद्वैर्नैवभिः द्वितीयप्रकरणेऽर्थकथनपुरःसरमाध्यायान्विभजन्ते ।

अतः परमित्यादि । अन्यथेति, प्रकरणत्वाभावे ॥ ७५ ॥ तल्पयोजकेति, अर्थमयोजकेत्यर्थः ।

तर्हीति अर्थस्य प्रकरणित्वे । चारितार्थत्वादिति, प्रकरणस्यार्थोच्यत्वसिद्धेः । तदौति,  
उभयम् ॥ ७६-७७-७८ ३ ॥

हेतोर्भातापित्रो राज्यं निश्चलस्थानं चेत्यर्थः । तस्येत्युभयत्र सम्बद्धयते । तेनोपनय-  
नादिसंस्काराभावेन तपस्यनधिकारात्तस्य ध्रुवस्याऽपि विषमत्वादित्यर्थः । एतदेव  
हि शब्देनाऽऽह । अत एव चकारादधिकारादिरपि । कामितपदेनाऽवज्ञातुत्वयोजक-  
भ्रातृनाशोपि गृह्यते, निर्गमकाले तथासात् । अन्यथा भगवान्न तद्वदेदिति भावः ।  
ननु ह्यथोत्थत्वे न सङ्गतम्, ध्रुवेण नारदे साधनमार्थेनदशायां “पदं त्रिध्रुवोत्कृष्टम्”  
इत्यादिनैकस्यैव स्तुतत्वादित्यत आह न्यायेनेति । एकस्य पितृराज्यस्य स्वस्य  
ज्येष्ठपुत्रत्वेन न्यायत एव सिद्धवान्न विशेषसाधनोपेक्षया भगवान् दास्यति, किं तु  
प्रतिबन्धनिरसनेनैवेति न प्रार्थना । अन्यस्य ध्रुवस्थानस्य प्रमाणान्तेणाऽसिद्धत्वा-  
त्तथेत्यर्थः । अथवा सत्रे कृतनारदस्तुतौ तत्पदस्यैव कथने हेतुकक्तः ॥ ७६ ॥  
एवं प्रकरणार्थेषुपपायाऽध्यायार्थानाह साधनेनेत्यादि ।

निबन्धः—साधनेन च साध्येन राज्ये दोषेण हानतः ॥

फलेन च द्वितीये तु पञ्चाध्यायाः प्रवर्तिताः ॥ ७८ ॥

प्रकाशः—साधने प्रथमाध्यायार्थः । चकारात्साधनसाधनमवज्ञादिः । साध्यं द्वितीयार्थो  
भगवत्प्रादुर्भावादिराज्यमाप्तिरूपः । राज्ये क्रोधादिदोषनिरूपणं तृतीयार्थोऽग्निम-  
फलप्रयोजकः । उपदेशेन दोषत्यागश्चतुर्थार्थः । फलनिरूपणं पञ्चमार्थः । चकारा-  
न्नारदादिकृतस्तुतिरूपा कीर्तिः । एवं द्वितीयैर्प्रकरणे तथेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अतः परं प्रथमाध्यायार्थं त्रिचारयन् सर्गलीलायामेव युक्तजीववृष्टौ  
सनकादीनां निरूपितत्वात्पुनरत्रैकेन श्लोकेन तद्वर्षमभित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह  
धर्मस्येति ।

निबन्धः—धर्मस्यानतिशुक्तत्वाद्दिवेकी तत्पुत्रजोद्भवम् ॥

सनकादिकथा तस्माद्विस्मये पुनरुच्यते ॥ ७९ ॥

प्रकाशः—सर्गादायां विहितत्वेन कर्तुं युक्तत्वेऽपि पुष्टिरूपपुरुषार्थलीलायामयो-  
जकत्वेनाऽनतिशुक्तत्वाद्भुक्तविक्रवानवधं तत्पुत्रजोदिति ज्ञापनार्थं तत्कथेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

एवमर्थप्रकरणेऽध्यायान्त्रिभन्ध, तेषु प्रथमस्याष्टाध्यायस्वार्थमष्टादशभि-  
र्विचारयन्ति । अतः परमित्यादि । तद्वर्षमभित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह  
धर्मस्येति । तत्प्रयोजनमाह, गृहं त्यजेत् ॥ ७९ ॥

विहितत्यागे प्रत्यवायाऽऽज्ञायां नाऽयं धर्मप्रतिपक्षो मार्गः, किं  
त्वयमिति ज्ञापयितुमर्थमेक्येन्याह प्रतिपक्ष इति ।

निबन्धः—प्रतिपक्षो ह्यधर्मस्तु धर्मस्येति ततः कथा ॥

अर्थस्याऽनर्थहेतुत्वात्सम्बन्धेन वर्णयते ॥ ८० ॥

तर्हि धर्मप्रकरण एवेदं वक्तुमुचितमत्यत आह अर्थस्येति ॥ ८० ॥

नन्वनर्थहेतुत्वे कथमर्थत्वेन निरूपणमस्मिन् प्रकरण इत्यत आह  
कृष्णप्रसादादिति ।

निबन्धः—कृष्णप्रसादादर्थत्वं तेनाऽर्थस्याऽत्र वर्णनम् ॥

अधर्मेपि फलं तेन निवृत्तावुपयोगतः ॥ ८१ ॥

प्रकाशः—भगवत्प्रसादात्प्राथम्येन तदितरस्याऽनर्थत्वमिति व्यवस्थेति भावः ।  
तत्र निदर्शनमाह अधर्मेपीति । ज्येष्ठे सति यवीयसो राज्यकरणमधर्मस्तस्मिन्नपि  
सत्ये तादृशं फलं सिद्धम्, तेन भगवत्प्रसादेनेत्यर्थः । अनर्थहेतावप्यर्थसाधकत्वं  
नाऽन्यस्येति भावः । प्रसादात्प्राथम्येनार्थत्वाभाव उपपत्त्यन्तरमाह निवृत्ताविति ।  
अनर्थरूपसंसारमृच्छिहेतुत्वेन ह्यर्थस्यानर्थत्वं न तु स्वतः, प्रसादकृतस्य तद्विपरीतत्वेन  
वैराग्यहेतुत्वादर्थत्वमेवेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

ननु ज्येष्ठानुक्रमेणैव कथनमुचितम् । तत्कथं पूर्वं कनीयस इत्याशङ्क्याऽत्र  
हि सर्गादिलीलाः क्रमेण वाच्या न तु मनुषुजादिराज्यम् । तथा च यस्यां लीलायां  
यस्योपयोगस्तस्यां स निरूप्यत इति नोक्तदोष इत्याह प्रियव्रतस्त्विति ।

निबन्धः—प्रियव्रतस्तु ज्येष्ठोऽत्र स्थाने तस्य प्रयोजनम् ॥

प्रक्रिया नास्तिकस्याऽपि ह्यष्टमे त्वस्य सम्भवः ॥ ८२ ॥

ध्रुवादयस्त्वपेक्षयन्ते तेनोत्तानपदन्वयः ॥

प्रकाशः—अत्र मनुष्ये स्थाने अग्निमलीलायां तस्य प्रयोजनमस्तीति तत्रैव स  
निरूपणीयः । यथैतत्तथा वक्ष्यते तत्रैव । अत एवाऽत्र कस्यापि मन्वादेः प्रक्रियाक्रमेण

अयमिति, गृहानावासः । किन्त्वयमिति, किन्त्वधर्मः ससन्तानः ॥ ८० ॥ इति भाव  
इति, तथा चैतानं व्यवस्थां बोधयितुमधर्मकोक्तिपूर्वकधर्मप्रकरणारम्भ इत्यर्थः । ज्येष्ठ  
इति प्रियव्रते ॥ ८१-८२ ॥

निरूपणं मुख्यतया नास्ति, तत्र हेतुः । अष्टमे त्विति । “ मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः । ऋषयोऽश्वत्थारथं हरैः पशुधमुच्यते ” इतिवाक्यादितेषां मन्वन्तर-रूपत्वाद्दष्टमे स्कन्धेऽस्य मन्वादेः सम्भवो वक्ष्यत इत्यर्थः । अन्यत्र यथाप्रयोजनं निरूपणात् द्रष्टव्यं इतिभावः । तर्ह्येतेषां पदव्यये किं प्रयोजनं तत्राह भ्रुवाद्यय इति । भगवतः पुरुषार्थचतुष्टयसमीक्षणीलायां यस्य योऽर्थः साधितस्तस्यापि निरूपणस्या-वश्यकतादर्थादिपुरुषार्थानां ध्रुवपुत्रपुत्रवेतोभ्यः प्रत्येकं साधितत्वात्तेषां चोचानपदव्यव-स्थलात्तन्निरूपणमित्यर्थः ॥ ८२३ ॥

ननु राज्यादेरितरसमानस्त्राङ्गवत्कृतत्वेन को विशेषोऽस्यार्थ इत्याकाङ्क्षायां तदर्थस्वरूपमाह, अभिमानेनेति ।

निबन्धः—अभिमानेन सुखदः पूर्वभागोऽपि यस्य हि ॥ ८३ ॥

अविद्यमानपूर्वः स्यादर्थः सोऽत्र निरूप्यते ॥

विद्यमाने तु विषये कामः सोऽग्रे विविच्यते ॥ ८४ ॥

प्रकाशः—यस्यार्थस्य पूर्वभागोपि साधनकालोपि सुखदो भगवदाविर्भावात्तत्रा-प्यनर्थसाधनेनाभिमानेन साधितस्तादृशो योऽर्थः सोऽत्र प्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः । न हि हरिकृति विनैव सम्भवतीतिभावः । ननु पृथोरप्येवमेवेष्टसिद्धेः को भेद इत्यत आह अविद्यमानेति । न विद्यमानः पूर्वः स्वसजातीयो यस्य सोऽर्थः स्यादित्यर्थः । न हि ध्रुवस्थानं पूर्वं केनचित्प्राप्तमानेन ज्ञानं वा, अतस्तथात्वम्, विद्यमाने विषये यत्र सिद्धिः स काम इत्याह विद्यमाने इति । अप्येवोभयोर्भेद इतिभावः । भूमौ पूर्वमेव सिद्धानां दोहादिति । स यथा तथाऽग्रे कामप्रकरण एवोच्यत इत्याह सोऽग्रे इति ॥ ८४ ॥

नन्वस्य मनुपुत्रत्वेन “ मन्वन्तराणि सद्भवेः ” इतिवाक्यात्तद्भ्रातृभ्रातृभ्रातृ-तारात्कथं बालावमाननम् । “ बालाश्च कुलद्रष्टाश्च निर्दहन्त्यवमानिताः ” इति वाक्या-दित्यत आह । धर्मार्थमिति ।

ध्रुवपुत्रमवेतोभ्य इति चतुर्थाविभाक्तिः ॥ ८२३ ॥ को भेद इति, पार्थवादार्थात् को विशेषः । तथा चाभिमप्रकरणस्य भिन्नत्वं नोचितमित्यर्थः । प्राप्तं ज्ञानं वेति, एतेन मूलस्थं विद्यमानपदं “विदुल्लाने” “विद ज्ञाने” इति धातुद्रव्यार्थसङ्ग्रहकमितिज्ञापितम् । तथास्त्विति, पार्थवादिलक्षणत्वम् । तथाचैवं पाप्ताप्राप्त्यादिभेदेनार्थकामयोः सत्सुभेदात्प्रकरणभेद इत्यर्थः ॥ ८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९ ॥

निबन्धः—धर्मार्थमवतीर्णोऽपि जड एव स्त्रिया भवेत् ॥

इत्यारुरुक्षोः पुत्रस्य नाऽभिनन्दनमीरितम् ॥ ८५ ॥

प्रकाशः—प्रकरणादावैतन्निरूपणेन पूर्वोक्तं निवृत्त्युपयोगिवं समर्थितम् ॥ ८५ ॥

ननु भजनोपदेशकत्रयाः मुरुचेः कथं नाश इत्यत आह नाशकारणमिति ।

निबन्धः—नाशकारणमस्यास्तु सांपेक्षकथनं हरेः ॥

अन्यथा दूषणं नाऽस्ति न च मृत्युर्ध्रुवेषुः ॥ ८६ ॥

प्रकाशः—“ तपसाराध्यं पुरुषं तस्थेवाऽमुदहेण मे । गर्भं त्वं साधयत्मानं यदीच्छसि गृहासनम् ” इति हरेरपि स्वगर्भसांपेक्षत्वकथनमस्यास्तथेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

निबन्धः—+रोदनं च मृतिश्रुत्या दुःखापारोऽत एव हि ॥

साधनं तु तदेवाऽत्र मरणं तु न मन्यते ॥ ८७ ॥

असाध्यमपि संसिद्धं ब्रह्मादीनां यतो हरेः ॥

सकामत्वाद्द्विज्यभवावे प्रकराज्ञानतो मृतिः ॥ ८८ ॥

विश्वासाद्भवतीत्येतन्नारदः कामवारकः ॥ ८९ ॥

प्रकाशः—ननु भजनार्थं प्रवृत्ते ध्रुवे नारदस्य निवारणव्युक्तमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह सकामत्वादिति, निष्कामभजने तु न विष्णोःप्रेक्षा, ध्रुवस्य च सकामत्वात्तादृश-फलकामाधिकारिकतद्विधिप्रधानभावेन तत्प्रकारस्य चाज्ञानादयथाकरणेन बालात्वात् मरणमेव स्यादिति ज्ञानागत्य नारदः कामनिवारको जात इत्यर्थः । ननु कश्चित्कालं कृत्वा फलमप्राप्य क्षेत्रेण च स्वयमेव त्यक्ष्यतीति व्यर्थमिदमित्यत उक्तं विश्वासादिति । भजनेनाज्यर्थं फलमिति जनयुक्तार्थं विश्वासादित्यर्थः । अतो न त्याग इतिभावः ॥ ८९ ॥

तर्हि साधनान्तरं कृतो नोपदिष्टमित्यत आह साधनं त्विति ।

निबन्धः—साधनं तु तदेवाऽत्र काममात्रं निवार्यते ॥ ८९ ॥

प्रतिबन्धोऽत एवाऽऽसीत्सामग्रीसाधनेऽपि हि ॥

प्रकाशः—“ सर्वासामपि सिद्धीनाम् ” इतिवाक्यान्नाम्यदित्यर्थः । ध्यानादि-कथनमपि कामवारणार्थमेवेत्याह काममात्रमिति । “ एवं भगवतो रूपम् ” इतिवाक्येन “ विरक्तचेन्द्रियरती ” इत्यनेन ध्यानस्य पूजादिसाधनानां चोपयोगस्य

तेनैवोक्तत्वादितिभावः ॥८९॥ ननु कोऽयं निर्बन्धोऽस्य कामवारण इत्याशङ्क्याह प्रतिबन्ध इति । सत्कामत्वादेव हेतोर्नारदेन भजनसामग्र्याः साधनेपि नारदा-गमनरूपः शीघ्रं भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्ध आसीदित्यर्थः । अयं भावः । स तदा याहृद्वैभवावेन चलिता यदि नारदो नागच्छेत्तदा ताहृद्वभावेन बालत्वेन शुद्धभावेन च सन्तुष्टः स्वयमेव भगवान् किञ्चिद् प्रकटो भवेत्तन्मिलने च प्रकाश-दिज्ञाने साधनद्राढ्येन ताहृद्वैभवापचयाश्चारे तथात्वमिति । अत एव नारदः सकामत्वेनाधुना विज्ञोऽभूद्व्येपि मा भवत्विति तथोक्तवान् । अत एव निर्बन्धं दृष्ट्वा निराकृतदैत्यं सततंसमिहितहरिं च देशशुक्लवान् विज्ञाभावापेति ॥ ८९ ॥

निबन्धः—चतुष्टयत्वसिद्धयर्थमर्थानां प्रेरणाद्धरेः ॥ ९० ॥

नोपदेशः फलायाऽऽसीदत्यन्ताभिनिवेशतः ॥

प्रकाशः—तर्हि नारदस्य कथमगमनमित्यत आह प्रेरणादिति । ननु तदपि कुतस्तत्राह चतुष्टयत्वेति । यदि पूर्वोक्तरीतिः स्यात्तत्रैवास्य लयः स्यात् । तथा चार्थासिद्धया पुरुषार्थानां त्रितयत्वमेव स्यात् चतुष्टयत्वमतस्तेषां तथात्वसिद्धयर्थं तथेत्यर्थः । अस्मैव विसर्गलीलायामेवाहोकारादितिभावः । ननु ध्यानादौ कृतेपि कुतो न कामनिवृत्तिरित्यत आह नोपदेश इति । फलाय परमफलाय कामनिवृत्त्यर्थ इत्यर्थः ॥९०॥

अस्य गमने भगवदिच्छां ज्ञात्वा नारदस्तत्सिद्धयर्थमेव राजकृतो मनुष्यप्रेषणादिना प्रतिबन्धो मा भवत्विति तन्निकटे गत इत्याह प्रतिबन्धेति ।

निबन्धः—प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं राजान्तिगमनं मुनेः ॥ ९१ ॥

वृथैव मरणं वा स्यात्साधने वार्थदुर्लभे ॥

प्रकाशः—तद्वज्रादुरपि राज्ञश्चिन्तायां हेतुयाह वृथैवेति । पुरुषार्थसाधनव्यति-रेकेणैव दृकादितस्तथा स्यात् । पुरुषार्थसाधने वाऽर्थो दुर्लभो यत्र तादृशे प्रवृत्तौ तथा स्यादिति संशयात्तथेत्यर्थः ॥ ९१ ॥

नारदे तथात्वमिति, प्रतिबन्धकत्वम् ॥ ८९ ॥ पूर्वोक्तरीतिरिति । निष्कामत्वदैत्यपूर्वकं भजन-निर्बन्धः । अस्पृशैत्यादि एतादृशस्यैवाऽर्थस्य विसर्गलीलायामर्थत्वेन विवक्षितत्वात्तिसिद्धयर्थं नारदप्रेरणामितिभावः ॥ ९० ॥

ननु यदि प्रतिबन्धं कुर्यात्तदैव कुर्याद्विलम्बाच्च न तथेत्यवगम्यत इति व्यर्थं मुनिगमनमित्यत आह विलम्बस्त्विति ।

निबन्धः—अतश्चिन्ता विलम्बस्तु भार्यातोऽसंशयो मुनेः ॥ ९२ ॥

पूर्वेषित्वात्तपोत्युग्रं कामविद्यात्पुनस्तथा ॥

प्रकाशः—तावत्सा निकटे स्थिता तद्व्यथ स इति तथेत्यर्थः । ननु राजोक्त-प्रकाराणां सम्भवात्कथं नारदस्य तादृशसाम्बन्धमित्याशङ्क्य मननशीलत्वेन सर्वज्ञता-त्तथेत्याह, असंशय इति । तर्हि पञ्चवार्तिकस्य तादृशतपःप्रकरणे कोपपत्ति-रित्यत आह पूर्वेषित्वादिति । ऋषेः कथमेवं भावस्तत्राह कामावेशादिति । पूर्वजन्मनि तपः कुर्याण एव कञ्चन राजकुमारं दृष्ट्वा तत्संपृहावान् जातस्ततस्त-द्रासनत्वानेव मृत इति जन्मान्तरे भ्रूवो जात इति पुराणान्तरप्रसिद्धिः । तद्विद्वत्कं कामावेशादिति च । अतः पुनरग्रिमजन्मन्यापि तथा सकाम एवेत्यर्थः ॥९२॥

ननु भुवहृदयस्थविन्धाधाररूपं देवप्रार्थितरूपं चैकमेव भिन्नं वा । अथे त्रथैव बहिष्ठम्बाभिरुच्छ्वाससर्वं लोकानां न स्यात् । द्वितीये तयोः स्वरूपं वाच्यमित्याशङ्क्यां हृदयस्थस्वरूपमाह जगदिति ।

निबन्धः—जगत्कारणरूपं हि यदक्षरमुदीरितम् ॥ ९३ ॥

मुख्यप्राणयुतं पूर्वमाविर्भूतं हरः पद्मम् ॥

प्रकाशः—“प्रकृतिः पुरुषश्चोभो परमात्माऽभवत्पुत्रा ” इत्यादिना सर्वनिर्णय-प्रकरणोक्तोऽर्थोऽत्रानुसन्धेय इतिज्ञाननायोक्तमुदीरितमिति मुख्यप्राणयुतमिति । लोकप्राणनिरोधे प्रयोजनमुक्तम्, पूर्वमिति भगवदाभिर्भावात्पूर्वमित्यर्थः ॥९३॥ नन्वेवं प्रादुर्भावेऽक्षरस्य को हेतुस्तत्राह भक्तिभावेनेति ।

निबन्धः—भक्तिभावेन संहृष्टः प्रादुर्भूतो भविष्यति ॥ ९४ ॥

रूपया सर्वरूपेण हरिरित्यक्षरं तथा ॥

निरुच्छ्वासेन पीडाऽभूदतः सर्वेशरीरिणाम् ॥ ९५ ॥

प्रकाशः—प्रादुर्भावे हेतुरयम् । सर्वरूपेण प्रादुर्भावे हेतुः रूपयैव । तस्य सकाम-त्वादतिक्रुपया सर्वमस्य समाधत्तामिति सर्वरूपेण हरिः प्रादुर्भूतो भविष्यतीति हेतोस्तथा । पूर्वोक्तरूपेणाऽक्षरमपि प्रादुर्भूतमित्यर्थः । अत एव सर्वोपरिभागस्यलोक-

सर्वरूपेणेति अभिप्रास्ये सहस्रशीर्षाणि ततो गुरुमतेति सहस्रशीर्षपद्मचित्तेन तेनेत्यर्थः ॥ ९१-९२-९३-९४-९५ ॥

माप्तिरितिभावः । निरुच्छ्वासेति । सर्वप्राणरूपमुख्यमाणस्य क्तः कारणान्त-  
निर्गोचो एव ध्रुवस्योच्छ्वासाभावेन सर्वेषां पीडाऽभूदित्यर्थः ॥ ९५ ॥

ननु प्राणनिरोधे भगवत्प्रायेण कथं जातमित्यत आह अद्यापीति ।

निबन्धः—अद्याऽपि भगवान्नाभूदिति सम्प्रार्थ्यते सुरैः ॥

जाते गत्यादिशक्तिश्च नश्येदिति तथा वचः ॥ ९६ ॥

प्रकाशः—उत्करुणाक्षररूपचरणमादूर्ध्वेऽपि सर्वात्मरूपो भगवान् प्रादूर्ध्वतो  
नाभूदिति तथा । तथा सति किं स्यात्तत्राह जात इति । तदुद्दि प्रकटे  
जाते इत्यर्थः । आदिपदेन सर्वैन्द्रियशक्तिकृत्तः इतीति । इतिहेतोरेव “ मतिपात  
स्वधाम ” इति भगवद्ब्रह्मचनमित्यर्थः ॥ ९६ ॥

(अ० ९) ननु कथमत्र समाधानम् ? अन्तःप्राकट्ये प्रवोक्तदृषणात् । बहिः-  
प्राकट्ये चाऽन्तःप्रकटाक्षररूपस्य वैयर्थ्यापातादित्यत आह बहिरिति ।

निबन्धः—बहिःप्रकटनात्सर्वे साधयिष्यति वै हरिः ॥

प्रसादे गरुडो नीतः कालग्रसनकारणात् ॥ ९७ ॥

प्रकाशः—बहिःप्राकट्येन ध्रुवस्योच्छ्वासादिसम्भवात्सर्वमाणपीडापगमः । यो ह्यगच्छति  
स पूर्वं चरणस्थापनेनागच्छतीति तत्प्राकट्यहेतुत्वेन न तत्रैवथ्यम् । केवलस्य  
तस्यान्तरेव प्राकट्यनियमेन च तथात्मम् । ततोऽक्षरस्य बहिष्ठचरणैक्यसथाविर्भावो  
मुख्यमाणस्य भगवत्स्थितजगत्याणरूपतयैत्येतत्सर्वपदवाच्यम् । तद्वहिरिःप्रकटनादेव इति ।  
साधयिष्यतीत्यर्थः । गरुडता सह गमने विशेषप्रयोजनमाह प्रसाद इति ।  
कालरूपो हि गरुडः स चेत्ताहभगवत्प्रसादे तस्मिन् स्वयं पश्यति तदाऽन्ते न  
प्रसतीति तन्निमित्तं स्वप्रसादसमये स नीत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

आगतस्यान्तःस्फूर्त्तौ प्रयोजनमाह अस्फूर्त्ताविति ।

निबन्धः—अस्फूर्त्तौ पूर्ववत्स्फूर्त्तौ विश्वनाश इति स्वयम् ॥

अवेक्षारूपधृक् कृष्णस्तडिद्धदृश्ये बभौ ॥ ९८ ॥

प्रादूर्ध्वतो नाभूदिति । अन्तः प्रादूर्ध्वतो नाभूत् । तथा बहिर्भगवत्सत्त्वात् तत्सामर्थ्येन  
प्रार्थनमित्यर्थः ॥ ९६ ॥ एवं चोदशभिर्प्रादक्षभिर्वाष्टमाध्यायो विचारितः ।

अतः परं नवभिर्नवमाध्यायं विचारयन्ति । नन्वित्यादि । अत्रेति रूप-  
भेदाङ्गीकारे । अन्तरेव प्राकट्यनियमेनेति । ‘यो वेदनिहितं गुहायामि’ति भुक्तेस्तयानियमेन ॥ ९७ ॥

प्रकाशः—तदन्तर्भगवतोऽस्फूर्त्तौ सत्प्रां पूर्ववन्मुख्यमाणयुतजगत्कारणरूपाक्षरस्फूर्त्तौ  
विश्वनाशः स्यादित्यर्थः । इदमत्राकृतम् । हृदि दृश्यमानरूपतिरोभावं विना न हि तस्य  
बाह्यानुसन्धानम् । तदर्थं च तत्तिरोभावे मुख्यमाणस्य कारणरूपे लये जाते निरु-  
च्छ्वासेन प्राणपीडावन्मरणमेव स्याद्विषयः । इतो हेतोर्न रूपेणस्यैव पालयति  
तदुपधृक् सत्प्रां सम्पाद्यानन्ददायकरूपो रक्षया एव सम्पाद्यत्वात्तस्याश्च प्राकट्य-  
मात्रेण सम्भवाच्चिरकालस्थितौ प्रयोजनाभावाच्च तद्विद्धदृष्ट्युद्भवद्वये ष्मभावित्यर्थः ।  
एतत्स्फूर्त्तौ तत्प्रयत्नस्य हेतुत्वनिरासाय इत्यर्थमिति । ततः पालकरूपसहभावेन न नाश  
इति भावः । पूर्ववत्स्फूर्त्तौ सत्प्रांमेव पूर्वरूपस्याकस्मादस्फूर्त्ताविति वा योजना ॥ ९८ ॥

मूले दरस्पृश्यस्य बाणीमाप्तिफलकत्वकथनमुपलक्षणपरमित्याह मध्येपीति ।

निबन्धः—मध्येऽपि जातकामानां पूरणाय दरस्पृशिः ॥

अपां तत्त्वे स्वतुष्ट्यर्थमासन्यो वर्तते हरेः ॥ ९९ ॥

वेदमूलत्वतस्तस्य दूरो ब्रह्ममयः स्मृतः ॥

प्रकाशः—अत एव ब्रह्माक्षरसामर्थ्यशत्रुजयादिरितिभावः । “ यस्य ध्वनिर्दानवदधै-  
हन्ता ” इतिवाक्यात् । ननु “ अपां तत्त्वं दरवरम् ” इतिवाक्यात्तादृशेन तेन कथं  
शब्दब्रह्मस्फूर्त्तिरित्याक्षरत्रय तत्रोपपत्तिमाह अपामिति । एतादृशे तस्मिन् हरेरा-  
सन्यमाणायुः पूरणादन्ते, स च वेदमूलहेतुरिति शब्दब्रह्ममयः स इत्यर्थः ।  
सततं तत्स्थितिप्रयोजनं स्वतुष्ट्यर्थमिति । जलेन प्राणतृप्तिः प्रसिद्धा । स्मृत इति  
प्रमाणं सूचितं मूले “ ब्रह्ममयेन कमनुना ” इतिवाक्यात् ॥ ९९ ॥

निबन्धः—प्रेमबोधकमन्यद्वि सर्ववेदात्मसात्कृतौ ॥ १०० ॥

यथा मतिस्तथा जाता ऋषित्वात् तदुद्भवः ॥

प्रकाशः—अन्यदिति ह्यभ्यां प्रपञ्चनित्यादीत्यर्थः । ननु मन्त्रादिभ्य इव  
दरस्पृशेनाऽपि ऋष्यमात्रमुत्पद्यते न त्वर्थज्ञानमपीत्यत आह सर्वेति । सर्वैर्दृष्टमग-  
वदासन्यपूर्णत्वात्तयेति भावः ॥ १०० ॥ ननु क्षत्रियस्य तत्राऽप्यकृतसंस्कारस्य तथा  
मत्तियुक्त्यत आह ऋषित्वादिति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यवच्छेदकः । पुष्ट्यर्थेवास्त्य  
कार्यसिद्धेर्यादाभार्यायदृष्टेण न दोषायेतिज्ञापकः । ऋषित्वं तस्मिन्नी स्वरूपयोग्यता-  
मात्रसम्पादकमितिभावः ॥ १०० ॥

मुख्यमाणस्येति, औचक्यमुख्यमाणस्य । सत्तामिति, अक्षरात्प्रथमं औचक्यमुख्यमाणसत्ताम् ॥ ९८ ॥

तथापि स्वाधिकारानुसारेणैव स्तुतिरित्यभिप्रायेण स्तुत्यर्थमाह सर्वेश्वरत्वेति ।

निबन्धः—सर्वेश्वरत्वभजने स्तुत्या साधुनिरूपिते ॥ १०१ ॥

विसर्गार्थप्रकरणारस्वकार्यादभिनन्दनम् ॥

पुष्टावनभिनन्दश्च प्रक्रियाभेदतो भवेत् ॥ १०२ ॥

प्रकाशः—समासात्त्वेनैव भजनं च, न स्नात्स्त्वेन स्वार्थेवाविर्भूतत्वेन वा । सर्वेश्वरत्वात्भजनेनैवार्थसिद्धिरिति हेतुहेतुमद्भावेन स्वोपयोगित्वेन च निरूपणात्साधुत्वम् । अत्र हेतुः विस्मयति । यतो विसर्गालीलेयमतो भजननिरूपणम् । एतद्वीलास्थानामन्ते शुक्त्यधिकारितात् । अर्थप्रकरणत्वात्पूर्वैस्त्यर्थः । स एव ह्यर्थसाधकः । ननु कथमन्त्यप्रार्थनाया एवाभिनन्दनं भगवता कृतम् । “ भक्तिं शुद्धः प्रवहताम् ” इत्यादेनै प्रार्थनाया अविधिप्लुतादित्याशङ्क्यां भगवदभिप्रायमाह स्वकार्यादिति । भगवदभिधेते कार्यं हि स्थानदानम् । तेन तस्यैवाभिनन्दनमित्यर्थः । पूर्वपदमत्राऽनुपपद्यते । तथा च भक्तिमित्यादिना प्रार्थितस्याऽभिनन्दनेन तद्भावेन शीघ्रं मोक्षप्रसङ्गेनाऽर्थासिद्ध्या स्वाभिधेतलीलैव न सिद्ध्येदितिभावः । एतदेव स्पष्टयति । पुष्टाविति । पुष्टिमागं इच्छया एव बलिप्लुतात्प्रार्थनाविशेषेपि स्वविचारितार्थप्रार्थनस्यैवाऽभिनन्दनमन्यस्याऽनभिनन्दश्च पूर्वोक्तप्रक्रियाभेदतो भवतीत्यर्थः । अन्यत्राऽप्येवमितिशान्पनाय भवेदित्यतिदेशः ॥ १०२ ॥

ननु एवं न्यूनतेत्याशङ्क्य परिहरति दृष्टोत्कर्ष इति ।

निबन्धः—दृष्टोत्कर्षो ध्रुवान्नास्ति मरणान्नावितान्मृतिः ॥

प्रजापालनयज्ञौ हि धर्मस्तेनेह संस्मृतिः ॥ १०३ ॥

प्रकाशः—ध्रुवादन्यत्र दृष्टपदार्थेपि उत्कर्षः स नास्तीत्यर्थः, न तदृष्टोत्कर्षेपि । अर्थप्रकरणत्वादस्य तस्य च दृष्टार्थत्वादितिभावः । ‘ एतेन नाऽन्वैरधिष्ठितमि’त्यादि-भगवद्वाक्यानां प्रयोजनमुक्तम् । ननु भ्रातृतन्मात्रैरेतदानुक्त्येनाऽपि स्थितिसम्भवे स्वोपयोगिनेति, भगवदुपयोगित्वेन । अत्रेति, उक्तोपयोगित्वे । पूर्वैस्तेति, अर्थस्य त्रिवर्णस्य वा । स एवति भगवानेव । पूर्वपदमिति विसर्गार्थप्रकरणपदम् । प्रार्थनाविशेषेपि, भगवदीयसंज्ञप्रार्थनायामपि । प्रक्रियाभेदत इति, प्रकरणभेदात् ॥ १०२ ॥

कुतो भगवता तथोक्तमित्यत आह मरणादिति । ध्रुवेणातिदुःस्तेन तयोस्तत्त्वद्वये भावितमिति तथेत्यर्थः । तेन तद्भावितमिष्टमनिष्टमिष्टार्थि च भगवान् सम्पादितवानित्युक्तं भवति । अर्थभोगस्य भगवद्विस्मयकत्वेन प्रकृते तदभावाय तद्विभूतस्वधर्मो भगवतोक्त इत्याह प्रजापालनेति । सोऽपि दृष्टफलक एवेत्याह, इहेति । अस्मिन्नेव जन्मान्तीत्यर्थः । ‘ धर्मकान्तस्ये’तिशाक्यादाधमकरणेपि धर्मकथनं युक्तम् । “ धर्मस्य ह्यवगम्यस्य ” इतिवचनान्तेन स्मृतिकथनं च युक्तम् । तथाह हिशब्देन । अन्यस्परणराहित्यमेतदविच्छेदश्च सम्यक्त्वम् ॥ १०३ ॥

ननु पश्चादनुतापे को हेतुस्त्यात्वे वा वैराग्यस्य सम्पन्नत्वाद् गृहे गमनं कृत इत्यत आह सिद्धेऽर्थे इति ।

निबन्धः—सिद्धेऽर्थे गुरुवाक्येन भगवद्दर्शनेन च ॥

शुद्ध्या सिद्धेऽपि वैराग्ये कृष्णेच्छातो गृहं गतः ॥ १०४ ॥

प्रकाशः—“ गुरोर्मातुः आराधय ” इत्यादिवाक्येन, नारदस्य वा “ भगवान्वासुदेवस्तम् ” इत्यादिरूपेण, अथवा नारदेनापि “ जनन्याऽभिहितः पन्थाः ” इत्युक्तत्वादुभयोर्वाक्यमेवेति गुर्वोर्वाक्येनेत्यर्थः । भगवद्दर्शनेन चाऽर्थं सिद्धे ताभ्यामेव हेतुभ्यान्तःकरणशुद्धिर्जातिरिति वैराग्यं जातम् । एतेनानुतापे हेतुरुक्तः । अत एवेच्छाङ्गानम्, तेन तथेत्यर्थः । अथार्थो सिद्धे अर्थसिद्धचन्तरे पूर्वदर्शनजशुद्ध्या हृदि स्फुरितेन “ दुराराध्यो मतो मम ” इत्यादितद्वाक्येन भगवद्दर्शनेन च तथाविधेनेत्यर्थे पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

गृहगमने हेतुन्तरमाह भयादिति ।

निबन्धः—भयादापि हरेस्तस्मादन्यस्याऽप्यनुपायतः ॥

आदरो दृढविश्वासे फले चोत्कर्षसूचकः ॥ १०५ ॥

प्रकाशः—प्रस्थिते त्विति “ इद्वा माय ” इत्याद्याज्ञोद्धुनेन को वेद भगवान् किं कुर्यादितिभयाद् गृहं गत इतिसम्बन्धः । किं च तस्माद्भगवदुक्तमकारादन्यस्यै-तत्कालीनत्यागस्यास्मिन् भगवत्वात्प्यनुपायत्वादित्यर्थः । पित्रादिद्वारा कारितादरस्य गुरुविश्रुतस्य वा प्रयोजनमाह आदर इति । हेतुषामपि तथात्वे भगवदुक्ते विश्वासः सदादिति तन्निमित्तं स निरूपित इत्यर्थः । यत्र स्वगृहगमनेऽप्येवमवान्तरं फलं तत्र परमफले भगवदुक्ते का वार्तेति तदुत्कर्षोऽप्यनेन सूचित इत्याह फल इति ॥ १०५ ॥

पूर्वदर्शनजशुद्धयति, नारददर्शनजशुद्ध्या ॥ १०४ ॥ अस्मिन्निति ध्रुवे । (नवमाध्यायः पूर्णः) ।



( अ. १० ) ननु भ्रातृनाशस्य भगवतौक्त्याङ्गणवत्त्वाच्च क्रोधोभुञ्जित इत्यत आह राज्यस्येति ।

निबन्धः—राज्यस्यानर्थबोधाय क्रोधावेशो हि लौकिके ॥

भ्रातृवत्सलतासिद्धौ युद्धव्यसनतोऽपि हि ॥ १०६ ॥

प्रकाशः—अनर्थपदं भावप्रधानम् “एते पञ्चदशाऽनर्थाः” इत्युपपत्तिर्हि चन्देनोच्यते । ननु वैष्णवतात्तथाऽप्यनुचितत्वमुक्तमित्यरुच्या प्रयोजनान्तरमाह लौकिक इति । तदोपेक्षायां लौकेऽपकीर्तिभेदेदिति लौकिके जने तथासिद्धयर्थमित्यर्थः । जात्यभिप्रायमेकवचनं सर्वेषामेकरूपताभिज्ञापकम् । तथापि मारणे नोचितमित्यत आह युद्धेति । सप्तव्यसनिताद्राज्ञ इतिभावः । एतेन दोषत्रयमुक्तम् ॥ १०६ ॥

निबन्धः—ईशविस्मृतिरावेशादतो विप्रैर्विबोधनम् ॥

पितामहेन गर्वस्य दोषस्याऽपि निवारणम् ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—अत एव तज्जन्तमहारोगरूपादावेशाक्रोधावेशाङ्गवद्विस्मृतिरपि । अस्य भगवदीयत्वात्तस्मरणेनैवाऽनर्थनिवृत्तिर्भविष्यतीति तत्सिद्धयर्थं विप्रवचनमित्याह अत इति ।

( अ. ११ ) तर्हि मनुवाक्यस्य किं प्रयोजनमित्यत आह पितामहेनेति । दोषस्य क्रोधावेशस्य । इदमत्राहुतम् । विप्रैस्तु मृत्युनिवारकत्वेनैव भगवान् स्मारितो न तु सर्वात्मत्वेन स्वप्रभृत्त्वेन सर्वकर्तृत्वेन वा । अतस्तथा स्मरणेन “ये यथा मां प्रपद्यन्ते ” इतिन्यायेन तत्कालीनदुःखमेव निवृत्तं न तन्यत् । प्रत्युत तन्निराकरणे दोषस्यानिवृत्तत्वात् स्वसामर्थ्यस्फूर्त्यां गर्वो जातः, सोप्यनैव निराकृत इति ॥ १०७ ॥

निबन्धः—संसारित्वाद्गमनं बालत्वात्तदुपेक्षणम् ॥

तज्ज्ञापनायाऽऽगमनं वरञ्चैव तथोच्यते ॥ १०८ ॥

प्रकाशः—ननु “तं प्रसादय वत्स ” इति श्रुत्वा तत्र गत्वा कथं न तं प्रसादितवानित्यत आह संसारित्वादिति । मानुषभावस्य सत्त्वादितिभावः । बालत्वादिति । “न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ” इतिवाक्यात्तदपराधोपेक्षणमित्यर्थः ।

( अ. १२ ) तर्हि धनदागमनं कुत इत्यत आह तज्ज्ञापनायेति । तदुपेक्षाज्ञापनायेत्यर्थः । तथेति स्वप्रसादज्ञापनायेत्यर्थः ॥ १०८ ॥

एवं नवभिर्नवमाध्यायो विचारितः । सार्द्धेन दशमार्थं विचारयन्ति ननु भ्रात्रित्यादि । एकैकैकादशार्थमाहुः तर्हीत्यादि ।

ननु पूर्वमपि भक्तेः सत्त्वाङ्घ्रिमनुभ्यां भगवत्स्मृतिदोषनाशयोः कृतत्वाच्च तद्वरेण किमायातमित्यत आह मारितेति ।

निबन्धः—मारिताकृष्णसम्बन्धिष्यवाद्युद्धाच्च राक्षसाः ॥

ततो यज्ञस्मृतिध्यानगतयः परिकीर्तिताः ॥ १०९ ॥

प्रकाशः—मारितोऽकृष्णसम्बन्धुयुक्तमो वैस्तेषां यक्षाणां वधादिति योजना । अयमर्थः । भगवदीयस्य माणिव्यभामात्रमेव नोचितं तथापि भगवद्भेतुरहितम् । तथाऽपि भगवद्भूतिरिच्छामेवोचितं न तु स्वतो युद्धमपि । भगवद्विच्छाभाष्यश्च मनुवाक्यैरगम्यते । तथा चास्मिन्नुभोजनत्वादनन्तःकरणसम्बन्धिषु क्रियासम्बन्धिषु कार्येषु रक्षःसम्बन्धो जात इति ते राक्षसा जाता इति । एवं च पूर्वोक्तभक्त्यादेर्वीजभावेन सत्त्वेपि फलयर्थवशादित्येवं न भविष्यतीति पूर्वोक्तदोषनिवर्तिका भक्तिस्तेन दत्तेतिभावः । किञ्च, एतद्व्योपनिवृत्त्यर्थमेव यज्ञादिकमपीत्याह तत इति । यज्ञैः क्रियादोषनिवृत्तिः स्मृत्या वधदोषस्य निवृत्तिः । ध्यानेन भगवत्सम्बन्धाभावजन्यः । एवं मनुवाक्यैरेण यज्ञादिभिश्चाधिदेविकाध्यात्मिकाधिभौतिकदोषाणां निवृत्त्या युद्धस्य पथाहतिरुक्ता ॥ १०९ ॥

यद्यप्येवं निर्दोषस्य भक्त्या च विस्मृतमपञ्चस्य परममुक्तिरेव वाच्या, तथाऽप्यर्थप्रकरणे तथाकथनस्यानुपयोगात्तत्साधनानां फलोत्कर्षकारित्वमेवोक्तमित्याह फलाधिक्यमिति ।

निबन्धः—फलाधिक्यमतः प्रोक्तं तथाऽज्ञानुपयोगतः ॥

प्रकारोयं समीचीनो भगवत्प्रीणनाय हि ॥ ११० ॥

प्रकाशः—भगवद्भक्तिक्रमाप्तिः फलम् । सा च पूर्ववशीरत्यागपूर्विकैवान्यत्र पत्सिद्धेत्यत्रान्येभ्य आधिक्यं तदत्यागः । अत इति । यतः पूर्वोक्तरीत्या तद्देहोपि निर्दोष इतिभावः । यद्वा, ननु देहान्तरमेव कुतो नोक्तमित्यत आह तथेति । अत्र लोकान्तरप्राप्तिं तथा देहान्तरस्यानुपयोगादप्रयोजकत्वादित्यर्थः । निर्दोषत्वस्यैव प्रयोजकत्वादितिभावः । तत्रोक्तम् । प्रकरणार्थेणुपसंहरंस्तत्साप्तयमेवाह प्रकारोऽयमिति । संस्कृतवेदाध्ययनतदर्थविचारानन्तरकस्यैव्यागतपस्यादिभ्यो विषयानभिषेदशाधामेव

उपेक्षणमिति, धनदत्तमुपेक्षणम् । साज्ञं श्रुत्वा भिक्षादिशस्वार्थमाहुः । तर्हीत्यादि ॥ १०८ ॥ एवं चेति, सम्बन्धिदोषेण क्रियान्तःकरणयोर्दुष्टत्वे । एतेन भगवदीयसाधर्मकरणे फलप्रतिबन्ध इति भगवद्विच्छां विना तत्र कार्यमिति फलति ॥ १०९ ॥

शुक्रदेशेन क्वचिद्भगवत्साक्षिष्यवद्देशे भजनं समीचीनमिति ज्ञापितमेतत्प्रकरणेनेत्यर्थः ।  
शीघ्रमसादहेतुत्वरूपोपपत्तिर्ह्यश्वेनोच्यते ॥ ११० ॥ अत्र निर्दर्शनमाह यत् इति ।

निबन्धः—यतः सर्वनिषेधेन श्लोकानाह स नारदः ॥

सर्वथा दुर्लभा सेवेत्यतस्तस्य कथा तता ॥ १११ ॥

प्रकाशः—“दृष्ट्वाऽभ्युपायानपि वेदत्रादिनाः” इति तावयात्सर्वनिषेधः । ननु प्रचेतसां  
समे तत्कथामाने हेतुः क इत्यत आह सर्वथेति । भगवत्साक्षात्कारे जतिऽपीत्यर्थः ।  
अत एव स नारद इत्युक्तम् । “दुराराध्यो मतो ममे”ति येनोक्तमिति सापनार्थम् ॥ १११ ॥

(३. प्रकरणम्) अथाग्रिमप्रकरणार्थां विचारयन् तजाने मोक्षस्य निरूपित-  
त्वान्मोक्षप्रकरणलमाशङ्क्याह कामनेनेति ।

निबन्धः—कामेन सिद्धः सर्वेषां कामस्य च स साधकः ॥

कामः सम्पादितः स्वस्य कामप्रकरणं ततः ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—कामनयेत्यर्थः । सर्वेषामिरयुधयत्र सम्बद्धयते । तथा च आदिमध्या-  
वसानेषु कामस्यैव निरूपितात्कामप्रकरणमेवेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

तस्यैकादशाध्यायाश्च निरूपणे हेतुमाह, एकादशेति ।

निबन्धः—एकादशेन्द्रियैः कामस्तेनाध्यायास्तथा मताः ॥

चतुर्भिश्च तथा द्वाभ्यां पञ्चभिश्च क्रमात्रयम् ॥ ११३ ॥

प्रकाशः—कामः सिद्धयतीति शेषः । अध्यायसङ्ख्ययापि कामप्रकरणलमेव  
सिद्धयतीति भावः । अध्यायान् विभजते चतुर्भिरिति । सहेतुत्कपुत्रादुभवि-  
निरूपणे चतुर्भिः । सर्वकामसाधनं द्वाभ्याम् । स्वकामसाधनं पञ्चभिः ॥ ११३ ॥

अध्यायार्थानाह स्वरूपेणेति ।

निबन्धः—स्वरूपेण गुणैश्चापि प्रथमे भेदकद्वयम् ॥

हेतुकार्यविभेदेन राज्यान्यगुणभेदतः ॥ ११४ ॥

एवमत्र साद्धिः पदत्रिंशद्विधप्रकरणे निरूपितम् । द्वाभ्यां प्रकरणान्यां काल-  
रूपतया द्वादशभिस्तत्त्वैश्च निष्पत्त्या तेषामलौकिकविसर्गापयोगो निरूपितः । अतः परमन्येषां  
तत्त्वादीनां प्राणमनोरूपतया यज्ञनिष्पादनेन तथात्वाय तृतीयं प्रकरणं द्विचत्वारिंशतिभि-  
र्विचारयन्ति अयामिमेत्यादि ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—कामस्वरूपं गुणाश्च प्रथमप्रकरणस्यावान्तरप्रकरणद्वयार्थः । तादुभावापि  
प्रत्येकं द्वियेति चतुर्भिर्ध्यायैरिदं प्रकरणमुक्तम् । तद्वद्वैविध्यमाह हेत्विचि ।  
कामहेतुः प्रथमाध्यायार्थो रक्षकाभावरूपः । अथर्मस्थापनरूपं कार्यं द्वितीयाध्यायार्थः ।  
राज्यं तृतीयम् । आविष्टगुणाधृत्यर्थस्य ॥ ११४ ॥

द्वितीयप्रकरणस्याध्यायद्वयार्थं क्रमेणाह क्रियेति ।

निबन्धः—क्रियाफलविभेदेन सर्वकामे द्वयं तथा ॥

शुद्धिः कृष्णप्रसादश्च स्वधर्मा ज्ञानमेव च ॥ ११५ ॥

मोक्षश्चेति विभेदेन स्वकामेऽध्यायपञ्चकम् ॥

प्रकाशः—तृतीयाध्यायार्थान् क्रमेणाह शुद्धिरित्यादिना ॥ ११५ ॥

ननु कामस्य तृतीयपुरुषार्थस्य स्त्रीसम्भोगादिजसुखसुखरूपान्मोक्षस्य  
स्वतन्त्रत्वात् कामसमयुक्तमित्यत आह मोक्षकाम इति ।

निबन्धः—मोक्षकामोऽत्र युक्तो हि सर्वकामस्तथैव हि ॥ ११६ ॥

मोक्षप्रकरणार्थाय प्रकियेयमतः कृता ॥

प्रकाशः—अत्र भगवच्छास्त्रे सकामभजने मोक्षकामः सर्वकामश्च पुरुषो युक्त  
इत्यर्थः । नतु स्त्रीकामः तस्य तुच्छत्वात् । यद्यपि भगवत्ततः सापि नाऽनर्थक्यस्तथापि  
वदर्थं भजनं स्वसायुक्तमिति भावः । यत्तु द्वितीयस्कन्धे “स्त्रोकामोऽस्त्र उर्वशीम्”  
इत्युक्त्वा “सर्वकामोऽपि पुरुषं यजेते”त्युक्तं तत्रापि भजनार्थमेव स्त्रीकामनायां तथेति  
शुक्रहृदयम् । यथा वैतत्तथा तत्रैव टीकायां निरूपितम् । अस्य च सकामत्वाद्युक्त-  
मिति पूर्वैर्हि शब्दाद्यैः । “अकामः सर्वकामो वा” इति श्लोकसम्भतिर्द्वितीयेन  
सूच्यते । प्रकरणार्थेषु पसंहरति मोक्षेति, प्रचेतसां प्रभे कृते हीयं कथारन्वा तन्नि-  
रूपणार्थम् । तेषां च भक्तिमार्गीययुक्तेवैकन्यत्वान्मोक्षप्रकरणनिमित्तमेवेयं शुद्ध्यादि-  
प्रक्रिया कृतेत्यर्थः । तर्हि मोक्षप्रकरणलमेवास्यापि न कृत इति चेन्न पृथक्त्वेनान-  
साधनत्वेनैवोक्तत्वात्तेन च युक्तिनिरूपणात्तत्र चाऽस्य सकामत्वात्प्रक्तिमार्गीयतद्वि-  
लक्षणत्वात् । एतदेवाह, अत इत्यनेन । यतः पृथुः सर्वकामो मोक्षकामश्चातस्त-  
त्यकरणनिरूपणार्थमेवेयं प्रक्रिया कृतेति ज्ञायते, न तु तत्प्रकरणमेवेत्यर्थः ॥ ११६ ॥

कामहेतुरिति, कामनाप्रयोजको हेतुः । कार्यमिति, तस्य साक्षात्कार्यम् ॥ ११४ ॥

तर्हीति, वक्ष्यमाणप्रकरणोद्भातरूपत्वे । तत्र चास्य सकामत्वादिति, ज्ञानसाध्ये मोक्षेऽस्य  
सकामत्वात् । तद्विलक्षणमिति । अधिकारविलक्षणत्वात् । एवं साद्धेश्चतुर्भिः प्रकरणार्थां  
निर्णीतः ॥ ११६ ॥

(अ० १३) एवं प्रकरणार्थमुपपाद्य मथमाध्यायार्थं विचारयति साधितेति ।

निबन्धः—साधिता कृष्णभक्तिर्हि पुत्रे वंशोऽथवा फलेत् ॥ ११७ ॥

नोपक्षीणा गौणफलादिति तद्वंशवर्णनम् ॥

प्रकाशः—ननु भुववंशवर्णनं कृतः । न च कस्याऽन्वयाय इति प्रश्नाद् भुववंश इत्येतावन्तैव तत्पुत्रिसम्भवात् । न च पुरुषार्थलीलाया निरूप्यत्वात्कामनिरूपणार्थम् । तथापि तद्वैषम्यार्थं च तेषु पुत्रावचरितनिरूप्यत्वादित्यत आह साधितेति । कृष्णपदेन भक्तिमार्गीया भक्तिः सूचिता । तस्या मुख्यं हि फलं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तद्व्यस्त्यनुवृत्तिश्च । तेन ब्रह्मानन्दान्तमपि फलं तस्या गौणमेव । अतो गौणं फलं साधयित्वापि मुख्ये कुण्डितशक्तिर्न भवतीति ज्ञापनार्थं भुववंशवर्णनमित्यर्थः । एतेन भुवभक्त्यैव तद्वो भगवान् प्रचेतस्त्व मुख्यं पृथादिषु च गौणं फलं साधितवानिति सूचितम् । अन्यथा कथमकस्मात्तादृशपदेशं शिवः कुर्यादिति ॥ ११७३ ॥

ननु ज्येष्ठकनिष्ठयोर्वैराग्ये को हेतुस्तत्राह कल्पेति ।

निबन्धः—कल्पोत्कलौ तस्य पुत्रो पूर्वपश्चाद्विभेदतः ॥ ११८ ॥

मुक्तौ तस्मात्तृतीयस्य राज्यमङ्गस्तु सप्तमः ॥

प्रकाशः—वरं प्राप्यागतस्य पूर्वानुतापेन विरक्ततात्तदज्ञायामुल्लसः कल्पोऽपितथैवाऽ-  
भूत् । राज्यभोगानन्तरजातवैराग्यदशायामुल्लस इति सोपि तथा । अत उभावपि  
मुक्तौ जाताौ एतदेवाह पूर्वपश्चाद्विभेदत इति । मध्ये रागदशायामुल्लसो वस्तर  
इति तस्यैव राज्यम् । ननु कथमन्येषां निर्दोषत्वमङ्गस्य च सदोषत्वमित्याशङ्क्य  
भगवत ऐश्वर्यादिगुणा यथासङ्ख्यं तेषु स्थिता इति तदज्ञया तेषां निर्दोषत्वम् ।  
अङ्गस्तु सप्तम इति तदज्ञाभावात्सदोषत्वमित्याशयवानाह, अङ्गस्त्विति । अत एवाऽपि  
दोषनिवृत्तिपूर्वकं स्वरूपेणैव भगवान् रक्षिष्यतीतिभावः ॥ ११८३ ॥

ननु तिम्रकेतुप्रभृतीनां वंशाः कुतो नोक्ता इत्याशङ्क्याऽस्य कामप्रकरणत्वा-  
त्तद्वंशे च केषाञ्चिद्देवत्वेन केषाञ्चिन्मुक्तिमार्गीयत्वेनाऽनानुपयोगात् निरूपिता  
इत्याह, अन्येति ।

निबन्धः—अन्यवंशास्तु नात्रोक्ता देवमुक्तिविभेदतः ॥ ११९ ॥

पूर्वत्राऽधर्मकरणप्रमादाद्भङ्गकर्तुं कम् ॥

अतःपरं त्रयोदशाध्यायमष्टमविचारयन्ति एवमित्यादि तदज्ञयेति । भगवद्वृणक्तवया रक्षया ।

प्रकाशः—तद्विदेशो व्यर्थ इति चेन्नैवम्, कालचक्राधिष्ठातृभ्रुवात्मजो हि वत्सरात्मक  
एव, स च दक्षिणायनोत्तरायणाद्यवयवभेदेन कश्चन कालो मुख्यपुत्रयोगी कश्चन  
कर्मापयोगीतितदवयवदेवतारूपा एवैत इतिज्ञापनाथेत्वात् । तेन तस्य वत्सरात्मकत्वं  
समर्थितं भवति ॥ ११९ ॥ अङ्गकृतार्थमस्वरूपमाह पूर्वमेति । यथाकालं धर्मकरणाभावा-  
लक्षणोऽधर्मो जातस्तत्र हेतुः प्रमादः । तेन स्वभावतस्तु धार्मिक इति सूचितम् ।  
पूर्वजकृतस्यास्मिन् प्रतिफलनमाशङ्क्याङ्गकर्तृकमित्युक्तम् । अत एव तदोषरूपस्य वेनस्य  
'न हीनव्यय' इत्याद्युद्धोष इतिभावः ॥ ११९१ ॥

तत्कार्यमाह येनेति ।

निबन्धः—येनाऽधर्मेण सम्बन्धो रुचिः सम्बन्ध एव च ॥ १२० ॥

वंशस्य धर्ममूलत्वात्पुत्रो नाऽभ्युत्सवभावतः ॥

प्रकाशः—अधर्मेण मृत्युना सह सम्बन्धः । अधर्मरूपायमेव तत्पुत्र्यां रुचिस्त-  
त्सम्बन्धश्च तत्सम्बन्धे वा रुचिरित्यर्थः । अरुचिरिति वा । देवतानामिति शेषः ॥ १२० ॥  
तस्या दोषज्ञानेनाङ्गस्य सम्बन्धाभावादेव पुत्राभाव इत्यत आह वंशस्येति । अत एव  
सम्बन्धस्यऽऽवश्यकत्वज्ञापनाय पूर्वमेवकारो दत्तः । स्वभावात् ऋतुकालीननिष्का-  
दित्यर्थः । तत्र हेतुः धर्ममूलत्वादिदिति । तद्वेदुषमर्भावश्चोक्त एव । अत एव  
सर्वमारकेण सह सम्बन्ध इतिभावः ॥ १२० ॥

तद्व्युत्सवभेदे कथं प्रवृत्तिरित्यत आह दोषाभावायेति ।

तदवयवदेवतारूपा इति । वत्सरात्मकवयवानुसंगसपक्षाधिष्ठातृदेवतारूपाः । न च ततः पूर्व  
केन तत्कार्यसम्पादोपदेशाङ्गम् । तत्तन्निद्रियन्यायेन मूलरूपैरेव तैस्तत्सम्पत्तेरिति । अङ्गकृतेत्यादि ।  
राजः कथमभूदृष्टाः प्रजा इति प्रश्नोत्तरस्य स 'बाल एव पुरुषः' इति श्लोकेनैव पूर्णसम्ब-  
धेय\* श्लोभेयमि'त्यादि सन्दर्भस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्यायामङ्गकृतार्थमस्वरूपताहेत्यर्थः । जात  
इति, अङ्गपूर्वजन्मनि जातः । इति सूचितमिति "तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः"  
इतिमूलवाक्ये सूचितम् । तत्कार्यमिति । अधर्मस्य दुःप्रजाजनने व्यापारभूतं कार्यम् ।  
रुचिरिति । परिणयान्तरकरणाभावोत्थेया तस्यामासाक्तिः । आहैति, तस्याः सम्बन्धे मानमाह । किं  
मानमित्यत आहः तत्रेत्यादि \* । उक्त एवेति, 'अस्येकं प्राक्तनमथं यदिद्विदृक्त्वमप्रज' इति वाक्ये-  
न सदस्यैरुक्त एव । अत एवेति वंशहेतुमूलधर्माभावादेव । सम्बन्ध इति जामातृत्वम् ॥ १२०३ ॥

\* अथद्वेदक एव वंशाभावो न तु सम्बन्धाभावेद्वेदक इति सदस्योक्तमेव सम्बन्धे मानमित्यर्थः । (इत्यधिकम्)

निबन्धः—दोषाभावायाऽश्वमेधः कृष्णार्थो मुक्तये तु सः ॥१२१॥

वंशाभावे न मुक्तिः स्यादुभयत्र प्रयोजनात् ॥

अतो न देवागमनमुभयार्थं तथा सुतः ॥ १२२ ॥

प्रकाशः—तर्हि कुतो न देवागमनं किमर्थं वा वैष्णव्यागः, अश्वमेधेनैव दोषनिर्हरणादित्यत आह कृष्णार्थ इति । “ सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ” इतिश्रुतौ पाप्मतरणस्योक्तत्वात्केवलस्य पाप्मादिनिवर्तकत्वं यद्यपि तथापि मर्यादायां “ नाऽपुत्रस्य लोकोस्ति ” इति श्रुतेर्वंशाभावे सा न स्यादिति भगवदर्थ-करणेनैव दोषनिवृत्तिपूर्वकं वंशो मुक्तिश्च भवतीत्युभयत्र प्रयोजनसत्त्वात्कृष्णार्थः स इति पूर्वेण सम्बन्धः । यतो दोषाभावाद्यर्थेन पूर्वं स क्रुतो न भगवदर्थो दोषश्च बलिष्ठोऽतो देवानागमनमित्याह, अत इति । ननु श्रुतेः का गतिरिति चेदुच्यते, आधिदैविकपाप्मतरणं तु भगवदर्थेनादेव तस्माच्छ्रुतिराह । अन्यथा अश्वमेधेन दोषनिवृत्तिः, दोषानिवृत्तौ च देवाग्रहसाहित्येन तत्सम्पत्तिरित्यन्योन्याश्रयेण श्रुत्यर्थवाधमसङ्गात् । आधिभौतिकादेः केवलादपि भवतीति भावः । नन्वेवं सति कथं तादृशसुतोऽप्यचिरत आह, उभयार्थमिति । अङ्गस्य निर्दोषत्वात् तद्दोषमादायोत्पन्न इति दृष्ट इत्यर्थः । वंशार्थं सुत इत्यर्थः । अन्ययोरुभयधनेनैवास्मादेव तादृश एव कथिद्भवेत् । तथा च वंशो न स्यादिति भावः ॥ १२२ ॥

ननु वैष्णवचरुभक्षणेन जातस्य सदोषत्वं कथमित्याशङ्क्याह चरोरिति ।

तदेव सदस्यैः ‘रीहक्’ पदेन सूचितम् । अन्यथा यदिह त्वमप्रज इत्येवता एवोत्तरसम्भवे ‘इदागि’ति न बदैद्युः । एवं सति मृत्युजामातृत्वसुनीधासम्बन्धो न्यापारोक्त्य पूर्वजन्मीनेन काल-पराधरूपेणाऽधर्मेण प्रजाया अभाव इति फलति । तर्हीति । मृत्युजामातृत्वादिना अधर्मसंसर्गे सति । दोषाभावायेति अधर्मसम्बन्धदोषानिवृत्तये । आधिदैविकपाप्मतरणमिति । मुक्तिप्रतिबन्धकपाप्मतरणम् । दोषनिवृत्तिरिति, देवागमनप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिः । आधिभौतिकादिरिति, एतज्जन्मीनस्य कारिकादिभेदेन त्रिविधस्य । केवलादिति, पाप्मनिर्हरणार्थात् । तथा च, दोषस्य पूर्वजन्मीनतयाऽऽध्यात्मिकत्वेन बलिष्ठत्वादश्वमेधेन तस्यानपायादेवानामागमनमिति भावः सिद्धयति । नन्वेवं सतीत्यादि । सदस्यवाक्ये

निबन्धः—चरोः फलं पौत्रेऽभूदोषः पुत्रे प्रतिष्ठितः ॥

शीघ्रं मुक्तिस्तथा वंशो दोषाभावश्च सिद्धयति ॥ १२३ ॥

प्रकाशः—दोषचरुफलयोर्मिथोविरोधेनैकत्राऽसम्भवेनाधुना चाङ्गदोषाभावस्यावश्य-स्यकत्वेन दोषः पुत्रे चरोः फलं पौत्रे प्रतिष्ठितमभूदित्यर्थः । एवं सति को विशेष इत्यत आह शीघ्रमिति । पुत्रदौष्ट्येन शीघ्रं वैताप्याच्छीघ्रं मुक्तिः ॥ १२३ ॥  
ननु पुत्रे सति तदन्वेषणं कुत इत्यत आह, सशान्तेति ।

निबन्धः—सशास्त्रागमनाह्लोकै रक्षकाभावतोऽपि हि ॥

अन्वेषणमुपेक्षा तु ऋषीणामङ्गमुक्तये ॥ १२४ ॥

हेतुस्त्वनेन संसिद्धः सर्वेषां कामनां प्रति ॥ १२४ ॥

प्रकाशः—शासनं शास्त्रं प्रजानुशासनलक्षणो राजधर्म इतियावत् । राजा हित्यागं कुर्वन् पुत्रे तं धर्मं स्थापयित्वा गच्छति । तेनैव च तस्य राजत्वं भवति । अङ्गस्य च तदकरणेन तत्सहितस्यैव गमनादन्वेषणमिति सम्बन्धः । ननु युद्धनिहतपितृ-राज्यवदस्याऽप्यावश्यकत्वेन पुत्राय राज्यदानमेवोचितम्, न तदन्वेषणमित्यत आह रक्षकाभावत इति । वेनस्याऽरक्षकत्वेन ज्ञानादिति भावः । ननु ऋषीणाम-लौकिकज्ञानवत्त्वेन कुतो नाङ्गज्ञानमित्यत आह, उपेक्षेति । आगत्य तादृशाय राज्यदाने तत्कृतप्रजाद्रोहादिदोषेणाङ्गस्यापि दोषसम्भवेन मुक्तिर्न स्यात्सर्वं राज्यवर्त-णेपि तथेति तदर्थं तथेत्यर्थः ॥ १२४ ॥ अध्यायार्थस्युपसंहरति हेतुस्त्विति ॥ १२४ ॥

( अ० १४ ) श्रुतीवाध्यायार्थं विचारयैस्तत्र भूत्वादीनां सर्वज्ञत्वेन वेनकृत-भाल्युपद्रवाभिज्ञत्वात्तदेव (तत्कृतप्रजानाशदक्षिणेन) तद्वर्षादिमथनमेव युक्तं न तु तादृशाय राज्यदानमित्याशङ्क्याह, अन्यथासिद्धीति सार्धेन ।

“ आराधितो यथैवैव तथा पुंसां फलोदय ” इति वाक्यदोषश्रवणादपत्येदेव हविर्ग्रहणरूप-कार्यद्वयार्थत्वेन निर्यधमानो वैष्णव्यागो, ‘यथैवा यज्ञे प्रायश्चित्तः क्रियत इष्ट्वा वसीयान् भवती’ति वाक्यदोषाश्रयाश्चित्त्वेन पश्यसित इति । तेनाध्यात्मिके पापे निवृत्ते कथं तादृशसुतोऽप्यचिरत आह, उभयार्थमिति । यतो विष्णुयागः स्वदोषाभावायै पुत्रार्थं च । अन्यथेत्यादि, यागस्य पुत्रमात्रार्थत्वे अङ्गादेव निषादतुल्यः कोपि स्यात्तथा सति मुक्तयुगयोगी वंशो न स्यादित्यर्थः ॥ १२४ ॥

एवमष्टभिन्नयोदशाध्यायो विचारितः । विचारयमिति षड्विचारयन् ।

निबन्धः अन्यथासिद्धिद्वाङ्गायां वारणायोपपत्तये ॥ १२५ ॥

सर्वज्ञा भृगुमुख्या हि मातृमात्रार्थसम्मतम् ॥

वेनं तु भूपतिं चक्रुर्ज्ञात्वा पूर्वार्घनिष्कृतिम् ॥ १२६ ॥

प्रकाशः—तदनभिषेकेण तत्कृतप्रजानांशादर्थनेन मथनेन पूर्वार्घ्यायोक्तसर्वकामनाहेतु-  
भूतरक्षकाभावेऽन्यथासिद्धिद्वाङ्गा स्यात्कारणाय वेनं भूपतिं चक्रुरितिसम्बन्धः ।  
सामान्यं हेतुमुक्त्वा विशेषमाह, उपपत्तय इति । अयमर्थः । वीरस्य तस्याऽभूत्सर्वायां  
मथनासम्भवेनाऽकृतद्रोहे च तस्मिंस्तयाकर्तृमयुक्तत्वेन लोके चाऽपकीर्तिसम्भवेन सर्वमथया  
स्यादित्यग्रिमसर्वकार्योपपत्तये सर्वज्ञत्वेन तथैव भगवद्वतारादिकं ज्ञात्वा तथा चक्रुरिति ।  
तथापि तत्कालीनधर्मनाशेऽप्यसहिष्णुत्वेन तेषामसमतिरेवेतिज्ञापनार्थं मातृमात्रार्थ-  
सम्मतमित्युक्तम् । मातृरेव सम्मतम् । तत्राऽपि न सर्वात्मनेत्यर्थः । तर्हि कोऽभिमाय  
ऋषीणामित्यत आह ज्ञात्वेति । स्वकार्यकरणेनाऽप्यस्योपपत्तयं ज्ञात्वेत्यर्थः । अन्यथा  
तद्वेश एवाऽनुवर्ततेतिभावः । अस्त्यस्मिन्नेन्द्रयं राजांशो दोषांशश्च । तुशब्देन  
दोषांशो व्यवच्छिद्यते । तथा च राजांशमादायाऽभिषेको युक्त इति हिशब्दार्थः ॥ १२६ ॥  
तथापि दोषस्यैवोग्रत्वात्कार्यमेवाभुदित्याह धर्महानिरिति ।

निबन्धः धर्महानिस्ततोऽप्यासत्कामानर्थश्च सूचितः ॥

अधर्मस्थापनं कार्यं धर्माभावे स्वतो हि तत् ॥ १२७ ॥

प्रकाशः—ततः, अभिषिक्तराजांशादर्थोपत्यर्थः । सर्वकामस्वरूपनिरूपणे लोकोपद्रव-  
निरूपणेन कामस्याऽनर्थतापि सूचिता । “एते पश्वदज्ञानधर्माः” इतिवाक्यात् ।  
उक्तसमुच्चयार्थः । अध्यायायमप्यनुबदनं दोषस्याऽसाधारणं कार्यमाह, अधर्मेति ।  
ननु ‘न यद्यन्मि’त्यादिना धर्मवाध एवोक्तो न त्वधर्मोपीत्यत आह धर्माभाव इति ।  
धर्मेणैव हि धर्मरक्षा तदभावे तथात्वं युक्तमेवेत्युपपत्तिं हिशब्देनाह ॥ १२७ ॥  
तेन लौकिकालौकिकनाशं जात इत्याह, उपद्रव इति ।

निबन्धः उपद्रवो धर्महानिस्तस्मादयमभूमन्महत् ॥

आधिक्यदोषाभावाय स्वकृतत्वान्नवारणम् ॥ १२८ ॥

नाशादशनेनेति, अत्र नाशादशने उरुमथनेनेत्येतदयोश्चित्प्रतिप्रतिमाति । अन्यथा  
सिद्धीति, मथनस्यान्यथासिद्धिम् । पूर्वार्घनिष्कृती हेतुं व्याकुर्वन्ति, स्वकार्यकरणेनेति ।  
॥ १२७ ॥ १२८ ॥

प्रकाशः—तस्मादधर्मस्थापनादित्यर्थः । अराजकदशातोऽप्यऽधिकमितिज्ञापनाय मह-  
दिति । तस्याधिक्ये लोकानामन्त करणनिष्ठोऽपि धर्मो गच्छेदिति तदभावाय  
निवारणवाक्यानि धृतीनामित्याह, आधिक्येति । ननु धृतीनां सर्वज्ञत्वेन तदाग्रहस्यापि  
ज्ञानात्कृतो निवारणं प्रवृत्तिरित्यत आह स्वकृतत्वादिति । वेनराजस्य स्वकृतत्वात्  
“कृतः शास्त्रनुज्ञातः” इत्याद्येन तदोषः स्वस्मिन्नाप्यगच्छेत्कारणे स  
दोषो गच्छतीति तथाकरणमित्यर्थः ॥ १२८ ॥

ननु “नराणां च नरेन्द्रोद्यमः” यदसी लोकपालानां विभक्त्योऽजः  
स्वतेजसा” इत्यादि वाक्यसम्भवा वेनोक्तो धर्म एवेत्यत आह अधर्मेति ।

निबन्धः—अधर्मकरणयैव च्छलवाक्यपरिग्रहः ॥

अयमेव हि पापण्डो लेडोनाऽखिलवाधनम् ॥ १२९ ॥

प्रकाशः—विमैस्तु देवाहेलनमुपदिष्टम् । धर्मरक्षार्थं तस्मिंस्तत्सांनिध्यार्थं च । त  
सर्वेषां मध्येव सत्त्वान्मद्योगेनैव तत्सन्माननं भवित्यतीति अधर्मशास्त्रारूपेण छलेनाऽधर्म-  
करणार्थमेव तद्वाक्यं परिगृहीतवानित्यर्थः । विभृतिस्ववाक्यं चेद्याद्विधर्मकरणेनाऽऽवि-  
ष्टेष्वरांशपरम् । अत एवेन्द्रपदम् । तेन न तत्सम्भवेतिरितिभावः । अस्तु वाऽभिषेकमात्रेणैव  
देवसांनिध्यं तथापि तदुक्तस्त्वधर्म एवेति वक्तुमधर्मलक्षणमाह अयमिति । यथा  
“न हिंस्यात्सर्वभूतानि” इतिश्रुतिलेडोनाऽखिलश्रुतिकर्मकाण्डस्य वाधनं कृत्वा  
क्रियमाणधर्मस्याऽपि पापण्डवमेव वाधाऽनायम् । तथा देवतेजोलेडोने स्वनिष्पेना-  
खिलतद्वाधनमित्यस्यापि पापण्डवत्वाधर्मत्वमेवेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

राजहननस्य दोषावहत्वमाशङ्क्याह यथा पूर्वैत्येति ।

निबन्धः—यथा पूर्वस्य करणान्मारणेऽपि न दूषणम् ॥

मथनं ज्ञानतो युक्तमदोषायाऽधमाङ्गके ॥ १३० ॥

प्रकाशः—“स एष जीवन् खलु सम्प्रतः” इति वाक्याद्धनानापूर्वमपि तस्य जीवन्मृत-  
त्वाहणीणां तथा करणं न दोषायेत्यर्थः । ननु मृतदेहस्याऽमङ्गलस्य मथनं राजवंशार्थमयुक्तं  
मनीषितोत्पत्त्यसम्भवाच्च । न हि जलमथनेनाऽग्निस्मभव इत्यत आह, मथनं  
ज्ञानत इति । तस्मिन् राजांशसञ्चनधारणं बहिस्तिरोहितमन्तश्चैतन्यमस्तीति  
ऋषीणां ज्ञानाद्वाव्यर्थज्ञानाच्च तद्युक्तमित्यर्थः । एते‘नैकदे’त्यारभ्य श्लोकाष्टकान्तर-  
प्रकरणार्थं उक्तः । पूर्वमूकमथनेन तेषामज्ञानमाशङ्क्य तत्र हेतुमाह, अदोषायैति ।  
अस्तु वेति यदसी लोकपालमितिवाक्यादस्तु वा ॥ १२९ ॥

सदोषस्य मधने पुनः स एव दोषो भगवद्शासम्भवेति ज्ञात्वा दोषाभावात् ।  
“ ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यं मेध्यमर्वाचीनममेध्यम् ” इति श्रुतेर्दोषाश्रयत्वात्तदस्म्य  
तत्रैव तथाकरणमित्यर्थः ॥ १३० ॥ बाहुमधने हेतुमाह क्षत्रिययत्वेति ।

निबन्धः—क्षत्रियत्वप्रसिद्धयर्थं कामं बाहोस्तु मन्थनम् ॥

अप्राकृतत्वसिद्धयर्धमाविर्भावो हरेस्तनौ ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—हृदयादिप्रथमे नारायणवत्सातन्त्र्येणावतारे धर्मरक्षासम्भवेऽप्यक्षत्रियत्वेन  
तदंशरक्षा स्यादिति तत्सिद्धयर्थं शात्रवर्धनार्थाह मन्थनमित्यर्थः । तुशब्देन पूर्ववत्स-  
दोषत्वं व्यावृत्तम् । ननु बाहोर्मधने को हेतुस्तत्राह काम इति । कामप्रकरणे  
सतीत्यर्थः । कामस्य मिथुनसाध्यत्वादिति भावः । अथवा काम इति निमित्तसमर्थम् ।  
तथा च कामनिमित्तं स्वकामसिद्धयर्थमित्यर्थः । राक्षं बाहुभ्यामेव कामपूरणमिति तथा ।

( अ. १५-१६ ) तर्हि लोकरक्षायै तत्पुत्रमजापेक्षया भगवत्याहुर्भावे को हेतुः । तस्याश्च  
तावतैव सम्भवादित्यत आह, अमाकृतत्वेति । प्राकृतत्वे प्राकृतराजगुणत्वेनैतमित्यता  
व्यापादित इति ज्ञात्वा प्रजासु द्वेषमेव कुर्यादिति नेष्टसिद्धिः स्यात् । अतस्तदभावाय एषो-  
स्तनौ हरेराविर्भाव इत्यर्थः । एवं चाऽप्राकृतगुणवत्त्वेन सर्वेषुसिद्धिरिति भावः ॥ १३१ ॥

अभिषेकसम्बन्धिकृतिऋष्युत्तयोः प्रयोजनमाह कृतीति ।

निबन्धः—कृत्युक्तिभ्यां गुणोद्रेको वारणं च गुणाय हि ॥

कामपूरणसम्बन्धात्प्रसादोऽन्यत्र कीर्त्तितः ॥ १३२ ॥

भविष्यमुक्तं बोधाय ह्याद्यदोषत्वमन्ययोः । १३२ ॥

प्रकाशः—उद्रेकः सहजानामेव राज्यगुणानां तत्कृत्या वाचा चाधिक्यं  
जातमित्यर्थः । पृथुकृतसूतादिवारणं च तथा । क्षुद्रो हि समक्षं स्तावयति । महौस्तु  
लज्जत इति भगवदावेशात्तत्त्वं युक्तमिति हिशब्देनाह । ननु स्वस्मिन्कृपया  
रक्षार्थमाविर्भावमनुकृत्वा लोकैस्त्वेव तन्निरूपणं मुनिभिः सूतादिभिर्वा कृत इत्यत आह

एवं बाहोस्तु मन्थनमित्यन्तेः षड्भिश्चतुर्दशाध्यायो विचारितः, द्वाभ्यां  
पञ्चदशपोडशयोरर्थमाहुः तर्हि लोकैस्त्यादि ॥ १३१ ॥

अभिषेकसम्बन्धिकृतिऋष्युत्तयोरित्यादि । ननु यत्र रूपेण प्रयत्नो रक्षायावत्सात्त्विकेतावान्सम्भ्रमः  
कुतोत्रेत्याकाङ्क्षायां “तस्मै जहार भनद” इत्याद्युक्तदेवाविकृतिपोडशारम्भायुत्तयोः प्रयोजन-  
माहेत्यर्थः । तत्कृत्येत्यादि । तथाचिन्द्रप्रेषयात्राधिक्यबोधनाय तदित्यर्थः । स्वस्मिन् कृपयेति,  
मुन्यादिषु कृपया । तन्निरूपणमिति, कृपया प्रसादनिरूपणम् । एवं षोडशभिश्चतुर्दशाध्यायी-  
विचारेणाविर्भावप्रकरणं विचारितम् ।

कामेति । कामपूरणलक्षणः सम्बन्धो लोकेष्वेवेति तेष्वेवाऽनुरञ्जनादिरूपः प्रसाद  
उक्त इत्यर्थः ॥ १३२ ॥ मुनीनां स्वतोऽकथनेऽप्ययमेव हेतुरिति ज्ञेयम् । बोधाय आवेशो-  
द्बोधायेत्यर्थः । दोहनादिभविष्यस्याऽऽविष्टकार्यत्वादिति भावः । इदमेव हिशब्देन  
सूच्यते । ननु सूतस्य पौराणज्ञानवत्त्वेन भविष्यज्ञानं युक्तं न तु मागधचन्द्रनोरित्यत  
आह, आद्यति । आद्यः सूतः । शेषः त्वगुपजीवकत्वं तत्पश्चाद्भावेन कथकत्वमिति  
यावत् । अन्ययोर्मागधचन्द्रनोः ॥ १३२ ॥

( अ. १७-१८ ) ननु पृथुचरित्रस्य पूर्वमेवोपक्रान्तत्वात्मैत्रेयस्याऽतुर्णाम्भावेपि मध्ये  
विदुरमश्रोऽयुक्त इत्याशङ्क्योपक्रान्तत्वेपि विदुरस्य वैष्णवत्वेनाऽलौकिकाविष्टभगव-  
त्त्रिरस्यैव मुख्यतया श्रोतव्यत्वेन को वेद मैत्रेयः सामान्यचरित्रमेव वेदित्वाशङ्क्य  
विशेषमत्र इत्याशङ्क्याह, अलौकिक इति ।

निबन्धः—अलौकिके हि सम्प्रश्नो ज्ञात्वैष्यं तत्तथाऽकरोत् ॥ १३३ ॥

आविष्टकृतिरेषा हि सर्वमेतेन सिद्ध्यति ॥ १३३ ॥

प्रकाशः—ननु देवत्वेन स्त्रीत्वेन सर्वोपजीव्यत्वेन च श्रुवो मारणोयोगो न युक्त  
इत्यत आह, ज्ञात्वेति । एवं कृते भयेन गोरूपधारणे सर्वं कार्यं भविष्यतीति  
सर्वमागमि ज्ञात्वा तत्कामपूरणं प्रजानां तथा शरसन्धानेनाऽकरोदित्यर्थः ॥ १३३ ॥  
तथा कृतिसामर्थ्यं उपपत्तिमाह, आविष्टेति । ननु ऋष्यादीनां तथा सामर्थ्यं कथं  
तत्रावेशाभावादित्यत आह, सर्वमिति । अनेनैवावेशेनेत्यर्थः । अत एव मूले  
‘पृथुभाविता’मित्युक्तम् ॥ १३३ ॥

( अ. १९ ) एवं पूर्वं सर्वं कामपूरणप्रकरणं निरूप्य स्वकामसाधनप्रकरणं  
विचारयैस्त्वत्र प्रथमतोऽन्धमेधस्य तथापि शतावधिकस्य करणे को हेतुरित्याशङ्क्य तत्र  
हेतुमाह स्वकाम्यानामिति ।

निबन्धः—स्वकाम्यानां हि सर्वेषां शुद्धिराद्या तदुद्भवे ॥ १३४ ॥

अश्वमेधाश्च चाऽन्यद्विंशतान्नाऽस्यधिका कृतिः ॥ १३४ ॥

प्रकाशः—स्वकाम्यानां सर्वेषां पदार्थानां मध्ये आद्या प्रथमतः कामविषया

अतः परमध्यायविशिष्टं सर्वकामप्रकरणं विचारयन्त एकेन सप्तदशाष्टदश-  
योरर्थमाहुः ननु पृथुचरित्रेत्यादि ।

अतः परं साद्धौनर्विशतिभिः स्वकामप्रकरणं विचारयन्तः साद्धैः षड्भिर्हनु-  
विंशत्याध्यायं विचारयन्ति, एवं सर्वेत्यादि ।

शुद्धिरित्यर्थः । शुद्धो हि यत्करोति तत्सिद्धयति । अतस्त्वसिद्धयर्थं किं कार्यमित्यपेक्षया सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः । “सर्वस्य भेषजम्” इति श्रुतेः । कामसाधनशुद्धयुद्धये लक्ष्मिभेदादन्वत्साधनं कर्म न सम्भवतीत्यन्वयेथकरणमित्येषः । शुद्धयर्थ-मन्त्रमथानां शतादधिका कृतिनाऽपेक्षितास्तीति तावत्करणमित्यर्थः ॥१३४॥

ननु “ततः सप्तम आहूत्यां रुचैर्षेष्टोऽभ्यजायत” इति वाक्यात्कलावतारत्वेनाऽप्येन्द्रस्य विप्रकरणमयुक्तमित्यत आह पूर्णं इति ।

निबन्धः—पूर्णं पाक्षिकदोषत्वाद्यज्ञेन विनिवारणम् ॥ १३५ ॥

निबन्धः—निष्कामत्वादागमनमुक्तमत्वाद्धरेः स्वकैः ॥

तस्मात्सर्वगुणोद्भेदस्तेन सर्वोत्तमो मखः ॥ १३६ ॥

प्रकाशः— इन्द्रत्वे हि द्रव्यं प्रयोजकं शताश्वमेधित्वं सकामत्वं च । अत्र सकामत्वाभावेपि शतसद्व्याकं पूर्णं तस्मिन् जाते पक्षे इन्द्रत्वमप्युच्यते भवेत्तत्र विरुद्धमिति पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति न्यायाद्यज्ञानान्नेन्द्रेणाऽश्वहरणरूपं निवारणं कृतमित्यर्थः । सतेवकमगवदागमने हेतुं वदन् पक्षे सिद्धिमेव साधयति निष्कामत्वादिति । उच्यते त्वाद्भक्तत्वादित्यर्थः । तथा च निष्कामत्वाद्धरेरागमनमुक्तमत्वात्स्वकैः सहैति योजना । सर्वेषां भगवद्गुणानामैश्वर्यादीनां सर्वेषां ब्रह्मादीनां राजसतामससात्त्विकैस्तन्मिश्र-निर्गुणानां भक्तानां च गुणानामुद्भेदः प्राकट्यं यजेति तथा । एतेनेन्द्रत्वस्य कर्मफलत्वेन कर्मणस्तुल्यत्वेन च स्वस्य च प्राप्तफलत्वात्त्वोपमद्वैकल्यशक्त कथमिन्द्रस्येति निरस्तम् । उत्करीत्या अनुल्यकर्मत्वादिति भावः ॥ १३६ ॥

निबन्धः—राज्यस्य दोषरूपत्वात्सिद्धे धर्मे महेन्द्रताम् ॥

इच्छेदिति हि पाषण्डाः सृष्टा यैर्नाशिते मखे ॥ १३७ ॥

लोके पापप्रवृद्धयापि राजा स्वर्गं न गच्छति ॥

इति बुद्ध्या तथा चक्रे द्वेषेण सुतरां तथा ॥ १३८ ॥

चित्ताशुद्धिर्दृढा तस्मादतो ब्रह्मनिवारणम् ॥

प्रकाशः—नन्वस्त्वेवं तथापि धर्मरक्षकत्वेन तस्य तत्राज्ञकपाषण्डप्रचारणं वेवधारणेन कृत इत्यत आह सिद्धे धर्मे इति । यथा कथञ्चिद् ब्रह्मणो वाक्यैरश्वमेध-सिद्धावपि तदर्थं सिद्धे तथात्वमित्येवंचेत्तदापि स दोष इति पाषण्डाः सृष्टा

पक्ष इति, शताश्वमेधमात्रकरणस्य प्रयोजकत्वक्षये । साधयतीति, अतस्तदेव हि फलं कामाभावेपि सिद्धयतीति न्यायात्साधयति । स इति द्वीन्द्रापविरूपः ।

इत्यर्थः । ननु कं निष्कामत्वमतोऽतिशुद्धान्तःकरणे कथं तदिच्छाशङ्केत्यत आह राज्यस्येति । एकदोषसत्त्वेन योग्यता निरूपिता तेनायिमदोषोत्पत्तिशङ्केति-भावः । ततः किमत आह वैदिति । यैः पाषण्डैरुपचरैरेव मखनाशे सति कारणाभावादेव राजा स्वर्गं न गच्छति । पश्चात्प्रचारे लोके पाषण्डादौ तत्पापस्य राक्षि सङ्ग्रामणेनाऽपि तथैतिमकारिकया नुदुष्या तथाऽकरोत् । ननु शुद्धः प्राचुर्यकरणे को हेतुस्तत्राह द्वेषेणेति । वारद्वयकरणेऽप्यनिवृत्तौ यागस्य मत्स्यान्वयेव निवृत्ततीति ज्ञानेन द्वेषे जाते तेन सुतरां पाषण्डप्रवृत्तिं कृतवानित्यर्थः । अत एव प्रयोषिताशुद्धिर्जाता । तस्मिन् द्वेषरूपा मारणाधिका । ब्रह्मसन्धानेऽप्यगमनाद् दृढा । अत इति । यत्किञ्चिद्दुद्धिमिचिच्च क्रियमाणे यागे पूर्वरीत्योचरोत्तरं चित्ताशुद्धिरेवाऽवो ब्रह्मणा यागस्य निवारणं कृतमित्यर्थं ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

ननु ब्राह्मणानामपि सर्वज्ञत्वाद्ब्रह्मत्वत्त्वं एव निवारणं युक्तम् । तत्कथं वधोयोग इत्यत आह ब्राह्मणानामिति ।

निबन्धः—ब्राह्मणानां वधोयोगो मखरक्षार्थमेव हि ॥ १३९ ॥

पश्चात्सिद्धिर्ब्रह्मवाक्यादेकन्यून्येऽपि साङ्गता ॥

शङ्क्यैव न पूर्णत्वमनुज्ञातं शुचिस्ततः ॥ १४० ॥

प्रकाशः—मखनाशकामूलकपाषण्डमूलतादस्य वधे समूलकपाषण्डनाशेन मखरक्षा भविष्यतीति तथा । एवकारेण प्रयुक्तवैतयामपि चित्ताशुद्ध्या द्वेषेण तथाकृतिशङ्का निवारिता । तत्सम्पादकत्वाच्चक्षणं युक्तमिति हि शब्दाथैः । ननु तदमारणात्पाषण्ड-नाशुत्पत्त्या च पूर्वकृतानामपि यज्ञानां सर्वथा नाश इत्यत आह पश्चादिति । “प्रयुक्तीर्षेः प्रयोषेयात्कंकोनशतक्रतुः” इति वाक्याद्यज्ञानां सिद्धिरित्यर्थः । एवमपि शताश्वमेध-दीक्षाया अपूर्णत्वेन निरङ्गत्वात् तैः फलमित्यत आह एकेति । ब्रह्मवाक्यादित्युपमयाऽनु-बध्यते । तथा च “माऽस्मिन्महाराज कृपाः स्म चिन्ताम्” इति ब्रह्मवाक्या-देकन्यून्येऽप्येकोनाश्वमेधसते साङ्गतेत्यर्थः । ननु साङ्गतानुज्ञावच्छतप्रचिरं कृतो नोकेत्यत आह शङ्क्येति । स तथा सति तस्मिन्नेद्रे दोषदृष्टिसादृश्यं स्वयमेवेन्द्रो भवेदिति शङ्क्येत्यर्थः । अध्यायायिष्युपसंहरन् फलितमाह सुचिरिति ॥ १४० ॥

ततः किमिति. पाषण्डनिर्माणतः किम् । अत एवेति पाषण्डनिर्माणदेव । ब्रह्मसन्धान इति, ब्रह्मणा क्रियमाणे सन्धाने । तत्सम्पादकत्वाच्चक्षणं युक्तमिति, ब्राह्मणानां यज्ञसम्पादकत्वाच्चक्षणं युक्तम् ॥ १४० ॥

(अ. २०) अग्निमाध्यायार्थं विचारयन् भगवदुक्तौ हेतुभूतं भगवत्तत्पर्य-  
माह तत्रेति ।

निबन्धः--तत्रैवाऽऽसक्तचित्तस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥

इति कृष्णः स्वयं प्राह युक्तिपूर्वं हि तं मितम् ॥१४१॥

प्रकाशः--ब्रह्मणा कृतेपि सन्धाने द्वेषागमने कर्मासक्तेरेव प्रयोजकत्वात्कर्माणां च  
स्वतः कार्यतश्च सौभजनकत्वाच्छान्त्यभावेऽग्निप्रज्ञानानधिकारः स्यादिति तन्निर-  
त्यर्थं युक्तिपूर्वकं प्राहेत्यर्थः । फलरूपेणैव साधनसक्तिनिवारयितुं शक्येति ज्ञाप-  
नाय कृष्णपदम् । अत एव यन्ननिवारणवदमे ज्ञानोपदेशवचनान्येनैव न बोधन-  
मपि । अशेषोक्तौ तन्निप्रज्ञानोपदेशवैयर्थ्यापादाद्बुधैर्नैव च युक्तिसम्भवादितरकार्या-  
सिद्धिः स्यादिति मितं प्राह । यावत्कर्मासक्तिनिवारणोपयोगि तावदेवेत्यर्थः ।  
कर्माणां विहितत्वेन तदासक्तिनिवारणमस्याऽहितमित्याशङ्क्याव्युदासाय हितपदम् । तेन  
पुष्टिभागैऽस्य प्रवेष्टनं सूचितम् । अत एव यागविघ्नोपीतिभावः ॥ १४१ ॥

ननु वाक्यैरेव द्वेषहेतुपगमे पुनरिन्द्रेण सह सन्धानं व्यर्थमित्यत आह  
वैमनस्येति ।

निबन्धः--वैमनस्य निवृत्त्यर्थं सन्धानं छन्दनं वरे ॥

शुद्धिसीमाविबुद्ध्यर्थं स्तोत्रं तस्यास्तु बोधकम् ॥ १४२ ॥

प्रकाशः--ब्रह्माभाषेपि मनोऽग्नेलनेन मोत्यभावे कालान्तरे पुनरुद्धतः स्यादिति  
तन्निरत्यर्थंभयोः सन्धानमित्यर्थः । ननु भगवत्सद्बुद्धयश्चत्वेऽपि “ वरं  
च मत्कञ्चन ” इति वचनं कृत इत्यत आह छन्दनमिति । शुद्धेन्तःकरण-  
शुद्धेर्या सीमा मर्यादा क्रियती शुद्धिः सम्पन्ना सम्पूर्णा न वेति यावत् ।  
तद्वोधार्थमन्येषां लीलया स्वस्य च वरे छन्दनमुक्तमित्यर्थः । अत एव तस्याः शुद्धेर्बोधकं  
स्तोत्रमये निरूपितमित्याह स्तोत्रमिति । तुनाऽत्यशुद्धिबोधनपक्षो व्याहृतः ॥ १४२ ॥

एवं सादैंः षड्भिरुनिर्विशाध्यायं विचार्य चतुर्भिर्विशाध्यायं विचारयन्ति ।  
अग्निमेत्यादि । द्वेषागमन इति, “ मनोनापि सन्दध ” इतिवाक्ये च शब्दने समुच्चय-  
लाभादपैवैयर्थ्यमिति तत्प्रयोगः सन्धाने गार्होबोधनार्थः । सा च द्वेषानपगम इति तयोक्तम् ।  
अन्यैर्नैवेति, युक्तिविशेषेणैव ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

निबन्धः--अत एव वरो दत्तो भक्तिराज्ञासितं तु यत् ॥

राज्यभोगादिसिद्धयर्थं मर्यादापालनाय च ॥ १४३ ॥

प्रकाशः--अत एवेति । यतः कारणात्तद्योग्या शुद्धिर्ज्ञाताऽतो भक्तिरज्ञातो वरो दत्त  
इत्यर्थः । अन्यच्च यदार्थासितं पृथोः स्वस्य च तदपि दत्तम् । शुद्धान्तःकरणस्य  
मात्प्रभेकरन्यदानमनुचितमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह राज्येति । केवलभक्तिदाने  
राज्यभोगमेव न कुर्वात्तस्याश्च स्वतन्त्रत्वान्मर्यादां च न पालयेथया चावतारवैयर्थ्यं  
स्यादितिभावः ॥ १४३ ॥

नन्वापदेशेन मर्यादापालनादिकं संस्यत्यपेशवता च भक्तिरित्युभयसम्भवे  
कृतो न तथेत्याशङ्क्य भक्तेर्दुर्लभत्वं वक्तुं तत्साधनान्याह सत्सङ्ग इति ।

निबन्धः--सत्सङ्गे सर्वविज्ञाने त्यागसाधनसेवया ॥

अतिनिष्ठं गतस्यैव भक्तिर्भवति नाऽन्यथा ॥ १४४ ॥

अत एवातिसौभाग्यवर्णनं तत्परस्य हि ॥

प्रकाशः--पूर्वं सत्सङ्गे जाते तदुपदेशेन सर्वतत्त्वविज्ञाने च जाते त्यागसाधनानां  
फलाननुसन्धानेन कृतयथोक्तकर्माणां ब्रह्मसांकरणदोषदर्शनपूर्वकं विषयानसक्ति-  
मशुदीनां सेवया निरन्तरकरणेन वैराग्ये जातेऽपि भगवदाज्ञापतिपालनाय तदधीनतया  
सर्वकरणेनाऽतिशयितां निष्ठानं प्राप्तस्यैव भक्तिर्भवतीत्यर्थः । “ राजन्मयि भक्तिरस्तु  
ते ” इतिभगवद्ब्रह्मण्येऽप्येतदेव तात्पर्यविवय इति ज्ञेयम् । नचैवं वरस्याऽपयोजकत्वं  
साधनसम्पत्तावपि तदनुग्रहमन्तरेण भक्त्यनुपत्तः । न चाऽऽवश्यकत्वात्प्रायसाऽनु-  
ग्रह एवाऽस्तु कृतं साधनैरितिवाच्यम् । तेषां स्वरूपयोम्यतासम्पादकत्वात् । इत्यने  
हि सहकारियोम्यतायां सत्यामपि स्वरूपयोम्यताभावे कार्यानुत्पत्तिः शिलाशकलादिषु,  
तस्यामपि सत्यां तदभावे कार्याभावः कुशलस्थवीहिषु । ननु नेतरसापेक्षतानुग्रह  
इति चेत्सत्यम् । भगवानेव भक्तिदित्सायां तादृशीं स्वरूपयोम्यतां सम्पाद्य  
तादृशानुग्रहं करोति । अत एव “यमूर्ध्वं निनीपति” इत्यादिश्रुतिः ॥ १४४ ॥

(अ. २१) किञ्च । भगवत्पि वरेणैव सर्वं यदि भगवदिच्छा तथा स्यादत्र  
च कार्यादेव तथेच्छेतिज्ञायत इति वक्तुं कार्यमेवाह, अत एवेति । तत्परस्य

तदनुग्रहमन्तरेणेति, वररूपाऽनुग्रहं विना । अत एवेति, कचित्सापेक्षानुग्रहः

कञ्चित्सापेक्षरूपादेव ॥ १४३ ॥

एवं चतुर्भिर्विशाध्यायं विचार्य सादृग्भ्यामेकविशाध्यायार्थमाहुः, किञ्चेत्यादि ॥ १४५ ॥



भक्तिपरस्येत्यर्थः । भगवद्दत्तलाघुक्तमिति हिंशब्दः ॥ १४४३ ॥

वर्णनमयोजनमाह भोगायेति ।

निबन्धः—भोगाय धर्मस्त्रेधा हि यज्ञरक्षोपदेशैः ॥ १४५ ॥

मध्यमः सिद्ध एवास्ति तथाऽऽयस्यानुवर्णनम् ॥

प्रकाशः—भगवता दत्तलाघुगोऽस्य जातः इति ज्ञापनायेत्यर्थः । स्वधर्माध्यायं विचारयन् प्रथमतस्तादृशेषुर्वं भेदानाह धर्म इति । रक्षाया विज्ञेयत अनिरूपण्ये हेतुमाह मध्यम इति । ननु यज्ञस्याऽपि पूर्वमेव सिद्धत्वात्कथं पुनर्निरूपणमत आह तथेति । तथाभूतस्य पूर्वसिद्धस्याध्यायस्य यज्ञस्य मध्ये पाषण्डप्रचारेणास्मिन् यज्ञाभावशङ्काव्युदासायाऽनुवर्णनान्त्येन वर्णनमित्यर्थः ॥ १४५३ ॥

ननु 'तत्प्रजाभृत्पिण्डार्थमिति श्लोकेनैवोपदेशसिद्धेर्वहुभोक्तौ किं प्रयोजनमत आह पाषण्डेति सर्वसम्मतीति ।

निबन्धः—पाषण्डमतिनाशाय बोधनं बहुभोक्तिभिः ॥ १४६ ॥

सर्वसम्मतिस्सिद्धयर्थं तेषां प्रत्युत्तरं मतम् ॥

प्रकाशः—येषामेव पाषण्डमोहस्थेषामेव पृथुवचने वैसम्यस्या सर्वेषां सम्मतिसिद्धौ सिद्धस्तदमोह इति सर्वसम्मतेः सिद्धयर्थं तेषां तदित्यर्थः । यद्वा लोकाः साधारणा हि ऋषिचार्यमेव प्रमाणत्वेन मन्यन्ते, अतः पृथुवचनेपि ऋषिसम्मतिं विना न विश्वासः । तथा च सर्वेषां लोकानां पृथुवाक्ये सम्मतिसिद्धयर्थं तेषामृषीणां प्रत्युत्तरं पृथुं प्रतीत्यर्थः । तत्र हेतुः मतमिति । यतः सर्वेषामृथुवचरं मतं सम्मतमित्यर्थः ॥ १४६३ ॥

(अ. २२) ननु प्रचेतसाभिव मोक्षसाधनत्वेन भक्त्युपदेष्टृनारदादेरेव कथमस्यापि न सद् इत्यत आह कामप्रकरणमिति ।

निबन्धः—कामप्रकरणजज्ञाने मार्गभक्तिप्रसिद्धये ॥ १४७ ॥

अनुदण्डान् ज्ञानसिद्धान् सनकादीन् ददर्श सः ॥

सार्द्धाभ्यां ऋषिशाध्यायार्थमाहुः ननु प्रचेतसामित्यादि । अनुदण्डमिति, भक्तिसिद्धान् । तथा च तेषां साक्षान्मुक्तिसाधकत्वेन भक्तयननुप्रभाषया कथनमितिभावः ।

प्रकाशः—कामप्रकरणाज्ज्ञानसिद्धान् सनकादीन् ददर्शतिसम्बन्धः । प्रयोजनमाह ज्ञान इति । ज्ञाननिमित्तमित्यर्थः । मार्गरूपा इष्टार्थमापिका साधनरूपेतियावत् । तादृश्या भक्तेः प्रकर्षणं सिद्धय इत्यर्थः ॥ १४७ ॥ ज्ञानसाधनत्वेनैव भक्तिकथने हेतुयुते विशेषमाह, अनुदण्डानिति । यद्वा ननुपदेशमात्रेणैव रहगणवदस्यापि कथं न भक्तिसिद्धाने जाते इत्यत आह । अनतिमहत इत्यर्थः । तत्र हेतुः, ज्ञानसिद्धानिति । ज्ञानेनैव सिद्धा न तु भक्त्या । तथा सति तथैव स्यादित्यर्थः ॥ १४७३ ॥ नन्वाःमारामेषु पूजावक्तुश्लेषभोगेपि युक्तः स कुतो न कृत इत्यत आह, इयं रीतिरिति ।

निबन्धः—इयं रीतिज्ञानमार्गे कृतिश्चैव न चाऽन्यथा ॥ १४८ ॥

अत एव पुनस्तस्य पूर्ववत्सर्ववर्णनम् ॥

प्रसादरूपापकं ह्येतन्मार्गं हेतुपरम्परा ॥ १४९ ॥

मुमुक्षुत्वान्न परमा कार्यार्थं तस्य चोद्गमः ॥

प्रकाशः—ननु सर्वनिवेदनस्य भक्तिमार्गस्ये प्राणा दारा इत्यादिना कथं करणमत आह कृतिश्चैति । निवेदनलक्षणया कृतिरप्येवमेव ज्ञानमार्गायैवेत्यर्थः । एतज्ज्ञापकमाह अत एवेति । यदि भक्तिमार्गानुसारेण निवेदनं स्यात्पुनः स्वोपयोगो न स्यात्तदैव त्यागीपि स्यादितिभावः । प्रकरणार्थाऽप्यत एव सङ्कलित इत्यभिप्रायेण सर्ववर्णनस्य तात्पर्यन्तरमाह प्रसादेति । उपदेशानन्तरं विषयभोगः—तस्य चाऽप्रतिबन्धकत्वमेव । तदुभयमपि भगवत्प्रसादं विना न सम्भवतीति तद्दर्शनेन स एव ख्याप्यते । अन्ययोपदेशादिनैव ज्ञानादिरूपकामसिद्धौ न भगवतैव कामसिद्धिरिति ॥ १४९३ ॥

यद्वा, ननु कर्मणां ब्रह्मसात्करणोपेक्षया च भक्त्यर्थं तत्करणं युक्तम् । आत्मस्थित्युपेक्षया भगवत्कीर्तनादिकमेव युक्तमधिकरसत्वात् । अनासक्त्युपेक्षया च भगवति निवेदनस्याऽधिकत्वेन तदेव कुतो न कृतमित्यत आह इयं रीतिरिति । ज्ञानमा-

(मूले) इयं रीतिरिति । पूजाकरणरूपा रीतिर्मर्यादा । पुनः स्वोपयोगो न स्यादिति, यथास्वित्त्येत्येतिशेषः । तथा सति न सिद्धान्तरहस्योक्तिविशेषः । तत्र हि प्रसादत्वेन तदुपयोगादत्र च तदनुपयोगेन यथास्वित्या प्रसादस्याभावादिति । न चात्रापि तथावक्तुं शक्यम्, तदवचनान् । 'तुभ्यस्तदप्रकरणाः स्वकृतेनेति विरुद्धवचनेन विनोदपात्रत्वोक्त्या च तादृशकृत्यनुपयोगादेर्दृशितत्वाच्चेति ॥ १४९३ ॥

गीयत्वादस्य तन्मार्गेरीतिरूपैवात्मस्थित्यादिकृता । प्रकरणार्थोपि सङ्गत एव स्यादिति तत्त्व्यापकं वर्णनं युक्तमिति हिङ्गशब्दाद्यैः । भोगं कुर्वाणस्यैव “धैर्यस्तु पुर्वो महताम्” इत्यादिनेक्तज्ञानहेतुपरम्परापि प्रसादख्यापिकैवेत्याह मार्ग इति । ज्ञानमार्ग इत्यर्थः ।

(अ० २३) ननु भगवत्सादयुक्तस्य साधनपरम्परायां प्रेमभक्तिः कुतो नोक्तेत्यत आह मुमुक्षुत्वादिति । ननु भगवत्कलावतारस्य कथं मुमुक्षुत्वेत्यत आह कार्यार्थमिति । तस्य भगवदशस्य प्रदोदहनधर्मज्ञापारलनादिकाद्याधिमुद्रमः प्राकट्यमित्यर्थः । तथैव लक्ष्यास्तत्त्वोपकल्पेन तत्त्वदश्यामाविर्भाव इति तत्समुच्चयार्थेश्वकारः । एतेन कार्यस्य सम्पन्नत्वाद्भगवदशतिरीधानं सूचितम् । अत एव मूले “यदर्थमिह जज्ञिवाबन्” इत्युक्तमतः परं केवलजीवत्वाद्युक्ता सेतिभावः । यद्वा । ननु स्तुती “न कामये नाथ तदप्यहम्” इतिवाक्यं कथमुक्तमित्याशङ्क्य तदा भगदाशेन साभिध्येन च तत्संघं भक्तिरसादुभाविचयोक्तम् । तस्य चोक्तकार्यार्थमेवात्रावेशात्सपदि च कार्यस्य सम्पन्नत्वादावेशाभावान्मुमुक्षा युक्त्यभिप्रायेणाह कार्यार्थमिति । यद्वा, उक्ताशङ्कतामेव भगवदावेशस्य धर्मादिपालनार्थमेव प्राकट्यम्, न त्वस्मिन् भक्तिमार्गं प्रचारयितुमिति हेतोर्भगवदावेशे सत्यपि युक्ता मुमुक्षा । भगवदिच्छाया बलिष्ठत्वादिति भावेनाऽऽह कार्यार्थमिति । यद्वा कार्यार्थं ज्ञानार्थं तस्य पूर्वोश्वकारात्तत्पत्न्या उद्गमो शुद्धास्मिर्गम इत्यर्थः । त्यागस्य ज्ञानाङ्गत्वादितिभावः ॥ १४९३ ॥

चतुर्भिस्त्रयोविंशत्याध्यायार्थमाहुः ननु भगवदित्यादि । “यदर्थमिति वाक्यस्य ‘दृष्टान्तानं प्रवयसमिति प्रवयस्त्वमुपक्रम्योक्तत्वाद्देशस्य तावत्पर्यन्तत्वमायाति । मुमुक्षा तु यत्रसामयिकब्रह्मवाक्येषु “यद्भवान्मोक्षधर्मविदिति” तदेहतो विष्णुकलासि वैन्द्येति कथनादावेशसमानकालीना प्रतीयत इत्यरुच्य पशान्तरमाहुः यद्वा ननिवत्यादि । तदपीति, कैवल्यमपि । कथमिति, परमभङ्ग्यभावे । तस्यैति भगवदशस्य । तथा च पशुद्वयमपि युक्तमित्यर्थः । एवमप्यावेशस्य कादाचित्वापत्त्या तावत्कालीनत्वं विदन्त्यत इत्यरुच्य पशान्तरमाहुः यद्वा उक्तेत्यादि । उक्ताशङ्कतामिति । कलावतारस्य कथं मुमुक्षा-मुमुक्षार्था वा कथमीदृशं वाक्यमितिशङ्काम् । तथा च, सनकादिषु नारदे च कलावतारत्वेपि मोक्षधर्मवित्त्वेन मुमुक्षायाः सत्त्ववदत्रापि तत्सत्त्वस्याविरुद्धत्वात्कार्यान्तरार्थावतारत्वेपि तादृशवाक्यस्य भगवत्साभिध्यादेव भवनाच्च न किञ्चिदनुपपन्नमित्यर्थः । एवं मुमुक्षाया अविरुद्धत्वं साधयित्वा यथागृहे सतत एव प्रभूयोः सिद्धदर्शनात्मनोपदेशौ तथा ज्ञानमोक्षापि सुवचनविति गृहत्यागकथनं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः यद्वा कार्यत्वादि । इतिभाव इति, निर्गम इतिभावः ॥ १४९३ ॥

ननु पुरुषोत्तमभक्तेर्ज्ञानार्थपेक्षयाऽधिकत्वाद्न च ज्ञानार्थपेक्षाकथनाद्रूपान्ते-ऽन्त्याग्यादीं भजनं भविष्यतीत्याशङ्क्याह रूपं तदेवेति ।

निबन्धः—रूपं तदेव स रसो बहुकालं न सेवितः ॥ १५० ॥

अतः स्वतन्त्रा सा नाऽभुत्कारणत्वेन चोद्धता ॥

प्रकाशः—पुरुषोत्तमरूपमेवेत्यर्थः । अत एव “आरिराप्रथिषुः कृष्णम्” इत्युक्तं मूल इतिभावः । तर्हि कथं ज्ञानार्थपेक्षेत्यत आह स रस इति । स प्रसिद्धः पुरुषोत्तमो बहुकालं न सेवितो यतः—अतस्तादृशभजनं विना रसानाविर्भावान्मुख्य-भक्तिरसोऽपि न सेवितः । अतो ज्ञानसाधनत्वेनैवाऽस्य भानात्फलरूपा ज्ञानादिनिरपेक्षताया फलप्रदानसमर्था वा भक्तिर्नाऽभूदित्यर्थः । तर्हि भक्तेः किं प्रयोजनमित्यत आह कार-णत्वेनेति । भक्तिं विना मोक्षाभावात्प्रकारणत्वेन प्रकटा जातेत्यर्थः । साधन-रूपतायामपि भक्तेः फलरूपता न क्षतेति तत्समुच्चयार्थश्च ॥ १५०३ ॥

नन्वाऽऽवश्यकत्वाद्ज्ञानवाच भक्त्यैव मुक्तिरिति कुतो नोच्यते । तथा च सति “तस्याऽनया” इत्यादिना ज्ञानयोगकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य भक्तेः कल्पतरु-भावत्वाद्ज्ञानेनैव मोक्ष इति विज्ञानतो ज्ञानमप्युत्पाद्य मुक्तिं ददातीतिसिद्धान्ताभिप्रायं मूलमित्यभिप्रायवानाह वैराग्येति ।

निबन्धः—वैराग्यज्ञानमुत्पाद्य तदविद्यां निवार्य च ॥ १५१ ॥

योगेन भङ्गत्वा लिङ्गञ्च सदैकगुणैऽनयत्पुत्रम् ॥

प्रकाशः—सद् ब्रह्म तदात्मके व्यापित्वैकगुणै इत्यर्थः । भक्तिरितिशेषः । श्वकारा-द्विधामपि ॥ १५१३ ॥ एतदर्थं वैकुण्ठावरकमायोद्गातेन हेतुमाह योगेनेति ।

निबन्धः—योगेनोद्गाटितस्तस्य तस्यास्तु क्रमतोऽभवत् ॥ १५२ ॥

अनभिप्रेतरूपत्वात्फलमस्योच्यते बहु ॥

असङ्गतितिनिवृत्त्यर्थं भक्तिश्चाऽप्यस्य वै फलम् ॥ १५३ ॥

प्रकाशः—तत्पत्न्यास्तु पातित्रत्यधर्मनिष्ठया पूर्वं पतिलोकं गतायास्तत्र च निरन्तरं पूर्वंमिति । इदं पूर्वेण सम्बन्धते । पतिलोकं गताया इति, अन्वाराक्यायाः । एवं द्विचत्वारिंशतिभिः कामप्रकरणं रौद्रे विचारितम् ।

तद्भावनाया तस्य च वैकुण्ठगत्वेन क्रमेणवैकुण्ठ उद्घाटितोभवदित्याह तस्यास्त्विति । नन्वस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वादन्वेषां फलत्वेन कथनं न युक्तमित्यत आह, अनभिप्रेतेति । स्वतन्त्रफलत्वेन भक्तेरनिरूपणेनास्य प्रकरणस्यानभिप्रेतरूपत्वम् । तथा च “ ममश्रेयस्तालं विशेषे ” इतिन्यायेन सर्वमेव फलत्वेन वक्तुं युक्तमित्यभिप्रायेण तथोक्तिरित्यर्थः । एवमस्य प्रकरणस्यैतच्छास्त्रासङ्गतिरित्याशङ्क्य तन्निरूप्यर्थं भक्तिरपि फलत्वेनोक्ता । तथा चैकफलत्वेन शास्त्रसङ्गतिरितिभावः । पूर्वैसमुच्चयार्थैश्च । तथाऽपि न स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन कथनमिति ज्ञापनायाऽपि । “ भवसिन्धुपीतपादे ” इति-मूलवाक्यादितिभावः । फलनिरूपणेन प्रकरणसमाप्तिः सूचिता ॥ १५३ ॥

अतः परं मोक्षकरणं विचारयति । तत्र विदुरस्य पुनः प्रभाभावे हेतुमाह । अन्यार्थमिति ।

निबन्धः—अन्यार्थं कामकथनाद्वात्र प्रश्नः पुरैव सः ॥

अष्टभिर्मांशकथनं स द्वेषेति पुरोदितम् ॥ १५४ ॥

प्रकाशः—कामादन्यो मोक्षस्तत्कथनार्थमेव कामप्रकरणकथनात्तदुपपादितं मोक्ष-प्रकरणार्थाय प्रक्रियेयमित्यत्र । तत्प्रकरणप्रश्नश्च “ के ते प्रचेतसो नाम ” इत्यादिना पुरैव कृत इति नात्र पुनः प्रश्न इत्यर्थः । यद्वा विदुरस्य भक्तिमात्रेच्छया प्रश्नकरणादस्य च तदतिरिक्तवहुफलोक्तैर्मदर्थमिदं नोक्तम्, किन्तु तत्तत्कामानामन्येषामर्थं इदं प्रकरणमुक्तमतो मत्प्रश्नयोत्तरमनुक्तमिति स्वयमेव वक्ष्यतीति न पुनः प्रश्नः कृत इत्यर्थः । प्रकरणार्थं वक्तुमध्यायसङ्ख्यामाह अष्टभिरिति । पुरेति । शास्त्रार्थप्रकरणे ‘विद्ययाऽविद्यानाशे लि’त्यारभ्य ‘उभयं हरिसेवया ’ इत्यन्तेनोदितमित्यर्थः ॥ १५४ ॥ तदेवाह ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यमिति ।

निबन्धः—ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यं क्रमादत्रोच्यते द्वयम् ॥

सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनाऽनुभवात्सदा ॥ १५५ ॥

प्रकाशः—तत्र यादृशब्रह्मभावसायुज्येऽभिभवे तादृशयोरैवाऽत्रापि निरूपणं कथमित्यत आह सायुज्ये त्विति । “ ततो मां तत्पनो ज्ञात्वा विज्ञते तदनन्तरम् ” इति-वाक्येन प्राप्तब्रह्मभावस्य भक्तिरूपेण पुरुषोत्तमज्ञाने सति तत्र प्रवेशलक्षणं सायुज्यं निरूपितमिति प्रवेशश्च भिन्नतयैव भवतीति भेद एव च रसानुभवसम्भवात्सायुज्ये रसाधिक्यमित्यर्थः । ब्रह्मत्वे चैक्यात्तया रसानुभवात्प्रवचनच्छेदार्थस्तुशब्दः ॥ १५५ ॥

अतः परं सप्तसप्ततिभिर्मांशप्रकरणं वासवं विचारयन्ति । अतः परमित्यादि ॥ १५५ ॥

एवं च तस्य गौणत्वादस्यैव मुख्यत्वेन निरूप्यत्वाद्ब्रह्मभावलक्षणं मोक्षे मध्ये निरूपितमाद्यन्तयोस्तदधिकारिणः प्रचेतस एव भक्तन्त्रिरूपिता इति । एतदेवाह सन्दंशकथयेति ।

निबन्धः—तस्याऽधिकारिणस्तेन सन्दंशकथयोक्तवान् ॥

मध्ये तु प्रथमः प्रोक्तो महस्वात्प्रश्न तस्य तु ॥ १५६ ॥

प्रकाशः—तेन ब्रह्मभावस्याऽपि सायुज्यसाधनत्वमितिभावः सूचितो भवति । अत्र प्रचेतसां मोक्षे निरूपयित्वापि श्रुतं तन्नक्तिं निरूप्य तत्पितृभ्यो निरूपणम्, तेन भक्तेषु मुख्यं फलं ददाति भगवांस्तत्सम्बन्धिषु भक्तिमार्गपरिनिष्ठत्वात्सम्बन्धस्यैव प्रयोजकत्वाद्गौणमित्यपि सूचितम् । प्रथमो ब्रह्मसाधिकारी । अध्यायान् विभजते पञ्चेति । तस्य प्रथमाधिकारिणः सम्बन्धिनः पञ्चाध्याया इत्यर्थः । तत्र हेतुः महत्त्वाद्दिति । भक्तानां स्वल्पेनैव प्रसादफले भवत इत्याध्यायत्रयेणैव तन्निरूपणम् । अस्य च पूर्वं कर्मितान्महता प्रयासेन फलं साधनीयमित्यस्य कार्यस्य महत्त्वात्प्रश्न-निरूपणमित्यर्थः ॥ १५६ ॥

ननु प्रथमाध्यायोऽपि तस्यैव भवितुमर्हति, प्रचेतसां तपोनिरूपणं तु तदाज्ञा-निरूपणार्थं “ पित्रादिष्टाः ” इतिवाक्यात् । उपदेशनिरूपणं तु “ युक्तं पथि ह्येन ” इत्युक्ते विदुरेण प्रश्ने कृतो तदुत्तरत्वेन कृतम् । अन्यथा स्वरूपमेव विवेचयन्नैव निरूपयेत् । तेनात्र तत्कथायाः प्राप्तिकृत्वाच्च तत्प्रकरणीयत्वमस्याध्याय-स्येति षडध्याया एवाऽस्येति चेत्त्राह, अन्योन्योन्वयस्येति ।

निबन्धः—अन्योन्योपकारित्वबोधनार्थं तथा वचः ॥

साधनं च प्रसादश्च फलं चेति त्रयं परे ॥ १५७ ॥

प्रकाशः—अयमर्थः । अत्र प्राधान्येन तन्निरूपणमेव कृतम् । “ पित्रादिष्टाः ” इति वचनं तु “ कर्तुः शास्त्ररनुज्ञातुः ” इतिन्यायेन तदाज्ञया भगवदर्थं तपःकरणे तस्याप्यन्तःकरणशुद्धयुपकारो जात इतिज्ञापनार्थम् । तथा चैतेषां भगवन्प्राप्तिस्तत्परिणया तपःकरणे सतीत्येतदुपकारित्वं तस्य । एतत्तपसा च तदन्तःकरणशुद्धिरिति तदुपका-

अत्र तत्कथाया इति, चतुर्विंशोऽध्याये प्रचेतःकथायाः । तत्रेति अवान्तरपञ्चाध्याय्याम् ।

अत्रैवं षट्भिः प्रकरणार्थो विचारितोऽध्यायश्च विभक्ताः ॥ १५७ ॥

रित्वमेतेषामित्यन्योन्यस्योपकारित्वम् । अन्यथा “ ब्रह्मि मे विमलं ज्ञानम् ” “ दृष्टेऽप्यु कृतधर्मेषु ” इत्यकस्मात्कथं वदेत् । उपदेशस्याऽतिदुर्लभत्वज्ञानाय प्रश्र-  
पेक्षा । तदुक्तमाद्यस्कन्धप्रकरणे “ सामान्यतो बुध्नुत्सां हि वक्ता वारयति स्मयम् ।  
उत्कण्ठा चेत्ततोपि स्यात्कथामत्रोपेणं ततः । ततो विशेषप्रश्नेऽप्येव रीतिरियं  
सदा ” इति तस्मात्सुष्टुक्तं पञ्च तस्य द्विविधं । सायुज्यप्रकरणस्याऽध्यायार्था-  
नाह साधनमिति । साधनमुपदेशः प्रथमाध्यायार्थः । चकारात्साधनसाधनं विप्रदेशश्च-  
दर्शनं । प्रसादफले सप्तमाष्टमयोः । चकारात्कृतिः राज्यभोगादिगौणप्रसादश्चोच्यते ।  
द्वितीयचकारादेतच्छ्रोतुर्विदुरस्याऽपि भक्तिरूपफलप्राप्त्या निर्गम उच्यते ॥१५७॥

( अ. २४ ) एवं प्रकरणार्थं निरूप्य प्राचीनवर्हिष एवाष्टभिरध्यायैर्भोक्षकयनमिति  
मते निराकुर्वन् पञ्चभिस्तन्निरूपणे हेतुमाह विद्या त्स्विति ।

निबन्धः—विद्या तु पञ्चपूर्वैरिति प्रथमे पञ्च सन्मताः ॥

यत्र सर्वविनिर्द्धारः सर्वसन्देहवारकः ॥१५८॥

प्रकाशः—तुशब्दः शङ्कान्वावर्चकः । अस्मिन् ब्रह्मभावस्यैव वाच्यत्वात्तत्र  
चाविद्यानिष्ठविद्यास्य प्रयोजकत्वात्तस्याश्च विद्यासाध्यत्वात्तस्याश्च पञ्चपूर्वात्म-  
कत्वात्सा तावद्भिरैवाऽध्यायैर्निरूप्येति प्रथमे प्रकरणे पञ्चाध्याया एवेत्यर्थः । सन्मता  
इत्यनेन तन्मतरस्याऽसत्त्वं सूचितम् । ज्ञानस्यैव प्राधान्येन तत्र निरूपितत्वादिति भावः ।  
किञ्च, आत्माना सह प्रतीतानां सन्यातस्यपदार्थानां स्वरूपनिर्धारं हि  
निःसन्देह्या ब्रह्मात्मवागवतिर्भवेत् । तस्य चात्र तावद्भिरैवाध्यायैर्निरूपणमिति  
हेतोस्तावन्त एव त इत्याशयेनाह यत्रेति ॥ १५८ ॥ द्वितीय इति ।

निबन्धः—द्वितीयस्तु त्रिभिः सिद्धः सर्वेषां तत्र चोत्सवः ॥

प्रथमो नारदेनैव फलं तेनाऽपि सिद्धयति ॥१५९॥

प्रकाशः—अध्यायाल्पतया पूर्वस्माद्धोनेत्वशङ्का स्याच्चद्व्यावर्तकस्तुशब्दः ।  
पूर्वस्माद्विशेषमाह सर्वेषामिति । पूर्वैरितिस्तु सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानेन ब्रह्मात्मा-  
वगत्यात्मन्येव सुखं भवेत्तु सर्वेन्द्रियादिषु । अत्र तु सर्वेषामिन्द्रियाणां  
चकारादात्मनश्च सर्वैर्विस्मारक आल्हाद्विशेषरूप उत्सवः सिद्धो न तु साध्य  
इत्यर्थः । तस्य गणितानन्दत्वादस्य च पूर्णानन्दत्वादिति भावः । ननुपदेशमात्रेण

अतः परं पादोनैवभिक्षतुर्विशाध्यायस्यार्थं विचारयन्ति, एवं प्रकरणार्थ-  
मित्यादि ॥ १५९ ॥

भगवत्प्रसादात् विना कथं प्राचीनवर्हिषो भोक्षकयनं “ फलमत ” इतिन्यायविरोधात्,  
अतः प्रचेतसामिवाऽस्यापि भगवत्प्राकट्यं ज्ञानमित्याशङ्क्याह प्रथम इति । नार-  
दयति स्पष्टयतीति व्युत्पत्त्या जीवभावचन्द्रेदकत्वात्तत्र च भगवत एव सम्भवतीति  
तदाविष्टभगवद्रूपस्यैव तन्नाम । तथा च तेनैव प्रथमो ब्रह्मभावरूपो भोक्षो जात  
इत्यर्थः । उपपत्त्यन्तरमाह फलमिति । बर्हिषः प्राकट्याभावेप्यात्मत्वेन स्फुरित-  
ब्रह्मस्वरूपेणाऽपि पूर्वोक्तं फलं सिद्धयतीत्यर्थः । यद्वा । तस्य ज्ञानोपदेशमात्रे-  
णाऽन्यथासिद्धिमाशङ्क्याह फलमिति । भगवत्सहितगुणमपि ज्ञानोपदेशफलं  
सिद्धयतीत्यर्थः ॥ १५९ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य प्रथमाध्यायं विचारयति श्वधोरित्यादिना ।

निबन्धः—पृथोः प्रपौत्रपुत्राणां मुक्तिं वक्तुं तदन्तरा ॥

अमुक्तौ प्रतिबन्धः स्यादतो मुक्तिकथान्तरा ॥१६०॥

प्रौत्रमुक्तिस्तु सन्देशान्यायेनैव भविष्यति ॥

प्रकाशः—तत्र प्रचेतसां साधने निरूपणीये सत्यन्तर्द्धान्मुक्तिनिरूपणं पूर्व  
किमर्थमित्यत आह श्वधोरिति । प्रपौत्रो बर्हिषस्तनुपुत्राणां प्रचेतसामेव  
तद्युक्तिं वक्तुमेतन्मुक्तिकथामध्ये तन्मुक्तिकथेत्यर्थः । एतत्कथनस्यावश्यकत्वायाह  
तदन्तरेति । तेषां पूर्वजानां मध्ये कस्यांचिदमुक्तौ पितृदोषः पुत्रादावपि सङ्गामती-  
त्येतन्मुक्तावपि प्रतिबन्धः स्यादित्यर्थः । एतेन मुत्त्वधिकार एव निरूपित इत्युक्तं  
भवति ॥ १६० ॥ ननु पृथुपीत्रमुक्तेरनुक्तत्वात्तन्तः प्रतिबन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह  
पौत्रेति । अस्य मुक्तिरनुक्तसिद्धैवेति न पृथगुक्त्यर्थः । एतेनाध्यात्मिकी युक्तिः  
प्रचेतसाहृता । एतेन “ विजिताश्वः ” इत्यारभ्य सप्तश्लोकानां तात्पर्यमुक्तं ज्ञेयम् ॥ १६० ॥

हविर्यानादित्यादिपञ्चानां तात्पर्यमाह योगेनेति द्वाभ्याम् ।

निबन्धः—योगेन कर्मणा चाऽपि शुद्धिः सर्वोत्तमा मता ॥१६१॥

कुलसौन्दर्ययोगे तु स्त्रीशुद्धिश्चोत्तमा मता ॥

प्रकाशः—अत्राधिभौतिकी शुद्धिनिरूप्यते, सा च पितृमात्रोः शुद्धत्वे भवति । तत्र  
पुरुषशुद्धिस्तु योगकर्मभ्यां जाता सत्कुलजातत्वात्पुंसयोगमा भवति । स्त्रीशुद्धिस्तु  
सत्कुलजातत्वेन सौन्दर्यातिशयेन च । व्यभिचारादिदोषव्यावर्चकस्तुशब्दः ॥१६१॥

**निबन्धः—**बीजयोनिविशुद्धये शुद्धिः कार्ये विनिश्चिता ॥ १६२ ॥

विवाहोऽपि ब्रह्मवाक्यादतो न विषये स्पृहा ॥

**प्रकाशः—**तथा चोपयोस्तथात्वेन बीजयोन्योः शुद्धत्वेन तत्पुत्रेष्वपि शुद्धिर्भवत्येव । तत्रापि विषयरागजमृष्टया जनितानामपत्नानां बीजसंस्कारवशाच्च नीरामत्वं भवेदिति शङ्कायुदासाय तद्वैराग्यकथनाय ब्रह्मवाक्यादेव विवाहोक्तिरित्यर्थः ॥ १६२ ॥

फलितमाह एतादृशादिति ।

**निबन्धः—**एतादृशात्समुत्पन्नाः पितुरावेशकारिणः ॥ १६३ ॥

तपसा साधने तस्य न बन्धो भवतीति हि ॥

तत्रापि कृष्णसेवायां कृतार्थत्वं हि सर्वथा ॥ १६४ ॥

**प्रकाशः—**तत्रापि न सनकादितिपत्रादेशोऽङ्गुष्ठाकाः किन्तु तत्कारिणस्तेन शुर्वा-  
ज्ञापालनरूपो धर्मोऽयुक्तः ॥ १६३ ॥ तत्रापि विशेषमाह तपसेति । तस्य पित्रादेशस्य  
तपसा साधने प्रवृत्तिमार्गत्वेन स्वस्य सर्गकरणजबन्धो यः स न भविष्यतीति  
तपसि प्रवृत्ताः । तत्राऽपि न केवलं तावन्मात्रत्वं किं तु तपस्यपि पुरुषो-  
त्तमभजनं करिष्यामस्तेन कृतार्था भविष्याम इति निश्चयबन्तः ॥ १६४ ॥

**निबन्धः—**इति तान् सर्वथा शुद्धान् विलोक्येशो हरिप्रियः ॥

प्रोवाच सर्वसन्देशवारकं सर्वबोधकम् ॥ १६५ ॥

अत इत्यम्भृतत्वेनाधिदैविक्यपि शुद्धिः सम्पन्नैति सर्वकारेण शुद्धान्  
ज्ञात्वा तान् प्रति प्रोवाचेत्यर्थः । ईशत्वेनान्तरज्ञानय, तत्रापि हरिभक्तिज्ञानं हरिप्रियत्वेन,  
अन्यथा कथमकस्माद्दहिरागच्छेत् । तस्यैवैवापनायेव "समुद्रमुपविस्तीर्णम्" (श्लो०२०)  
इत्यारभ्य षट्श्लोका इतीशप्रपदेन तावतां तात्पर्यमुक्तमितिक्षेपय । "युयमित्यादि  
रुद्रवचनानां चतुर्णां तात्पर्यं हरिप्रियप्रदेन ॥ १६५ ॥

मध्यं स्वरूपकथनस्य प्रयोजनमाह हेतुपूर्वमिति ।

**निबन्धः—**हेतुपूर्वं स्तोत्रमाह शीघ्रं तुष्यति यद्हरिः ॥

अयमेवोपदेशो हि विश्वासार्यं परम्परा ॥ १६६ ॥

१६२ ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ षट्श्लोका इति । तथा सतिसत्ताजितिसप्तमस्य  
धर्मबोधकत्वमित्ययुक्तमायमिति बोधितम् ॥ १६५ ॥ मध्यं इति । स्तोत्रमध्ये ।

**प्रकाशः—**भगवत्यादुर्भारार्थमेव हि स्तोत्रम् । स च प्रेम्णैव भवति । प्रेम चाति-  
मुन्दरस्वरूपस्य निरन्तरचिन्तनकीर्तनाभ्यामिति तदंशे स्तोत्रमाहेत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति  
शीघ्रमिति । यद्वा । उपदेशे हेतुर्निर्वाणं भागवतत्वम्, "अथ भागवता युयम्" इतिश्लोकेन  
तन्निरूपणपूर्वकं यः स्तोत्रमाहाऽतो यद्यरमाद्धिः शीघ्रं तुष्यति तादृशं तदाहेति सम्बन्धः ।  
जम्भो मन्त्रः पृथगुपदिष्टो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अयमेवेति । "इदं जपध्वम्" इतिवचन-  
सम्पत्तिर्हि शब्दाधिः । इदमाहेत्यादीनां तात्पर्यमाह विश्वासार्यमिति । यद्यपि रुद्र-  
वचनेऽप्यस्त्वैव सः, अन्यथा परम्पराकथनेऽप्यविश्वासेन सर्वनाशः स्यात् । तथाप्यै-  
तेनाऽन्यस्यापि फलसिद्धिश्चनेऽतिश्रद्धा भवतीति तथोक्तम् ॥ १६६ ॥

तथैतेषु कथं फले विलम्ब इत्यत आह अनुद्वेगेति ।

**निबन्धः—**अनुद्वेगपरीक्षार्थं विलम्बो हरिणा कृतः ॥

तत्पुरैव विनिश्चित्र्य जले तत्तुं विनिश्चयः ॥ १६७ ॥

**प्रकाशः—**तपसि क्लेशाद्वेगः कालविलम्बेपि तदा न भवेद्यदि भक्तिरसेनाऽन्य-  
विस्मृतिः स्यादिति तत्परीक्षार्थं तथेत्यर्थः । तत्रैतन्तमभक्तिरसिका इत्यत्र निदर्शन-  
माह तत्पुरैवेति । तत्राऽन्यप्रवेशाभावादप्यगाये च जलचरणामप्यभावेन निर्विघ्न-  
भजनं भविष्यतीति तथेत्यर्थः ॥ १६७ ॥

क्रिञ्च । तेषां भजनं स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेनैव प्रतिभातम् । यतो भ्रूमी  
भजने प्रलये भूमिनाशेन तद्विघ्नो मा भूदिति विचार्यापि जले तपः कृतवन्त  
इत्याह प्रलयेपीति ।

**निबन्धः—**प्रलयेपि न भङ्गार्थं स्तोत्रमुख्यत्वसिद्धये ॥

अध्यायपूरणं पूर्वं कृतं सम्बन्धसिद्धये ॥ १६८ ॥

अग्रे कथाप्रकथनं तपःसिद्धौ कथा परं ॥

**प्रकाशः—**नन्वस्मिन्नध्याये हि साधनं निरुध्यं तच्च स्तोत्रतपोरूपम्, तत्कथं तपोऽ-  
नुत्त्वा तन्मात्रेणाध्यायपूरणं कृतमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह स्तोत्रेति । एतेषां  
स्तोत्रमेव मुख्यं साधनं न तप इति ज्ञापनार्थं तपोनिरूपणात्पूर्वमेवाध्यायपूरणं कृत-  
मित्यर्थः । तथैतत्प्रकरणे तत्तपोनिरूपणमादौ न युक्तमित्यत आह सम्बन्धसिद्धये  
इति । एतत्तपसः "कर्तुः शास्त्रैः" इतिनायेन बहिर्पदोऽपि चित्तशोधकत्वलक्षणः

स इति, प्रादुर्भावः । ईदृशमिति, स्वरूपकथनचतितम् ॥ १६६ ॥

अतः परं सपादाष्टादशभिः पञ्चविंशत्प्रध्यायं विचारयन्तः पादोनेनोपक्रमगतमर्थं  
वदन्ति तर्हीत्यादि । एतत्प्रकरणं इति, माचीनवाहैःप्रकरणे ॥ १६८ ॥

सम्बन्धोऽस्तीति ज्ञापनाय तत्प्रकरणेनादावेतत्तपःकथाकथनमित्यर्थः ॥१६८॥ ननु प्रचेतसां निर्गमानन्तरमेव नारदस्यागतत्वात्तपसश्चोत्तरकालीनत्वात्कथं कारणत्वमित्याशङ्क्यामाह तपःसिद्धाविति । एतत्तपसः सिद्धयनन्तरं परे बहिर्पदि कथाकथनं नारदेत्येत्यर्थः । न चाऽत्र मानाभावः अन्यथाऽनुपपत्तेरेव सच्चात् । तथा हि “शुभेषु कृतधर्मेषु” इत्यादिना बहिर्पदा वैराग्यस्योक्तत्वात्तस्य च चित्तशुद्धिं विनाऽनुपपन्नत्वात्तस्याथ तत्तपो विना हेत्यन्तराभावात् । न च तत्कर्मैव तद्विचित्रोपकर्मम् । सकामकृतत्वात् । सकामत्वे च “नानाकामो यथा भवान्” इति नारदवाक्यादवगम्यत इति भावः ॥१६९॥

अत्र पूर्वप्रकरणार्थविचारं प्रतिजानीते सर्ववस्तुविति ।

निबन्धः—सर्ववस्तुविवेकस्तु जाग्रत्स्वप्नविभेदतः ॥१६९॥

विनश्यत्ता विनाशश्च सार्थकत्वादिरूपवान् ॥

सर्वसन्देहहराहिर्यं सफलं पञ्चभिः क्रमात् ॥१७०॥

प्रकाशः—अध्यायार्थानाह जाग्रदिति । जाग्रदवस्थानिरूपणं प्रथमाध्यायार्थः । स्वप्नावस्था द्वितीयस्य । विनाशहेतुसामग्रीसामिन्ध्वं तृतीयस्य । विनाशश्चतुर्थस्य । चकारात्संसारनाशोऽपि सत्सङ्गभक्तिज्ञानसाहित्यनिरूपणेन । एतदेवाह सार्थकत्वेति । दुष्टस्याऽपि पूर्वदेहस्य नाशस्तदा सार्थको भवेद्यद्यत्र सत्सङ्गः स्यादन्यथा तु तत्राशोऽप्यनाश इवेति सार्थकत्वविशिष्टः स निरूप्यत इत्यर्थः । आदिशब्देन भक्त्यादि । सर्वेति पञ्चमस्य ॥ १७० ॥

तत्र कोटिद्वयम्, संसारी मुक्तिमार्गश्च । एतयोः स्वरूपं निरूपणीयम् । तत्रैकदापि भवति । अत्र पृथङ्निरूपणं कुत इत्यत आह संसार इति ।

निबन्धः—संसारे मुक्तिमार्गे च जीवो द्वेषा हि गच्छति ॥

तत्सामग्रीप्रकथनमुभयोर्बुध्यते पृथक् ॥१७१॥

प्रकाशः—संसारे येन प्रकारेण जीवस्य गतिस्तेनैव न मोक्षमार्ग इति गतिभेदज्ञापनाय संसारमुक्तिमार्गयोः सामग्रीकथा पृथगुच्यते । चकारात्पुरुषरूपेणापि स्त्रीरूपेणाऽपि तयोर्भार्यायोर्गतिर्जीवस्याऽस्तत्सद्बोधनायोभयोः पुंस्त्रियोस्तयोच्यत इत्यर्थः । एतेन स्त्रीशरीरं प्राप्तस्य मुक्तिसापन्ननिरूपणात्तादृशस्यैव मुक्तिरिति शङ्का निरस्ता, तस्य पूर्ववासनानुरूपदेहमाप्तितात्पर्यकत्वात् । तथा च सत्सङ्गादिसापने स्त्रिया अपि मुक्तिः सूचितेति ज्ञेयम् । “मां हि पार्थे” इति भावद्वाक्यादिति भावः ॥१७१॥

अथेति, उपक्रमोक्तार्थकथनोत्तरम् । प्रतिजानीत इति, साद्वर्ण्यां कर्तुं प्रतिजानीते ॥ १७० ॥ तत्रैति, पुरजन्मप्रकरणे । तथा चैत्यादि, तादृशस्यैव मुक्तिरिति न किन्तुःकगीतावाक्यात्तादृशस्यापि मुक्तिरित्यर्थः ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

तर्हि स्फुटतयैव कुतो नोक्तं तत्राह अपरोक्षेति ।

निबन्धः—अपरोक्षकथायां हि कौतुकाभावतः पुमान् ॥

नाऽऽद्रियेत नवा बुद्धिरध्यात्मे प्रविशेद्दुःखं दुःखम् ॥१७२॥

प्रकाशः—जन्मादिरूपेण निरूपणे चमत्काराभावान्मनुष्यदेहकथामात्रमुक्तमिति बुद्ध्या तदुक्तेऽनादरः स्यात् न वा ज्ञानमार्गं प्रविशेद्बुद्धिः । परोक्षकथायां तत्रैव परीत्यमिति तथोक्तमित्यर्थः ॥ १७२ ॥

( अ. २५ ) ननु तत्फलाभावं ज्ञात्वाऽपि तस्मिन् कुतः प्रश्नं कृतवाँस्तत्राह प्रश्न इति ।

निबन्धः—प्रश्नः शुद्धिपरीक्षार्थमन्यथा कथनं वृथा ॥

गृहादिसहितो देहः पुरं मध्यं तथोभयोः ॥१७३॥

प्रकाशः—शुद्धिकथनस्यावश्यकत्वात्, अन्यथेति शुद्धचभाव इत्यर्थः । ननु नवद्वारप्राकारादीनामितरेदेहेषु विमानत्वात्कुतस्तेष्वनभिरुचिः, कथं च नरदेहे एव रुचिकथनमित्याशङ्क्य जीवस्याशेषभोगाथित्वादन्येषां गृहादिविषयाभावेनाऽशेषभोगासम्भवात्तरदेहे च तत्संभवात्सर्वकामसम्पत्तिसम्भवात्सिद्धेरेव रुचिर्नाऽन्येषु । अत्र च तन्निरूपणाद्गृहविकादिसहित एव देहः पुरत्वेनाऽभिधेत इत्याह गृहादीति । अत एव मूल उक्तं “कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये” इति । व्याख्याने च “यदा जिपुञ्जन् पुरुषः कात्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्” इति । तर्हि विषयपरिनिष्ठितबुद्धिसम्बन्ध एव देहसम्बन्ध इति विवक्षया “पुर्यास्तु बाह्योपपत्तेः” इत्यादिना विषयाणां पुर्याः सकाशाद्बाह्यलक्षणमनुपपन्नमित्यत आह मध्यमिति । उभयोर्नीवपुरयोर्निरूपणे मध्ये यन्निरूपितं ‘पुर्यास्तित्वादि तदपि तथा पुरमध्य एवेत्यर्थः । यद्यः उभयोस्तयोरेव मध्यं मध्ये स्थितं सम्बन्धो ममाहम्बुद्धिरूप इति यावत् । सोऽपि तथेति पूर्ववत् । अत्र हि जीवस्य संसारो

एवं साद्वर्ण्यां प्रकरणार्थमुक्त्वा पञ्चविंशत्यं विचारयन्ति, ननु तत्फलमित्यादि । कृतवानिति, नारदः कृतवान् । अत्र नारदोक्तिः ‘हिमवतो दक्षिणेषु सानुखि’त्येन कर्मक्षेत्रं भारतं बर्णयन्त्येति । ‘लक्षितलक्षणमि’त्येनानान्यबहुत्वादिदोषराहित्यम् । एवमन्यदपि बोध्यम् । तर्हि, सविषयस्य देहस्य पुरत्वे । पुरमध्य एवेति, विषयाणामन्तःप्राकाराद्बाह्यत्वेपि ममताप्रकारान्तःपातित्वेन पुरमध्य एवेत्यर्थः । मूले, बाह्यत्वस्य कण्ठत उक्तत्वात्पुरमध्यत्वकल्पनमनुक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः, यद्धेत्यादि । पूर्ववदिति, पुरवदित्यर्थः । पुरवदिति वा पाठः । एतदेव विवृण्वन्ति अत्र हीत्यादि ।

वाच्यः स चाहन्ताममताकृत एव । तयोरेवाऽविद्याकार्यत्वात् । देहादीनां प्रपञ्चमध्यपातित्वेन भगवत्कार्यत्वात् । देहादिषु च जीवस्य सम्बन्धान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् एव सम्बन्धरूपे । अत एवाहन्ममेति बुद्धेरविद्याकार्यत्वेन देहादित उक्तवैलक्षण्यमस्तीति ज्ञापनाय बाह्यत्वनिरूपणम् । अत एव ज्ञाननाश्रयत्वं तयोरेव । न च पुरदशैवानन्तरमस्योक्तत्वात् तन्मध्यपातीदमित्तिवाच्यम् । पुरमध्यपातित्वेनैवाऽभिप्रेतत्वात् । अत एवैतद्व्याख्याने “ नवद्वारं द्विहस्ताङ्गुलिम् ” (अ. २९-४) इत्येतावन्मात्रमुक्त्वा “ तथाऽमनुत् साध्विति ” इत्युक्तवान् । अन्या साध्वाननोक्तिरनुपपन्ना तथा । विषयभोगोपयोगित्वेन बाह्यत्वं सन्माननं तददर्शने कृतं तथा मन्येतेति । यद्वा उभयोर्जीवान्तर्यामिणोर्मध्यमन्तरायरूपं विषयपरिनिष्ठतुद्धिसहितं पुरमित्यर्थः । “ निबन्धायाऽऽसुरी मता ” इतिवाक्यादुक्तसामर्थ्याच्च तथात्वादिति ॥ १७३ ॥

पुरप्रवेशस्य जन्मरूपत्वात्तस्य च द्विरूपत्वात्कीदृशमत्र जन्मोच्यत इत्याशङ्क्याऽभावायोभयानुवादात्पूर्वं तन्निर्धारमाह जन्मादीति ।

निबन्धः—जन्मादि द्विविधं लोके पञ्चाग्निप्रक्रमेण हि ॥

एकः स नाऽत्र वक्तव्यः पूर्वं दोषस्य सम्भवात् ॥१७४॥

ते इति, अहन्ताममेते । अत्र गमकमाहुः अत एवेत्यादि । अत इति सम्बन्धरूपत्वात् । उक्तवैलक्षण्यमिति, सम्बन्धिभ्यो भिन्नत्वात्तद्वैलक्षण्यम् । तथा च, पुरवैलक्षण्यत्वाद्बाह्यत्वेन कथनं वस्तुतस्तु पुरान्तःपातित्वमेवेत्यर्थः । नन्वेवं सति पुरदर्शनेोचरं भिन्नतया कथनमस्य विरुद्धवत् इत्याशङ्क्याऽपि प्रमाणान्तरार्थपत्त्या तथात्वपुनपादयन्ति, न चेत्यादि । तददर्शन इति, अहंममेत्वेनादर्शने । तथा च, तादृशविषयादिविशिष्टे देहेऽहंममेत्वेनादर्शने तस्य विषयभोगानुपयोगित्वात्साधु माननं न सङ्गच्छेतेति तदन्यथानुपपत्त्या तत्कारणीभूतोऽध्यासोपि पुरान्तःपाती पुरवैलक्षण्यत्वाच्च तस्याः सकाशाद्बाह्य इतिवाक्यद्वयसामञ्जसमित्यर्थः । अत लक्षणया अदुष्टत्वाच्चानुमनुत् साध्वितिवाक्ये “ तत्रेतिपदस्याजहत्सर्वार्था पुरतस्सम्बन्धिबोधनेपि बाधकाभावाद् गृहादिषु विषयेषु भोगोपयोगित्वेन पुरबाह्यत्वेपि साधुसन्माननोपपत्तेर्नदमन्तःपातित्वसाधिकमित्यलक्ष्या पदान्तरमाहुः, यद्वा उभयोरित्यादि । अस्मिन्पक्षे तथाप्यं समुच्चयार्थकम् । गृहादिसहितो देहः पुररूपो जीवान्तर्यामिणोन्तरायरूपश्चेत्यर्थः । तथात्वादिति, अन्तरायरूपत्वात् । तथा च, गृहादीनां बाह्यत्वेप्युपार्थव्यान्यायेनान्तःपातित्वात्सार्थतस्य पुरस्य नायुक्तमित्यर्थः । ॥ १७३ ॥ (मूले) पूर्वं दोषस्य सम्भवादिति । अत्र हि सर्वज्ञेशावहंसंसारबोधनाय नारदः प्रवृत्त इति तन्निष्ठुत्पुन्यभोगिजन्मानत्र न विवक्षितम्, किन्तु, पूर्वं पूर्वप्रज्ञासाधितं

प्रकाशः—वेदान्तविज्ञानार्थं पञ्चाग्निविषया साधितमेकम् । “जायस्य त्रियस्ये” तितृतीयमार्गीये द्वितीयम् । तत्रायं तत्र नोच्यते, तत्र हेतुः पूर्वं दोषस्येति । तस्य निर्दोषतादितिभावः । द्वितीयनिरूपणेप्ययमेव हेतुः, अतो द्वितीयं तत्र निरूप्यते दोषसाध्यतादिस्य ॥१७४॥

पूर्वांक्तं दोषमेव विवृणोति पूर्वं जीवेच्छयेति ।

निबन्धः—जायस्येति द्वितीयस्तु पूर्वं जीवेच्छया तथा ॥

ईश्वरत्वादानासक्तैर्हरिस्तत्कामतः कृती ॥१७५॥

प्रकाशः—“ कामान् कामयमानोऽसौ ” इत्यनेन विषयभोगेच्छया निरूपणात्तस्याच्च “ आद्यं ज्ञानमेतेन ” इति वाक्याज्ज्ञानप्रतिपक्षतया दोषरूपत्वात्तादृशमेव जन्मोच्यत इत्यर्थः । ननु जीवान्तर्यामिणोः सहैव प्रवेशात् स्थितेश्च प्रत्येकं विना जीवस्यासमर्थत्वेनैतस्यैव सर्वकृतत्वाच्च जीवस्यैवान्तर्यामिणोपि कथं जन्मादिरूपः संसारो नोच्यत इत्यत आह ईश्वरत्वादिति । सहभावेपि न हि जीव इवातन्त्यामी बुद्ध्याद्यधीनः, किं तु स्वतन्त्रः । जन्मादीनां च कालकर्माधीन एव भावाभास्तिस्तथात्वम् । मायामोहाभावेन जीवत्वाभावाच्च । किं च प्रयोजककृतत्वेपि महाराजस्येव बन्धकं कर्म स्थाय्यासक्त्या कारयेत्स च नेदृश इति न तथा । अत एव “अनस्रन्नन्यो अभिचाकरीति” इति श्रुतिः । किं च जीवस्तु दुःखी, अयं तु तस्यापि द्रुक्सहर्षा ज्ञानद्वारा, “ सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय ” इत्युचनीचभावेन भगवत एव प्राकृत्यकाभ्रनयान्तर्यामिणस्तथात्वाच्च संसारिरमित्यर्थः । अथवा तस्य जीवस्य कामतः कामनया परं हरिः कृती कृतिमान् प्रेरकत्वात्साध्या कृतिरित्यर्थः । अत्रायं भावः । देहमात्स्यनन्तरं हि कर्मकरणेन बन्धः । अत्र च तस्मात्पूर्वमेव जीवस्य काम उच्यते, स चान्तर्यामिप्रेरणं विना न सम्भतीति यथा देहप्राप्तेः पूर्वमपि प्रेरकत्वेपि न तस्य संसारित्वं तथाऽग्नेमिति । कामाभावे हेतुरनासक्तैः । आसक्तो हि कामयेत् । अत्रापि हेतुरीश्वरत्वादिति । तथा सति कर्मणां बन्धसम्भवेन तदधीनत्वेऽनीश्वरत्वं स्यात् ॥१७५॥ देहप्राप्तेः पूर्वं बुद्ध्यादिनिरूपणस्य तात्पर्यमाह लिङ्गनेति साधनं ।

लौकिकं दोषस्य द्वाध्यासस्य तादृशजन्मनैव सम्भवादुत्पत्तेरित्यर्थः । तस्येति, वैदिकस्य ॥ १७४ ॥ तथात्वमिति, संसारित्वम् । तथात्वादिति, उच्यत्वात् । अस्मिन्पक्षे कृतीतिपदस्य कुशल इत्यर्थः । तदेवात्र विवृतं न संसारित्वमित्यनेन । अस्य लौकिकप्रकरणत्वाद्ब्र वैदिको भगवदीयः कामः किमर्थं प्राञ्च इत्यलक्ष्या पदान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तथा सतीति आसक्तत्वे सति ॥ १७५ ॥ बुद्ध्यादिनिरूपणस्येति । ‘यदच्छये’त्यारभ्य ‘गजगामिनी’-

निबन्धः—लिङ्गेन सहितो जीवः स्थूलदेहे सुखी भवेत् ।  
अतो गर्भप्रवेशाद्दि पूर्वं कृष्णविनिर्मिते ॥ १७६ ॥  
बुद्धिप्राणेन्द्रियगणे तदध्यासोऽनुवर्ष्यते ॥

प्रकाशः—लिङ्गशरीरेणेत्यर्थः । अध्यासस्याऽविद्याकार्यत्वेन बुद्ध्यादीनामपि तथात-  
मिति शङ्कावारणाय कृष्णनिर्मित इति विशेषणम् । “इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं  
मियः” इत्यन्तस्य तात्पर्यमुक्तम् ॥ १७६ ॥

“तां प्रविश्य पुरी” मित्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यं वदंस्तरं बुद्ध्यादीनां स्वरूपमाह देहात्मेति ।

निबन्धः—देहात्प्रमत्तिरेषा हि तथा स्थूलेन्द्रियादि च ॥ १७७ ॥

पुस्त्वं स्वतन्त्रता तस्य पारतन्त्र्यं तथेतरत् ॥

प्रकाशः—एतेन देहाध्यासो निरूपितः । अविद्यापरिवृत्तत्वाद्भ्रायं युक्त इति  
द्विशब्दः । “सप्तोपरि” इत्यादिना स्थूलेन्द्रियाण्युक्तानि । तान्यप्यव्यस्तान्येवेति  
ज्ञापनाय तथेति पदम् । १७७ ॥ ननु पुंस्तादयो धर्मा हि देहस्य, अत्र च  
तत्प्राप्तेः पूर्वं जीवे तथा कथनं नोपपन्नमित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाह पुस्त्वं-

मित्यन्तस्य । अध्यासस्येति, इन्द्रियान्तःकरणध्यासस्य । सोयमध्यासो मूले, “वदर्थं  
प्रमदोचमामि”ति दर्शनक्रियोच्यते । “इति तौ दम्पती” इति समयसंबादेन तद्देहाब्धि-  
मुच्यते । ममाहमितियुक्तमित्यनेन च व्याख्यायते । अत्रैवं ज्ञेयम् । बुद्धिः प्रमदा, तस्या  
उचमता अविद्या संबलितत्वम् । दशभृत्या दशेन्द्रियाणि । तेषां च सखित्वं ज्ञानकर्म-  
करणेन बुद्धिसहायत्वम् । तथैव तदवृत्तीनामपि सखीत्वम् । एकैकशतपदेन यदत्रोक्तं, तदेव  
बृहद्भूत्वेन व्याख्यातं मनः । तस्य बहिर्विषयकज्ञानादाविन्द्रियाधीनत्वाद्भयेन्द्रियाणि नायकानि  
यस्येति बृहद्भूलूपत्वम् । ‘एकादशमहाभटा’ इत्यत्र तस्य भिन्नतयाप्युक्तत्वाच्छतानायाकत्वमपि ।

तस्याः म्रीडा चोचमत्वकृता, सा च जीवे भगवदीयत्वादिशङ्कया । अभगवदीयत्वादिकोटिस्फूर्त्तया  
गजगामिनीत्वम् । एकतरनिश्चये तु पलायते या श्रीम्रमागत्याक्रियेद्वा । न तु कटाक्षेण  
स्पृशेत् । तेन स्पृशेत्तरनिश्चयार्थमेव तथा कृतः । तत्राप्राज्ञपुत्रादयो ज्ञापमाना धर्माक्षेपां  
च जीवस्य व्यामोहेन करणत्वं स्पृशमेव, तथैव स्नेहादीनां तदवृत्तीनां व्यापारत्वापि । स्पृशेत्  
तत्कार्योऽध्यासः । स च पुरीप्रवेशात्पूर्वमिति लिङ्गशरीराध्यासरूपः सिद्धयति । तदेतदुक्त-  
मध्यासस्येत्यादिना ॥ १७६ ॥ अतः परं देहाध्यासोऽवशिष्यते तद्गद्गः, ताभित्यादि । एतेनेति  
‘तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदते शतं समा’ इत्यत्र पुरीप्रवेशोत्तरं मोदकथनेन निरूपित इत्यर्थः ।  
अध्यासानीति, तेषां स्थूलदेहावयववस्तुत्वेन तदध्यास एतान्बन्धयत्प्रज्ञानि, ममाहमितियुक्त-

मिति । श्रुतिभागवतायनधीनो हि देहान्तरं एत इति ज्ञापनाय पुम्भयोग इतिभावः ।  
इतरत्स्वीत्वं श्रुत्याद्यधीनत्वम् । अत एव तस्यामये भक्त्युत्पत्तिं वक्ष्यति ॥ १७७ ॥  
निबन्धः—तस्याः स्वीत्वं तु मायात्वाद्देहिस्तद्भर्मासिद्धये ॥ १७८ ॥

वाक्योक्तिः स्वेच्छतासिद्धये देवत्वान्छोकवत्तथा ॥

प्रकाशः—तस्या बुद्धेः । अस्याः स्वीत्वं न पूर्ववत् किंत्वेतदधीनो जीव इति  
तद्वयवच्छेदाय तुशब्दः । तच्चे हेतुमायात्वादि । देहात्मभावरूपत्वात्स्या  
अविद्यारूपत्वेनाऽविद्यायाश्च मोहकत्वेन स्त्रीरूपतया चाऽस्या अपि स्त्रीत्वमित्यर्थः ।  
ततः किमत आह बहिरिति । मोहितो हि मोहकानुवृत्तिं कृत्वे,  
तथा चास्या मायात्वेन मोहकत्वे सिद्धे चान्तरत्वेनैतद्दर्माणां यथा बहिरपि  
सिद्धिर्भवति तदर्थं तथोक्तमित्यर्थः । तदेतत् “कचित्पिबन्त्याम्” इत्या-  
दिना निरूपितम् ॥ १७८ ॥ जीववाक्यानां तात्पर्यं वदंस्तरंयोजनमाह स्वेच्छतेति ।  
यत्स्वस्य चिकीर्षितं तदेव नेत्रस्या अपि भवेत्तदा पुर्यां तथा सह भोगे स्वस्य  
स्वाच्छन्द्यं भवेत्, नो चेत्सशङ्कतया भोगे यथेष्टा प्रवृत्तिर्न स्यादिति तत्सिद्धयर्थं  
जीववाक्योक्तिरित्यर्थः । ननु तान्बोष्टपुष्टव्यापाराभावेन कथमुक्तिरित्यत आह  
देवत्वादिति । आपिदेविकरूपे कारणरूपाणां तान्वादिनां सत्त्वात्तथा । अत एव  
“चक्षुस्त्वगायत” इत्यादिश्रुतिः । तृतीयस्कन्धे च तत्त्वानां स्तुतिः । तर्हि  
देवत्वेऽवश्यं तत्स्वरूपमपि जानात्येव तत्कथं ‘का त्वम्’ इत्यादिप्रश्न इत्यत आह  
श्लोकवत्तथेति । यथा कामकोऽपूर्वां कामिनां दृष्ट्वा तत्सङ्गस्याश्च दृष्ट्वा तामात्म-  
सात्कर्तुं ज्ञात्वाऽपि रसार्थं पृच्छति तथेत्यर्थः ॥ १७८ ॥

अये निषेधार्थं ‘त्वं ही’ इत्यादिविकल्पाः कुत इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाह लीलेति ।

निबन्धः—लीलाविग्रहसम्बन्धे ब्रह्मादीनां मतिर्न सा ॥ १७९ ॥

अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतरथेव न संशयः ॥

निराकृतिरतस्तासां पार्थिवत्वमतिस्त्वतः ॥ १८० ॥

प्रकाशः—लीलार्थं देहसम्बन्धेपि देहात्ममतिस्तेषां नास्तीति ज्ञापयितुं तत्सम्ब-  
न्धिनीनां निरूपणमित्यर्थः ॥ १७९ ॥ इयं तु देहात्ममतिरूपेति तासां निराकरणम्, निराकृतौ  
तात्पर्यान्तरमप्यस्तीत्याह, अयोग्यमिति । युर्वेदानादिकामनायां पतरथेवेत्यपि  
ज्ञापनाय “नाऽसं करोरु” इत्यनेन तासां ह्यार्थानां निराकृतिः । तत्र हेतुः ।

मित्यनेनैवं सङ्गृहीतानीत्यर्थः ॥ १७९ ॥ श्रुतिभागवतायनधीन इत्यादि । तथा च शास्त्राननुव-  
र्तित्वरूपं स्वातन्त्र्यमेव तस्य पुंस्तमित्यर्थः । यथेति यथामोहितः ॥ १७८ ॥ १७९ ॥



पार्थिवत्वेन पृथिवीविकारत्वेनाऽऽत्मनि या मतिर्देहात्मतिरिति यावत्तद्रूपत्वम् । एतदेव मूले 'स्रविस्पृगिति' पदेनोच्यते ॥ १८० ॥

नन्वयं हि लिङ्गशरीराध्यास उच्यते, तस्य स्थूलदेहप्राप्तिहेतुत्वात् । तथा च ब्रह्मादीनामपि स्थूलदेहसत्त्वात्तदेतुर्बुद्धिप्राणन्द्रियगणाध्यासोऽवश्यं वाच्यः । ते च निरूप्यमाणरूपा एवेति कथं ब्रह्मादीनां मतिने सेव्युच्यत इत्याशङ्क्य तदीयानां तेषां स्वरूपमाह ज्ञानयोगमया इति ।

**निबन्धः—ज्ञानयोगमयास्तेषामिच्छामात्रप्रकाशिनः ॥**

**मायात्वंसिद्धये शङ्का तु प्रार्थनाऽन्यस्य सम्भवात् ॥ १८१ ॥**

**प्रकाशः—**ते हि योगिनो ज्ञानपूर्णाश्च । तथा च ज्ञानमथाना बुद्धिचक्षुराद्रयो ज्ञानमयाः । क्रियाप्रधानाः प्राणवागाद्रयो योगमया इत्यर्थः । तयोस्तथाभावे हेतुः इच्छामात्रेति । यदेव भगवदिच्छा भवत्येभिर्जाैवैतानि कार्याणि करिष्य इति तेषामेव वा, तदा तेषु तदुभयसत्त्वाच्चाभ्यामेव देहेन्द्रियादयः पूर्वमेव सत्पादिताः प्रकाशयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । तथा च ज्ञानादिरूपत्वेनाहङ्काराजन्पत्वादिच्छामात्राधीनत्वेन मायानधीनत्वात्कार्याविद्यापर्वणामपि देहाध्यासानामभाव इतिभावः । नन्वियमपि तादृश्येवेति चेन्नेत्याह मायात्वेति । तुशब्दस्तादृशत्वव्यवच्छेदकः । 'त्वं च्हीः' इत्यादिशङ्का या तस्यां सा मायात्वमेव साधयति । अन्यथेकतरनिर्दारमेव कुर्यात्समानरूपत्वात् । "तासां वरोर्ध्वयतमा" इति न वदेत् । अतो मोहिहात्वात्पूर्वमयथारूपाणि स्वात्मन्युत्तमत्वेन स्थापितवतीति सा मायारूपैवेत्यर्थः । अत एवाऽन्यं कञ्चन मोहयित्वा मा रमयतिरिति शङ्कया "पुरीमिमाम्" इत्यादिप्रार्थनां कृतवान् ॥ १८१ ॥

**निबन्धः—तत्सन्निध्ये स्वतः स्थातुमशक्तस्तादृशं जगौ ॥**

**देवतात्वेन वाक् तस्या जीवसन्निधितोऽपि च ॥ १८२ ॥**

**प्रकाशः—**किंच यद्यपि सा न किञ्चिदिदानीं करोति, तथापि तस्याः सन्निधि-  
मन्त्रिणाऽपि तां विना क्षणमपि स्थातुमशक्तः सन् "त्वयोपसृष्टो भगवान् मनो-  
त इति, बुद्धिप्राणादय इतीति लिङ्गशरीराध्यासं विना स्थूलेन कार्यासिद्धया ब्रह्मादिनामपि लिङ्गशरीराध्यासस्यावश्यकत्वात्तदुभयसत्त्वात् द्विति, ज्ञानयोगयोः सत्त्वात्ताभ्यामित्यत्र प्रकाशयुक्ता इत्यनेन सम्बन्धः । स्थापितवतीति, 'अनेनेभि'त्यत्रोक्तया रीत्या व्यत्यसेन रूपात्मा प्रकाशितवती । ( मूले ) प्रार्थनानुस्य सम्भवादित्यस्यार्थमाहुः अत एवेत्यादि ॥ १८१ ॥  
तत्सन्निध्येत्यस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि ।

भवः" इत्याशुक्तवान् । देहात्ममत्तिसन्निध्ये सति देहं विना स्थातुमशक्तो वा तथोक्तवान् । तथा च जीववाचयैस्तस्या मोहकत्वेन मायात्वमेव सिद्धयतीतिभावः । इदानीं बुद्धिवाक्यानि विचारार्थैस्तद्वचने पूर्ववदेनोपपत्तिमाह देवतात्वेनेति । ननु जीवस्य चेतनत्वेन देवत्वं युक्तं न तस्या नटत्वात् । अस्तु वाधिदेविक्याथेतनत्वम्, तथाप्यत्र तु भौतिक्या एव वचनानां वाच्यत्वात्कथमुक्तिरित्यत आह जीवसन्निधित इति । अपिना पूर्वसमुच्चयः । चकारात् प्राणन्द्रियसन्निध्यादपि ॥ १८२ ॥ अत्र हि "कस्यासी"ति प्रश्नस्योत्तरं "न विदाम् वचम्" इत्यादिना स्वस्य परस्यापीत्यादिना जीवादेशेऽपि कर्तृज्ञानमेवोक्तं तथा । तथा चैतेनापि भगवत्कर्तृत्वमेवायाति बुद्ध्यादीनां न मायिकत्वमित्याह अनेनेवेति ।  
**निबन्धः—अनेनेव मताः सर्वे विरुद्धा विनिवारिताः ॥**

**मूलज्ञाने स्वनाशाः स्यान्वरूपे त्वस्ति रूपतः ॥ १८३ ॥**

**प्रकाशः—**चिरुद्धा इति ये मताः अभिमता मायावादादयस्त इत्यर्थः । न च 'न विदामे'-  
तिपदेन भावरूपमज्ञानमेव कारणतया तयोक्तमित्वाच्यम्, तस्य जीवनिष्ठत्वेनोत्तमपुरुष-  
मयोगानुपपत्तेः । न च बहुवचनात्त्वस्मिन्नेव जीवं मेलयित्वा वदतीति तथा

इतिभाव इति, इति हेतोर्न ह्य्चादिसदृशीतिभावः । पूर्वं समुच्चय इति,

देवतात्वसमुच्चयः ॥ १८२ ॥ ननु बुद्धेर्कृत्रीत्याय देवतात्वाऽङ्गीकारो न युक्तः । तस्या अविद्यार्थत्वेन मायिकत्वात् । न च वाक्यवक्तृत्वानुपपत्तिः । स्वात्मिक-  
पुरुषाणामिव तस्या अपि तथात्वसम्भवादित्याशङ्कं वारिषिषु द्वावथायै विचारयन्तः कारणा-  
मवतारयन्ति अत्रेत्यादि । अत्र बुद्धिवाक्येषु 'कस्यासि' 'कस्य पुत्र्यसीति' प्रश्नस्योत्तरं 'न  
विदामे'त्यादिना श्लोकेन वर्तते । तत्रालनश्च परस्यापीत्यादिना स्वस्य जीवादेशे यः कर्त्ता  
जनकस्तस्याज्ञानमेवोक्तं तथा, तथा चैतेन स्वपरजनकस्वगोत्रनामकारकाज्ञानकथनेनापि कार्यदर्शनतः  
अज्ञातस्य भगवत एव कर्तृत्वमायातीति न मायिकत्वं बुद्ध्यादीनामित्यहेत्यर्थः । ( मूले )  
अनेनेवेति स्वप्रादिजनकाज्ञानकथनेनेव । नन्वभिस्यवाक्ये, 'न विदामे'त्यनेन भावरूपाज्ञानं  
परापृथग्यमिमवाक्यस्थं विदामेति क्रियां चादायोक्तसर्वकारणविषयकज्ञानमेव तयोक्तम्, न तु  
तदज्ञानमतो न भगवत्कर्तृत्वं बुद्ध्यादीनां वक्तुं शक्यमित्याशङ्कायां तदनूप दूषयति, न  
चेत्यादि । ननु यथमित्यनेन जीवमपि स्वमध्ये निवेश्य तथा वच्चीति नोत्तमपुरुषानुपपत्तिरित्यत  
आहुः न च वह्नित्यादि । अज्ञानस्य कर्तृत्वज्ञानं जीवस्य तस्मिन् मेलनं च कर्तृत्वादि-  
शुच्यब्रह्मज्ञानादपरोक्षात्, तादृशं तु ज्ञानं सकर्त्तव्यविद्यानाशकमतोऽयं तथात्वे त्वज्ञानकार्या-  
यास्तस्याः स्वरूपमेव न स्यादिति दूरापासं तथावचनमित्यर्थः । ननु जीवस्य तादृशज्ञानवत्त्वं

प्रयोग इतिवाच्यम् । एवं हि तदा 'वदेद्यदि सा तत्त्वज्ञा स्यान्न चैवम् । तथा च सति सैव न स्यात्, जीव एव ज्ञानसम्भवाच्चेति । एतदेव मनसि कृत्वाह मूलज्ञान इति । भगवज्ज्ञाने लविद्यानाशादेश्चाल्मन्तेः स्वरूपनाश एव स्यादित्यर्थः । ननु मायास्वरूपमपीयं न जानातीति तदेवानयोच्यते । न च 'परस्यापी'त्यादिना जीवादिऋतुविषयस्याऽप्यज्ञानस्योक्तत्वात्साविद्यायाः स्वस्मिन् कारणतासम्भवात्तत्र च जीवाविद्याकार्यत्वेनैव तदभिमतत्वाच्च तथेतिवाच्यम् । जीवस्याऽनाद्यविद्याकल्पित्वेन तत्स्वरूपस्याप्यज्ञानत्वेनैतदेव परस्याप्यादिनोच्यते यत्, इति चेद्, अत्र ब्रूमः । यदि जीवस्य जीवत्वमनाशे तदा तस्याऽविद्याकल्पितत्वे किं मानम् ? विद्यया तन्नाश एव, इति चेन्न, न, विद्ययाऽविद्याकार्यसंसारनाश एव, न तु भगवत्कार्यप्र-पञ्चस्येति पूर्ववैतन्निरासात् । किं चैवं स्वरूपहानिरुपतां मोक्षे वैदंस्तस्य च पुरुषार्थ-त्वेनोपादेयतां वदन्निरपन्नपोसि । ननु जीवभावसन्धान्युक्तस्यापि पुनः संसारित्वं स्यादिति चेन्न । तत्कारणाविद्याया नाशात्, सततं भगवत्सङ्गतत्वात् "मासुपेत्य तु

तत्सत्त्वाभावं न तु तदीयमपीयत आहुः जीव इत्यादि । सा हि जीवं स्वस्मिन् मेलयित्वा वदतीति त्वयोच्यत इति जीवे एव ज्ञानमागतम् । अंनया तु पटादिवत्केवलजडत्वादेव ज्ञानासम्भव इत्युभयपि वाक्यकथनस्यैवानुपपत्तिरित्यर्थं मनसिकृत्वोहः इत्यर्थः । एवमज्ञाननिष्ठ-कर्तृत्वज्ञानपक्षे दूषिते तत्स्वरूपविषयकाज्ञानपक्षमादाय पुनः शङ्कते ननु माषेत्यादि । ननु मायास्वरूपाज्ञानमत्र न वक्तुं शक्यम्, परस्यापीत्यनेन जीवपाणादिकर्तृविषयकाज्ञानस्यापि तत्रोक्तत्वात् । स्वादिरूपस्य कार्यस्य प्रतीतिसिद्धत्वेन तत्र कर्मप्रेश्यायां स्वाद्यविद्यायाः कारणत्वस्यात्माश्रयान्योन्याश्रयाभ्यां वक्तुमशक्यत्वेन जीवाविद्याया एव कर्तृत्वत्व तथा वाच्यत्वात्मायास्वरूपाज्ञानमस्यात्त्वया न वक्तुं शक्यमिति सिद्धान्तिशङ्कां न चेत्यादिनानु-समाधत्ते, इतिवैश्वेत्यादि । अज्ञानत्वेनेति जीवकल्पिकाऽविद्यास्वरूपस्यानादित्वादज्ञानत्वेन परस्यापीत्यादिनापि मायास्वरूपाज्ञानमेवोच्यते यतोऽतो न बुद्ध्यादीनां भगवत्कर्तृत्वमित्यर्थः । अत्र समादधते, अत्र ब्रूम इत्यादि । पूर्वमेव तन्निरासादिति, शास्त्रार्थप्रकरण एव जीवस्वरूपस्य कल्पितत्वनिरासात् । ननु यथा अविद्यापक्षे भवद्भिर्न मन्यते, तथा भगवत्पक्षे मयापीति तौर्यमिति चेत्तत्राहुः, किञ्चित्स्यादि, भगवत्कर्तृत्वपक्षं न मन्यसे चेन्न मन्येथास्तथापि जीवस्वरू-पस्याविद्याकल्पितत्वं मोक्षस्याविद्यानाशरूपत्वं च त्वयाङ्गीक्रियत एवेति मोक्षस्योपादेयता न साधयितुं शक्येति नारदप्रयासस्तव मते ब्रूयेव स्यादितिमुक्त्वविरोधस्तत्र दुर्बल इत्यर्थः । जीव-भावसत्तादिति, सायुज्ये ब्रह्मभावावङ्गीकरणे जीवभावसत्त्वात् । सततं भगवत्सङ्गतत्वादिति, अवलोकितुमादिरूपेण तत्सङ्गतत्वात् । मामित्यादि । उक्तगीतावाक्येन साडोक्या-

कोन्त्ये पुनर्नैव न विद्यते " इत्यादिवाक्यान्नेत्यलं विस्तरेण । तस्याः स्वरूपविषयकं परं ज्ञानमस्ति स्वरूपं पश्यतीति, तदपि न याथात्म्येनेति तद्व्यावर्तकस्तुशब्दः । एतदुक्तमिहाय सन्तमि'त्यनेन ॥ १८३ ॥

ननु प्रार्थितस्यैवाभिन्दनं युक्तं न त्वप्रार्थितस्यापि । तत्र च पुरीप्रवेशमात्रस्य प्रार्थना न शतवर्षाधिकस्य तत्कृतः " शतं समाः " इति वचनमस्या इत्याशङ्क्य तदभिधायमाह अविरक्तिरिति ।

निबन्धः—अविरक्तिर्वैशतमदभ्रवचनान्मत्तम् ॥

अतोऽभिन्दनं त्वन्यनिवृत्तिश्च निरूप्यते ॥ १८४ ॥

प्रकाशः— " कामभोगान् शतं समाः " इतिवाक्येन वर्षशतमध्ये कदाचिदपि न विरक्तिरित्युच्यते । ननुक्तं प्रार्थितार्थस्यैवेत्यादि तत्राह अदभ्रवचनानादिति । प्रार्थनाया'मदभ्रकर्मणे'त्युक्त्या तस्यापि वर्षशतं सम्मतम् । तथाहि यावत्पुर्यां स्थिति-स्तन्मध्ये यदि विरागः स्याद्विषयेषु तदाकमेण देहात्ममतेस्त्यागात्कापञ्चमेव स्यादनया सह पुरप्रवेशकर्मणि । मध्ये अत्यागे षट्प्रलम्प । पुरे च स्थितिः शतावधिकैव, अतो हेतोः " दिष्टयागतोसि " इत्यादिनाऽभिन्दनम् । अन्यशङ्कयैव प्रार्थनायाश्च कृतत्वात् । 'कं तु त्वदन्यमि'त्यादिनाऽन्यनिवृत्तिश्च मूले निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १८४ ॥

अन्तिमश्लोकस्य शतवर्षमाह क्रियापरत्वं इति ।

निबन्धः—क्रियापरत्वे सिद्धिः स्यादिति बाहोर्हि वर्णनम् ॥

रोदने गीतिरेवाऽत्र गानं निद्रा च वर्णिते ॥ १८५ ॥

प्रकाशः—ज्ञानस्य देहात्ममतिविरोधित्वेन तत्परत्वे स्वयमेव न सिद्धयेदिति क्रिया-परत्तसिद्धयर्थं तत्त्वधानादावैर्षणमितिर्लथः । 'उपगीयमान' इत्यस्य श्लोकस्यार्थं निरूप्य-स्तत्र गानस्वरूपमाह रोदन इति । वात्यसम्बन्धिनी जाग्रदवस्था निद्रा चोच्यते, तत्र रोदनविषये अत्र परोक्षवादे गानमेवाभिमतम् । यद्वा । अत्र लोके यदैवोत्पन्नो रोदिति तदेव सर्वेषां गोविषयतीति रोदनमव गानमिति वर्णितम् । 'हृदिनीमाविश्व' इति निद्रा च वर्णितेत्यर्थः ॥ १८५ ॥

दावपि पुनर्जन्मावस्व मया'दया सिद्धत्वात् । अलं विस्तरेणेत्यनेन दृषणान्तराणामपि सया बोधिता । तानि च तन्मते 'न विदामे'त्यादेर्विधेयकोटिलेन तद्गतबहुवचनस्याविक्षितत्वकल्पनं उपाक्यासदर्थेवादत्वं विद्वन्मण्डनाद्युक्तानि च बोध्यानि । एवं 'न विदामे'तिवाक्यस्यार्थो विचारितः । अग्रिमस्य विचारयन्ति, तस्या इत्यादि । इदं 'स्वरूपे त्वस्ति रूपत' इति चरणस्य विवरणम् ॥ १८३-१८४ ॥ अन्तिमश्लोकस्तेति, 'कस्या मनः स्यादि'त्यस्य ।

“महिषी यद्यदीहेत” इत्यारभ्याध्यायसमाप्तिपर्यन्तस्य तात्पर्यं वदति बुद्धेरिति ।  
निबन्धः—बुद्धेः सर्वत्र मुख्यत्वात्तत्त्वेनाऽन्यस्य सङ्ख्या ॥

बाल्ये जागरणं सुप्तिर्न स्वप्न इति बोधितम् ॥ १८६ ॥

प्रकाशः—सर्वैश्च सर्वकौषेयु । अन्यस्य जीवस्य तत्त्वेन तदनुवर्तित्वेन । ‘सप्तोपरि कृतद्वारः’ इत्यारभ्य “यति जायात्वजोऽन्नवप” इत्यन्तेन भोगसाधनस्थानानां निरूपणाद्भोगस्य च बुद्धयधीनताचक्रिरूपेण बुद्धिप्रज्ञजीवकथये सम्पूह्निरूपिता भवतीति ‘सप्तोपरी’त्यादिप्रत्यय इतिज्ञापनाय समित्युत्पत्तयः । अवस्थाद्वयनिरूपणैवाध्यायसमाप्तेस्तात्पर्यमाह बाल्य इति । अध्यायसमाप्त्येति ज्ञेयम्, ( बाल्ये ) पूर्ववासनाया स्वप्नसम्भवेपि निश्चये प्रमाणाभावात्तथा ॥ १८६ ॥

( अ० २६ ) अग्निमाध्याये स्वप्नावस्थानिरूपणे हेतुमाह किञ्चित्प्रौढ इति ।

निबन्धः—किञ्चित्प्रौढे तदप्याह रूपं चाऽस्यापि वर्णयते ॥

बालत्वात्स्थिरता नास्तीत्यत एवं कथा ततः ॥ १८७ ॥

प्रकाशः—किञ्चित्प्रौढस्य स्वप्नानुभवो भवतीति तादृशे स्वप्नमप्याह । तत्कालीनस्य सपरिकरस्य जीवस्य स्वरूपं च ‘स एकदा मदेधासः’ इति भिर्भिर्णयति । “चचार

अत्रैवं विभागे ज्ञेयम् । ‘का ल्व’मित्यस्य ( ४-२५-२६ ) ‘इहाद्य सन्तमालानं विदाम’ ( ४-२५-३४ ) इत्युत्तरम् । ( ४-२५-२६ ) ‘कुत’ इत्यस्योत्तरं ( ४-२५-३४ ) ‘न ततः परमिति’ । ‘वेनेय निर्मिते’त्यादि ( ४-२५-३४ ) तु स्वसामर्थ्यबोधकम् । सामर्थ्यं शरणतानिमित्तत्वमात्रम् । ( “निमातुत्वमात्रम्” पाठः ) न च विचरन्त्यदमादाश्रयिः कयाचिन्निर्मितं क्लियेतिवाक्यविरोधः । ‘अन्ते या मतिः सा गतिरिति’न्यायेन पूर्वप्रज्ञायाः कर्मोदिसहायमात्रतया तत्रापि पदत्वेन दर्शनस्यैव मुख्यतया निवक्षितत्वादिति । किञ्चिकीर्त्तयौ ( ४-२५-२६ ) त्यस्योत्तरं ‘दिष्टये’त्यादिभिः सप्तभिः ( ४-२५-३६ ) सोपपत्तिकमिति । तत्रेत्यादि तत्र बाल्यसम्बन्धवत्साद्ध्ये रोदनविषये बालस्य मात्रादिकृतं गानमेव परोक्षवादे नास्वसामग्रीरूपत्वेनाभिप्रेतमित्यर्थः । न च परोक्षवादत्वहानिः । एवमुक्त्वापि विवक्षितार्थस्यासूक्ष्म्यं तस्याक्षतत्वात् । ननु गानांशे त्वपरोक्षत्वेति चेन्न, नायं दोषः, मोहप्रसादहर्षाणांमत्रे प्रहणादपरोक्षताया अपि प्रस्तुतोपयोगित्वेन कश्चित्कश्चिद्विवक्षितत्वादिति । अस्मिन्नध्याये बाल्यावस्था तु ‘उपगीयमान’ इतिपद्येन ( ४-२५-४४ ) ‘नैच्छन्ननुकरोत्यश्नः क्लेशात् क्रीडायुगे यथे’त्यद्वेन [ ४-२५-६२ ] च स्फुटतीति ज्ञेयम् । बुद्धयवर्तित्वेनैवात्र जीवकथास्तीत्यत्र गमकमाहः सप्तित्यादि । ‘बोधिभामिति’ पदस्यार्थमाहः अध्यायेत्यादि ॥ १८६ ॥ एवं सपादाष्टादशभिः पञ्चविंशत्तथायो विचारितः ।

पादोनाभ्यां पद्भिर्द्वयार्थमाहुः अग्निमेत्यादि । एतस्याध्यायस्य पूर्वशेषतानोधनाय

शृगयाय” इति सप्तभिः स्वप्नस्वरूपं च । ननु गन्धर्वनगरत्वेनैव स्वप्नरूपनिरूपणं तत्त्वेष्वनितस्युखाभिमतिनिर्वृत्तत्वेन जीवस्वरूपनिरूपणं च कुतो न कुतं भवात्तव्यामिव । कृतश्च शृगयारूपं क्लिष्टं निरूपितमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह बालत्वादिति । अत्र हि बालस्यैव किञ्चित्प्रौढस्याऽवस्थाच्यते । स चाऽस्थिर इति शृगयायां च तादृशत्वं भवतीत्येवस्थाया कथोक्तैत्यर्थः । यदा । न स्वप्न इतिबोधिभामित्युक्ते, तर्हि किं साऽवस्थैव नास्तोत्याशङ्क्यायां नेत्याह । किञ्चित्प्रौढे स्वममप्याहाऽग्निमाध्याये । “सप्तोपरी”त्यादिना पुरस्य स्वरूपमपि वर्णयते । चकाराचत्तत्कार्यं च । ननु “महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्भवत्त” इत्येतावथैव सर्वोक्तिः “कचित्पितृवन्त्याय” इत्यादेः किं प्रयोजनमत आह बालत्वादिति ॥ १८७ ॥

दशभिः स्वप्ननिरूपणानन्तरं तदध्याय एवाऽग्निमकराणान् विभजते आक्रोश इति ।

निबन्धः—आक्रोशश्चाऽनुसन्धानं चिन्तनं चाऽपि वर्णयते ॥

प्रौढस्य तु कथा प्रोक्ता दृढासक्तेरनन्तरम् ॥ १८८ ॥

प्रकाशः—“ततः क्षुत्तृपरिश्रान्तः” इति पृथिराक्रोशः । चकाराद्रामाणासुत्तरञ्च । तद्विभिरनुसन्धानम् । ततः पद्मिञ्चिन्तनम् । चः समुद्ये । संसारित्वेन बहिर्मुखत्वेपि चिन्तनेतद्बहिर्मुखाद्वास्वणकुलादयश्च मुररिगोदांसादितरत्रेत्युक्तमित्यपिशब्दार्थः । अध्यायार्थेषुपसंहरति प्रौढस्येति ।

( अ. २७ ) अग्निमाध्यायार्थे विचारयस्तत्र विनश्यत्तायाः कथमध्यायैत्वं शृवादिस्मृतेरपि निरूपणादितिशङ्क्यायां तत्रोपपत्तिमाह दृढासक्तेरिति । विनश्यता हि विनाशकारणसामग्रीसाक्षिण्यं जीवस्य जराज्वरादिसम्बन्ध एव हि सा । सा च देहादिविषयदृढासक्त्यनन्तरमाविभिर्दोहाम्बुद्विक्रमेस्तादृगिन्द्रियपरिणामबुद्धिदृष्टिविषय-भोगैश्च सम्पाद्यते । अन्याथा वेद्योगान् न स्यात्तदा जरादिसम्बन्ध एव न स्यात् । तथा च तन्निरूपणं विनश्यत्तानिरूपणमेतैत्यर्थः ॥ १८८ ॥

निबन्धः—देहात्मबुद्ध्या यत्सिद्धयेत्तद्वि तस्य प्रपञ्च्यते ॥

प्रौढस्य राजसत्त्वादि महिषी साऽपि तादृशी ॥ १८९ ॥

किञ्चित्प्रौढेतिपद्यस्य व्याख्यानान्तरमाह, यद्वेत्यादि । अस्मिन्पक्षे अवं क्लोचः पूर्वाध्यायार्थ-स्यैव सद्वाहक इति सपादोर्नविशतिभिस्तद्व्याप्तिः पादोर्नानास्येतिबोध्यम्, उचरमिति, एकेनोत्तरम् । प्रौढेत्येति, किञ्चित्प्रौढस्यातिप्रौढस्य चेत्यर्थः ॥ १८७ ॥

अतः परमदृभिः सप्तविंशत्तथायार्थमाहुः अग्निमेत्यादि । तन्निरूपणमिति, पुत्रादिसम्पत्तिनिरूपणम् ॥ १८९ ॥

प्रकाशः— अत एव देहात्मबुद्धेरवाऽत्र प्राधान्यमित्याद्यश्लोके तस्याः स्वातन्त्र्यं निरूपितम् । देहात्ममत्प्रभावे वक्ष्यमाणस्य कस्याऽप्यसम्भवात्तत्कारणत्वेन तस्याः कथनं युक्तमिति हिंशब्दार्थः । तामस्या अपि देहात्मबुद्धेः “इत्थं पुरञ्जनम्” इत्यादिना राजसीत्वेन निरूपणे हेतुमाह ऋषिः । साऽपि तामस्यपि तादृशी राजसीत्यर्थः । महिषीत्वाद्वाजानुगुणत्वं युक्तमिति हिंशब्दार्थः । विषयभोगे रजोगुणस्यैव प्रयोजकत्वात्सा तद्रोगानुकूलैव जातेत्यर्थः पथैवस्यति ॥ १८९ ॥

इन्द्रियपरिणामादीनां पुत्रादित्वेन निरूपणे तात्पर्यमाह बहिरिति । निबन्धः— बहिर्घोवान् हि संसारो यस्यान्तःकरणेऽपि सः ॥ अतः पुत्रादिसम्पत्तिरविशेषेण वर्णयते ॥ १९० ॥

प्रकाशः— यस्य पुरुषस्य यावान् संसारो बहिरस्ति तावानन्तःकरणेऽप्यस्ति । अन्तःकरणे तद्भावे बहिरपि तदसम्भवादिति ज्ञापनाय बाह्यवपुत्रादिसम्पत्तिरविशेषेणैवान्तरप्युक्तेत्यर्थः । यद्वा ननु सर्वेषां जीवानां तावन्त इन्द्रियपरिणामास्तावत्यो बुद्धिदृष्ट्याद्यथ भवन्त्येवेति न नियमः । केवाञ्चिन्मध्य एव मृतैः सम्भवात् । न च शतवर्षजीविन एवेदमुच्यते इति वाच्यम् । साधारण्यव्याघातात्तत्कथं शतान्येकादशेत्यादीत्युक्तमत आह बहिरिति । पूर्ववद्, बाह्यसंसारस्यान्तःकरणपूर्वकत्वमात्रे यत्सात्पर्यं तस्य सर्वैवाविष्टत्वादतो हेतोः सा सर्वेषां जीवानामविशेषेणैव निरूप्यते इत्यर्थः ॥ १९० ॥ यागे बहिः सर्वसाधारण्यासम्भवाद् “इजे च ऋषिभिः” इत्यस्यार्थमाह स्वल्पेपीति निबन्धः— स्वल्पेऽपि हि मनोराज्यं यथा तत्त्वं वर्णयते ॥

नित्यातिरिक्ते दोषः स्यादर्थेनेति विनिश्चितम् ॥ १९१ ॥

प्रकाशः— इत्यनेनाल्पफलदातृणां तु कल्पदात्प्येऽप्यर्थेऽस्य मनोरथ उच्यते । सोऽपि यथा येन प्रकारेण परोपद्रवरूपेण सोत्राऽस्मिन्वाक्ये कथ्यते इत्यर्थः । तुशब्दो बहिरपि यागपक्षं व्यावर्त्तयति । ननु प्राचीनवर्दिनां त्रैपयिंसाकट्टेलादस्य च तद्विपरीतत्वाद् “यथा भवान्” इति दृष्टान्तोऽयुक्त इत्यत आह नित्यातिरिक्त इति । अग्रिहोत्रादिविषयकातिरिक्त इत्यर्थः । नित्योपयोगित्वेन पश्चाद्विक्रामनया कृतं यत्कर्म तदतिरिक्त इत्यपि श्लेषः । अन्यथा विधिविरोधः स्यादित्येतत्सर्वं सर्वनिर्णयप्रकरणे निरूपितम् । एतदेवाभिसन्धाय विनिश्चितमित्युक्तम् । अत्र च “नानाकाम” इति वचनदातादृशत्वात्कर्मणो दोषजनकत्वमेवेति युक्तो दृष्टान्तः । अत एव “भो भो प्रजापते राजन् पशुन् पश्य स्वयाऽध्वरे” इति सञ्ज्ञस्यपशुदर्शनमपि सञ्चल्यते । अन्यथा तेषां सद्गतश्रवणं विरुद्धयेत् ॥ १९१ ॥

अतः परं “आसत्सद स वै कालः” इत्यादि विचारयति । तत्र दिवसरात्री गन्धर्वत्वेन निरूप्य तैः सह प्राणस्य युद्धनिरूपणाभिप्रायमाह कालस्येति ।

निबन्धः— कालस्य नाशकत्वं हि सर्वथैव सदापि हि ॥

नित्यप्रलयरूपेण सन्ततिर्न निवार्यते ॥ १९२ ॥

प्रकाशः— कालस्तु दिनादिरूपोपि सर्व एव मरणकत्तं । सदापि बाल्यादिव्यपि । तथापि स तु लयो निवार्यते, परं तु चतुर्विधप्रलये नित्यप्रलयरूपेण या सन्ततिः सा न निवार्यते । एतदुक्तं “परिरुष्या विदुष्यन्ति सर्वकामविनिर्मिताथ” इत्यन्त्वेन ग्रन्थेन ॥ १९२ ॥ अग्रिमश्लोकाद्यमाह तत्रेति ।

निबन्धः— तत्र प्राणस्य हेतुत्वमिन्द्रियाणां बलं ततः ॥

इन्द्रियाशक्तितो ज्ञातः स्थूलप्राणपरिक्षयः ॥ १९३ ॥

प्रकाशः— सर्वथा यो नाशस्तत्रिवारणे प्राणस्यैव हेतुत्वम् । प्राणस्थित्यैव देहस्थितेः । इन्द्रियाणामपि बलं प्राणत एव । ननु चिन्ताहेतुप्राणस्यज्ञानमस्य कथमत आह इन्द्रियाणाशक्तित इति । स्थूलेति । महत्कार्यकरणसामर्थ्यमिन्द्रियाणां यस्मात्स्थूलः प्राणः । तादृशं सामर्थ्यमेव वा स्थूलत्वं प्राणानाम् । केवलं जीवनसम्पादकः सूक्ष्मः । अतः कार्याभावेन कारणभावानुमानमित्यर्थः ॥ १९३ ॥ ननु प्राणोन्द्रियादीनां स्वरूपतः सत्त्वात्तैश्च भोगसम्भवाच्चिन्ता कुत इत्यत आह पुत्रादीति ।

निबन्धः— पुत्रादिविषयाः सर्वे कालेन द्विविधाः कृताः ॥

नाशोपयोगराहित्यभेदेनाऽऽस परं स्वतः ॥ १९४ ॥

प्रकाशः— इन्द्रियपरिणामबुद्धिदृष्टिर्ह्यादिविषया इत्यर्थः । अविध्यभेदाद्वा नाशेति ।

ननु कालस्य नित्यप्रलयजनकत्वेन बलिष्ठत्वात्प्राणस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात्वेन युद्धतां किं क्रियत इत्यपेक्षायां प्राणस्य कार्यमाहुः तथापि स तु लयो निवार्यते इति, मरणरूपो लयः प्राणेन निवार्यते इति तस्य कार्यमित्यर्थः । सन्ततिरिति । प्रलयसन्ततिः । इदमेवोपपत्त्या वक्तुमाहुः अग्रिमैत्यादि । अग्रिमश्लोकार्थमिति “ते चण्डवेगानुचरा” इत्यादिश्लोकद्वयार्थम् ; (भा०) मूले ‘प्रजागर’पदेन सुख्यः प्राण उच्यते । इति बोध्यम् । ‘क्षीयमाण’ इति श्लोकस्य [४-२७-१७] तात्पर्यमाहुः ननु चिन्तैत्यादि । कार्याभावेत्यादि । प्रयोगस्तु मम प्राणसामर्थ्यं पूर्वोपेक्षया न्यूनम्, तत्कार्यरूपेन्द्रियसामर्थ्यस्य न्यूनत्वात्, यत्र यत्र कार्यसामर्थ्यस्य न्यूनत्वम् तत्र कार्यकरणसामर्थ्यस्य न्यूनत्वम्, यथा वहिन्वालात् । यत्र नैवं तत्र नैवम्, सद्ग्रहस्ये इति ॥ १९४ ॥

केपाञ्चिन्नाशः केपाञ्चिन्स्थितानामपि कार्योपयोगराहित्यम् । यद्यपि कालः सर्वदा विशिष्टः । न ह्यस्मिँस्तदा काचन नाशोपयोगिनी कृतिः कालेन क्लृपते तदैशान्यस्येन्द्रियादिदृष्टिदर्शनाच्च, तथापि तावति काले गते सर्वत्र सर्वैतथा भवतीति कालकृतमित्युच्यते, परं तु स्वत एवेन्द्रियादिस्तथा भवति तदाह परं स्वत इति । स्वतः परमिन्द्रियादिस्तथा आतेत्यर्थः । तर्हि पूर्वैवेवं कृतो न स्यात् ? न स्यात्, स्वसम्बन्धितत्व-त्कालस्य निमित्तत्वात् । तर्हि स्वत इति कथम् ? इत्यथ, एकस्यैव कालस्य कञ्चित्प्रति-शक्त्यर्थमकलं कञ्चित्प्रतिशक्त्यर्थमित्यात्मकत्वं च इत्यनेन । तत्रावच्छेदकेन भाष्यपत्रमप्यम् । स च तत्तत्सम्बन्धनिरूपकः स स पदार्थ एवेति । यत्र कालसाम्येपि कस्यचिदिन्द्रियादि-सामर्थ्यं नापैति तत्रेश्वरेच्छा प्रारब्धं वा नियामकं हेत्यम् । यद्वा परं स एवेत्यग्निमश्लोकोक्तं भोगोऽज्ञानं च । तद्द्वयं स्वत एव प्रारब्धादेव, न त्विन्द्रियसामर्थ्येनेत्यर्थः ॥ १९४ ॥

इन्द्रियादिसामर्थ्येनाशुभ्रत्वा शरीरसामर्थ्येनाशहेतुं निरूपयति स्वस्यापीति ।  
निबन्धः—स्वस्याप्यशक्तिकरणे कारणं तु जरैव हि ॥

अप्रतीकरणं तस्या वक्तुमाह कथां तथा ॥ १९५ ॥

प्रकाशः—जरासम्बन्धमात्रे निरूप्ये ततो विहितेत्यादिना तत्कथानिरूपणस्य प्रयोजनमाह  
अप्रतीकरणमिति ॥ १९५ ॥

तत्र “कालस्य दुहिता” इत्यादि श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह अनुग्रहादीति ।

निबन्धः—अनुग्रहादिकर्तृत्वादेवता मृत्युबोधिका ॥

विनश्यन्तैवमर्थेव नाशोऽतः परमुच्यते ॥ १९६ ॥

प्रकाशः—अनुग्रहः प्री । आदिशब्देन निग्रहो नारदे । तेन देवता सेति  
ज्ञापितम् । तस्याः कार्यमाह मृत्युबोधिका । यदैव सा प्रविशति तदैव मृत्युरागत

तर्हीति, काले तत्कारकत्वस्योपचारिकत्वेनेन्द्रियाणां स्वतः क्षीयमाणत्वे । तर्हीति स्वसम्बन्धकालस्येन्द्रियाशक्तिजनकत्वे । स स पदार्थ इति, देहसम्बन्धो-त्तरभाषी भोग्यादृष्टसम्पादितो भोग्यपदार्थः । यथा बहुभोजन आलस्यम् । विरुद्ध-भोजने रोगोत्पत्तिः, स्वल्पभोजने बलाभावो, यथोचितभोजने तु सामर्थ्यमिति । अत्र शतवर्षीयात्मकत्वे देहसम्भवः प्रयोजकः । इन्द्रियसामर्थ्ये तु तदुत्तरं सम्बन्धयान उक्त-विषयपदार्थ इति विभागः । तथासतीन्द्रियादिसामर्थ्यं प्रतिकालस्य प्रयोजकत्वं वा सहकारित्वं वा, जनकत्वं तु भोगस्य पदार्थस्य वा । तेन स्वत इत्यस्य भोगाङ्गोऽप्यद्वैत्यः सिद्धयति । ननु कञ्चित्किञ्चिभिन्नारोपि इत्यत इति तत्परिहारायाहुः यत्रेत्यादि । अयं विचारः प्रकृतानुपेक्षत्वाद् व्यर्थ इत्युच्यते न्यायस्यानन्तरमाहुः यदेत्यादि । तेन देवता सेतिज्ञापित-मिति । एतेन बुद्धिमन्थितेषु देवतात्वशरीरित्वाङ्गीकारस्यापि युक्तत्वं बोधितम् । तावत्पर्यन्त

इति ज्ञायत इत्यर्थः । अध्यायार्थेषुप्रसंहरति विनश्यन्तीति । कालेन कृत्वा जीवश-क्तेरभिगमोऽध्यायार्थः । सोऽपि “ एवं कृपणया बुद्ध्या ” इत्येतदन्तो न तु “ अव्यक्तो भीमसैनिकः ” इत्यन्त इति मतनिराकरणार्थैवमेवेत्युक्तम् । तथा हि । अत्र हि जीव-शक्त्यभिभवनिरूपणं न मुख्यप्रयोजनतया, किन्तु नाशहेतुत्वेनेति तेनापि बाध्यम् । तथा च, तदपेक्षेनेन्द्रियादिशक्तिहासेष्वप्यनुगतका विनश्यन्तैव अध्यायार्थत्वेन वक्तुमुच्यते । एतदुक्तमेवमेवेत्यनेन । नन्वसत्त्वेव तथाप्यध्यायस्तदुत्तरिरेवेति चेत्तत्राह एषैवेति । अत्र विनश्यन्तैव निरूप्या सा चा’ऽव्यक्तो भीमसैनिकः’ इत्यन्तनिरूपितार्थैरुपैवेत्यध्यायस्ताव-त्यन्त एवेत्यर्थः ।

( अ. २८ ) अग्रिमाध्यायार्थं प्रतिजानीते नाश इति ॥ १९६ ॥ “ तत्र सैनिका ” इत्यादिश्लोकप्रश्नकार्थं वदैस्तत्र प्रञ्जारादीनामपि नाशकत्वे स्वातन्त्र्यप्रमा-भावायाह उच्यते ।

निबन्धः—ज्वररोगादिसंयुक्ता सर्वनाशकरी तु सा ॥

अधिकारि शरीरं च नाशयत्येव दापतः ॥ १९७ ॥

प्रकाशः—“ याहि मे पृतनायुक्ता ” इति वाक्ये भयेनान्येषां सहभावमात्रस्योक्त-त्वात्तैव नाशकरी । एवं तेषामनुपयोगमाशङ्क्योक्तं संयुक्तेति सर्वेति । देहशक्तिबुद्ध्या-दिनाशकत्वेपि सर्वशोने नाशकत्वं उच्यते उच्यते तत्सहयुता सा तथेत्यर्थः । हरिभक्तशरीरव्यावर्तनाय तुशब्दः । ननु तदैव देहस्याऽनाशनाशस्या नाशकत्वं किं तु “ तदुदितः स हि यो यदनन्तरः ” इति न्यायाद्भयस्त्वेति शङ्कां वारयन्नेव “ प्रादै-यन् सकलां पुरीष ” इत्यादिना सामान्यतो निरूप्य “ कन्योपपद्यो नष्टश्रीः ” इत्यादिना पुनर्विशेषनिरूपणस्य तात्पर्यमाह अधिकारीति । कर्मादिष्वधिकारिरूपं तत्करणसमर्थं यच्छरीरं तन्नष्टश्रीत्वादिदोषकरणतो नाशयत्येवेत्यर्थः ॥ १९७ ॥

ननु चिन्तासमये प्राचीनबुद्धिदृष्ट्यादीनामसम्भवात् “ दुहितुः पुत्रपौत्रौञ्च ” इत्यादि कथं सङ्गच्छत इत्यत आह अन्तस्थ इति ।

निबन्धः—अन्तःस्थ एव विषयः सूक्ष्मरूपेण यः स्थितः ॥

देहत्यागे सर्वनाशो देहमत्या भविष्यति ॥ १९८ ॥

एवेत्यर्थ इति, तथा च, परमतेऽध्यायार्थोत्तिकमकल्पना असङ्गतेवेत्यर्थः । एवमष्टभिः सप्तवि-शाध्यायो विचारितः ।

अतः परं पादोऽनेः षोडशभिरष्टविंशत्यायं विचारयन्ति अग्रिमाध्याये-त्यादि । निरूप्येति, नाशकत्वं निरूप्य । चिन्ताविषय इत्यादि, तथा चात्र

प्रकाशः—विषयचिन्ताविषयः पुत्रादिः । सूक्ष्मरूपेण वासनारूपेण । सर्वस्य बुद्धिदृष्ट्यादेर्नाशो भविष्यति, देहात्ममतिरेव तत्र हेतुः । देहस्यैवात्मत्वेन ज्ञानात्प्यागे सर्वनाशं मन्वानस्तथा चिन्तां कृतवानित्यर्थः ॥ १९८ ॥

पूर्वमनिरूपेणुना च तस्मिन् रूपेण हेतुमाह तद्वेतुरिति ।

निबन्धः—तच्छेतुः कण्ठरोधादि तस्मिन् जातेऽन्वतप्यत ॥

न स्पृतिः कृष्णदेवस्य मरणेपीति तत्कथा ॥१९९॥

जीवे गते तु सर्वेषां गतिस्तस्य बलाद्यमात् ॥

नित्योऽपि विधिहीनश्चेन्नकारयैव नाऽप्यथा ॥२००॥

प्रकाशः—आदिपदेन तत्कार्यं, 'लोकांतरं गतवती'त्यादिना तत्कथनस्य प्रयोजनमाह न स्पृतिरिति । तत्कथा चिन्ताकथा, तदैव भयागमनकथा वा ॥१९९॥ सर्वेषां प्राणादीनाम । तस्य जीवस्य गतिस्तु यमाधीनेत्यर्थः । ब्रह्मांशत्वेनाऽयुक्तत्वेपि यमस्य स्वाधिकारबलात्तथा । ननु “ तं यत्प्रशवोऽनेन ” इति कथमुपपद्यते नित्यत्वेन विहिततात्स्थित्यत् आह नित्योपीति ॥२००॥ ‘अनन्तपार’ इत्यस्यार्थमाह कुटुम्बेति ।

निबन्धः—कुटुम्बपोषणफलमनुभूय चिरं पुनः ॥

देहात्ममतिदाढयेन प्राक्तोऽभूद्वितीर्थे ॥२०१॥

प्रकाशः—“तामेव मनसा” इत्यस्यार्थमाह देहात्ममिति । “यं यं वापि स्मरन् भावम्” इति वाक्यानुसारेण पुनस्तथैवाऽभूदित्युच्यते इत्यर्थः ॥२०१॥

संसारमार्गकथनमुपसंहरन् पुनर्जन्मान्तरस्याप्यान्तरबाह्यकथानुक्तौ हेतुमाह पुरजनेति ।

निबन्धः—पुरज्जनकथा पूर्वसिद्धैवेति न सोच्यते ॥

बहिः कथाऽपि येनाऽयं मुच्यते स निगद्यते ॥२०२॥

प्रकाशः—बहिः कथापि पूर्वसिद्धैवेतिसम्बन्धः । अतः परं येन मार्गेणाऽयं श्लोको भवति स मार्गः “अनन्तरं विदर्भस्य” इत्यादिना निरूप्यत इत्याह येनायमिति ॥२०२॥

बुद्ध्याविद्वेषयत्नेन रूपेण नोच्यन्ते । किन्तु, ये बाह्याः सन्तो वासनारूपेणान्तरत्वमापन्नास्तेभिरेव इत्यर्थः । अनिरूपण इति, चिन्ताया अनिरूपणे । तत्कथनस्येति चिन्ताकारकथनस्य । प्राणादीनामिति, इदं ‘अन्वदन्ननुपया’ इत्यस्य तात्विकं ॥२००३॥

पुनर्जन्मान्तरस्येति, कीजन्मनः । सम्बन्ध इति पदानां पुनः सम्बन्धः । तथा च द्वितीयजन्मन्यान्तरकथापूर्वत्वमेवेति सा नोच्यते, बहिःकथा तु ततो भिन्ना पूर्वसिद्धास्तीति

निबन्धः—बाह्यानामान्तरत्वेन न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥

तदा स्त्रीत्वेन जातस्य यदास्तीत्स्पष्टमेव तत् ॥२०३॥

तथा परोक्षता नाऽयं शब्दमात्रे भविष्यति ॥

(अथापि ह्यविवेकेन ।)

प्रकाशः—ननु संसारमार्गान्मुक्तिमार्गं ह्यन्तरकृत एव विशेषो नाऽन्यः । तथा चैतन्सदृश एव सोपि मार्गः, परमन्तर्गुणतया क्रियमाणत्वेनान्तरोयम, बहिर्मुखतया क्रियमाणत्वेन बाह्यत्वं तस्येति विशेष इत्यतिदेशेनैव ज्ञातुं शक्यत्वात्क्रि-  
शेषनिरूपणे व्यर्थम् । तथाहि, तत्र देहान्ममतिमङ्गलेन्द्रियाद्यध्यासेन च तद्वृत्तित्परिणा-  
माद्यः पुत्रादिसन्तानत्वेनोक्ता यथा तथा भगवानात्मेतिमतिमङ्गलेन तत्र स्नेहे जाते तदुपदेशसङ्गेन हरिसेवास्मिन्श्रवणादिरूपापत्त्वानि, यथा प्रज्वराद्योन्तर्बहिस्ता-  
पकास्तथा तन्निवर्तकोन्तर्बहिस्त्यागो यथा गन्धर्वैरायुःशयस्तथा भगवद्रक्षया तदक्षयः । तदुक्तम्, “तस्यैतं यत्कथो नीतः” इति । यथा जरयेन्द्रियैककल्पं तथा योगेन तज्जयः, यथा प्राकृतबुद्ध्या प्राकृतत्वं तथा ब्रह्मात्मभावतया तद्भाव इति । यदि च विशेषतो निरूपणमेवेष्टं तदा यथान्तराणां बाह्यत्वेन निरूपणं कृतं तथा बाह्याना-  
मपि पदार्थानामान्तरत्वेन निरूपणं कर्तुमुचितं स्यात् । एवं सति स्त्रीत्वेन जातस्यापि सर्वै स्पष्टमेवेति व्यर्थं निरूपणम् । किञ्च, पूर्वं ह्यन्तराणां बाह्यत्वेन निरूपणं कृतम् । प्रकृते च सत्सङ्गसिद्धिपदार्थानां बाह्यानां बाह्यत्वेन निरूपणेन नाऽयं परोक्षता किन्तु शब्द-  
मात्र एव भवतीत्युपक्रमविरोध इति बाह्यानामान्तरत्वेनेति सार्द्धेनाशङ्क्य समाधत्ते । अथापीति । यद्यप्येवं तथापि प्राचीनवर्णितस्तथा विवेचनासामर्थ्येन यथाकथञ्चित्प-  
रोक्षतामङ्गीकृत्येदं निरूप्यत इत्यर्थः । अग्न्य कर्मपरत्वेन तथाविवेकाभावो युक्त इति द्विशब्दार्थः ।

यदा । नन्वान्तरबुद्ध्यादीनां बाह्यस्त्रीत्वादिनिरूपणेन हि पूर्वं परोक्षतोक्ता, प्रकृते तु सत्सङ्गश्रवणादीनां बाह्यानामेव बाह्यत्वेन निरूपणे कथं कथायाः परोक्षतेत्यत आह बाह्यानामिति । अत्र हि भगवद्भूमिसम्बन्धेन मुक्तिवार्त्त्या, स च बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः । तत्र बाह्योप्यान्तर एषेति मन्तव्यः । एत-  
त्सङ्गेनाऽहं कृतार्थो भूयासमिति बुद्धिपूर्वकस्यैव तस्य तत्साधनत्वात् । अन्यथा भक्तदोहार्थं कृतस्य सत्सङ्गस्यापि मोक्षकत्वं स्यात् । न चैवं, नरकसाधनत्वात् । तथा  
सैवोच्यते इत्यर्थः ॥२०२॥ यथाकथञ्चिदिति चित्रिश्रितार्थोपपन्नमात्रेण । स चैति,

च । बाह्यत्वेन प्रतीयमानानां सत्सद्भादीनामप्यन्तरालात्तेषां च बाह्यत्वेन निरूपणे पूर्वस्मान्न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । एतेन स्त्रीत्वेन जातस्य भुक्तिनिरूपणमन्यशास्त्रविरोधीत्यपि निरस्तम् । न ह्यत्र देहधर्मस्य स्त्रीत्वादेर्निरूपणं किन्त्वामधर्मस्य, तौ च “पुंसत्वं स्वतन्त्रता तस्य पारतन्त्र्यं तथेतरत्” इति पुरवोक्ताः । तदाह तदा स्त्रीत्वेनेति । अस्य पूर्वत्रानुपपन्नः कार्यः । तथा च बाह्यानां पुंस्त्वादीनाञ्चक्रुपाणामान्तरत्वेन स्त्रीत्वेन जातस्य तदा न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । तर्हि पारतन्त्र्यं भिन्नतया कृतो न निरूपितमित्यत्र आह यदास्तीदिति । वक्ष्यमाणरीत्या भगवतो भगवदीयस्य वाऽधीनत्वेन निरूपणाच्चेदत्र निरूपितं भवतीति पृथक्प्रक्रियणं नापेक्ष्यत इत्यर्थः । एवमस्य प्रकरणस्य सर्वथा परोक्षता साधिता ॥२०३॥ यस्मिन् पक्षे बाह्यानामपि बाह्यत्वेन निरूपणं तस्मिन्पक्षे बाह्यत्वात्साक्षाद्देश्यस्य तत्र न परोक्षता किन्तु “पयेमे मलयध्वज” इत्यादिशब्दैर्निरूपणाच्छब्दमात्रेण परोक्षतयाह तथेति ॥२०३३॥

एवं प्रकरणस्य परोक्षतामुच्यता तज्जन्म विचारयति । यद्यप्युक्तीर्या पुंस्त्वादी न विशेषस्तथापि “ बभूव प्रमदोचमा” इति प्राकृतभावमुच्यता मध्ये जन्मान्तरमनुक्तैवाग्निमृत्त्वान्तकथनाच्चद्रावापन्नस्यैव सा कथेत्यवसीयते । तच्चानुपपन्नमित्याशङ्क्य तज्जन्मस्वरूपमाह अध्यापीति ।

**निबन्धः—अथाऽपि ह्यविवेकेन देवादेवालययाविषु ॥ २०४ ॥**

दासेषु जन्म तस्याऽभूत्कृष्णकार्येषु सङ्गतिः ॥

**प्रकाशः—**अथेति भिन्नपक्षमे । यद्यपि प्राकृतदशायामेवैतन्न सम्भवति तथाप्युच्यत इत्यपेक्ष्यते । तत्रोपपत्तिमाह देवादिति । भगवद्विच्छात इत्यर्थः । यदि प्राकृतदशायामेव भगवत्कृपा न स्यादप्राकृतदशायामेव च स्यात्तदा कदाचिदपि न स्यादन्योन्याश्रयात् । अतः पूर्वं भगवत्कृपा युक्तेति हिशब्दार्थः । अविवेकेनेदं भगवत्कार्यमलौकिकमिति विवेकराहित्येन कृष्णकार्येषु सङ्गतिरिति सम्बन्धः । अविवेकेनोपलक्षितस्यैव तस्य तेषु जन्माऽभूदिति वा । दक्षिणदेशोक्तिरप्यत्र साधिकेति ज्ञेयम् । अन्यत्र तथापूजाभवाहाभावात् । यतस्तेषु जन्माभूदतः कृष्णकार्येषु साऽभूदित्यर्थः ।

“तस्यां सज्जनायाञ्चिरे” इत्यस्याध्यायमाह कार्यासक्तस्येति ।

भगवद्धर्मसम्बन्धश्च । पूर्वैवेति बाह्यानामिति पूर्वाद्धे । स्त्रीत्वेनेति, बाह्यस्त्रीत्वेन ॥ २०४ ॥ जन्मान्तरमिति मुक्तयुगयोगि पुरीषवेशरूपं इदितृत्वेन जन्म । अनुपपन्नमिति मुक्तिसाधनकणाभावादानुपपन्नम् । एतदिति, मुक्तयुगयोगि जन्म । तेष्विति, दासेषु । मूले, देवाल्यादिपदं ‘राजसिंहस्य वेदमनी’त्यस्य विवरणरूपम् । दासास्तु प्रकरणादेवो-

**निबन्धः—कार्यासक्तस्य तस्याऽभूत्प्रेमाश्रुत्यादिसप्तकम् ॥२०५॥**  
**निरन्तरं कृतानां हि समानां कोटिशो भवः ॥**

**प्रकाशः—**प्रमेयवलेनैवेतिभावः ॥२०५॥ एकैकस्येत्यस्य तात्पर्यमाह निरन्तरमिति । सकृत्कृतानां बहुधा भवनाभावात्तथा कृतानामेव तथायुक्तमिति हिशब्दार्थः । तेन कोटिश आद्युक्तानामेव श्रवणादीनां पुरुषार्थासाधकत्वं न सकृत्कृतानामितिभावः । अग्रिमस्याऽध्यायमाह कार्या चिन्तयन् इति ।

**निबन्धः—कार्यं चिन्तयतस्तस्य दृष्टः प्रेमा मनस्यभूत् ॥२०६॥**  
**येन वैराग्यस्तत्सङ्गो यतः प्रेम्णाभजद्भिरम् ॥**

**प्रकाशः—**पूर्वं तु स्वाधिकारवशादेव भगवत्कार्यमात्रं यथाकथञ्चित्कार्यमिति बुद्ध्या तत्करणम् । अन्यतः पुत्रादितस्तत्सम्पादने तृष्णोम्भावोऽप्यासीत् । तदनन्तरं निरन्तरं भगवत्कार्यचिन्तनेन कृत्वा मनसि प्रेमाभूत् । सोपि दहोऽन्यथा कर्तुमशक्यः, अन्यस्मिन् सेवाकर्तारि सम्भवत्यपि येन स्वयमकृत्वा स्थातुमशक्तो भगवति तादृशः प्रेमाऽभूदित्यर्थः । तदान्येषां प्रतिबन्धकत्वज्ञानेन स्वभावतोप्यन्यत्र वैराग्यं जातम् । ततो भक्तेष्वेव सङ्गः । तत्र च सततं भगवत्कथाश्रवणेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकगुह्यसर्वतोधिकस्नेहेन हरिर्नभजत् । एतेन प्राणैन्द्रियाण्यन्तःकरणाध्यासनित्तिरुक्ता । प्राणैभ्योपि भगवत् एवाऽधिकं मियत्वाद्, इन्द्रियाणां च तादृष्यति ॥२०६३॥

चतुर्विधान्तःकरणे चाहङ्कारमात्रमवशिष्यते । अहं सर्वं साधयामीतिरूपः । तस्य निवृत्तिप्रकारो ‘विभज्ये’त्यादिना निरूप्यत इत्याह अहङ्कारेति ।

**निबन्धः—अहङ्कारप्रवृत्तस्य क्लेशः सर्वोपि वर्ण्यते ॥२०७॥**

ततो ज्ञाने समुत्पन्ने नष्टेहङ्कारेण पुनः ॥

चिन्ता कृष्णस्य सेवार्थमभूद्येनान्तिदुःखिता ॥२०८॥

**प्रकाशः—**भगवद्धीनतवेव वैदित्यतिः स्यात्तथैव सर्वं सिद्धयेत् । अहं स्वसाधित-पलभ्यन्त इति ज्ञेयम् ॥ २०५ ॥ प्रमेयवलेनैवेति । एतद् अभूत् प्रेमाश्रुत्यादि सप्तक-मित्युल्लेख्या सम्बन्धते । अत्र प्रेमा ‘आत्मज्ञानसिद्धिप्रणामि’त्युक्ता कथारुचिः । अस्ति-तस्य कृष्णस्य भगवत् ईक्षणं ज्ञानं वयेति । ससद्युतास्तु श्रवणकीर्णस्मरणपादसेवनार्चन-चन्दनदास्यणि । तदेतत् ‘श्रुत्यादिसप्तकमित्येतेनोक्तम् । एतेषां यदीयस्त्वं रुच्यन्तर-भावितात् ॥ २०६ ॥ दृष्ट इति, इदं धृतवतामित्यस्य तात्पर्यम् । वैराग्यमिति, इदं मुनि-पदस्य तात्पर्यम् ॥२०६३॥

साधनैः साधयिष्यामीति प्रमाणपरतया साधनेषु प्रवृत्तसाधयिषीतिकादिद्वेषो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्राऽहङ्कारकार्यरूपं यत्कृष्णकार्यं तद्रूपो मलयध्वज उच्यते । अत एव कुलाचलमदिरेक्षणपादे मूले कार्यकारणयोरीक्यांस एवाहङ्काररत्नेनाऽप्युच्यते । सुत-  
त्यागस्याऽप्युक्तत्वात् पूर्ववच्छ्रवणादिकं ज्ञेयम् । “ आरिप्राधयिषुः कृष्णम् ” इति वचनान्न सर्वात्मना त्यागः, अतः सुप्तकमलहङ्कारप्रवृत्तस्मेति । ततः साधिविकान्तःकरणे कियत्कालानन्तरं क्व भगवान् ब्रह्मादिदुरापः काहमतिमीच इत्येवंरूपे माहास्यानुभवे सति दैन्याविधिवेनाह साधयिष्यामीतिरूपेऽहङ्कारे नष्टे तादृशस्य भगवतः सेवा कथं स्यादिति चिन्ताऽभूत् । पूर्वं तु स्वस्यैव भजनयोष्यत्वेन चिन्ताऽभूत् । तत एवमति-  
दुरापत्वज्ञानेन तूष्णीम्भावे भजनमार्गोच्छिद्यो सर्वैरुपायार्थोच्छिद्यिष्यतीति महती चिन्ताभूदिति पुनःपदम् । अत एवाऽतिदुःखिता । इदं “ यदा नोपालभेताड्भ्रौ ” इत्यादिना निरूपितम् ॥२०८॥

अहङ्कारनाशे सति “ पति परमधर्मज्ञम् ” इत्यादिना पुनः कृष्णकार्यकथन-  
मनुपपन्नमित्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिमाह अहङ्काररस्मेति ।

निबन्धः—अहङ्कारस्य लेशेन पुनः सेवामोहो ह्यभूत् ॥

ततस्तस्याप्यभावे तु मोहे साक्षाद्हरिर्बभौ ॥२०९॥

पकाशः—महीनतयैव सन्तुष्टो भविष्यतीति तल्लेशः । तेन पुनस्तत्परोऽभूत् । तथापि भगवदशक्तौ तल्लेशोपि नष्टः । तदा सर्वं भगवदधीनं भगवोऽस्तिदुराराध्य इति सर्वभक्षयमिति स्वरूपाज्ञानस्य सत्त्वात्सनाशमेव भावयमानार्थां सत्यां हरिरन्तर्गामी स्वयमेव बभान्वित्यर्थः । पतिशरीरमात्रं तल्लेशः, चिन्तायाड्भ्रौणत, तदभावः ॥२०९॥ आविर्भूतकार्यमाह आद्यमिति ।

निबन्धः—आद्यं पर्वं तु तेनैव नाशितं येन सोऽभवत् ॥

अत एव हि सम्पन्नं न विविकं हि गोप्यतः ॥२१०॥

मूढत्वमेव कार्याय न कर्मजडतेति हि ॥

पकाशः—स्वरूपाज्ञानमविद्याया आद्यं पर्वं । तेनैव हरिणैव । नाशफलमाह येनेति । सोऽभवत्तत्पदार्थरूपोऽभवदित्यर्थः । एषकारेणतरानाशयसमस्योच्यते । ननु पञ्चेन्द्रियार्था इत्यादिष्वारूप्याख्यानस्य किं प्रयोजनम्, अधिकारिणोन्तर्गमिसाक्षात्कारे स्वत एव तद्रोषसम्भावदित्यत आह अत एवेति । यतो व्याख्यानं कृतमत एव हेतोर्ज्ञानं सम्पन्नमित्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह न विविकं हीति । वाक्यार्थो यत्र गोप्यस्तादृश-  
अत एवेति अहङ्कारबोधनार्थत्वात् ॥२०८॥

ज्ञाक्याद्विचित्तमेकान्तरूपं सूक्ष्मं यज्ज्ञानं तत्र सिद्धयतीत्यर्थः । तस्य सर्ववस्तुयाथात्म्य-  
ज्ञानाभावाद्युक्तं तथा कथनमिति हि शब्दः । बोधनार्थमेवाविर्भावाविर्भावमात्रेण सर्वसम्पत्तिः । प्रमेयबलं पुरुषोत्तम एव, तदपि प्रकटीकृतं चेद्भवति । अत एव मुमुक्षुकुन्द-  
कथा तथा । अस्य चान्तर्गमिष्यत्वात्पुक्तमेवमिति पूर्वं हि शब्दः ॥२१०॥ तर्हि यथा तद्व्याख्यानेन तस्य ज्ञानं जातं तथा वहिष्यदीपि तच्छ्रवणात्कृतो न जातमित्यत आह मूढत्वमेवेति । स तु सर्वविकल्पतामूढ इत्येतत्कथनमात्रेणैवमेव गृहीतवान् । अयं तु कथं कथं कथं नाऽप्यदिदि निश्चयेन नष्ट इव जातरेन निरुद्धज्ञानसत्त्वात्तत्राभूदित्यर्थः । जडस्य ज्ञानाभावो युक्त इति हि शब्दः ॥२१०॥

स्वरूपाज्ञाननिवृत्त्यै परममृत्किरिति भ्रमाभावाय तन्मृत्किं विद्वन्मृत्पुंसंहरति एवमिति ।

निबन्धः—एवं कृष्णकृपातोऽयं जीवन्मुक्तो बभूव ह ॥२११॥

कथामात्रत्वविज्ञानविनिवृत्त्यै तथोक्तवान् ॥

पकाशः—यदि भगवान् महतीं कृपां कुर्यात्तदा तद्वै भक्तिमपि दत्त्वा स्वयं प्रकटीभूय परममृत्किमपि दद्यात्परं त्वेवंरूपैव यतः कृपाऽतस्तथैवाऽऽसत्स्यर्थः ॥२११॥ ननु नारदेन “ बहिष्पन्न एतदि ” निश्चोकः किमर्थमुक्तस्तत्राह कथामात्रत्वेति । तथा सति बोधार्थमाकाङ्क्षेव न स्यात् । तदभावे चोक्तिः सर्वां व्यर्था स्यादिति तस्य स्वाबोधज्ञानेन बोधाकाङ्क्षोत्पादनार्थं तथाऽऽप्यात्म्यं पारोक्ष्येण प्रदर्शितमित्युक्तवानित्यर्थः ॥२११॥ ( अ. २९ ) अग्रिमाध्यायं विचारयन्नीपद्वयाख्यायात्रे यत्र व्याख्यातं तत्र परोक्षत्वं नास्तीतिशङ्काभावायेपद्वयाख्यायानस्य तात्पर्यं वक्तुं तदनुवदति प्राणेन्द्रियादीति ।

निबन्धः—प्राणोन्द्रियादिपर्यन्तं कथञ्चिद्विवृतिः कृता ॥२१२॥

अत्रे कथां परित्यज्य सर्वमाह स्वयं स्फुटम् ॥

पकाशः—कथां परोक्षमामित्यर्थः ॥२१२॥

अत्र तात्पर्यमाह कथञ्चिदिति ।

तथाकथनमिति, प्रत्यक्षतया व्याख्यानम् । मुमुक्षुकुन्दकथा तथेति प्रमेयबलस्याप्रकटीकरणान्मु-  
क्त्विबन्धबोधधिकेत्यर्थः । युक्तमेवमिति आविर्भूय तथा बोधनं युक्तमित्यर्थः ॥२१०॥ एवं पादनेः षोडशभिष्टाद्विशाध्यायार्थां विचारितः ।

अतः परं चतुर्दशभिरुनविंशत्तथाध्यायं विचारयन्ति अग्रिमैत्यादि । कथञ्चिदिति बहिष्पन्नः परीक्षार्थं ब्राह्मणवाक्यमुक्तेन । तथा च, तावतैव बोधसम्पत्तावमे परममुक्त्यु-  
पयोगि वक्तव्यम् । अबोधे तु विल्लाये वक्तव्यमिति तस्य बोधं परीक्षितुं तथा विवृतिः कृता । अत्रे तद्वाक्येन बोधपरीक्षोचरं स्वयं नारदः सर्वं पूर्वोक्तं स्फुटं प्रत्यक्षवादेनाह ।



निबन्धः—कथञ्चिद्बोधनं कार्यं न व्याख्यानं स्वतः फलम् ॥२१३॥

अल्पं च तावता नैव ज्ञानं स्यादिति विस्तृतिः ॥

प्रकाशः—तथा कथने हेल्न्तरमाह अल्पं चेति । एतदेव विद्युपोति तावतेति । अयं तु नोपमाधिकारी कर्मजडत्वादतो नाऽल्पकथनेनाऽस्य बोध इति परोक्षकथायां कथयुक्तादथादधिकार्थः 'कचित्पुमानि'त्यादिषुक्त इत्यर्थः ॥२१३॥

स्वतन्त्रोक्तौ श्लोकान् विभजते एकेनेति ।

निबन्धः—एकेन पूर्वमखिलं दोषो हेतुस्तथा कृतिः ॥२१४॥

फलं च द्विविधं हीनसाम्यं दाष्टान्तिकं तथा ॥

प्रकाशः—एवं बहुविधैरित्येकेनैव "एवं कृपणया बुद्ध्या" इत्यन्तेन निरूपितं पूर्वजन्मदृष्टान्तं निरूपितवान् । ततः प्राणेन्द्रियेत्येकेन दोषवर्णनम् । ततो "यदात्मानम्" इत्येकेन प्राणादिधर्माभ्यासे हेतुभूतस्वरूपाज्ञानस्य निरूपणम् । तत एकेन कृतिनिरूपणम् । ॥२१४॥ ततो द्वाभ्यां द्विविधं फलमुक्तम् । ततः "क्षुत्परीतः" इत्येकेन हीनसाम्यम् । तत एकेन दाष्टान्तिकम् ॥२१४॥

निबन्धः—दुःखसन्ततिरासुकरन्धया सिद्धिसङ्ख्या ॥२१५॥

हेतुनिर्धारणं चैव निस्तारोपायवर्णनम् ॥

प्रकाशः—तत एकेन मुक्तिपथेनैव दुःखसन्ततिरेवेति निरूपणम् । तत एकेनाऽग्नेयार्थं दुःखमतीकरोपायानामनुपायत्वकथा । दृष्टान्तेन बोधनमुपसर्गाथः । ततो दुःखहेतु-निर्धारणं द्वाभ्याम् । तत एकेन निस्तारोपायकथनम् ॥२१५॥

निबन्धः—पञ्चभिः साधनं तस्य चतुर्भिः सर्वबाधनम् ॥२१६॥

मुख्योपपत्तिः प्रकृते सिद्धस्यागोपदेशनम् ॥

प्रकाशः—ततः पञ्चभिः श्लोकेर्निस्तारोपायरूपभक्तेः साधनं निरूपितम् । ततश्चतु-र्भिर्भक्त्यतिरिक्तानां सर्वेषां साधनानां बाधनम् ॥२१६॥ ततो भक्तिमार्गं भगवद्-नुग्रहस्या मुख्योपपत्तिरेकेन । तत एकेन सिद्धस्य कर्मणस्त्वागोपदेशनम् ॥२१६॥

निबन्धः—तत्र हेतुध्रमः श्रोतुः सार्द्धाभ्यां सर्वनिर्णयः ॥२१७॥

शीघ्रनिर्गमनार्थाय दृष्टन्तेन तथा वचः ॥

तस्य प्रयोजनं यथाकथञ्चित्सस्य बोधनं बोधसम्पन्नं कार्यमिति । नारदस्य तदुपस्रवप्रतिष्ठापेक्षि-त्वाभावाद्वाच्यख्यानं स्वतः फलं फलरूपं न भवतीत्यतो हेतोः स्फुटमाहैत्यर्थः ॥२१३॥ २१६॥

प्रकाशः—ततो द्वाभ्यां श्रोतुर्वैर्हिषदः कर्मणि पुरुषार्थहेतुत्वज्ञानं भ्रम एवेति निरूप्यते । ततस्तत्कर्म'ति सार्द्धाभ्यां सर्वनिर्णयः ॥२१७॥ ततः पुत्रागमनावधिस्थि-तिनिवृत्त्यर्थं हरिणदृष्टान्तकथनपूर्वकं त्यागकथनं द्वाभ्याम् ॥२१७॥

वर्हिषदः शङ्खाबीजमाह आत्मन इति ।

निबन्धः—आत्मनोऽकर्तृताज्ञानाच्छङ्खा सूक्ष्मो दृशकिल्मान् ॥२१८॥

स्थूल एव ततः कर्ता तदभावे कृतं न च ॥

प्रकाशः—कर्तृत्वसामानाधिकरणः कर्तृत्वसमानकालीनो हि भोगः स चात्र जन्मान्तरीयः । तदर्थं कर्मकरणं तदा भवेद्यदि तत्समानकालीनात्मन एव कर्तृत्वं स्यात् । न चैवम् । अतस्तादृशफलार्थं कर्मकरणं कथं सङ्गच्छत इति राक्षः शङ्खा जातेत्यर्थः । शङ्खा-स्वरूपमेवाह सूक्ष्म इति, लिङ्गदेह इत्यर्थः । पूर्वोक्तशङ्खासामानार्थं भोगसमान-कालीनस्य लिङ्गचारीरस्यैव कर्तृत्वं वाच्यम् । तच्च न सम्भवति । तस्य कर्मकरणे-ऽशक्तत्वात्, अतः स्थूल एव देहः कर्ता । जन्मान्तरे च तत्कालीनभोगफलकर्म-कर्तृभूतपूर्वचारीरस्याभावात्कस्मिन् फलं स्यात् । किं च कर्तारि हि कर्मोत्पद्यते । तादृशस्य देहस्याभावे कर्मापि न स्यादधिकरणभावात् । एतदाह तद-भाव इति ॥२१८॥

स्यागकथनं द्वाभ्यामिति 'सुमनः सर्वधर्माणामि'तिव्याख्यानगद्यसहितेन 'शुद्धं चरमि'तिश्लोकेन 'स त्वं विचक्ष्व मृगचेष्टितमि'त्यनेन चेतिद्वाभ्याम् । (श्लोकौ ५४ ५५)

अत्र द्वाभ्यामिति कथनेन 'प्रश्न एवं ही'तिश्लोको गथं च स्पष्टार्थत्वाद्वा विगीतत्वाद्वा न सहृदीतमिति संशय एव तिष्ठति । तथापि प्रथमपक्ष एव साधीयानिति प्रतिभाति । चतुर्भिरिति वा पाठः ॥२१७॥ न चैवमिति, कर्तृभूतस्य देहस्य न दृष्टेन भोगस्य कर्तृत्व(सामानाधिकरण्यं) कर्तृत्वसमानकालीनत्वाभावादित्यर्थः । पूर्वोक्तशङ्खेत्यादि । अत्रायमर्थः । ऐहिकभोगस्य कर्तृत्वसामाधिकरण्यं कर्तृत्वसमानकालीनत्वं च दृष्ट्वा, जन्मान्तरीयो भोग उक्तमर्थवान्, भोगत्वादिदान्तीन्तनभोगवदित्यनुमतव्यम् । तत्र साध्यभावच्छेदकीभूतकर्तृविज्ञासायासुक्तीत्या प्रत्यक्षबाधात् । लिङ्गस्य तद्विशिष्टस्य केवलस्य चात्मनः कर्तृत्वं न सम्भवतीति 'सविशेषेर्षे ही'तित्यायेन स्थूल एव कर्तृत्वपर्यवसानं वक्तव्यम् । जन्मान्तरत्वे तदभावाच्छुद्धमधिकरण एतदसमानकालीनो भोगः कथमिति । एवं कस्मिन्फले स्यादित्यन्तेन 'कर्मोत्पारमते येन' तिसार्द्धश्लोकोक्तं संशयस्वरूपमुत्वा, 'कर्म तदिकथिते मोक्षं परोक्षं न प्रकाशत' (५९ श्लो.) इत्य'दोक्तस्य संशयान्तरस्य स्वरूपमाहः किञ्चेत्येति । तथा च, दूरापासो जन्मान्तरे भोग इतिभावः । श्रीपरीये तु, स्थूलस्य कर्तृत्वेन तत्प्राप्त इतरेण फलभोगे कृतनाया-कृतान्यागमप्रसङ्ग इतिदूषणमुक्तम् ॥ २१८३ ॥

फलितमाह कर्तुरिति ।

निबन्धः—कर्तुः फलेऽप्य सन्देहो लिङ्गे कर्तृत्वनिश्चयः ॥२१७॥

स्थूलस्य पोषकत्वं हि येन केनाऽपि तद्भवतु ॥

प्रकाशः—अधिकरणकरणयोरभावत्वात्कर्मकर्तुः कथं फलरूपपद्यत इत्यस्य राक्षः सन्देह उत्पन्न इत्यर्थः । एवं प्रभार्यशुक्लतोत्रार्थमाह लिङ्ग इति । स्थूले यत्कृतिः सामर्थ्यदेशेन तत्सूक्ष्मस्यैवेति मन्तव्यम् । अन्यथा मृतशरीरस्यापि सामर्थ्यं स्यात् । अतोऽन्य-  
प्यतिरेकानुविधानात्सूक्ष्मस्यैव कर्तृत्वम् । न हि स्थूलं विनापि तेनैव भोगः सम्पद्ये-  
त्येतत् आह स्थूलस्येति । भेरीदण्डन्यायेन स्थूलस्य तत्सामर्थ्यपोषकत्वमेवेत्यर्थः ।  
ननु प्राग्भवीयदेहपोषणेन कृतकर्मणः फलभोगे कथमेतद्देहस्य पोषकत्वमत्र आह  
येन केनापीति । न हि तच्छरीरत्वेनावच्छिद्यते पोषकत्वं किं तु शरीरत्वेनैव ।  
अतः केनापि शरीरेण तत्पोषकत्वं भवेदित्यर्थः ॥२११॥  
उपसंहरति अत इति ।

निबन्धः—अतो लिङ्गस्य कर्तृत्वात्तत्सत्त्वेन न दूषणम् ॥२२०॥

आत्मनऽश्चापि कर्तृत्वं ज्ञानाभावे तु लिङ्गिनः

प्रकाशः—तत्सत्त्वेन लिङ्गसत्त्वेन । कर्मभावप्रयुक्तं दूषणं नास्तीत्यर्थः । एतत्स  
साङ्गचमत्तानुसारणोक्तम् । वस्तुतस्त्वात्वेन कर्ता चेतनत्वात् । तस्य च जडत्वात्  
कर्तृत्वं वक्तुं शक्यम् । न चात्माभिधितं लिङ्गमेव कर्तुं, तस्य तु प्रयोजकत्वमात्रमिति

अधिकरणकरणयोरिति भोगायतनस्य शरीरस्य यथादिरूपस्य कर्मणश्चेत्यर्थः ।  
स्थूल इत्यादि । तथा च, स्थूलशरीरं न कर्तुं, स्थूलशरीरत्वात्, मृतशरीरवदित्यनुमानाच्च  
तस्य कर्तृत्वमित्यर्थः । भेरीदण्डन्यायेनैति । यथा पुरुषश्चासवायुनोत्पादितः शब्दो दण्डेन  
वर्द्धते, दण्डस्यादीर्घत्वे तु न वर्द्धते इति तस्य यथा श्वाससामर्थ्यपोषकत्वमेव,  
न तु शब्दजनकत्वम् । तेन न्यायेनेत्यर्थः । एतद्देहस्येति, जन्मान्तरीयदेहस्य । 'कर्ता  
शास्त्रार्थवत्त्वादि'त्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं व्यासपादैः स्वीकृतमिति तदनुसारेण  
पुरुषपक्षमाहुः वस्तुत इत्यादि । तस्य चेति लिङ्गशरीरस्य । तथा चात्मा कर्ता  
चेतनत्वात्, यत्नैवं तन्नैवम्, घटादिवत् । लिङ्गशरीरमकर्तुं, जडत्वात्, घटादिवदित्यनु-  
मानार्था चेतन एव कर्तृत्वपर्यवसानादात्मैव कर्तृत्वर्थः । आत्माभिधितस्य लिङ्गस्य  
कर्तृत्वमाशङ्क्य समादधते न चेत्यादि । तस्य स्थिति जीवस्य । ननु वाद्यश्वेतनानाधि-  
ष्ठितत्वदशायां कार्यजनकत्वाच्चैतनस्य कारोक्ष्मात्वात्माद्रियते, प्रकृते तु केवलस्य कस्यापि  
सातन्त्र्यादर्शने चेतनत्वमात्रेण केवलस्य जीवस्य प्रयोजकत्वमङ्गीक्रियतां योथ्यत्वादिति

वाच्यम् । एवं कार्वेभिधितवाद्या एव कर्तृत्वं स्यात् तु कारोः । प्रयोजकत्वं चाऽन्य-  
थासिद्धम् । आत्मनश्चाऽन्यथ्यतिरेकानुविधायां लिङ्गाभिधानेन कर्मकरणतिरिक्त-  
कार्याभावाच्च तथात्वमित्याशयेनाऽऽह आत्मन इति । असंसायात्सन्तन्त्रापि  
भावद्वायेन गुणातीतस्य शुकादेर्भोगवच्छ्रवणादिकर्तृत्वमात्मन एवेति मन्तव्यम् ।  
लिङ्गस्य गुणात्मकत्वात् । किं च लिङ्गादिनाऽप्यात्मसम्बद्धस्यैव तस्य कर्तृत्वं वाच्यम् ।  
सम्बन्धश्चाऽध्यास एव वाच्यः, स चाऽविद्यारूपः । तेषां च सा निवृत्तेति न  
लिङ्गस्य कर्तृत्वं वक्तुं शक्यम् । संसारिणस्तु लिङ्गविशिष्टस्यैव तथातुभवादिशेषणत्वेन  
लिङ्गस्यापि कर्तृत्वमित्याशयेनोपसंग्रहयुक्तवान् । एतदेव विद्युपोति ज्ञानाभाव  
इति । पूर्णज्ञानाभावे लिङ्गविशिष्टस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ २२०३ ॥  
पूर्वोक्तं लिङ्गकर्तृत्वं विद्युपोति लिङ्गस्येति ।

निबन्धः—लिङ्गस्य करणत्वं च तत्पूर्वं साध्यते स्फुटम् ॥२२१॥

स्वप्न साधनं चैव फलितं चाऽऽह वै त्रिभिः ॥

प्रकाशः—तत्त्वं च वायीवत् । एतन्नितयं सिद्धान्ते निरूप्यते । तत्र लिङ्गस्य करणत्वं  
पूर्वं साध्यते त्रिभिरित्याह तत्पूर्वंमिति । त्रिभिरुपदेति सम्बन्धः । श्लोकान् विभजते  
साध्यत इति । येनैवेत्येकेन स्फुटं करणत्वमुच्यते इत्यर्थः । तत एकेन स्वमृच्छान्तेन  
तस्यापनम् । तत एकेन फलितम् ॥ २२१३ ॥

चेत्तत्राहुः प्रयोजकत्वं चेत्यादि । राजा युद्धयतीत्यादौ यद्वाङ्मः प्रयोजकत्वमङ्गीक्रियते तदाज्ञा-  
पनादिरूपकार्यान्तरं प्रतिगृहीतकरणताकत्वेन । प्रकृते तु लिङ्गविशिष्टस्यात्मन उक्तकार्या-  
तिरिक्तकार्यादर्शनाच्च प्रयोजकत्वं वक्तुं शक्यमित्याशयेनात्मनः कर्तृत्वमाहेत्यर्थः । उपसंग-  
्रहमिति उपसंगेण द्वयम् । च अपि इति पदद्वयमित्यर्थः ॥२२०३॥ तत्रमिति करणत्वम् ।  
एतन्नममिति केवलस्य कर्तृत्वं, लिङ्गविशिष्टस्य कर्तृत्वं, लिङ्गस्य करणत्वं चैतन्नयम् । स्फुटमिति  
'लिङ्गेन मनसा स्वयमिति'तुष्टीयाभिर्देहात्स्फुटम्' । च कर्त्तव्येति तदनुसारेण तदनुसारेण निर्णय  
इति शङ्काम् । 'पुमान् युद्धे इति कर्त्तव्येति तदनुसारेण निर्दिष्टत्वेन सन्देहनिरासात् । किञ्च,  
जन्मान्तरीयभोगोऽस्मिन् देहकरणकः ; तदन्वयव्यतिरेकानुविधायात्स्वात्, एतज्जन्मिनोभोगवत् ।  
येदेवं तदेवम्, कुठारान्वयव्यतिरेकानुविधायापिच्छिदावचेति । इदं च मूले साध्यत इति  
पदात्मभावमादाय दर्शितम् । प्रश्नचरणेण तु शब्दपिक्षधानुमानस्य मन्त्रगामित्वात्पक्षितमिति  
न विरोधः ! तत्साधनमिति लिङ्गविशिष्टस्य भोक्तृत्वसाधनम् । 'शयानमिममुत्सृज्ये'ति (६१) श्लोके  
यथा पुरुष-आत्मा, शयानं श्वसन्तं जीवन्तं इमं देहमुत्सृज्य आत्मनि मनसाहितं कर्म सुसदेह-  
सदशेन तद्विलक्षणेन वा देहेन युद्धे इति समदृष्टान्तेन, लिङ्गविशिष्ट आत्मा भोक्ता,  
समनसत्वात्, त्वाङ्गीकृतवदित्यनुमानेन साधनमित्यर्थः । फलितमिति 'ममेतं मनो'-

निबन्धः—कर्माभावेन तददृष्ट्या न निश्चेतुं हि शक्यते ॥२२२॥

पूर्वकर्म यथेदानीं लक्ष्यतेऽस्तीति कार्यतः ॥

तथाऽप्रेषीति भावेन कर्माध्यासौ निरूपयितौ ॥२२३॥

प्रकाशः—ततः परं कर्माभावेन फलानुपपत्तिशङ्कां परिहर्तुं कर्म निरूपयैस्तदाश्रयत्वेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वं निरूपयति, कर्मणः कर्माभावात्कलात् । कर्म चाध्यासं विना न भवतीत्ययमस्य निरूप्यते । तत्र कर्म तु न दृश्यत इति नास्तीति न वक्तुं शक्यम् । अयोग्यस्यापि सतीऽदृश्यत्वात् । तर्हि तत्सत्त्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां विचित्रचित्त-दृष्टिलक्षणकार्यलिङ्गकानुमानं पूर्वजन्मकर्मणि प्रमाणं नारदेनोक्तम् ॥२२०॥ ननु प्रभवे तज्जन्मनि कृतकर्मणोऽदृशेनात्फलानुपपत्तिः शङ्किता, उत्तरे च पूर्वजन्मकर्मसाधनमित्यनुत्तरभिदमित्याशङ्क्य तदभिप्रायमाह पूर्वकर्मिति । तेन हि कर्माभावात् उक्तस्तथा रीत्या । अधुना चैतत्कर्म कार्यस्य कस्यचिदभावादेतज्जन्मसम्बन्धि कर्म न साधयितुं शक्यम् । अतोऽधुनानुभूयमानकार्येण लिङ्गेन पूर्वकर्मणि साधिते तद्दृष्टान्तेनाऽस्मिन्नपि जन्मनि यत्कर्म क्रियते तदप्यग्रिमदेहपर्यन्तं वर्धत इति श्रेयमित्यभिप्रायेण कर्माध्यासौ निरूपितावित्यर्थः । अध्यासनिरूपणप्रयोगजनमुपदेव वक्ष्यति ॥२२३॥

श्लोकान् विभजते सप्तभिर्दशभिश्चैत ।

निबन्धः—सप्तभिर्दशभिश्चैव चिन्तानुमितियुक्तिभिः ॥

मनसाऽनुभवाच्चापि कर्माऽस्तित्वं विनिश्चितम् ॥२२४॥

ति (६१) श्लोके मयैते पुत्रादयः असावहेतुत्वात्मा एतज्जातीय इति ब्रुवन् पुमान् यद्यत् शरीरं मनसा गृहीयात् तत्तस्मादेहाद्रादं सिद्धं पुनर्जन्मोत्पादकं कर्मैव गृहीयात्' इतिकथनेन । मनसा युष्मन्माणाः पुत्रदेहादयः लिङ्गतद्विशिष्टान्तरनिष्ठादृष्टजन्माः, ममाहमित्युद्धया शुभमाणत्वात्, यत्नैव तन्नैवम्, पारक्यपुत्रदेहादिवदित्यनुमानेन भोगस्य कर्तृत्वसामानाधिकरण्यं कर्तुंसमानकालीनत्वं च निगमयित्वा संशयो निवारित इति विचार्यमाणे आत्मनि सन्देहाभावात्सोपपत्तिकं सपरिकरं लिङ्गस्य करणत्वमेवोक्तमित्यर्थः ॥२२१॥ ततः परमिति, एकप्रश्नोत्तरकथनानन्तरम् । कर्माभावात्सन्देहदृष्ट्या न निश्चेतुं हि शक्यत इत्यर्द्धसाध्याहः तत्र कर्मैत्यादि । न दृश्यत इति क्षणत्रयानन्तरं न दृश्यते । अयोग्यस्येति दिक्कालादेः । तर्हीति । एवं सप्तसम्भावनायाम् । अत्रानुमानं स्वार्थं (परात् च) बोध्यम् । कार्यस्य स्वमेवानुभूयमानत्वात् । न्यायस्यामे वक्ष्यमाणत्वाच्च । तथा रीत्येति कर्म नास्ति अप्रकाशमानत्वात्, नष्टघटादिवदित्यनुमानबोधनेन । कस्यचिदिति आमुष्मिकभोगरूपस्य विहितकर्मकार्यत्वम् । नन्वपृष्टमध्यासं किमिच्छकवानित्यपेक्षायामाहुः अध्यासेत्यादि ॥२२३॥ चिन्तानुमिति । अनुभवमिहा संस्कारजन्वा वा चित्त-

प्रकाशः—यथाऽनुमीयत इति सप्तभिः कर्मनिरूपणम्, ततो दशभिरध्यासस्य । कर्म-प्रकरणोक्तानर्थान् स्फुटीकरोति । चिन्तानुमिति । लौकिककारणासम्भवे सति भवन्त्यो विचित्राश्चित्तवृत्तयो विचित्रकारणजन्या विचित्रकार्यत्वात्, चित्रतनुपटवदित्यनुमानेन तादृकमैसिद्धिः । युक्तश्च कदाचिदुपलभ्यते सत्येव मनस उपलम्भयोग्याः सासादानुपपत्त्युत्पाद्यार्था यदि पूर्वं कदाचिदुपलभ्या न स्युरधुनापि मनसा नोपलभ्येरन् । तथा च पूर्वजन्मजन्युत्तानामर्थानामुपनायकस्याऽन्यस्यासम्भवेन तदुपनायकत्वेन कर्मसिद्धिः । अनुमितिरकेन, युक्तिश्च भ्याम् । मनोनिरूपणमेकेन त्रिभिरनुभवस्य ॥२२४॥

वृत्तिचिन्तातत्त्वकानुमितिचिन्तानुमिति, सा च युक्तश्च ताभिरित्यर्थः । अथवा चिन्तापदेन चित्तसाधकानुमानं सङ्गृह्यत इति न बहुयचनानुपपत्तिः । अत्र यद्यपि मूले 'यथानुमीयते चित्त'-मित्यत्र ज्ञानकर्मैन्द्रियवृत्तयः कारणान्तरसंसर्गजन्वाः, कारणसङ्कोचेपि युगपदनुपपद्यमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, घटादिवत्, यन्नैवं तन्नैवम्, सन्धेतरगोविधानवदिनुमानेन चित्तसाधनमधिकं निःसरति । अक्षणादेन च युगपज्ज्ञानानुमितिनैसाल्लङ्घितमिन्द्रियकार्यकादाचित्कत्वेन मनः साधितम् । अत्र द्विविधेन्द्रियकार्यकादाचित्कत्वेन निःशेषः । शोभरीये तु, तासामपि चित्तवृत्तिनां युगपदनुपपत्तेरितिकथनान्, नानाचित्तवृत्तयः कारणान्तरसम्बन्धानजन्वाः युगपदनुपपत्तमानत्वादित्यनुमानं मनसि कृतम् । तथापि, युगपदनुपपत्तेरिन्द्रियसंसर्गकादाचित्कत्वेनापि सम्भावदानुमानस्वाधीन्तरसाधकत्वसिद्धसाधनत्वाभ्यां दुष्टत्वात्तदनाद्य पक्षसाधकच्छेदकत्वेन वैचिन्त्यं निर्दिष्टम् । चित्तसाधकानुमानं च स्फुटत्वात्पुंशेतिमितिज्ञेयम् । युक्तित्वेति, 'नानुभूतं क चोनेन' तिलोकद्वयोक्तायुक्तिः । स्वशिरच्छेदादेः कदाप्यनुपलभ्यत्वेपि मनसोपलभ्यमानत्वात्तद्वारणाय कादाचित्कादिकं पक्षविशेषणं ज्ञेयम् । नोपलभ्येन्निति यद्युपलभ्येरन् अदृष्टरजतस्यापि रजतभ्रममुत्पादयेत्युक्तिर्भावः । एताभ्यामनुमानयुक्तिभ्यां कारणान्तरमात्रसिद्धिनं तु विशेषतः कर्मण एव सिद्धिरित्यपेक्षायां तत्सिद्धिप्रकारमाहुः तथा चेत्यादि, मनोनिरूपणमेकेनेति 'मन एव मन्युस्ये' तिलोकेन एतेहाहानन्तरं पुनरुत्सह्यतो मोक्षस्तथ पूर्वचिद्धानि संसारावेश-भगवदाविशादीनि मन एव शंसतीति मनससाहायशब्दं च न मनस्वेन साधारणत्वात् । किन्तु, सदसत्कर्मवासनावर्चवैधेति पूर्वरूपबोधनद्वारा कर्मसत्ताबोधार्थं मनोनिरूपणम्, पूर्वरूपपदस्य भावित्तिहृद्योपकल्पं वैचकं प्रसिद्धम् । उच्यस्य पूर्वरूपं प्रदेहस्य पूर्वरूपमिति तेषामभिलाषादिति न कोपि शङ्कालेशः । त्रिभिरनुभवस्येति 'अदृष्टमश्रुतं च' त्याारभ्य 'उपरतयावाभासत' इत्यन्तेषु त्रिषु पूर्वोपादृष्टाश्रुतं पर्वतामे सद्भद्रो, दिवा नक्षत्राणि, स्वशिरच्छेदः, इत्यादिकमन्यदेशकक्रियाश्रयं देशकालक्रियान्तराश्रयतया निद्रादिदोषेण स्वस्य यथा मनसि दृश्यते, तथाभ्येषामपीति स्वदृष्टान्तेनानुभवान्त्वम्, यत्र यत्र निद्रादिदोषवमनसत्त्वं तत्र कदाचिद्दृष्टानुभववत्त्वमिति व्याप्तेः

ननु पृथोत्तरमेतावतैव भवतीत्यध्यासनिरूपणे व्यर्थमित्यत आह करणेति ।

निबन्धः—करणाध्यासराहित्ये सर्वमेवाऽन्यथा भवेत् ॥

तन्निरवृत्तिः कृष्णसाध्या तेन सेव्यः स एव हि ॥२२५॥

प्रकाशः—अध्यासनिरूपणं विनाऽऽत्मनः कर्तुं लक्षण्य करणत्वं च न निरूपयितुं शक्यम् । कारुवत्कराद्यभायेन तद्ग्रहणाद्यसम्भवात् । न च चेतनसंयोगमात्रेण व्यापारः सम्भवति जडे, लोके तथानुपलभ्येः । तथा च लिङ्गात्मनोः सम्बन्धाभावे तत्कृत-  
पुण्यापेरात्मनः सम्बन्धाभावे प्रवृत्तिमार्गं निवृत्तिमार्गश्च व्यर्थः स्यादतोऽध्यासनिरूपणेन तत्सम्बन्धे (तत्सम्बन्धिनि) निरूपिते सर्वमुपपद्यत इत्यध्यासनिरूपणं कृतमित्यर्थः । अन्यथोत्तरितमप्यनुत्तरितमेव स्यात्कर्मण एवाभावादितिभावः । अत एवान्ते तस्या-  
विशारूपत्वेन तन्निरवृत्तकथं भगवानेवेति तद्व्यजनमुक्तवान् । “मायेव ये प्रपद्यन्ते ”  
इत्याद्युपपत्तिर्हि शब्देनोच्यते ॥ २२५ ॥

ननु पुत्रशुक्तिप्रकरणे पितृशुक्तिनिरूपणं कृत्रोपयुज्यते तत्राह मुक्त इति ।

निबन्धः मुक्ते पितरि पुत्राणां न बन्धस्तरकृतो भवेत् ॥

प्रोवाचाऽतस्तु पुत्राणामैहिकामुष्मिकं फलम् ॥२२६॥

प्रकाशः—अतो हेतोः प्रोवाच पितृशुक्तिमिति शेषः । ब्रह्मत्वलक्षणां शुक्तिशुक्त्वत्वा  
कृष्णसायुज्यरूपां तत्फलरूपां तामाह । तुशब्दः पितृकथासम्बन्धे व्यावर्षयति ।  
एतदध्यायद्वयार्थमाह पुत्राणामिति । एकैर्नैहिकमपरेणाऽऽमुष्मिकं फलं प्रोवा-  
चेत्यत्रैव सम्बन्धते ॥ २२६ ॥

स्वस्मिन्ननुभवत् । हेतोः पक्षमात्रे तुल्यत्वात् । अयं कादाचित्कः काचित्कश्चानुभवः कर्मानु-  
भाषयति नोचेन्निरादोषस्य सर्वदा सर्वेषां तोल्यात्सर्वेषां सर्वदा स्यादित्यनुभवः पूर्वकर्मसत्तासाधक-  
उक्तः । द्वितीये च सर्वेषामिन्द्रियार्थानां मनसि क्रमेण हानोपादानत्वात्तानुभवकथनादनुभवधर्मेण  
क्रमेण प्राकर्मसत्ता साधिता । अन्यथा, मनसः सर्वदा सत्त्वात् क्रमिकत्वं तादृशानुभवस्य न  
स्यादिति । तृतीये च सत्त्वैकनिष्ठ भगवत्पार्श्ववर्तिनीति मनसो विशेषतयाभ्यां दृष्टादृष्टसर्वविवेक-  
युगपदानुभवप्रतियोगरूपस्य भगवद्भयानरूपस्य च कर्मणो हेतुताबोधनापेक्षेन तत्सत्ता साधितेत्येवं  
त्रिभिः कर्मसाधकानुभवनिरूपणमित्यर्थः ॥ २२७ ॥ एवं सप्तभिः कर्मसत्ता साधिता । अतः  
परं दशभिरध्यासनिरूपणप्रयोजनं विचारयन्ति नन्वित्यादि । तद्ग्रहणाद्यसम्भवादिति लिङ्ग-  
शरीरग्रहणाद्यसम्भवात् । एवं ‘प्रोवाचे’त्यनैश्चतुर्दशभिरुन्निराध्यायो विचारितः ।

ननु पूर्वं श्रुतिरुचिता तत्कथं भगवद्वाक्यान्वेव पूर्वश्रुच्यन्त इत्यत आह  
परमानन्देति ।

निबन्धः परमानन्दसम्प्राप्तिः पौरुषं यशसा सुखम् ॥

कृष्णेनैव तु संसिद्धमधिकारे स्तुतिर्मेता ॥२२७॥

प्रकाशः—एतेषामेतत्सर्वं भगवतैव दत्तं सिद्धम् । “अनुग्रहान्गम” इति वचनात् ।  
न तु स्वतःपरोति ज्ञापयितुं पूर्वं भगवद्वाक्यैस्तद्ज्ञानमेवोक्तवान् । परमानन्दप्राप्तिस्तु तदर्थेन  
कृष्णे सायुज्यं च । एतेन पितुः सकाशादाधिक्यमुक्तम्, तस्य दर्शनाभावादानन्दमात्र-  
मात्रेण पूर्णानन्दप्राप्तेः । तरुहनादिसामर्थ्यं पौरुषम् । तर्हि श्रुतेः कौपोयोगस्तत्राह  
अधिकार इति । भगवत्स्वरूपमेव फलं यथा सिद्धयति तथाऽधिकारनिमित्तं स्तुति-  
रित्यर्थः । अथवाऽन्यत्र स्तुतिकरणेन तृष्टाद्भवतः फलं प्राप्नोति, भक्तिमार्गेण तु  
भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन तदा भक्तः स्वाज्ञोकारं  
सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्यादिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तोति । अथवा सर्वात्मना  
स्वाज्ञोकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णं बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकट्यसमये वाचि स निर्गच्छन्  
स्तुतिरूपो भवतीत्यानन्दस्यैवाऽधिकाररूपत्वम् । अत एव पूर्वं प्रश्नवाक्यैस्तस्मिन्  
सिद्धे जाते पश्चात्स्तुतिर्भक्तिमार्गे गतेति पश्चात्त्रिरुचित्यर्थः ॥ २२७ ॥

(अ० ३१) तर्हि नारदोपदेशो व्यर्थ इत्यत आह शास्त्रार्थेति ।

निबन्धः शास्त्रार्थसिद्धये याच्नावज्ञातश्चाऽपि नारदः ॥

शौचमध्ये त्वभजनाद्भजनं प्राह सर्वथा ॥२२८॥

प्रकाशः—“आचार्यवान् पुरुषो वेद” इति शास्त्रार्थसिद्धय इत्यर्थः । यद्यपि  
शिवोपदेशोऽप्यस्ति तथापि तस्य भगवत्प्रादुर्भावसाधनेनैवान्यथासिद्धत्वेन मष्टपुत्रयोगि-  
त्वेन च कथनान्मोक्षानुपयोगमभिसन्धयैवमुक्तम् । तथाप्यपरितोषेण पशान्तरमाह  
याच्नावज्ञात इति । “यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च” इति वचनान्त-  
दुक्तस्मारकत्वेनैव नारदवाक्योपयोगः । विस्मरणे त्वभजनमेव हेतुरिति गृहमथ्ये तद्भा-  
वाच्चेवोक्तत्वेनैव सर्वं भविष्यतीति ॥२२८॥

किञ्चिदधिकसपादेन त्रिशार्थमाहुः एवमित्यादि । (‘एवम्’ मूले न दृश्यते)

त्रिभिरैकत्रिशार्थमाहुः तर्हीत्यादि ॥ २३० ॥

इति श्रीतत्त्वदीपमकाशावरणभङ्गे

चतुर्थस्कन्धसावरणभङ्गः

सम्पूर्णः ॥

एवं सम्पूर्णं प्रकरणं निरूप्यैतच्छ्रवणानन्तरमेव निर्गमने हेतुमाह हरिरिति ।

निबन्धः हरिः सर्वात्मना सेव्यो ज्ञात्वा माहात्म्यमादरात् ॥

इत्यर्थः सकले स्कन्धे तथाज्ञेऽल्पेपि निश्चितः ॥२२९॥

प्रकाशः—अल्पेऽप्यंश इति अवान्तरप्रकरणेष्वपीत्यर्थः ॥२२९॥

निबन्धः अतोऽत्र विदुरस्तुष्टो भजनार्थं विनिर्गतः ॥

अपकार्युपकारस्य करणास्मिर्मलो मतः ॥२३०॥

इति श्रीबल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपे भागवते

चतुर्थस्कन्धविवरणं

समाप्तम् ॥

भजनेनैव सर्वसिद्धिर्नान्यथेति सर्वशास्त्रार्थं ज्ञात्वा भजनार्थमेव निर्गतः ।  
ननु भगवच्चरणादप्युच्चैर्गुरुचरणधारणमयुक्तमित्याशङ्क्याह तुष्ट इति । एतादृश-  
शास्त्रार्थरथनेन तुष्टः संस्तथाकृतवानित्यर्थः । भगवद्भजने दोष एव प्रतिबन्धक  
इति तस्य भजनं सम्पन्नमिति ज्ञापयितुं सर्वदोषनिवृत्तौ निर्दर्शनमाह अपकारोति ।  
धृतराष्ट्रस्याऽपकारिणोऽप्युपकारं कृतवानिति तथा ॥२३०॥

इति श्रीमद्बल्लभदीक्षितात्माजश्रीविठ्ठलदीक्षित-

विरचितायां श्रीभागवततत्त्वदीपीकायां

श्रीभागवतीयचतुर्थस्कन्धप्रकरणं

समाप्तम् ॥

चतुर्थस्कन्धः सम्पूर्णः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे

भागवतार्थप्रकरणे

पञ्चमस्कन्धविवरणं

प्रारभ्यते ।

निबन्धः—बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ॥

ध्यानासमर्थजीवानामस्माकं सर्वदा स्वतः ॥ १ ॥

अयाऽलौकिकं स्थानं निरूपयन्ननीचिल्यमाशङ्क्य विसर्गोपेक्षमेव वर्णित इति  
पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति पौरुषेणेति । यद्वा । स्थानं निरूपयन्नुक्तविवर्तितयोः सङ्गति-

श्रीकृष्णाय नमः ॥

गो० श्रीपुरुषोत्तमजीविरचितः पञ्चमस्कन्धप्रकाशावरणभङ्गः ।

पञ्चमस्कन्धार्थस्यातिदुरूहत्या तद्गोधार्यं भगवत्प्रसादरूपं साधनमत्यावश्यकमिति  
ज्ञापनाय स्वीयानामर्थं तत्पार्थयन्ति (मूले) बुद्धीत्यादि । ध्यानासमर्थजीवानामस्माकमिति ।  
अस्मदीया ये ध्यानासमर्थजीवास्तेषां प्रसीदतु । तथा च द्वितीयस्कन्धे सङ्क्षेपतया स्थूलरूप-  
ध्यानस्योक्तत्वाद् विशेषतस्तद्धानानासमर्थानामर्थं भगवत्पादपद्मं प्रसीदत्वित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ पञ्चमस्कन्धार्थं निबन्धन्तो द्वादशस्कन्धे महापुराणीयेषु दशलक्षणेषु तृतीयस्य  
वृत्तिरूपत्वात् 'तस्माच्च वृत्तिर्भूतानि मृतानां चरणामचराणि च, 'कृता स्थेन नृणां तत्र कामा-  
भ्योदनयापि वे'तिलक्षणाद् मृतानां जीविका तृतीयलक्षणत्वेन सिद्ध्यति । द्वितीयस्कन्धे तु'  
वैकुण्ठविजयात्मकं स्थानं तृतीयलक्षणत्वेनोक्तम् । सर्गविसर्गयोस्तु सामान्यविशेषभाव-  
सद्भावाद्द्विशेषस्याभिप्रेतत्वेपि तस्य लक्ष्यकदेशत्वेन न सामान्यविरोध इत्यनौचित्यं सुपरिहरम् ।  
प्रकृते तु तथात्वस्मात्स्फुटत्वात्कथं परिहार इति हृदि कृत्वा तत्परिहरन्तो व्याख्येयग्रन्थमव-  
तारयन्ति अथेत्यादि, अत्र बुद्धिप्रेरकेतिमङ्गलकारिका स्पष्टत्वात्प्रमुर्धिनं व्याख्याता ।

अथमर्थः । वृत्तिर्हि लौकिकरीत्या स्थितिसाधनम् । न हि जीविकाविरहितः कोपि  
तिष्ठतीति । प्रकृते तु तत्तन्मयीदया तत्तत्स्थितिं प्रति कारणमृता भगवतो विशि-  
ष्टजयप्रकाशिका या स्थितिक्रिया सा स्थानम् । एवं स्थितिमाधनत्वस्योभयत्र तौस्थेपि यथा  
मोक्षसाधको विसर्गः पूर्वस्मिन् स्कन्धे उक्तत्वात् मोक्षसाधकं स्थितिसाधनमप्यलौकिकमुच्यते ।  
अतः स्थितिसाधकस्यैव लक्षणत्वात् प्रत्यक्षस्य सामान्यविशेषभावस्याभावेऽप्येककार्यकारि-

मपि वदन् पूर्वस्मादास्मिन् वैलक्षण्यं वक्तुं पूर्वस्कन्धार्थमुपवदति पौरुषेणेति ।

निबन्धः—पौरुषेण तु या लीला सा चतुर्थे निरूपिता ॥

स्थानलीला पञ्चमे तु पद्विंशत्या निरूप्यते ॥ २ ॥

प्रकाशः—तत्र हीतरसाधनमर्यादा साध्यानि धर्मादीनर्थास्तेषु तेषु साधितवानिति निरूपितम् । अत्र तु मर्यादारूपेण लीला निरूप्यते इति वैलक्षण्यमितिभावः । अतः परं “स्थितिवैकुण्ठविजयः” इतिवाक्यापस्य च स्वाधीनीकरणरूपत्वात्स च प्राकृतेषु चतुर्विंशतिषा जीवब्रह्मभेदेनाऽऽस्मिन् द्वेषेति पदविशतिर्भवेति तावद्भिरध्यायैः स्थानलीला पञ्चमस्कन्धे निरूप्यत इत्याह मूलादेति । स्वीयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्थितिरिव च स्थानमित्युपपत्त्यर्थं स्थानपदं मूले प्रयुक्तमिति ज्ञेयम् । अत एवोद्देशे स्थानमित्युक्त्वा लक्षणोक्ती स्थितिरित्युक्तम् । तथा च पुरुषविशेषकर्मविशेषस्थानविशेषाणामन्योन्यस्वत्वान्नियमो भगवत्कृत एवेति सोऽत्र निरूप्यत इत्यर्थः । अत एव विशिष्टो ज्ञेय इतिभावः ॥ २ ॥

एवं स्थितिपक्षमुक्त्वा द्वितीयपक्षेऽपि पद्विंशतिष्वैव तदित्याह स्थानं स्थितिः ।

निबन्धः—स्थानं तु त्रिविधं प्रोक्तं देशकालस्वभेदतः ॥

कालातिक्रमणे काले स्वे स्थितिर्नाऽन्यथा भवेत् ॥ ३ ॥

स्वेन गुप्तस्य तस्य सत्त्वान्नौचित्यमिति बोधयितुं तदनुवदतीत्यर्थः । \* न चात्र मानाभावः, अुताधोपपत्तिःसिद्धत्वादिति । पौरुषेति विसर्गोत्त्वेन पुरुषकार्येण । उक्तरीत्या अनौचित्यपरिहार-  
स्यैकत्र दृष्टशास्त्रार्थन्यायेनात्रपि सुबोधत्वात्तैतानुवदप्रयोजनमित्यरुच्यमा पक्षान्तरमाहः  
यद्देश्यादि । सङ्गतिमिति अवसररूपं सङ्गतिम् । तेषु तेष्विति धर्मादिप्रकरणेषु जीवेषु । अस्मिन्  
पक्षे सामर्थ्यं पौरुषपदस्यार्थ इतिज्ञेयम् । एवं चानुवादस्योपभ्रमपि प्रयोजनमिति फलति । एवं  
पूर्वस्कन्धाधीनुवादप्रयोजनमुक्त्वा द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्युक्तकार्याध्यायसङ्गतात्पर्यस्य  
विवक्षितत्वं बोधयितुमाहः अतः परमित्यादि । स चेति विजयश्च । अत्र स्थानपदस्य करण-  
व्युत्पत्तिरपि विवक्षिता, ‘करणधिकरणयोश्च’त्यनुशासनमादित्याशयेनाहः तथा चेत्यादि । अत एवेति  
उक्तनियमकरणोदयः । एवं चात्रोक्तसम्बन्धनियमरूपा या स्थितिक्रिया सा फलत्वेन भगवत्क्षणम् ।  
अधिकरणव्युत्पन्नस्थितिरूपाः प्राकृतादयस्तु व्यापारतया तथा भूताः, तेषु भगवतो या स्थितिः  
सोक्तफलकरणतया तथा भूतेति ज्ञेयम् । न चाधिकरणभूतानां, कथं व्यापारत्वमिति शङ्क्यम् ।  
सिद्धान्ते अवान्तरद्वारस्वमात्रेणैव व्यापारत्वस्य विवक्षितत्वाद् अन्यथाकुर्वं समीचेन तेषां  
तत्क्रियाजन्यत्वस्याप्यङ्गीकर्तुं शक्यत्वाच्च ॥ २ ॥ द्वितीयपक्ष इति अधिकरणव्युत्पन्नत्वस्येव ।

\* मोक्षसाधकस्य स्थिति साधनस्यालौकिकस्य पञ्चमस्कन्धाध्यायस्ये मानाभावो न ह्यप्यः । द्वितीय-  
स्कन्धोक्तलक्षणानुपपत्तेरेवात्र मानत्वादित्यर्थः ।

प्रकाशः—आयपक्षव्यवच्छेदाय तुशब्दः । देशस्त्रिविधो लोकभेदात् । “द्वादश-  
मासाः पञ्चतैवस्य इमे लोका असावादित्य एकविंशः” इतिश्रुतेः काल एकविंश-  
तिविधः । स्व आत्मा द्विविध इति तावद्भिरध्यायैस्तन्निरूप्यत इत्यर्थः । नन्वेवं  
मूललक्षणमनुपपन्नं देशादेर्भगवज्जयत्वाभावादित्याशङ्क्य स्वीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या  
स्थानस्य स्थितिर्विशिष्टत्वेन त्रिविपि युगपरिस्थितिर्भगवत्तैव कर्तुं शक्यते तन्निरूपणं  
भगवज्जयस्यैव निरूपणमित्युपपादयितुं तस्मिन्निर्वाहनानि मिथो विरुद्धानि निरूपयति,  
कालातिक्रमण इतिसाधार्थ्याम् । अत्र कालस्यैवरूपसादात्मस्वरूपं कालक्षेत्र्येका  
कोटिः । देशोऽपर कोटिः । तेन स्वरूपस्थितिनिरूपणेनैव कालस्थितिरपि निरूपिता  
भवित्यति । काले जिते सति कालस्य स्वाधीनत्वं भवतीति तदेव तस्मिन् स्थितिरित्यर्थः ।  
स्वे स्वकीये स्वाधीन इति यावत् । स्वस्मिन्निति वा । आत्मस्वरूपपरिस्थौ कालस्य  
प्रतिबन्धकत्वाच्चजयस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणता । वेदमार्गस्य तु स्वरूपेणैव  
कारणतेति विशेषः । अत एव न तस्य भिन्नं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

निबन्धः—मर्यादायां भवेद्देशस्थितिरित्येष निश्चयः ॥

स्वरूपस्थितिहेतुस्तु वेदमार्गो न चाऽपरः ॥ ४ ॥

प्रकाशः—मर्यादा कर्ममर्यादा । अनेन कर्मणा अत्रैव स्थितिरिति नियमलक्षणा ।  
कर्मापि त्रिविधमिति तादृशेषु देशेष्वेव स्थितिस्तादा भवतीत्यर्थः । स्वरूपेति ।  
आत्मस्वरूप इत्यर्थः । चित्तशुद्धिहेतुकर्मणा कृत्वा स्वात्मस्वरूपे स्थितिर्नास्ति  
भावज्ज्ञाना (ज्ञाता)ऽभगवत्स्वरूपे स्थितिर्भवति । तदुपयनिरूपको वेद इति स एव तथा ।  
अथ इमे लोका इति, अत्र लोकपदेन तद्वासिनो ज्ञेया इति न कोपि विरोधः । एवमपि प्रकर-  
णविभागात्त्राभिमत इति बोध्यम् । एकविंशो आदित्यनिरूपणात्, द्वाविंशो ऋषीणामभिमे शिशुमार-  
वतसेत्यालसद्वयस्याभिमेषु अन्तरिक्षादिबिभ्रान्तलोकसङ्घर्षणलोकनरकलोकाल्मकत्रिविधेशस्य,  
नन्वेकविंशो आदित्यनिरूपणेपि पूर्वेषु लोकादीनामनिरूपणात्कथं श्रुत्युक्तकालनिरूपणमिति-  
शङ्क्यम्, अष्टादशादित्रये लोकस्य त्रिविधजीवानां कथनस्य स्फुटत्वेन पञ्चदशावधिकाल-  
प्रकथनत्वस्याङ्गीकृतत्वेन षोडशसदृशयोपि ‘सन्दर्भ’न्यायेन कालोपादेयनिरूपणेन च तथा  
शक्यमवचनत्वादिति । अनुपपत्तमिति अन्यासिमस्तम् । भगवज्जयत्वाभावादिति भगवत्कर्तृकजय-  
क्रियात्मकत्वाभावात् । तन्निरूपणमिति देशात्कालाधिकरणनिरूपणम् । स्थितिरित्यर्थ इति  
पूर्वोक्तसम्बन्धनियमरूपा जीवानां स्थितिरित्यर्थः । तथा च स्थितिबिचारे प्रकरणद्वयमेवमित्यर्थः ।  
कारणमैति स्वरूपस्थितिं प्रति कारणता । अत एवेति स्वरूपान्तःपातित्वादेव ॥ ३ ॥ स एव तथेति  
वेदमार्ग एव स्वरूपस्थितिहेतुरित्यर्थः । ननु देशस्त्रिधावपि वेदमार्गस्यैव हेतुत्वम् । कर्मणामपि

देशस्थितिहेतुभूतकर्मणां तु वेदबोधितत्वेऽपि न वेदमार्गीयत्वम्, वेदतात्पर्याविषयत्वात् ।  
 “सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति” इति श्रुतेः । “वेदेषु सर्वैरहमेव वेद्यः” इति  
 स्मृतेश्च ब्रह्मण्येव तेषां तात्पर्यात् । यत्तात्पर्यविषयत्वं मुख्यतया यस्य तस्य तन्मार्गी-  
 यत्वम् । किं च मार्गो हीष्टदेशमापकः । वेदमार्गश्च ब्रह्मरूपेष्टदेशमापक एव । तत्रैव  
 तेषां तात्पर्यात् । अतो देशमापककर्मणां ब्रह्माभाषकत्वाद्युक्तमतमार्गीयत्वम् । तन्निरूपणं  
 तत्तत्रविद्विष्टुलरागिणां यथा कपञ्चिद्वैदिककर्मणि प्रवृत्त्यर्थम्, ‘रोचनार्थे’ति वाक्यादिति  
 भावः । अत्राऽयं भावः । ज्योतिश्चेत् हि ग्रहादीनां तत्तत्कालविशेषस्वरूपज्ञापकत्वा-  
 वच्छेदकत्वे निरूप्येते । एतच्च तेषां कालसाधारणधर्मत्व एव सङ्गच्छते । तच्च कालाधि-  
 करणकत्वे ग्रहादीनां चोत्पत्त्यादिश्रवणेन कालसहजधर्मत्वं न वक्तुं शक्यम् । ग्रहादीनां  
 च न स्वतः कालधर्मत्वेन तत्र स्थितौ सामर्थ्यम् । अत आधिदैविककाले जिते तस्य  
 स्वाधीनत्वे तस्याध्यात्मिकादेरपि तथात्वं भवतीति तेषां तेषां ग्रहादीनां तादृक्ता-  
 दृग्धर्मरूपत्वप्रकारेण तत्र स्थापनम्, कालस्य च तदवच्छेद्यत्वं भगवतैव कर्तुम् शक्यम् ।  
 अन्यत्र कालजयाभावाद् ग्रहादीनां चाऽनधीनत्वात् । तथा च ज्योतिश्चक्रनिरूपणेन  
 विशिष्टो जय एव हरेर्निरूपितो भवति, कर्मफलनियामकत्वं तत्तद्देशस्थितेस्तत्कर्मफल-  
 रूपत्वं च कर्मणां देशानां च न सहजम्, तथा सति तत्र भगवत्कर्तृत्वं भव्येति ।  
 “भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्निधाः” “फलमत उपपत्तेः” इत्यादि-  
 स्मृतिन्यायविरोधाच्च न तथा वक्तुं शक्यम् । एवं सति कर्मजयं विना नैवं मर्यादाकर्तृत्वं  
 सङ्गच्छते । कर्म च भगवद्रूपमेवेति पुरस्ताद्भिन्नरूपम् । अतोऽपि नाऽन्यस्य तदजयः  
 सम्भवति । तथा च मर्यादानिरूपणेन विशिष्टः कर्मजय एव भगवतो निरूपितो च स्वरूप-  
 स्थितिहेतुत्वं न स्वसामर्थ्येन, ‘यत्र वेदा अवेदाः’ ‘यतो वाचो निर्वाते’ इत्यादिश्रुतेः ।  
 “नाहं वेदैः” इतिवाक्याच्च । स्वरूपस्य ब्रह्मत्वेन वेदानियम्यत्वाच्च न तथा वक्तुं  
 शक्यम् । “असङ्गो ह्ययं पुरुषः” इति श्रुतेर्भगवत्स्वयस्य स्थितिरपि न सम्भवति ।

वेदनैव बोधितत्वात् । अतः कथं स्वरूपस्थितिं प्रत्येव हेतुत्वमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः  
 देशेत्यादि । तथा चैवं वेदमार्गस्य स्वरूपस्थितिहेतुत्वसाधनेन कालस्य तथात्वं निवारितम्,  
 तेन कालवेदमार्गयोर्मिथो विरोधो निरूपितः । अतः परं ‘त्रयं भगवते’ति कारिकां विवृण्वन्तः  
 कालादिजयस्य भगवत्कृतिसाध्यतां व्युत्पादयन्ति अत्रायं भाव इत्यादि । एतच्चेति शपक-  
 त्वमवच्छेदकत्वं च । तदिति कालसाधारणधर्मत्वम् । तत्र स्थितौ सामर्थ्यमिति ज्योतिश्चक्र-  
 स्थितौ सामर्थ्यम् । विशिष्टो जय इति तादृशः कालजयः । अन्यत्रेति भगवदतिरिक्ते । एवं  
 साङ्ख्यार्थं लक्षणेऽप्यासिः परिहृता । देशानां चेति चकाराज्जीवानाम्, न तथेति न सहजम् ।  
 पुरस्तादिति सर्वनिर्णये । तथेति भगवज्जितत्वम् ॥ ४ ॥

तथा च वेदवैधर्म्यं मोक्षच्छेदश्च स्यात् । “सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति” “ब्रह्मविद्यामिति  
 परम्” इत्यादिश्रुतिभिश्च तन्निरूप्यते । एवं सति स्वाधीनजीवस्वरूपब्रह्मस्वरूपस्य  
 वेदादिसकलप्रमाणनियामकत्वेवेदं कर्तुं शक्यं नाऽन्यस्य । एवं सति स्वरूपस्थिति-  
 निरूपणेनाऽत्र विशिष्टः स्वरूपजय एवोक्तो भवति, भगवतः असङ्गत्वेपि मुक्तजीवा-  
 श्रयत्वकरणं भगवतः स्वजनः ॥ ४ ॥

अत एतन्नयं भगवतैव कर्तुं शक्यं नान्येन तदेवाह त्रयं भगवतेति ।

निरूपणः—त्रयं भगवता शक्यं कर्तुं वा यदि मन्येते ॥

अतो वैकुण्ठविजयः स्थानमत्र निरूपितम् ॥५॥

प्रकाशः—यदि वा भगवता मन्यते अनेन जीधेनेदं कारविषयार्थाति तदा स्वसामर्थ्यं  
 दृष्ट्वा तथा कारयतीति । अत एव प्रियवते दिवसकृतुत्वमितिभावः । यद्वा । नन्वेवं  
 वेत्स्वरूपधर्म्यत्वं भरतस्य इति स्थितिः पुनर्प्रेत्याशङ्क्य तदपि विशिष्टजन्यनिरूपकत्व-  
 मेवेत्याह वा यदि मन्येत इति, यदि भगवान्मन्यते—इच्छति तदा वा विकल्पा-  
 नाऽन्यथापि त्रयं कर्तुं तस्यैव शक्यमिति तन्निरूपणेनाऽपि विजय एव निरूप्यत इत्यर्थः ।  
 फलितमाह अत इति । यतः सर्वैः प्रकारैरेव एव निरूपितो भगवत्यतो हेतोरेव  
 स्थानलक्षणं वैकुण्ठविजय इति निरूपितमित्यर्थः । अत एव वैकुण्ठप्रदमपि । तत्क-  
 ल्पितवैकुण्ठलोकाद्यथा जयादेः पुनर्जननं तथाऽत्र भरतेऽपि करिष्यतीति ज्ञापनार्थम् ।  
 उपपन्नापि कर्ममार्गेण भजनं जन्मनि हेतुः । “येऽन्निमित्तनिमित्तेन” इति वाक्यात् ।  
 यद्यप्यन्यत्रापि देशस्वरूपस्थितौ निरूप्येते तथापि न तयोः स्थानलीलायां प्रवेशः,  
 वक्ष्यमाणरूपलाभावादिति मनसि कृताऽह अत्रेति । पञ्चमस्कन्ध एवेत्यर्थः ॥५॥

स्थानलीलायाः षड्विंशतिभिर्निरूपणे तात्पर्यमाह कालेनेति ।

निरुच्यः—कालेन सह तत्त्वानि षड्विंशतिविधानि हि ॥

समुदायेन तत्तदेषु कालादिभयमार्थेते ॥६॥

प्रकाशः—तन्मात्रमहाभूतेन्द्रियान्तःकरणगुणरूपस्याणि तत्त्वानि । ततः किमत आह  
 तत्तत्त्वमात्कारणान्तसमङ्गाध्यायसमुदायानिरूपणेनाऽत्रापि तथा । अत्राऽयमर्थः । तत्तदेषु  
 सर्वेषामास्तत्त्वयाभावय आचार्याः कालस्तत्त्वेषु षड्विंशति तद्वयं तेष्वस्तीति ज्ञापनाय

प्रस्तव्यविधिति कालजयो देशजयः स्वरूपजयश्चेति त्रयम् ।

ननु एवं चेदिति, ननु कालकर्मदेशानां भगवद्धीनत्वं चेत् । अनुपपन्नेति भगवदीयत्वेन  
 भगवद्भक्तिवत्त्वादनुपपन्ना । अन्यथापि त्रयं कर्तुमिति, जितमप्यजितं कर्तुम् । उपपन्नापीति  
 मरते जयादौ च । भरतस्य कर्ममार्गेण भजनम् ‘आराधनं भगवत इहमान’ इत्यादिवाक्यैश्चैवम् ।  
 अन्यत्रापि पुराणान्तेरपि ॥ ५ ॥ आचार्यैरित्यस्य ‘गणना क्रियत’ इत्यनेन सम्बन्धः ।

हि तत्त्वेषु परस्वापि कालस्य गणना क्रियते । तथा च कालभयसहिततत्त्वसमसङ्घा-  
ध्यायनिरूपणेनाऽत्रापि स्थानलोलाभ्यप्रातिष्वपि कालभयमस्तीति ज्ञाप्यते । भर्ग्यादा-  
मार्गे तेषां बलिष्ठत्वात् । पुष्टिमार्गे परं तेषां बाधनं भक्त्या । अत एव भरते तद्वयं  
वक्ष्यते । आदिपदात्करे । यद्वा । तत्तत्तु तदीयेषु स्थानमार्गादिषु तेषु बक्ष्यमाणेषु यथा  
तत्त्वेषु सर्वेष्वेव समुदायेन स्थितेषु कालभयं कस्यचित्कदाचिदनाशेपि न तद्वयनित्ति-  
स्तत्त्वस्वल्पस्यैव सभयतासथाऽत्रापि समुदायेनैव तदुच्यते इत्यर्थः । यथैकदृशच्छेदेपि  
नरच्छेदप्रयोगस्तथाऽत्रैकस्य भरतस्यापि तद्वयनिरूपणेन तन्मार्गीयानामेव सभयत्वं  
निरूपितं भवति । तथा च भर्ग्यादमार्गे एव स भय इति भावः ॥६॥

एवं स्कन्धार्थं निरूप्य प्रकरणाथैवाह स्वरूपस्थितीति ।

निबन्धः—स्वरूपस्थितिमर्यादा पञ्चदश्या निरूप्यते ॥

अधर्मासाधिपस्यैताः कलाः पञ्चदशस्मृताः ॥७॥

प्रकाशः—एतेनैव स्वरूपस्थितिरितिलक्षणा । स्वरूपस्थितौ हि मनः साधनम् ।  
तच्च चन्द्रात्मकम् । स च पञ्चदशकलाभिः सम्बद्ध एव पूर्णा भवति । मनोपि सर्व-  
साधनसम्पत्त्या पूर्णमेव तथा । अतस्तत्कलारूपसाधनरूपैरेवाध्यायैर्निरूप्यत इत्यर्थः ।  
देवावरुपक्षपातिनो मासात्मककालस्यार्द्धं दैवं भवति । तस्यापि स्वरूपस्थितिहेतुत्वं  
“अग्निर्ज्योतिरहः शुक्रः” इति वाक्येन भगवता निरूपितम् । अत एव स्मृता  
इत्युक्तम् । तथा चाऽधर्मासाधिष्ठातृदैवकालस्य कलारूपा एवतेऽध्याया इतिसङ्ख्या  
निरूप्यत इत्याह अधर्मासैति । षड्विंशतिसङ्ख्यायां कालस्यापि प्रवेशात्कलाना-  
मपि निरूपणमितिभावः ॥ ७ ॥

अत्राऽवान्तरप्रकरणार्थानं वदंस्तत्रोपपत्तिमप्याह वेदमार्गंत्विति ।

निबन्धः—वेदमार्गेषु सर्वेषु द्वाभ्यामेव व्यवस्थितिः ॥

कृष्णेन योगमार्गेण ज्ञानेनाऽप्यधवा क्वचित् ॥ ८ ॥

प्रकाशः—वेदनिरूपितमार्गेषु कर्मादिषु मुख्यतयेति शेषः । तदेवाह कृष्णेनेति ।  
कृष्णेनेति प्रथमप्रकरणार्थः । योगमार्गंणेति द्वितीयस्य । ज्ञानेनेति तृतीयस्य । ८ ।  
तेषामिति स कालानाम्, तत्त्वानाम् हिशब्देनैव हेतोर्लभे तत्सत्त्वे पुनस्तत्त्वसमर्थो न युज्यत  
इत्यरुच्या व्याख्यानान्तरमाहुः यद्वेति । तदिति कालसाहित्यम् । तद्व्यपनिरूपणेनेति  
कालधर्ममयनिरूपणेन ॥ ६ ॥

एवं पञ्चभिः स्कन्धार्थो विचारितः । अतः परं सार्द्धाष्टभिः प्रकरणार्थं विचा-  
रयन्ति एवं स्कन्धार्थमित्यादि । इतिलक्षणेति स्वरूपस्थितिलक्षणा मर्यादा । तत्रेति मुख्य-  
प्रकरणविभोगे ॥ ७ ॥ मूले द्वाभ्यामिति कालदेशाम्याम् ॥ ८ ॥

प्रकरणार्थानुक्ताऽध्यायान्विभजते षड्विरिति ।

निबन्धः—पड्विरष्टाभिरेकेन तथाऽध्यायैर्निरूपणम् ॥

स्थितिर्भगवता मुख्या तदभावे तु योगतः ॥ १ ॥

तस्याऽप्यभावे ज्ञानेन नाऽन्यो मार्गोऽत्र सम्मतः ॥

प्रकाशः—भगवतः पदगुणसाधोगस्याष्टाङ्गसाङ्गानस्य वैकविधतात्तावद्भिस्तत्त्वभि-  
रूप्यत इत्यर्थः । नन्वेकेनैव स्थितिसम्भवे त्रयाणां निरूपणं ध्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र  
हेतुमाह स्थितिरिति । उत्तममध्यमाश्रमभेदेन त्रयाणां कथनमित्यर्थः । ज्ञानेन अन्यो-  
क्तज्ञानेनेत्यर्थः । तद्व्याख्यानरूपं परोक्षत्वादस्येति ज्ञेयम् । त्रितयनिरूपणस्य प्रयोजनात्तर-  
मप्यस्तीत्याह नाऽन्य इति । अत्र वेदमार्गे उत्तमत्वादिप्रकारादान्यस्याऽसम्भवाच्च  
चेत्यामेव तथात्वेन निरूपणादेतदतिरिक्तमार्गाणां पोटक्षपदार्थपदपदार्थतत्त्वज्ञानादि-  
प्रकाराणामवैदिकत्वाच्च स्वरूपस्थितिहेतुत्वमिति ज्ञापनाय तेषां निरूपणमित्यर्थः ॥९॥  
अधिमप्रकरणार्थं वदंस्तस्यैवाद्दशभिर्निरूपणे हेतुमाह भूमाविति ।

निबन्धः—भूमौ नवविधं स्थानं गुणानां सहमेलनात् ॥ १० ॥

अतोऽत्र नवखण्डा हि षोडशे विनिरूपिताः ॥

प्रकाशः—गुणानां भूम्या सह मेलनाद्गुणानां चाऽन्योन्यमेलनेन नवविधताद्भूमौ नव  
खण्डाः षोडशाध्याये निरूपिताः ॥ १० ॥

निबन्धः—सत्त्वेनैवोर्ध्वगमनं तमसाऽथ निश्चितम् ॥ ११ ॥

अत एकादशाध्यायास्त्रिलोकस्थानवर्णने ॥

प्रकाशः—तेन मध्यदेशस्थितिनवविधापि भवति । ऊर्ध्वाधोलोकस्थितिः सप्ततमो-  
भ्यामेव भवतीति ज्ञापयितुमेकादशाध्याया देशस्थितिवर्णने कथिता इत्यर्थः ॥ ११ ॥  
ननु सत्त्वगुणस्योत्तमत्वेन तत्कार्योर्द्धूलोकस्थितिरं वृत्तं वक्तुं युक्ताऽतः कथं  
मध्यदेशस्थितिवर्णनं तत्रापि जम्बूद्वीपस्येत्यत आह गुणानामिति ।

निबन्धः—गुणानां तुल्यभावस्तु जम्बूद्वीपे विशेषतः ॥ १२ ॥

अथमभेदेनेति अत्र निकृष्टाधिकारिणः तुमत्यादयः पञ्चदशोक्ता ज्ञेयाः ।

तद्व्याख्यानरूपमिति तत् अन्योक्तज्ञानं परोक्षत्वात्स व्याख्यानरूपं योगस्यैव शेषमृतमित्यर्थः ।  
तेषामिति त्रयाणाम् ॥ १३ ॥ मेलनादिति स्थितिरुपासंसर्गात् । मूले गुणानामित्यादि  
गुणानां तुल्यभावो भूमाविति शेषः । विशेषतस्तु जम्बूद्वीपे तुल्यभावः ।



अन्यत्र तत्तत्प्राधान्यं तेनाऽऽदौ विनिरूपितम् ॥

अतिदेशप्रकारेण यथा सर्वत्र तद्भवेत् ॥ १३ ॥

प्रकाशः—अत्र त्रयाणामपि गुणानां कथनं भविष्यत्यन्यत्रैकैकस्येत्यस्यैव पूर्वं निरूपण-  
मित्यर्थः । तथापि पूर्वं जम्बूद्वीपस्य वर्णने हेतुमाह अतिदेशेति । भूस्थानवर्णने  
जम्बूद्वीपनिरूपणं तु यथाऽत्र गुणानां तुल्यभावात्साधोद्वीपान्तरेपीति ज्ञापनाय कृत-  
मित्यर्थः । अन्येषां भोगस्थानान्नाज्ञोगस्य च कर्षजन्मत्सार्वभूमिणाऽऽत्रैव सम्भवादस्यो-  
पनीष्यत्वमित्यपि पूर्वं निरूपणमिति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु भक्तेरत्र प्राचुर्यात्पूर्वं निरूपणम् ।  
अत एव “अहो अमीषाम्” इत्यादिनि देववाक्यानि ॥ १३ ॥

अत्राऽध्यायान् विभजन् भूमेः पञ्चभितरयोस्त्रिभिस्त्रिभिश्च निरूपणे हेतुमाह भूतेति ।  
निबन्धः—भूतप्राधान्यमत्रेति पञ्चाध्याया निरूपिताः ॥

भूमावन्यत्र तु गुणास्त्रितयं त्रितयं ततः ॥ १४ ॥

प्रकाशः—भूमौ महाभूतानामेव प्राधान्यमन्यत्रोद्भवांशुलोक्तयोः सत्त्वादिगुणा  
एव प्रधानभूता इति तावद्विस्तावद्विरध्यायैस्त्रितयनिरूपणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वयोदेशमानं निरूप्य पञ्चाक्षरकवर्णने को हेतुस्तत्राऽऽह गुणेति ।

निबन्धः—गुणास्थित्या त्वधः प्रातिस्तेनान्स्ते नरकाभिधा ॥

स्वस्मिन् स्थितिः कृष्णदेवाविति षड्भिर्निरूप्यते ॥ १५ ॥

प्रकाशः—“अथो गच्छन्ति तामसाः” इति भगवद्वाक्यान्तमोयुणे स्थितानां पयै-  
वसानं तत्रैवेति ज्ञापनायान्ते नरकोक्तिरित्यर्थः ।

एवं प्रकरणार्थाभिरूप्याऽध्यायार्थान्दक्षायप्रकरणस्याध्यायार्था उच्यन्त इति  
ज्ञापनाय पूर्वोक्तार्थं स्मारयितुमनुभवति स्वस्मिन्निति । सेवितादेव भगवतः फले  
भवतीति ज्ञापनाय देवपदम् । देवो हि पूज्यो भवति । अत एव पूर्वं निवृत्तिरित्यस्य  
सम्पन्नसाधनस्याऽस्य भगवति स्थितिर्न जाता । किं तु भगवान् वैशरीत्येन षड्विपरं

विनिरूपितमिति भावेक्तः विनिरूपणमित्यर्थः । स्वल्पभाव इति पाठेऽप्येकप्राधान्याभावात्स  
एवार्थः । वस्तुतस्तु अत्रिमाद्वैतीकास्वारस्यास्तुल्यभावः निरूपणमित्येव पाठः ॥ १४३ ॥ एवं  
सार्द्धाष्टिभिः प्रकरणार्थो निरूपितः । अत परं सार्द्धाष्टित्त्वारिंशद्विः श्रयमप्रकरणीयान्त-  
रप्रकरणेषु प्रथमं भगवत्प्रकरणं विचारयन्तः पञ्चदशभिः प्रथमाध्यायं विचारयन्ति एवं  
प्रकरणार्थानित्यादि । सम्पन्नसाधनस्येति एतादृशस्य प्रियव्रतस्य साधनानामित्यस्य उपयोग

विधाय स्वकार्यं कारयित्वा स्वस्मिन् स्थापितवान् । एवं च सति तत्कृतसाधनानां  
भगवताऽऽत्मसात्करणेन स्वकार्यकरणेन नियोजन एवोपयोग इति ज्ञेयम् । अत एव  
तस्मिन्नेव तथा ज्ञापनं नाऽन्यस्मिन् ॥ १५ ॥

अत्राऽध्यायार्थानाह ऐश्वर्येति ।

निबन्धः—ऐश्वर्यवीर्ययोराद्ये श्रियः कीर्तिस्तथा हरेः ॥

ज्ञानचैराग्ययोश्चैव कर्मात्पञ्चसु रूपणम् ॥ १६ ॥

प्रकाशः—आद्येऽध्याये ऐश्वर्यवीर्ययोनिरूपणम् । श्रियो द्वितीये । कीर्तिस्तृतीये ।  
हरेर्भूमिभ्रष्टतुर्थे । ज्ञानस्य पञ्चमे । वैराग्यस्य षष्ठे । आद्ये गुणद्वयस्य निरूपणमितरेषु  
पञ्चस्वैकैकस्येति वैलक्षण्यज्ञापनाय पञ्चास्वतुक्तम् ॥ १६ ॥

नन्वत्र स्वरूपस्थितिहेतुवैश्वर्यादिप्राक्कथ्येन लीलां कुर्वतः कस्यचिद्भगवदतारस्यैव  
कथा यक्तुं युक्ता, तत्कथं तां विहाय प्रियव्रतकथेत्यत आह अल्पेऽपीति

निबन्धः—अल्पेऽपि भगवान् स्वस्य धर्मान् संस्थापयेद्यदि ॥

सोऽपि ब्रह्मादिसंस्थाप्यः प्रियव्रतकथा ततः ॥ १७ ॥

प्रकाशः—अत्र हि भगवतस्तद्गुणानां च माहात्म्यं वाच्यम् । तत्र भगवदवतार-  
निरूपणे तु गुणानां धर्मित्येव प्रवेशायुषुकं तेषां माहात्म्यं न निरूपितं स्यात् । तदा  
गुणमाहात्म्यकृतं विशिष्टं माहात्म्यं भगवतोऽपि न प्रकटं स्यात् । अतः केवलगुण-  
माहात्म्यप्रकटनार्थं प्रियव्रते तादृशलमस्तीति तत्कथोक्तेत्यर्थः । आदिदशद्वन्द्वान्मनुः ॥ १७ ॥  
तर्हि तद्वचनेन को हेतुस्तत्राऽऽह तद्वंश एवेति ।

निबन्धः—तद्वंश एव सर्वेषां गुणानां स्थापनं यतः ॥

भगवद्भजनं तस्य स्वस्मिन् संस्थापकं मतम् ॥ १८ ॥

प्रकाशः—प्रियव्रते गुणद्वयस्यैव स्थापनादत्येषामकथने षण्णामपि गुणानां निरूपणं  
न स्यात् । तद्वंश एवेतरेषां गुणानां स्थापनात्स्यैव कथनमित्यर्थः । एतद्वंश एव  
गुणानां स्थापने हेतुमाह भगवद्भजनमिति । तस्य प्रियव्रतस्य भगवद्भजनमेव  
प्रियव्रते तद्वंशे च गुणानां स्थापकमित्यर्थः । अन्यत्र धर्मस्यैवैश्वर्यादिहेतुत्वमुच्यते  
यद्यपि, तथापि भगवन्मार्गं भजनमेव सर्वहेतुत्वेन सम्मतमित्याह मतमिति ।

इत्यनेनान्वयः । अत एवेति देवत्वादिव । यक्तुं युक्तेति भगवत्प्रकरणत्वाद्भक्तुं युक्ता ॥ १७ ॥ अन्ये-  
षामिति वंशयानाम् । प्रियव्रते तद्वंशे चेति मूलस्य स्वसिद्धित्वस्य व्याख्यानमिवम् । अन्यत्रेति  
शास्त्रान्तरे । सम्मतमिति कल्पतरुवभावत्वात्सम्मतम् ॥ १८ ॥ यद्यपि भक्तेः कल्पतरुवभाव-

यद्वा । नन्वादावन्तेपि भगवद्भजनस्यैव निरूपणाद्वाज्यादिकरणस्यापि भगवदाज्ञापानलक्षणभजनसमेव सन्देहस्यायेन वक्तुमुचितमिति भजनमेवाध्यायार्थं नैश्वर्यवीर्यं इति चेत्, सत्यम् । उपसंहारे “ मियत्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ” इत्यादित्येश्वरस्योपसंहाराद्युपक्रमे च विरक्तस्यैवमूलविषयग्राहेतुमश्रस्य निरूपणादेश्वयतिरेवाऽध्यायार्थत्वम् । तर्हि तद्भजननिरूपणमसङ्गतम् । तत्राऽऽह भगवद्भजनमिति । अत्र प्रकरणे भगवत्स्वरूपे स्थितिरनिरूपणीया, सा च भगवद्भजनं विना न भवतीति तन्निरूपणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

ननु गुरुषिरोदाहोच्छ्रद्धं तादृशस्याऽयुक्तमित्यत आह तस्य मोक्ष इति । निबन्धः—तस्य मोक्षो ब्रह्मभावो न प्राह्य इति वर्णितुम् ॥

देश्वर्यानिर्झीकरणं गुरोर्वाक्यान्तथा पितुः ॥ १९ ॥

अनङ्गीकरणं प्रोक्तं भगवद्वाक्यगौरवे ॥

प्रकाशः—गुरुपदेशद्वारा मोक्षमदो भवति । पिता च त्वं ब्रह्मेत्यनुशासनकर्तृत्वेन ब्रह्मभावे हेतुः । तथा च तादृशयोस्तयोर्वाक्यानाङ्गीकारकथनेन तत्साध्यफलस्याऽप्यनङ्गीकार उच्यत इत्यर्थः । एतेन तस्य स्वतन्त्रा भक्तिनिश्चिता । तथापि भगवदिच्छानुसारेणैव भक्तस्य सर्वं कर्तुमुचितमिति तदिच्छां तादृशीं ज्ञात्वा स्वत एव कृतो नैश्वर्यमङ्गीकृतवान् । भगवद्वाक्यात्यक्षाच कथमङ्गीकृतवानित्यत आह अनङ्गीकरणमिति, भगवदिच्छाज्ञानेपि यद्वाभ्यानङ्गीकरणमुक्तं वाक्याच्चाङ्गीकरणं तद्भगवत इच्छायाः सकाशाद्वाक्यस्याधिक्यज्ञापनार्थमित्यर्थः । मर्यादायां हि वचनस्यैव प्राचरत्वम् । इच्छायाः पुष्टिमार्गं । अस्य च मर्यादामार्गित्यासात्कत्वं युक्तमितिभावः । यद्वा । ननु ब्रह्मा पितामहो महोदधिः स स्वत एव कृतो नोक्तवान् भगवद्वाक्यं कृत उक्तवानित्यासङ्ग्यामाह अनङ्गीकरणमिति । मोक्षब्रह्मभावेतुगुरुषुस्मिन्वाक्यानाङ्गीकारकथनेनैव ब्रह्मवाक्यस्याप्यनङ्गीकरणं प्रकर्षणोक्तमेवेत्यर्थः । ब्रह्मणस्तदुभयाहेतुसादितिभावः । ननु भजनरसानुभवार्थं हि सर्ववाक्यानाङ्गीकारः । एवं सति भगवद्वाक्याङ्गीकारेपि स रसो न भवत्येवेति भगवद्वाक्याङ्गीकारोऽपि तस्य कथमत आह । भगवद्वाक्यगौरव इति । भगवद्वाक्यानां गौरवे सति । अयमर्थः । एतदुल्लङ्घने तु भजनमेव न निर्वाहेत्कृतस्तरां

स्वादैश्वर्यादिकं प्रति हेतुत्वं सम्भवति तथापि प्रयोजकतया मध्ये कामनाऽपेक्ष्यते, प्रकृते तु मियत्रतस्यास्यारामत्वात् सा नेति कथं तत्प्रति भजनस्य हेतुत्वं वक्तुं शक्यत इत्यरुच्य पक्षान्तरमाहुः यदेत्यादि । अस्मिन् पक्षे केवलया भगवदिच्छाया एवैश्वर्यादिकं प्रति हेतुत्वम् । भजननिरूपणं तु प्रकरणाथयोपाद्धान्तात्वेनेति ज्ञेयम् । तथापीति स्वतन्त्रभक्तिमत्त्वेन मोक्षब्रह्मभावानाकाङ्क्षित्वेपि । मियत्रतस्यात्यन्तभक्तत्वोभनाय पदान्तरमाहुः यदेत्यादि ॥ १९ ॥

तद्रसानुभवः । तथा चोभयभ्रंशः स्यादिति तद्वाक्याङ्गीकार आवश्यकः । एवं सति भगवद्मर्यामाभ्यादीनां स्वस्मिन्नागमनेन राज्यदेशायास्येपि भजनरसानुभवप्रतिबन्धोऽपि न भविष्यतीत्यपि तदङ्गीकार इति ।

ननु “ यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रजनेत् ” इति श्रुतेर्विरक्तस्य संन्यास एवाधिकाराद्रागानिहृषावेव गार्हस्थ्यस्य विधानादस्य चाऽऽरागित्वेन गार्हस्थ्यानधिकाराच्छ्रद्धोक्तवाक्यं श्रुतिविरोधाच्चाङ्गीकर्तुमुचितमित्याशङ्कं परिहरन्नेव साक्षाद्भगवताऽनाज्ञापने ब्रह्मद्वारैव चाऽऽज्ञापने हेतुमाह वेदानामिति । निबन्धः—वेदानां ब्राह्ममुखतां यथा निर्गमनं मतम् ॥ २० ॥ तथेवेमानि वाक्यानि हरेरिति विधेर्वचः ॥

प्रकाशः—भगवन्निश्चासंभूतानामपि वेदानां “ ऋषयुःसामाथर्वीत्यान् क्रमाल्पूर्वादिभिर्मुनेः ” इति वाक्याद्ब्रह्मयुखत एव निर्गमनमिति सर्वसम्मतम्, तत एव च प्रमाणत्वेनाङ्गीकारो लोके, तथेवेमान्यपि वाक्यानि वेदरूपाण्येव ब्रह्मणाऽनुद्यते परमिति ज्ञापनार्थं विधेर्ब्रह्मणो चक्षो निरूपितमित्यर्थः । तथा चतेषां वाक्यानां वेदमध्यपातितज्ञापनमेव साक्षादानज्ञापने तद्द्वारैव चाऽऽज्ञापने हेतुः । एतेन वेदादीर्भित्यं परिहृतम् । तथा च वैराग्ये जातेपि येषां संन्याससमहे भगवदिच्छास्ति तन्निरूपणापूर्वोक्ता श्रुतिः । येषां न तथेच्छा तन्निरूपणीयानि वाक्यानीति व्ययस्या ज्ञेया । तेनाऽस्य तदङ्गीकार उचित इति भावः ॥ २० ॥

ननु “ युक्तोपि तावद् विभूयात्स्वेदहमारुच्यमश्रुन् ” इति निरूपणापस्य तादृक्प्रारुच्यमस्तीति तद्वाग्यमेव ब्रह्मणोक्तम् । किं च । ऋणवयापकरणं विना त्यागस्य पातेहेतुलक्षणादपि तदङ्गीकारसम्भवः । तथा चोभयथापि स्वार्थमेव गार्हस्थ्यङ्गीकार इतिभगवद्वाक्यगौरवं नायातीति शङ्कपरिहाराय ब्रह्मवाक्यैर्निर्णीतमर्थमाह स्थानमत्रेति ।

निबन्धः—स्थानमत्र विनिर्णीतं यथाऽयं भगवान् हरिः ॥ २१ ॥

स्थापयेद्यत्र तत्स्थानं तस्येति हि विनिर्णयः ॥

प्रकाशः—अत्र ब्रह्मवाक्येषु तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह । यथेत्यादि । तत्र हेतुमाह इति हि विनिर्णय इति । वेदमार्गं यत एवमेव विनिर्णयः सिद्धः । तदुक्तं “ वेदमार्गेषु सर्वेषु ” इत्यत्र । “ एष उ एव साधु कारयति ” इत्यादिश्रुत्युपनिषद्दिश्वेदेनोच्यते ॥ २१ ॥

नन्वस्याऽऽज्ञापनरूपान्ताये प्रवृत्तस्य स्वतो विरक्तस्य प्रजाधर्मादिरक्षेव कर्तुमुचिता नाधिकं कर्तुमुचिता । भोगेप्यासक्तिर्नोचिता, अखिलजगद्व्यभवेनेत्यादिमानिर्दोषसन्निरूपणाश्च । तथा च “ अव्याहताखिलपुरुषकार ” इत्यादिनाऽधिकवीर्यै-

विषयासक्त्योर्निरूपणमयुक्तमित्यत आह तथापीति ।

निबन्धः—तथाऽपि कर्मणां मार्गो विवेकं नाशयेद् ध्रुवम् ॥२२॥

इति दर्शयितुं वीर्यकामानन्दौ हि वर्णितौ ॥

प्रकाशः—यद्यपि भगवदिच्छया प्रवृत्तस्य विवेकनाशो न सम्भवति तथाप्याज्ञावचनानां वेदरूपतद्युक्तमिति स च कर्मनिरूपक इत्यस्य राज्यकरणं कर्ममार्गीयम् । कर्ममार्गं चाऽऽर्थं विवेकनाश इति ज्ञापयितुं तौ वर्णितौ तवित्यर्थः । अत एव मूले “अभिनवे-  
शितकर्माधिकारः” इत्युक्तम् ॥

ननु तथापि भक्तेर्वैलुप्तत्वात्तन्नाशोऽनुपपन्नः । “बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः” इत्यादिष्वजितेन्द्रियस्याऽपि भक्तस्थानमिभवं उक्तः, किं पुनर्जितेन्द्रियेऽस्मिन् । किं चेवं भक्तेरपि तिरोधानं सम्भाव्यते विवेकस्यैवाभावात् । तथा सति भगवदुपासनेत्यादिनिरूपितभक्तितत्कार्यदिनकरणाद्यनुपपत्तिः । किं च । भक्तस्य राध्वनभिनन्दने दिनकरणे च न किञ्चित्प्रयोजनम् । तथात्वे वा सप्तकृत एव करणे को हेतुः, किं च, भगवदेश्वर्यवीर्यपौरुष्यायाथैत्वेन निरूपणादेतत्स्त्रीपुत्रादेरतद्रूपत्वात्तन्निरूपणमप्यसङ्गतमित्याशङ्क्य सर्वत्र समाधानमाह हरैरिति ।

निबन्धः—हरेः कार्यं सर्वमेव स्वदोषात्तद्धि नश्यति ॥ २३ ॥

तदभावे हरिः स्वस्य स्वयं कार्यं हि साधयेत् ॥

प्रकाशः—अस्मिन्नाविष्टयेति शेषः । “पुरुषातिदिष्टान्” इति वचनाद्भगवत्कृत एवाऽस्य भोगः । तेन यावत्ता विना भोगानुपपत्तिस्तावद्भगवत्कृतमेवेति मन्तव्यम् । तथा च विवेके सति भोगासम्भवात्तन्नाशोपि भगवतैव कृतः । न च पूर्ववाक्यविरोधः, कर्ममार्गमर्यादायास्तत्र चैतत्सदृशेरेपि भगवत्कार्येलात् । अत एव न भक्तितिरोधानमपीति हेतयम्, विवेकनाशस्य भोगिकार्यत्वेनैव हरिकृतत्वात् । दिनकरणमपि तथा । नशन्त्यः कालमन्यथयितुमीष्टे गुणैर्भगवता च करणात्सप्तकृत एव । पद्मगुणपूर्णां भगवान् भूर्मां वतत इति ज्ञापनाय सप्तधा तत्कार्यस्थापनं भूर्मां । अत एव भगवदेश्वर्यकार्यमेवेदमिति ज्ञापनाय प्रकारान्तरेण न ऋषिप्रियाभक्त्यङ्गम् । दिवस एव रथपरिभ्रमणेन । वा किं तु रात्रिवैपरीत्यकरणं आनुषङ्गिकफलत्वेन तदप्यन्यासकथम् । न हि द्वीपविभागोऽभ्युधिकरणं तत्रापि विविधत्वं तेषां जीवशक्यं भवति । एवं सति

किञ्चनमिति वीर्यकामानन्दासकौ सत्याम् । पूर्ववाक्यविरोध इति “बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः” इति वाक्यविरोधः ॥ २३ ॥

तत्र तत्र तादृक्कृतामर्थ्यवता रक्षकेन भाष्यमिति तादृक्पुत्रोत्पादनमपि भगव-  
द्वीर्यकार्यमिति नोक्तदोषः । नन्वेवं चेद्भगवत्कार्यं हिला मनुपुत्रत्वेन मन्वन्तराधि-  
कारिणोऽस्य भक्तौ प्रवृत्तिर्नाचिता, नारदस्य च सर्वज्ञत्वेन तादृशे भक्तिमार्गोपदेशो-  
ऽयुक्त इत्यत आह स्वदोषादिति । अनेन हि हरिकार्यं कर्तव्यम्, तच्च न भगवदा-  
वेशे विना, स च न दोषाभावे विना । स्वस्य मनुपुत्रत्वेनाऽधिकारमाप्तमिति हरिकार्यस्य  
तत्राप्यत्वाधारणस्य करणे सदोपस्थैव प्रवृत्तौ तदावेशाभावात्कार्यनाश एव स्यादि-  
त्यादिद्वैविकदोषाभावेन कृत्वा भगवदावेशे भक्तिरेव हेतुरिति पूर्वं भक्तौ प्रवृत्तिरित्यर्थः ।  
अत एव नारदस्यापि तथात्वमिति भावः । हरैर्निर्दिष्टत्वेन सदोपेऽनावेशो युक्त  
इति हि शब्दार्थः । स्वस्य हरेरित्यर्थः । यद्वा । स्वस्य भक्तस्येत्यर्थः । अधिकारित्वेन  
द्वीपकरणरक्षादिकं प्रियव्रतकार्यम् । तच्च स्वतोऽशक्यमिति भगवान् स्वयं तथा  
सम्पादयेत्तथा स्वस्मिन्नावेशसिद्धयर्थं प्रतिवन्धनवृत्तिपूर्वकं तत्साधिका भक्तिरेवेति  
नत्रैव प्रवृत्तिस्तस्येति । तद्विशेषे सिद्धे स्वत एव कृतान् राज्ये प्रवृत्तिः पितृ-  
वाक्याश्चेति चेद्, उच्यते । पूर्वं तथा प्रवृत्तानोपपत्त्यादिकिरसानुपवादाज्यकरणं तत्प्रति-  
बन्धकमिति न तदङ्गीकारः । किं च । स्वतः पितृवाक्याद्वा तदङ्गीकारे भगवत्सम्बन्ध-  
भावादावेशोपि गच्छेत्तेन न किञ्चित्स्थित्येत् । भगवदाज्ञयाङ्गीकारे तु न कोपि दोष  
इति तथा । वस्तुतस्तद्दुष्टस्यैवाऽऽवेशस्य कार्यकारित्वादाज्ञावचनानि तद्द्वीपधनार्थी-  
न्येवाऽन एवात्र सर्वनिष्पत्तिरित्येतत्सर्वं हृदि कृतोक्तं हरेः कार्यमित्यादि ॥२३३॥  
पूर्वं भक्तिनिरूपणस्य मनुवाक्याकरणस्य च तात्पर्यान्तररूपमितिदेशमाह अतस्त्विच्च ।  
निबन्धः—अतस्तु पुरुषः स्थाने दोषाभावात्तदमादितः ॥२४॥

भक्तिमार्गं प्रवृत्तः स्याद् दृष्टचित्तो यथाऽऽत्तलः ॥

प्रकाशः—भवाय नाशयेत्तिवाक्यगत्यो भगवद्विचारितकार्यार्थमेव देहधारणं  
जीवस्य । तादृकार्यकरणं च न भगवत्सम्बन्धं विना । स च न भक्तिं विना अतो  
हेतोर्नित्येऽस्य स्पष्टम् । भगवद्भजनमेव कार्यं नान्यदिति दृष्टचित्तः । अत एव पितृ-

नन्वेवमिति नन्वेवं गुणपूर्णभगवदादिष्टत्वे सति । मन्वन्तराधिकारिण इति हेतुगर्भविशेषणम्,  
तथा च यथायथमुक्तहेतुभ्यां कार्यत्यागो भक्तिप्रवृत्तिश्चानुचितेत्यर्थः । हरिकार्यस्येति करणइति  
पदमत्राप्यन्वेति । आधिदैविकदोषाभावेनेति अहङ्काराभावेन अभक्तत्वाभावेन वा । तर्हीति आवे-  
शमावे । तथा प्रवृत्तानिति आवेशेन राज्ये प्रवृत्तौ गच्छरूपनायाम् । सिद्धान्तेऽर्थविकारेणोपपत्तिमुक्त्या  
परमतरतीया स्वरूपविचारेण तामाहुः किञ्चैत्येति ललाटादावप्यमण्डलस्य सत्त्वात्पूर्वोक्तोपाधिरेव  
सुखेत्यप्यथिनाऽनादरसूचनाज्ञापितम् ॥ २४ ॥ २५ ॥

वाक्यस्याऽप्युल्लङ्घनम् । तथा सति दोषभावाद्भय भगवद्भजनविरुद्धतादृशवाक्यस्याऽप्यकरणे न दोषो भगवदपेक्षयाऽन्येषां जघन्यत्वाद्भगवन्मार्गमर्यादायाथैतादृशतादेवेति ज्ञापना-  
योक्तं स्थान इति । मर्यादासर्वे सर्वैरेवमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥२४३॥

निबन्धः—कथाऽत्र गद्यरूपेण विशिष्टत्वाच्चि वर्णयते ॥२५॥

कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते ॥

प्रकाशः—स्कन्धस्य गयात्मकत्वे हेतुमाह विशिष्टत्वादिति । भगवज्जयस्या-  
ऽखण्डत्वेन सर्वस्याद्विशिष्टत्वात्तस्य चाऽत्र निरूपणादखण्डगद्यरूपत्वात् स्कन्धस्येत्यर्थः ।  
कथाया एव विशिष्टजनिरूपकत्वाच्चिरूपणमेव गद्यरिति ज्ञापनाय कथ्येति । अत  
एवोपदेशेऽपि श्लोका एव । किं च पुरुषरूपस्य भागवतस्य कृतिभागो हि स्कन्धोऽयम् ।  
स च पादादिवन्न सखण्ड इति नाऽऽयस्कन्धादिवच्छ्लोकैर्निरूपणं किं सखण्डस्व-  
रूपगौरान्त्यपि ज्ञेयम् ॥२५॥ नन्वस्य मर्यादास्कन्धाद्विरक्तस्य ब्रह्मविदः पश्चाद्भोगे  
मवृत्तम्याऽस्य कथा विरुद्धेत्यत आह कृष्णाधीनेति । तादृशस्य स्वतो भोगे प्रवृत्तौ  
मवृत्ताभङ्गः । भगवदधीनतया तथा करणं मर्यादेवेति, न विरोध इत्यर्थः । यत्र च  
भक्तस्य स्वातन्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवद्वृत्तिर्यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः ॥२५३॥

अस्य च सर्वथा कृष्णाधीनत्वं वक्तुमादिमध्यान्तेषु जातं भगवत्कृतमेवेत्युप-  
पादयति आदौ ज्ञानमिति ।

निबन्धः—आदौ ज्ञानं ततो भोगो मोक्षश्चान्ते स्मृतेर्बलात् ॥२६॥

अतो वैराग्यमस्योक्तमेवं सर्वं हरैः कृतिः ॥

प्रकाशः—यागादिभिश्चिच्छुद्धौ संन्यासे सति गुरुवद्देशेन हि ज्ञानोत्पत्तिरन्ते भवति  
तद्वन्न विदितत्वेन न भोगासक्तिसम्भवः । सम्भवे वा योगभ्रष्टत्वेन न तस्मिन्नेव जन्मनि  
मोक्षसम्भवः । अस्य च सर्वं विपरीतम् । तत्राऽस्य न स्वतः । अत एव मूले राजपुत्रपदं  
स्वतो विषयासक्तिरेव न वैराग्यमिति ज्ञापकम् । किं च । स्वतश्चेतन्नयम् स्याद्वस्तु-  
मर्यादां नाऽतिक्रमेदितिज्ञानमेव न भवेत् । भावे वा भोगासक्तिर्न स्यात्प्राकृतवत् ।  
तथा सति वा मोक्षो न स्यादित्यन्यथानुपपत्त्यापि भगवत्कृतमेवेति ज्ञायते । न ह्यन्यथा  
वस्तुमर्यादातिक्रम इत्युक्तम् । स्थितेः पूर्वाभूतभगवत्पदारविन्दरसस्मृतेरित्यर्थः ॥२६॥

कथा विरुद्धेति मर्यादाभङ्गाद्विरुद्धा । न विरोध इति मर्यादाभङ्गाभावात् विरोधः ।  
नन्वेवं सति भगवानेव कृपया तं भोगे प्रवर्षितवानिति पुष्टिरित्येवं प्रतीयते, न मर्यादेत्याशङ्क्य  
पुष्टेः स्वरूपं मूले आहः स्वाधीना पुष्टिरुच्यते इति तद्विद्युप्यन्ति यत्र च भक्तस्येत्यादि तथा  
चीकरातिक्रान्तीनात्स्वामिनात् पुष्टिः किन्तु मर्यादेवेति तथैवाविरोध इत्यर्थः । स्वातन्त्र्य-  
स्वरूपमाहः तदिच्छेदित्यादि वस्तुमर्यादामिति स्वमयम् ॥ २६ ॥

तदुक्तं “स एवमपरिमित” इत्यादिना । यतो मर्यादायामेवाङ्गीकारोऽस्याऽतो वैराग्यमप्यन्त  
उक्तम् । “अहो असाधु” इत्यादिना । ज्ञानादिषु निरुक्त्याऽन्यत्राप्यतिदिशति । एवमित्ति ।  
यथा ज्ञानादिकं हरेरेव कृतिरेव प्रियव्रतसम्बन्धि सर्वमेव तथेत्यर्थः । तस्मात्सुहृत्कं  
“को तु कुर्यान्नित्यंश्वरम्” इति भावः । न च प्राचीनसंस्कारवशादेव ज्ञानमधुम्यथे  
भोगस्तु प्रारब्धनाशार्थमेवेति वाच्यम् । । पदवागनङ्गीकारानुपपत्तेः । न हि स्वमोक्ष-  
प्रतिबन्धनिवृत्तिः कस्यचिन्नेष्टा । तथा च ब्रह्मवाक्यानाथेक्यमपि स्यात् “ईश्वरेच्छया-  
ऽधिनिवेशितकर्माधिकारः”, “पुरुषातिदिहान्” इति वाक्याभ्यां विरोधाच्च ॥२६३॥  
नन्वेतादृशस्य पुत्रः कथं तादृकाभित्याशङ्क्य तत्र निमित्तमाह आदाविति ।

निबन्धः—आदौ वाक्यैश्चित्तमासीत्कामाक्रान्तं तु सर्वतः ॥२७॥

तेनाऽऽग्नीध्रस्तथा जातः प्रश्नाज्जातास्तु कामिनः ॥

प्रकाशः—अत्राऽयं भावः । अस्यशक्त्यै प्रियव्रते । वैराग्यसहिता भगवद्वक्तिर्ब्रह्म-  
वाचयजः सर्वविषयकः कामो मनुपुत्रत्वं च । तथा च तेन तेनांशेन तत्तत्कार्यार्थं  
तादृशास्तादृशाः पुत्रा उत्पन्ना इति । तत्राप्यादायुःकटकामावस्थार्थां जात इत्याग्नीध्र-  
स्तथा कामात्मक एव जातस्तपश्चादुत्पन्ना अपि कामिन एव जाताः । अन्यथा  
द्वीपाधिपत्यं नाङ्गीकुर्वुः । तुशब्दः कथादित्रयव्यवच्छेदाय ॥२७३॥

निबन्धः—तत्राऽपि त्रिषु मोक्षोऽभूत्तेषां च हरिसेवया ॥२८॥

प्रियव्रतस्य ससिद्धिः कालः स्याद् वाधकोऽन्यथा ॥

तत्रापि पुत्रेष्वपि त्रिवेव मोक्षोऽभूत्स्वयंशोद्भवत्वात् । ‘तस्मिन्नुह’

इत्यादिना तद्भक्तिनिरूपणस्य प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्य तमाह तेषां चेति । तत्कृत-  
सर्वेत्यर्थः । ससिद्धिः पूर्ववद्भगवद्भावः । एतन्मूले ‘हृदि (दृष्टीः) कृत’ इत्यादिना  
निरूपितम् । तस्या आवृत्त्यकलायाऽऽह काल इति । विषयावेशे तद्वाधकस्याऽऽवृत्त्य-  
कलादिति भावः । तेन वीर्यं निरूपितं भवति ॥ २८३ ॥ ननु भगवद्भावे जाते  
फलस्य जातत्वात्पुनरुत्पत्तिः किमर्थेत्याकाङ्क्षायामाह गुरुसेवैवेति ।

निबन्धः—गुरुसेवैव सर्वस्य मर्यादायां हि साधनम् ॥२९॥

अतो नारदमार्गेण गमनं मुक्तिरेव सा ॥

निरूप्येति भगवत्कृतत्वं निरुच्य । तथा चेति यदि भोगे प्रारब्धनाशाया ज्ञात्वा कुर्यात्  
तदा ‘युक्तोपि तावद्विद्युयात्स्वदेहमारब्धमभक्ति’ इति ब्रह्मा न वेदेत्, यथा ब्रह्मी स्याद्ब्रह्मवाक्यमपि  
नाङ्गीकुर्वीदित्युभयथापि तदानर्थक्यं स्यादित्यर्थः । अधिनिवेशितेति प्राप्तिेत्यर्थः । तथात्वे  
इति गुरुसत्तिजन्यत्वे । स एवं पञ्चदशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ॥ २९३ ॥

प्रकाशः— कर्मज्ञानयोस्तयात्वेपि भक्तौ न तथेत्याशङ्क्योक्तं सर्वस्येति । तेन भक्त्यापि सैव साधनमित्यर्थः ॥२९॥ मर्यादाभारगस्यैव तथात्वादिति भावः । मर्यादायां शुक्तिरावश्यकं सा च नोक्तव्य आह शुक्तिरेवेति । तस्य सैव शुक्तिरित्यर्थः । नारदमुक्त्वावस्यापि शुक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ २९ ॥

( अ० २ ) द्वितीयाध्यायं विचारयन् भगवान् स्वधर्मान् दत्त्वा स्वस्मिन् स्थापयतीति ब्रह्म निरूप्यते । आर्षाधि च परम्परयापि न तथेत्याशङ्क्य तत्र तात्पर्येमाह आर्षाधिप्रस्थापीति ।

निबन्धः— आर्षाधिप्रस्थापि वशना प्रकृतिर्ब्रह्मणा कृता ॥ ३० ॥

येन तां रसवाक्यैश्च मोहयामास तादृशैः ॥

अन्यथा ज्येष्ठपुत्रस्तु नाभिस्तादृक् कथं भवेत् ॥ ३१ ॥

प्रकाशः— यथा मियत्रते भगदाज्ञासैव ब्रह्मणोक्तकर्मभ्यांहीकारार्थमेवमस्मिन्नपि श्रीसम्पत्पथे भगवदिच्छां ज्ञात्वा ब्रह्मणा तथाकृतमिति ज्ञापनायाऽपि । इतिवाक्ययजकामात्मनः पुरुषस्य प्रकृतिरूपैव सा । अत एव मूले गायन्तीमित्युक्तम् । गुणानां मिश्रभावेन नवविधत्वात्तत्रपुत्रजनने च तथा च तस्यास्तत्रब्रह्म ब्रह्मकृतमेत्यर्थः ॥ ३० ॥ अत्राभिज्ञापकमाह । येनेति । अन्यथाऽतिशुभ्यत्तज्ञानेन विरतिरेव स्यात्तु मोह इतिभावः । अत एव रसभात्रोत्पत्त्या रसगर्भितानि वाक्याण्यपीत्याह तादृशीरिति । रसज्ञाने मोहकत्वेन प्रसिद्धैरित्यर्थः । विपक्षे वाचकमाह अन्यथेति । यदि हरिदत्तैवा न स्यात्तदा मियत्रतस्य भक्तस्याऽपि तद्ब्रह्मयजकामवत्त्वेनातादृशः पुनोऽभूदस्याप्येतादृश एव स स्यात् । भगवत्काम इत्यर्थः । पितुः प्रजुरो धर्मं ज्येष्ठेऽनुमत्त इत्यत उक्तं ज्येष्ठेति । अथवा पूर्वोक्तप्रकृतिरूपा चेन्न स्यात्तदा स सात्त्विकः कथं स्यादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

नन्वस्य पितृलोकमाप्तिकथनं प्रकरणार्थं विरोधीत्याशङ्क्याह स्वस्मिन्निति ।

अतः परं सादृश्वतुर्भिद्वितीयाध्यायं विचारयन्ति द्वितीयेत्यादि । अत्रेति स्थानलीलानिरूपके स्तब्धे । अत एवेत्यादि प्रकृतिरूपत्यायेव श्रीभागवते श्रवणहृदयहरिकार्यकर्मवृत्तया मोहकत्वज्ञापनाय गायन्तीमित्युक्तमित्यर्थः । जनने चेति प्रकृतिरूपज्ञापकमित्यर्थः ॥ ३० ॥ विरतिरेव स्यात्तु मोह इति । अनास्यया रस्यभाव एतस्याः स्यात्तु पराशिसमना इत्येतेनोक्तो मोह इत्यर्थः । विपक्ष इति तस्याः भगवत्कृतत्वाभावे । अस्मिन् पक्षेः पितुः प्रजुरो धर्मः काम एव न भक्तिरिति न तेन पुत्रस्य भगवत्कामत्वसिद्धिरित्युक्त्या पक्षान्तरमाहुः अथयेति, पूर्वोक्तपक्षं दृढयितुमाग्नीध्रकामितं विचारयन्ति नन्वित्यादि भाव इत्यन्तम्, एतेन 'विहसजिव तलेदं चरितं मुनिब्रवीदिति' श्रीश्रोक्तं निरस्तम् । तथा च तस्यापि प्रजुरा भक्तिरस्ति सा परं भगवदिच्छया

निबन्धः— स्वस्मिन् दोषस्तु कामो हि स पूर्णोऽस्तरसां गृहे ॥

अतस्ताः सर्वथा लब्धास्तासु कामं विनिक्षिपेत् ॥ ३२ ॥

प्रकाशः— कामस्य दोषत्वेन न तत्सहितानां भगवति स्थितिर्न वा रक्षणीयः सः । तस्य च स्वप्रकृतावेव लयनियमेनाऽस्तरसां च तत्प्रकृतिरूपत्वेन तासु तद्व्युत्पत्तये शुद्धस्य तथात्वं भावीति तात्पर्येण तथा कथनमित्यर्थः । ननु “ न जातु कामः कामानाम् ” इतिवाक्यादिदमसम्भावितमत आह स पूर्ण इति । तत्र पूर्णां भवतीत्यर्थः । तथा च यथा कृष्णवर्णनेन इविषाऽपूरणे ( अतिपूरणे ) तस्यैव शान्तिरेवमस्थापीति भावः । सैवैवा स्वार्थानन्तयेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वोत्तरभोगयोः कर्मफलत्वमाशङ्क्याह कर्मण इति ।

निबन्धः— ततो मोक्षस्तस्य भावी कर्मणोऽल्पं हि यत्फलम् ॥

आद्यन्तयोः कृतार्थत्वात्सोपि तादृग्विधो भवेत् ॥ ३३ ॥

प्रकाशः— कर्मसम्बन्धि यत्फलं तदल्पं भवति । एतच्च महदिति न तथेत्यर्थः । तेन भगवद्बोधो रूपमेव सर्वमिति भावः । एतन्मुक्तेः स्फुटमनुकलेन तत्रोपपत्त्यन्तरमाह आद्यन्तयोरिति । सन्दर्शन्यायेनाऽप्यस्य शुक्तिरूपकृत्यर्थः ॥ ३३ ॥

ननु तयोर्भक्तत्वेप्यस्य यथातथात्वं तथैवास्तुक्तमपीत्याशङ्क्याऽभक्तत्वे हेतु-  
याह कृष्णवाक्यादिति ।

निबन्धः— कृष्णवाक्यात्समुत्पन्नः स्वरसज्ञे च शान्त्यति ॥

जडरीत्यैव सरसः प्रादुर्भवति नाऽन्यथा ॥ ३४ ॥

प्रकाशः— अत्राऽयं भावः । तादृशस्य कामस्य स्वशुक्तिरावश्यकं सा च कामरसज्ञे एव भवेत् । अयं चैतद्रसज्ञः । अत्रापि कृष्णवाक्यजकामरूपत्वमेव हेतुः । एवं सति विवाहितयां मुख्यरसाभावाद्धौकिक्याश्च निन्दितत्वेन भगवद्वाक्यजकामसम्बन्धासम्भवात्पूर्वोक्तरीत्या भगवद्वाच्यं तस्यां स कामः पूर्णो जातः । तद्रसस्याभावादेव जडरीतिरपीत्यस्य भक्त्यवर्णनम् । तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात् । अत एव मूले पूर्वं 'जडवत्' इत्युक्त्वा पश्चात् “ ललानुनयातिविशारदः ” इत्युक्तम् । कृष्णवाक्यजतादेव च शुक्तिरस्यावश्यकं, स वात्स्यायनशास्त्रप्रसिद्धः । अन्यथा तत्रविचार इत्यर्थः ॥ ३४ ॥  
कामाभिभूतेति न पूर्वोक्तं दुष्टमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वादिति भक्तः कामप्रति-  
बन्धकत्वात् ॥ ३४ ॥ एवं सादृश्वतुर्भिद्वितीयाध्यायो विचारितः ।

(अ० ३) यशो विचारयन् कामस्य पूर्वस्मिन्नेव शान्तीं नामैः सकामतानु-  
पचरित्यत आह आधिदैविकं इति ।

निबन्धः—ततोऽप्यग्रे गतः काम आधिदैविकभावतः ॥  
वेदतन्त्रप्रकारेण ब्राह्मणेयु प्रवर्तितः ॥ ३५ ॥  
तृतीयै कृष्णतां प्राप्तः क्रोधवत्कामसम्भवः ॥

प्रकाशः—आधिभौतिकाध्यात्मिकयोः शान्तावाधिदैविकस्यैवाऽवशिष्टत्वात्तथा । तन्त्र-  
प्रकारश्चतुर्ध्यायाकारचिन्तनम् । तृतीयै पुरुष आधिदैविकभावतः कृष्णतां प्राप्तः सर्वा-  
धिदैविकरूपताद्भवतः ॥ ३५ ॥ ननु सर्वमिदमप्युक्तम् । भक्तस्य भगवद्भावप्रतिबन्धकका-  
मजननम् । तथापि स्वमजायां भगवत्पुण्यत्वेन भावयतो नामैर्भान्तस्येनोपैतेषु कर्तुंशुचिता,  
न तु प्रसादः, असद्भावकत्वात् । तद्भावनाया अपराधत्वेन हरिवाक्येष्टजननासम्भ-  
वम् । विषयविषयककामस्य भगवद्विषयकत्वेन चानुपपन्नमित्यत आह क्रोधवदिति ।  
स्वचिकीर्षितकार्याधि बद्धमुक्तव्यवस्था च भगवदधीनेन न साधनाधीनेति ज्ञापनार्थम् ।  
यथा मुनिवाक्यैश्चुक्तयोर्धकधोरपि जयविजययोस्तद्विरुद्धः क्रोधो भगवति जनिस्तथाऽत्र  
काम इत्यर्थः । यथा क्रोधेनाऽन्यथा भावना सदा तयोस्तथाऽत्र तुल्यत्वभावना । यथा  
क्रोधस्य शत्रुविषयकत्वनियमेन हरौ शत्रुत्वज्ञाने सोपि तथा पुत्रस्यापि विषयत्वेन हरौ  
तद्भावनायां विषयविषयककामस्य तद्विषयत्वमपि ॥ ३५ ॥

यथा हरिणा तस्यमृग्ये मर्गेपि न मुक्तिः किं तु “त्रिसत्या हि देवाः”  
इत्यादिश्रुतेस्त्रिषु जन्मसु सम्पन्नेषु पश्चाद्भ्रुकुम्भाम्निस्तथाऽत्र कामो वंशात्मकत्वेन  
तद्रूपभगवत्त्वं प्राप्त इत्याह यथेति ।

निबन्धः—यथा वैकुण्ठसम्बन्धो जयादेश्चिषु जन्मसु ॥ ३६ ॥  
कृष्णावाक्योद्गतः कामस्तथा कृष्णत्वमश्रुते ॥  
हरिः सर्वसमो लोके न हरेस्तु समः क्वचित् ॥ ३७ ॥

अतः परं पञ्चभिस्तृतीयाध्याये विचारयन्ति यश इत्यादि, तन्त्रप्रकार इत्यादि,  
एतेन वेदप्रकारो यज्ञपुरुषत्वब्रह्मत्वहिरण्यत्ववादिचिन्तनमित्यपि बोधितम् । तथा च मूले  
प्रवर्तित इत्यस्य चिन्तनद्वारा ह्यथाविधौचित्य इत्यर्थो बोधितः । तज्जननासम्भव इति  
भगवदवतारासम्भवः । ननु व्याख्यातरूपस्य सर्वस्यार्थस्यातिदेशादेव शब्दो शक्यत्वादस्याः  
कारिकायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः मुनीत्यादि ॥ ३५ ॥

प्रकाशः—मुनिवाक्यजः क्रोधो यत्र तथा तत्र भगवद्वाक्यजः कामस्तथेति किं  
वक्तव्यमित्याशयेन विशेषणम् । फलितमाह हरिरिति । एतेन तुल्यत्वज्ञाने ये  
पूर्वैपक्षास्तेऽप्यहताः । तस्मिन् हि सति भगवानेव चेत्यादुधैवति तदेदं ज्ञानं भवति ।  
एतेन यथा कथञ्चिदपि भजनं सफलमितिज्ञापितम् ॥ ३७ ॥

तन्त्रमजन्स्त्वेन प्रजाभावाकामनाऽऽर्थाविना तत्कर्षे हरितुल्यतत्कामनेत्याशङ्क्य  
तत्र हेतुमाह आत्मेति ।

निबन्धः—आत्मप्रभृतिवैशद्यस्य सर्वार्थस्योपपत्तये ॥

सामर्थ्यादि हरेरेव ततः स्वयमभूत्सुतः ॥ ३८ ॥

प्रकाशः—वस्तुतस्तु भगवानेव पुत्रत्वेनाऽऽविरस्तित्वस्यैच्छा । अन्यथा वंशस्य  
कामजत्वेन प्रवृत्तिकार्यमेव स्यान्न निवृत्तित्कार्यम् । हरिवाक्यजत्वेन मुक्तावप्यधिदै-  
विककामरूप एव लयः स्यान्न तु पुरुषोचमे । अतः स्वात्मानमारभ्य सर्वस्यैव वंशस्य  
धर्मादिभक्त्यन्तसर्वार्थसिद्धयर्थं तत्कामनेत्यर्थः । ईश्वरे साक्षात्तथा वक्तुमशक्यमिति  
भवादेशोमित्युक्तमितिभावः । हरिप्रादुर्भावे वंशस्य कृताथत्वं युक्त्याऽप्युपपन्नं  
भवतीत्युक्तमुपपत्तय इति । ननु वरदानेनाऽपि सर्वोपपत्तावाधिर्भावस्य नावश्यकत्वमि-  
त्याशङ्क्य वरेण हि तादृक् सामर्थ्यादिकं सम्पादनीयम् । स च वाग्व्ययः । तथा  
च कामजनकपूर्वैवाग्विरोधसम्भवेन तथा वचनासम्भवः । वचनेन च वचनबले न  
निराकर्तुं शक्यम्, तुल्यबलत्वादिति न सामर्थ्यादिसम्भवोपि किं तु स्वस्वणैव तथा  
कर्तुं शक्यमधिकबलत्वादिति स्वयमेव सुतोऽभूदित्याह सामर्थ्यादिति । अत  
एव मूले “वातरशनानां धर्मान् दर्शयितुकामः” इत्युक्तमिति भावः । तर्हि “प्रक्षाल-  
नादि पङ्कजम्” इति न्यायेन वाचा कामजननेन किमर्थमित्याशङ्का “त्वल्पेपि भगवान्”  
इत्यनेनैवाऽप्यहता ज्ञेया । एवमस्मिन् कीर्तिः स्थापिता । भगवानस्य सुत इति ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणानां भक्तिनिरूपणस्य प्रकृतानुपयोगमाशङ्क्य तमाह ब्राह्मणा इति ।

निबन्धः—ब्राह्मणा भगवद्भक्ता यदा कार्यं तदैव हि ॥

अतः केवलयज्ञादेः साधकत्वं निराकृतम् ॥ ३९ ॥

प्रकाशः—कार्यं भगवदाविर्भावः । फलितमाह अत इति अन्यथा भक्तिसिद्धान्त-  
विरोधः स्यादिति भावः । वंशसम्बन्धो यज्ञस्योपयोगोस्तीति ज्ञापनाय केवलपदम्  
आदिपदेन यजमानश्रद्धादेशादिः ॥ ३९ ॥

विशेषणमिति जन्मानां त्रिवलं विशेषणम् । इदमिति भगवतः संबतुल्यत्वम्, अन्यस्य  
भगवदतुल्यत्वं च । निवृत्तित्कार्यं इति निवृत्तिमौक्तौ ॥ ३९ ॥ एवं पञ्चभिस्तृतीयाध्यायो विचारितः ॥

धर्म्यध्याये पुनः “नाभिस्तु यथाऽभिलषितम्” इत्यादिना नाभिकथा कृत इत्यत आह लौकिक इति ।

निबन्धः—लौकिकोऽपि हरी भावो मोचकस्तेन तत्कथा ॥

यथा कामनया पित्रा स्वयमुत्पादितो हरिः ॥ ४०

तथैव कृतवान् सर्वमिति राज्यादिवर्णनम् ॥

प्रकाशः—ननु पूर्वाध्याये निवृत्तिपरिभाषाकृत्यार्थकत्वरूपणादवतारस्य राज्यादिकथनं तद्विरुद्धमत आह यथेति ॥ ४० ॥

भगवदवतार इन्द्रस्य स्पर्धा कथमत आह यज्ञ इति ॥

निबन्धः—यज्ञस्तद्वेन्द्रस्तेनास्य स्पर्धा कार्यावतारतः ॥ ४१

परीक्षा वा कन्यकाया दानार्थमिति निश्चितम् ॥

प्रकाशः—आय मन्वन्तरे हरेरंशवतारो यज्ञ एवेन्द्रोऽभूत्तेन तद्योग्येति तथा । मूले भगवत्पददानादितिभावः । तर्हि यथास्तर्षासम्भवोऽत आह कार्येति ।

यज्ञस्य मनवन्तरकार्यत्वात्क्रियाशक्तेरेवाऽऽविर्भावोत्पद्युक्त्याऽभिलषितानुशक्त्यानाभिर्भावादिन्द्रताङ्गीकारेण तद्वर्माणामप्यहोकारात्सर्वैर्द्वैत्यर्थः । यदा निवृत्तिमार्गप्राकृत्यलक्षणकार्याथैलादृशभावतारस्य प्रवृत्तिपरत्वमस्ति न वेति संशयेन कन्यादाने सन्दिहानः प्रनानुरागतदभाव्याभ्यां तन्निर्द्धारं कर्तुं कन्यायाश्चाऽऽलौकिकवीर्यात्यन्तत्वेनाऽस्य च निवृत्तिपरत्वेन लोके स्वमलौकिकवीर्यं प्रकटयिष्यति न वेत्यलौकिकवीर्यपरीक्षार्थं च शृष्टयकणमित्याह परीक्षेति । पूर्णपुण्यतपरीक्षेत्यर्थः । लोकप्रतीत्यभिप्रायं मूले तत्कथनमितिभावः ॥ ४१ ॥

परीक्षामयोजनमाह दम्पत्योरिति ।

निबन्धः—दम्पत्योर्भगवत्त्वे तु पुत्राणां हि कृतार्थता ॥ ४२

योगेन भ्रष्टरूपः सन् वृष्टिं चक्रेऽतिशोभनम् ॥

स्थितिरेषेति योगस्य साधनत्वं निरूपितम् ॥ ४३ ॥

अतः परं सार्द्धं षोडशभिधतुषार्थाध्यायं विचारयन्ति धर्म्यध्याय इत्यादि ।

ननु शतयज्ञकरणविरूपबीजाभावाद् वृथा स्पर्धायाश्च यज्ञवतारेनुचितत्वात्सामान्तरमाहुः यद्वेत्यादि । नन्वयमेव पक्षश्लोकिश्चित्तदा मूले स्पष्टमाननपदं कृत उक्तमित्याशङ्क्य तात्पर्यमाहुः लोक इत्यादि । तत्कथनमिति स्पष्टमानत्वकथनम् । ननु निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वं चरे दोष इति तदभावः परीक्षणीयस्त्वर्थे सम्भाषणप्रादुरोत्पत्त्याः सन्तीति कथमेवं कृतमित्येषेक्षायामाहुः परीक्षार्थमित्यादि । तथा च कन्याया भगवद्वचायास्तोषिको वरोपेक्षित इति भाववचं

प्रकाशः—लौकिकमेयानाकृत्य तैर्दृष्टिकरणे तेषामिन्द्रोयत्वेन नास्य तथा वीर्यसिद्धिरित्यत आह योगेनेति । यस्मिन् श्लेघे यदा यावदपेक्षितं तत्र तदा तावदेव जलं ददातीत्युक्तमतिशोभनामिति । इन्द्रस्तु तद्विपरीत इतिभावः । स्वतः समर्थस्य साधनाङ्गीकारं हेतुमाह । स्थितिरिति । मर्यादायां प्रसिद्धसाधनेनैव साध्यकरणात्तथेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भगवति गृहे सति तं विद्याम वनगमनमयुक्तम् । तत्रापि स्वार्थं प्रकटस्योपासितमपहायाऽप्यत्र सा नोचिनेत्यत आह कामसिद्ध्या इति ।

निबन्धः—कामसिद्धये समुत्पन्नो भगवत्स्तेन कामकृत् ॥

न मोक्षदोऽभवत्तेन मरनारायणाह्वतः ॥ ४४ ॥

मर्यादायामेवमेव मुक्तिरित्यपि सूचितम् ॥

प्रकाशः—अत्र नियतेच्छलाद्भगवत इति भावः । तथेच्छायां हेतुमाह मर्यादायामिति । गृहत्यागादिनैवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ नरभजनोपयोगमाह तपसेति ।

निबन्धः—तपसा ज्ञानमार्गेण मुक्तावेकस्तु साधनम् ॥ ४५ ॥

भगवत्सेवया चेत्सा बहूनामपि सा भवेत् ॥

प्रकाशः—एको नरस्तपसा साधनेन ज्ञानमार्गेण मुक्तौ यत्रात्मकत्वेन स तत्साधक इत्यर्थः । तर्हि भगवद्भजनं किञ्चनमत आह भगवत्सेवयेति । मर्यादायां स्त्रियाः पूर्वोक्ताधिकाराभावाद्भजनं विना नाऽस्या मुक्तिरिति तथेत्यर्थः । अस्या युक्तौ किमाथर्थमिति कैशुक्तिकन्यायदर्शनार्थं बहूनामिति । तमसेति पाठे स्त्रीसङ्घो बाधको मुक्तावत आह तमसेति । वैद्यादिवत्तमसा द्रेषादिना युक्तावेकस्यैव स्वमुक्तावेव साधनत्वं, न प्रसङ्गिनोपि मुक्तौ । तथा ज्ञानमार्गेणापि युक्तौ, अत एकस्यैव त्यागः । भजने तु तत्प्रतिबन्धकस्यैव त्यागो न तत्साधकस्यापीति तथा सह गमनम्, नापि सा प्रतिपन्निर्कृत्यर्थः ॥ ४५ ॥

तथापि मर्यादायां स्त्रियस्त्यागविधानात्सोऽयुक्तः ॥ “न तथाऽस्य भवेद्वेशः” इति वाक्यात् । तादृशतमभेदेनाऽस्यापि मुक्त्यसम्भवोऽत आह चनस्थेति ।

ज्ञातुं सेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ तथेति नरनारायणोपासनम् । एकस्यैव (स्वमुक्तावेव) साधनत्वमिति मुख्यं प्रत्येव साधनत्वमित्यर्थः । तदेव विबुधैर्नितं नेत्यादि । मूले साधनमिति भावप्रधानो निर्देशः । तत्प्रतिबन्धकस्येति भक्तिप्रतिबन्धकस्य ॥ ४५ ॥ स इति स्त्रीसङ्घः, तथेति वनस्यस्य या छान्दोग्ये

**निबन्धः—**वनस्थरीत्या मुक्तिस्तु नाभेरत्र निरूप्यते ॥ ४६ ॥

तृतीयत्वादेतो भार्यासहितस्य गतिस्तथा ॥

गुरुसेवाप्रधानत्वाद्ब्रह्मचारे प्रियव्रतः ॥ ४७ ॥

शुद्धस्थो मध्यमः स्पष्टो मुक्तिस्तस्य निरूपिता ॥

**प्रकाशः—**नेदं भजनरूपं गमनम्, परमदंशमार्गामयुनाऽप्यप्रकटत्वादात-  
स्तथा । तस्या रीतेः क्रमप्राप्त्यनुपपादयति, तृतीयत्वादिति साधनं ॥४७॥

नन्वेवं सर्वत्यागाभावात्कामसिद्धयर्थाविभूतस्यापि भजनेन तत्पसादानमुक्तिर्भवेदिति  
कृतो गमनम् । शुद्धत्यागावश्यकत्वे वा ननेऽपि नास्यैव भावने कृतोऽत आह सर्वत्रेति ।

**निबन्धः—**सर्वत्र लौकिकी दृष्टिः शास्त्रदृष्टिं हि बाधते ॥ ४८ ॥

शतथा कामकरणं सर्वकामविवृद्धये ॥

**प्रकाशः—**अत्र पुत्रत्वेनैव स्फूर्तिर्भवति । भगवत्त्वेनेति भजनमेव न सम्पद्येनेति  
तथेत्यर्थः । मर्यादायां यथा कथञ्चिज्ज्ञाने मुक्तिर्नेति भावः । यथा । ननु मूले  
“कर्मणाऽपत्यतामगाद्” इति कथनं कथं भक्तिशास्त्रविरोधाद् आह सर्वत्रेति । न  
सा शुकोक्तिः किं त्वनुवादो लोकोक्तेः, तेषां शास्त्रश्रवणे सत्यपि बाह्यदृष्टिरेवेति ।  
ब्राह्मणादिनिष्ठान्तरभक्तिज्ञानाभावात्तथेत्यर्थः । पुत्रशतमात्रजनने हेतुमाह शतयेति ।  
वंशस्य कामात्मकत्वात्तस्य च शतविधत्वाचावत्पुत्रजननमित्यर्थः । प्रयोजनमाह सर्वेति । ४८ ॥  
कामस्य शतधात्वं विप्रणोति एक इति ।

**निबन्धः—**एको मोक्षे तथा भोगे भक्तौ च नवधा पुनः ॥ ४९ ॥

नवानां नवभेदा हि कर्ममार्गेषु कामानाः ॥

**प्रकाशः—**मुक्तिकेचविधलाद्भोगस्य साधनभक्तेश्च गुणैर्नैवविधलात्कर्मफलस्य चैकाशी-  
तिविधलात्तत्कामानाया अपि तावद्भिधत्तमित्यर्थः । ते क्वेद इत्याकाङ्क्षायामाह  
कर्ममार्गंति ॥ ४९ ॥ तत्रैकाशीतिविधत्तमनुपपादयति कर्मैति ।

रीतिरुक्ता तथा मुक्तिरित्यर्थः । उपपादयतीति हेतुपूर्वकं कथयति । मूले तृतीयत्वाद् प्रियव्रतमे-  
क्षया नाभेरत्रैकचर्यापेक्षया वनस्थाश्रमस्य च तृतीयत्वाद् । एतस्य पूर्वेण सन्बन्धः । अतो वनस्य  
रीत्यधिकारित्वाद् भार्यासहितस्य या नारायणाश्रमं प्रति गतिः सा तथा मुक्तिर्नैवसाधनी ।  
नन्वेतत्तृतीये तस्य तृतीयाश्रमग्रहणं प्रति कथं हेतुत्वेत्यत आहुः गुरुसेवैत्यादि । यद्यपि  
प्रियव्रतस्य गार्हस्थ्यान्तरमाश्रमान्तरपरिग्रहत्वात्पि ‘भगवतो नारादस्य पदवीं पुनरेवानुससारे’ति  
कथनेन लिङ्गेन प्रियव्रतः ब्रह्मचारे ब्रह्मचर्यं स्थितः, युगान्तरे विपरीताश्रमग्रहत्वात्पि स्मरपादिति  
शेषः । शेषं स्फुटम् । ४७ ॥ सर्वत्रेति मर्यादाया सर्वत्र । भक्तिशास्त्रविरोधादिति भक्तिशास्त्रे भक्त्या  
च हृदि भावित इत्यादिकथनेन तद्दिशोधादित्यर्थः । ४८ ॥ अस्मादेवास्वस्वत्साक्षान्तरं भोगस्येति ।

**निबन्धः—**कर्मकर्तृविभेदेन गुणैर्नैवविधत्त्वतः ॥ ५० ॥

मोक्षः कामस्तथा भक्तिर्धर्मश्चेत्यत्र हि क्रमः ॥

**प्रकाशः—**नवविधे कर्मण्येकेकं कर्म नवविधोऽपि कर्ता चिकीर्षतीति तथा ।  
व्युत्क्रमेण पुरुषार्थकाममष्टौ तात्पर्यमाह मोक्ष इति । अत्र प्रियव्रतवंशे पूर्वं हि तस्य  
मोक्षधर्मेति । ततः कामस्तत्पुत्रे, ततो नाभेरान्नाणानां च भक्तिस्तत्तत्त्वर्षभे धर्ममर्यादा-  
स्यापनं चेति तथा क्रम इत्यर्थः ॥ ५० ॥ अर्थाकथने हेतुमाह यथेति ।

**निबन्धः—**यथार्थः सर्वसुखदः सर्वार्थस्य च साधकः ॥ ५१ ॥

तथा स्थाने भक्तिमार्ग इत्येवं क्रमसङ्ख्या ॥

**प्रकाशः—**अत एव भगवतैव रक्षिताः ॥ ५१ ॥

प्रज्ञानां निष्कामकले हेतुमाह पुत्रेति ।

**निबन्धः—**पुत्रेषु सर्वथा कामं सम्यक् स्थापितवान् यतः ॥ ५२ ॥

निष्कामास्तु कुतो जाताः प्रज्ञास्तेनैव रक्षिताः ॥

सर्वथा कामराहित्यं दृष्टान्तेन निरूपितम् ॥ ५३ ॥

स्नेहः स्वतन्त्रा भक्तिर्हि त्रिमार्गादधिका मता ॥

**प्रकाशः—**अविद्यमानमिधेति दृष्टान्तेन फलितमाह स्नेह इति । त्रयाणां मार्गाणां  
कर्मज्ञानभक्तौनां समाहारस्तथा । तथा च स्नेहरूपा भक्तिः स्वतन्त्रा विध्यनिमित्त्या  
मोक्षार्थिका, सा तु रसवदनुभवैकगाम्भेति तादृशानामेव पुष्टिमार्गीयाणां सम्मतेत्यर्थः ।  
अन्येषां तत्स्वरूपाज्ञानादतस्तथात्ममिति भावः ॥ ५३ ॥  
तच्चिद्गताभावेपि स्वयं तेषांपदेषु हेतुमाह कर्ममार्गंति ।

**निबन्धः—**कर्ममार्गप्रकरणे येषु कामो निरूपितः ॥ ५४ ॥

तेषां ज्ञानोपदेशस्तु कर्तव्यः सर्वथाऽप्यथा ॥

जडाः स्युर्येन नाशः स्यादतो गत्वा हि बोधनम् ॥ ५५ ॥

एतेन कुशावर्चादयो नव तत्तत्कामकानां जन्तून्नीपोपद्वीपानां पतय इति बोधितम्, तेषां नवनव-  
द्वीपपतयस्य सम्मत इत्येकादशावध्याद् एते चाणिव एव न ह्य सागर इतिशेषम् ।  
निष्कामत्व इति भगवत्परिणये परिश्रमणा इति गद्योक्ते तासां तथात्वे । अविद्यमानमिधेति  
रवपुष्पमिव । तथा च भगवत्स्नेहातिशयमन्तरेण विद्यमानमर्थं स्वपुष्पमिव न वाञ्छन्तीत्यर्थः ।  
तथेति त्रिमार्गं तस्मादित्यर्थः । मूले गतेति ब्रह्मवचं गत इत्यास्यार्थः ॥ ५५ ॥ एवं षोडशभि-  
अर्थाध्यायो विचारितः । ( १ “अतथात्मम्” इतिपाठान्तरम् । )



प्रकाशः - ( अ० ५ ) एवं निर्वैयर्थ्येनोपदेशो हेतुमाह स्वकृत इति ।

निबन्धः—स्वकृतेऽर्थे हरिः सर्व प्रतीकारं करोति हि ॥

अहङ्कारनिवृत्तिं हि बोधयन्त्यत्र साधनैः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः— एतेन कर्मात्कैरनर्थकं बहुनामर्थानामुक्ततादुचितम् । उपदेशनिर्द्धारमाह अहङ्कारेति 'हंसे गुरौ' इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

निबन्धः—ऐहिकामुष्मिकः क्लेशस्तत्कृतो वषयते ततः ॥

मुख्यसाङ्ख्योऽयमारूपातो योगे त्वग्रे मनःकथा ॥ ५७ ॥

प्रकाशः—तत्कृतोऽहङ्कारकृतः । निवृत्तिमार्गे साङ्ख्ययोगयोः साधनत्वाच्चदुभयं दर्शितम् । अहन्ताममतात्याग एव मुख्यो ज्ञानमार्ग इति भगवता 'जडान्धशूक' इत्यादिना स एव मार्गो दर्शित इत्याह मुख्यसाङ्ख्य इति । 'यर्हि वाव' इत्यादिना योगचर्या प्रदर्शिता । अत एवाऽग्रे अग्रिमाध्याये मनःकथोक्त्यर्थः ॥ ५७ ॥

ननु योगमार्गे सर्वत्यागाभावाद्वाद्य योगमार्गप्रदर्शनमनुपपन्नमत आह संन्यास इति ।

निबन्धः—संन्यासस्तु समाख्यातो योगसाङ्ख्याविशेषतः ॥

विषयाः सर्वथा त्याज्याः सर्वावस्थासु सर्वतः ॥ ५८ ॥

इति दर्शयितुं सिद्धो योगसिद्धिर्न मन्यते ॥

प्रकाशः—अयं संन्यासस्तु साङ्ख्यमार्गीय एव । योगचर्या तु तयोरविशेषात् । तथा चोक्तं भगवता "साङ्ख्ययोगी पृथग् वाचाः" इत्यादिना । तदाह समाख्यात इति । योगसिद्धिसेवानङ्गीकारे हेतुमाह विषया इति ॥ ५८ ॥

निबन्धः—मुखे पापाणनिक्षेपः कोप्यन्तर्मा विशेषिति ॥ ५९ ॥

सर्वथा विषयत्यागः प्रथमं तेन रूपितः ॥

भोगोपि विषयाणां तु नैर्मल्यं योगलक्षणम् ॥ ६० ॥

अतः परं साद्वैर्द्धिभिः पञ्चमस्य ज्ञानाध्यायस्य विचारं कुर्वन्ति । एवं निर्वैयर्थ्यादि । मूल अत्रेति उपदेशः । तत इत्यत्रातत इति पदच्छेदः । संसाराध्वनि नित्यं अमृत इत्यर्थः । इत्यादिनेति इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन ।

( अ० ६ ) कोपीति । सायुज्यस्यधिकारपीत्यर्थः । एतेन सिद्धानां सर्वथा सद्भावावो दर्शितः । किं च विषयभोगो हि पूर्वं श्रुतस्तत्र तथात्वेन सर्वथा त्यागो निरूपितो भवतीत्याह सर्वथेति । त्यागस्य प्राप्तिपूर्वकतात्यर्थं विषयाणां भोगोपि 'ज्ञान एवाश्राति' इत्यादिनाऽन एव निरूपित इत्याह प्रथममिति । रागव्याहृष्यर्थं तुः । सौरभ्यनिरूपणप्रयोजनं नैर्मल्यज्ञानम्, तस्यापि सिद्धलक्षणत्वेन निरूपणमित्याह योगलक्षणमिति ॥ ६० ॥

दाहोक्तितात्पर्यमाह अग्रावेवेति ।

निबन्धः—अग्रावेव समस्तस्य गतिरित्याग्निदाहनम् ॥

आनन्दमयदेहस्य बह्वावावरणे पुनः ॥ ६१ ॥

उद्गते तु तिरोधानमित्येवं वर्णिता कथा ॥

प्रकाशः—अत्र हि योगचर्यां शिष्यन् यथा यथा तेषामवस्थातां प्रदर्शयति । यथा सिद्धयन्तङ्गीकारे 'न कुर्यात् कश्चित्' इत्यादि हेतुत्वेन निरूपितम् । न ह्यत्र तदङ्गीकारेपि तथात्वं भवितुमर्हति । तथाऽत्र योगशरीरस्यान्ते गतिरियमेवेति ज्ञापनाय तथा कपोक्ता । वस्तुस्थितिसानन्दमयदेहस्य बहिरुपावरण उद्गते सति तिरोधानमित्याह आनन्देति । अत एव मूले 'योगिनां साम्प्रदायविभिन्नमुक्षितयन्' ( श्लो० ६ ) इत्युक्तमितिभावः । प्रकरणस्यसंहरति इत्येवमिति । इतीति समाप्तौ, हरिणा स्वरूपस्थितिकथा वर्णितेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

'राजन् पतिः' इत्यादितात्पर्यमाह भक्तोऽश्विति ।

निबन्धः—भक्तेषु सम्प्रसन्नोयमेवं क्लेशं चकार ह ॥ ६२ ॥

मर्यादायामतः कृष्णो न भक्तिं कापि यच्छति ॥

प्रकाशः—क्लेशे मर्यादिव हेतुः ॥ ६२ ॥

योगस्याऽद्याह्लाददृष्टिभिरध्यायैयोगमार्गेण स्वस्थितिर्निरूप्यत इत्याह अथेति ।

निबन्धः—अथाध्यायैरष्टभिर्वै योगमार्गो निरूप्यते ॥ ६३ ॥

योगभावे तु सर्वं हि निःप्रयोजनतां व्रजेत् ॥

मनसश्चञ्चलत्वाद्धि तथाऽन्ते या मतिर्गतिः ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—ननु योगनिरूपणे भरतस्यैव कथा कुत इत्याशङ्क्य योगस्यावश्यकत्वं हि

अतः परं चतुर्भिः षष्ठाध्यायं विचारयन्ति कोपीत्यादि । पयदिति भक्तानां शक्ति मदादा । एवमाद्य आद्यमवान्तरप्रकरणं सार्वाष्टनत्वारिभक्तिविचारितम् ॥ ६५ ॥ अतः परमाथे द्वितीयं विशतिभिर्विचारयन्ति योगस्यैत्यादि ।

तदितरसाधने सत्त्वेपि तदभावेन स्वस्थित्यभावे सिद्धयति । तादृशत्वं च भरतेस्तीति तत्कथा । एतदेवाह योगाभाव इति । आद्येऽध्याये भजापालनादिधर्मनिरूपणे-  
नैतन् ज्ञापितमित्यर्थः । योगेनैव मनसः स्वैर्यासदभावे तथात्वं युक्तमेवेति ज्ञापनाय  
मनसश्चञ्चलत्वं प्रवाहपातित्वं च द्वितीयेन निरूपितमित्याह मनस इति ॥६४॥

मुमुक्षोः साधनपरस्यापि तथात्वे हेतुमाह प्रारब्धेति ।

निबन्धः—प्रारब्धकर्मकालादेर्बाधकत्वं यतः सदा ।

भक्तिः परं ज्ञानदात्री कर्मादीनां बलेऽपि हि ॥ ६५ ॥

प्रकाशः—आदिपदेन स्वभावः । मर्यादायामिति शेषः । भक्तेरपि कर्मवदप्रयोजक-  
लमाशङ्क्याह भक्तिरिति । बाधके सत्यपि कार्यसाधिका सैवेति तथा । अत एव  
'कृष्णाचैनप्रभा' इत्युक्तम् । तेन भक्त्येशाऽस्य सर्वमग्रिममित्युक्तं भवति । अन्यथा  
पूर्वज्ञानाभावेनेतरवद्विप्रयासक्त्या जन्मान्तरंपि न तत्कृत्यैस्त्वं ज्ञापयित्वा ॥६५॥

तर्हि तथाऽपुनैव मोक्षः कथं न सम्पादितोऽत आह ज्ञानेति ।

निबन्धः—ज्ञानप्राधान्यतः क्रेशो भक्त्याऽन्ते मोक्षमेव्यति ॥

मुक्तिस्कन्धे तच्च वक्ष्यत्यतोऽत्र न निरूपितम् ॥ ६६ ॥

मन्यते साधनं योगं वाधकानां निराकृतौ ॥

कर्मत्वनुपयोग्येव न तद् दृष्टोपकारकम् ॥ ६७ ॥

प्रकाशः—ज्ञानसाधनत्वेन भक्तेः कृतत्वात्तथा । तथाऽपि भक्तिस्वरूपं मोचकमेवेति  
कथं न तथेत्यत आह भक्त्येति । अत्र सर्वांशे मर्यादेव हेतुरिति शेषम् । तत्रैव  
द्वितीयेपि जन्मनि मोक्षानिरूपणं कथं तत्राऽह मुक्तीति । एकादशे स्कन्धे 'स  
शुक्तमोर्गा त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा इतिम् । उपासोनस्तत्पदार्थां लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः'  
इत्यनेन ॥६६॥ ननु देहस्य बहिरङ्गत्वात्प्राग्भावेऽपि भक्तिकरणे कृतार्थत्वं स्यादेवेति  
विषयत्वे च कुतस्तदकरणं कालभतीक्षा चेत्यत आह मन्यत इति । अत एव  
पश्चात्प्रापे साधनत्वेन सर्वमुक्त्वा 'समाहितं मनः' इति साध्यत्वेनोक्तवान् 'परो हि  
योगो मनसः समाधिः' इति वाक्यादितिभावः । कर्मादिषु तथात्वेनाऽमनने हेतुमाह  
कर्म त्विति । भगवदुपासनालक्षणस्य व्याख्यत्यर्थं तुः । अत्याचिन्त्येनाऽस्य कालविलम्बा-

एतन् ज्ञापितमिति इतरसाधनसत्त्वं ज्ञापितम् । प्रवाहपातित्वमिति हरिणस्य  
प्रवाहपातित्वम् ॥६४॥ सैवेति अर्चनताविहितमभक्तिरेव । कथमिति त्रयोदशाध्याये भरतकथासमाप्तौ  
आपूर्णाणैव इव निमृत्करणोभ्यांशयो धरणिमिमां विचचारे'तिजिग्वृषुकवदशामात्रकथनात् परममोक्ष-  
निरूपणं कथमवगन्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥६६॥ कालभतीक्षेति युगदेहे कालभतीक्षा । उक्तवानिति

सहिष्णुतात्कर्मणश्चाऽदृष्टद्वारोपकारकत्वाददृष्टस्य च मध्ये कालादेर्नाशसम्भवात्पयात्स्य-  
एतदेवाऽह न तदिति ॥ ६७ ॥

अेहरूपा भक्तिश्चेत्स्यात्तदाऽनुपपत्तिकमेव पुनः स्वैर्यं स्यात् । सा च साधनत्वे-  
नैवासादिति द्वितीयेऽपि जन्मनि ज्ञानमेव कृतवती, तदपि वैराग्याथेमाह भक्तिश्चेति ।

निबन्धः—भक्तिश्च न स्वतन्त्राऽऽसीत्साधनत्वेन सा पुनः ।

ज्ञानमेव करोत्येषा वैराग्यार्थं न चाऽन्यथा ॥ ६८ ॥

प्रकाशः—यथा तण्डुलस्रापकत्वेन चिन्तामणिं मन्वानाय स न भक्तं प्रयच्छति  
दुग्धिं वा तथेति भावः ॥६८॥

निबन्धः—पश्चाद्वादाति मोक्षं च सजातीयप्रवर्द्धिता ॥

योगेनैव मनःधैर्यं ततः शीघ्रं तदाचरन् ॥ ६९ ॥

प्रकाशः—स्मरणकीर्तनादेः सजातीयत्वम् । एवमितरसाधनानामन्यत्रोपसीणत्वमुक्त्वा  
मकृतमुपसंहरति योगेनेति ॥ ६९ ॥

ननु स्मरणादिषु क्रियमाणेषु विरक्तस्य तद्वसानुभवोऽवश्यं भावी । तथा  
सति योगं न मन्येत नीरसलज्जानादत् आह कर्मादीनामिति ।

निबन्धः—कर्मादीनां स्थानमार्गे बलं सर्वात्मना मतम् ॥

पुष्टौ परं प्रवक्ष्यामो भक्तिमार्गेण साधनम् ॥ ७० ॥

प्रकाशः—यथा बालस्य स्त्रीस्पर्शादीं सत्यपि न शृङ्गाररसानुभवस्तथा मर्यादाभारगीय-  
त्वाद्यावता ज्ञानवैराग्यसम्भवस्तादृशस्तद्वसानुभवोऽपि नाऽधिकः । अन्यथा तथा मारब्ध-  
स्यैव नाशे तद्वैराग्यसम्भवेन मर्यादानाश एव स्यादतोऽस्मिन्मार्गे तेषां बलिष्ठत्वेत्यर्थः ।  
मतं भगवत इतिशेषः । तथा च भगवता स मार्ग एव तथा कृतो यत्कर्मनिर्गमेनैव  
फलं भवतीत्यर्थः । तर्हि भक्तिशास्त्रविरोध इत्याशङ्क्याह पुष्टाविति । कर्मणा-  
मित्युच्यते सम्बन्धते । भक्तिस्वरूपं त्वेतादृशमेव सदा, परं तु भगवान् यस्मिन्मर्यादा  
मनुते तत्रैवा चेत् स्वशक्तिं प्रकटयेन्मर्यादानाश एव स्यात् । अतो भगवद्विच्छेदव प्रतिपत्त्या  
नाऽधिकं करोति । न हि भस्मनाच्छ्रोत्रिणं दृष्टीत्यदाहक एवाऽतो न भक्तिशास्त्र-  
विरोध इति भावः । पुष्टौ पुष्टिनिर्णयके स्कन्धे षष्ठ्युक्तिविरोधः । असत्कर्मवाधनमजायिते ॥७०॥

निबन्धः—कर्मणामनुपायत्वं भक्तेः ताधकता पुनः ॥

योग्यदेहेपि बाधा च कलादेरुच्यते स्फुटा ॥ ७१ ॥

'अहो कष्टं अहोहमि'त्यस्मिन् गद्य उक्तवान् । तर्हीत्यादि स्थानमार्गे 'भक्तेर्निर्बल्ये भक्तिः पुनाति  
मसिष्ठाध्यापकानपि सम्भवादि'तिवाक्ये भक्तेः कर्मत्वभावजेतुत्वमुक्तं तद्विरोध इत्यर्थः । मूलेः कर्णवै-

प्रकाशः—सत्कर्मणामनुपायत्वं ह्येष्वपु नारदेन निरूपितं पुनरिति । पूर्वं भक्तस्य शापाद्योग्यस्मरोरमाज्ञावपि द्वय इत्यर्थः । एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृते तद्विपरीत्यमाह योग्येति । यद्वा, भक्तज्ञानसाधकता पुनर्विपत्तेऽप्युच्यत इति सम्बन्धः । मनःस्थैर्यं साक्षाद्भगवत्प्राप्तियोग्ये ब्राह्मणदेहेपि मर्यादायां तत्प्रातिबन्धकोऽप्ययनद्वयलहस्तमणदिः । ७१ ।

निबन्धः—तत्रापि हरिभक्तिर्हि सर्वथा मोक्षिका मता ।

एवं तस्य स्वरूपे तु त्रिभिः प्रोक्ता स्थितिः परा ॥ ७२ ॥

तत्राऽपि सैव मोक्षिकेत्यर्थः । अत एव मूले 'तस्यादमूलमि'त्यादीतिभावः ।

उपसंहरति एवमिति ॥ ७२ ॥

उपदेशनस्य स्वस्थित्यहेतुत्वेनैतत्प्रकरणसन्नतिमाशङ्क्य नामाह ज्ञानाभावादिति ।

निबन्धः—ज्ञानाभावादेवमासीदिति शङ्का तु वारयन् ॥

उपदेशनमात्रात् यज्ञात् राजजन्मनि ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—तर्हि 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेर्विमशरीरे ज्ञानं जातमित्याशङ्क्य (नेति) आह यज्ञजातमिति । तदा भगवता भरतोऽप्युपदिष्ट इति ज्ञेयम् । पुत्रौश्च शिष्यौश्च 'इतिवाक्यात् । मूलत्वे सति निर्वेदे पूर्वजन्मपर्यन्तरूपण आत्मवत् इतिवचनात् । 'आचार्यावान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेरन्यस्माज्ज्ञानोपदेशाकथनात् । न चानाद्विच्छ्रुतिविरोधः । ब्रह्मविदोऽपि प्रारब्धभोगमस्येष्टत्वेन तदभाववत्तद्विषयत्वात्तस्याः । अत एव राजानमुपदिष्टवान्, अन्यथा तु 'एवं बह्वभद्रमभिमाषमाणम्' इत्यादि विशेषणवत्त्वेनाऽनधिकारिणं यत्नाऽन्येष्विव तूर्णानि तिष्ठन् । कथनं च तस्य श्रद्धारूपधिकारवत्त्वेन तदर्थप्रयत्नवत्त्वेन ज्ञाने स्वरूपयोग्यात् मत्वा । तदुक्तं 'तत्त्वज्ञानासायाम्' इत्यादिना । 'अहं च' इति वाक्येन च । उपेक्षायां च कृतापराधत्वेन दृष्टानामिवाऽप्येव नाम्नः स्यात्तथात्वं चाऽस्याऽनुचितं भगवत्सम्मुखत्वात् । राजःस्वभावकृतत्वाऽपराध इति तत्परीकरणार्थं पूर्ववाक्यानि ॥ ७३ ॥

रिति भगवत्कर्मन् वीरकुलमित्युक्ता कला । आदिपदेन ब्रह्मभूतत्वादिक्तं तस्येत्यर्थः । ७१ । तस्यादमूलैति 'तस्यादमूलमुपपन्नानामि'त्यनेन छिन्नेन भक्तिरेवोच्यत इति सैव तथेत्यर्थः । मूले ० विभिरिति अध्यायैः

॥ ७२ ॥ विदुचौ, उपदेशनस्येति पञ्चमाध्यायेन भगवत्कृतस्योपदेशनस्य । ज्ञानाभावादित्यादि, तथा च उपदेशनमुक्ताशङ्कावारकमाज्ञातम्, अतो ज्ञानसद्वैपि प्रारब्धे प्रतिबन्धकं भवतीतिज्ञापनाय तत्प्रथममिति तस्य न महाप्रकृत्यासन्नतिरित्यर्थः । तर्हीत्यादि, ज्ञानोत्तरं पुनर्जन्माश्रीकारे । उक्तश्रुतिविरोध इति तदभावाय ब्राह्मणशरीर एव कुतश्चिन्नजनजन-मश्रीकार्यमित्याशङ्क्येत्यर्थः । अत एवेत्यादि प्रारम्भशब्दत्वं ज्ञानैव रङ्गणमुपदिष्टवानित्यर्थः । तदुक्तमिति 'स चापि पाण्डवेभ्य'त्यस्मिन् गद्ये शुकेन तदुक्तम् । वाक्येन चेति रङ्गणेन स्वस्य स्वरूपयोग्यत्वमुक्तमित्यर्थः । पूर्ववाक्यानीति 'त्वयोदितं व्यकमि'त्यादीनि वाक्यानि । ७३ ।

ततो दोषापगमे नतिः प्रश्नश्च तुरीयाध्यायार्थ इत्याह गुरुशिष्येति ।

निबन्धः—गुरुशिष्यप्रकारेण नतिः प्रश्नः पुरोच्यते ॥

योगानुसारि विज्ञानं मनसश्चापि निग्रहः ॥ ७४ ॥

प्रकाशः—गुरो यः शिष्यस्य प्रकारस्तेनेत्यर्थः । अन्यथोदासीन्येन कथने तेन तस्य ज्ञानं न स्यादितिभावः । अस्य पूर्वेण वा सम्बन्धः । तेनाऽप्रामाणिकं निरस्तम् । नत्यादिरध्यायार्थः । अस्य संन्यासाभावेन साहचर्यज्ञानानभिकाराद्योगानुसारि तदुपदिष्टानिति तज्ज्ञानमग्निमाध्यायार्थ इत्याह योगेति । अत एव स्वस्मा अप्येत-देवोपदिष्टं तदेत्याख्येनोक्तं 'यज्ञात् राजजन्मनि' इत्ययमपि तथेति । अत एव स्वयमेवोपदिष्टवान् । अन्याथा भगवति प्रशार्थं चलितस्य तत्रैव प्रेषणमुचितमितीदम्-युक्तमेव स्यात् । तदुपदेशाधिकारात् तदर्थेस्तावानायासोपि व्यर्थः स्यात्, तदप्ययुक्तमिति भगवदिच्छयेव तथेतिभावः । तत्साधनत्वेन तत्रैव मनोनिग्रहश्लोकः ॥ ७४ ॥

निबन्धः—ततो वैराग्यमुत्कृष्टं परोक्षकथनेपि च ॥

योगवैराग्यबाहुभ्यां भक्तिरत्र निरूपिता ॥ ७५ ॥

प्रकाशः—ततोऽग्निमे परोक्षकथनेपि वैराग्यं तत्साधनत्वेनोक्तम् । भगवत्त्वेव रागजननादुत्कृष्टम् । उपदेशे कलितमाह योगेति । सर्वत्रोपसंहारे रङ्गणेत्यादिना 'गुरोर्दे-शरूपोपासनात्' 'हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्याम्' 'हरिसेवया शितं ज्ञानासिम्, इति वाक्यैर्भक्तिनिरूपणात्तस्या एव प्राधान्यम्, तेन भगवच्छास्त्रानुसारी योग उक्तः । तदुक्तं भगवता "योगिनामपि सर्वेषां मद्भतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" इति । तथा च भगवति मनोनिग्रहस्तदन्वय वैराग्यमेतत्सहितस्त्वय श्लोऽत्र कर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । सायकत्वेन बाहुत्वम् ॥ ७५ ॥

इह परोक्षवादप्रयोजनं वदंस्तदन्यत्राऽप्यतिदिशति परोक्षकथनं सर्वमिति ।

निबन्धः—परोक्षकथनं सर्वमधिकारपरीक्षकम् ॥

रङ्गणस्याधिकारो यादृशश्च परीक्षिति ॥ ७६ ॥

प्रकाशः—अत्र परीक्षाकलितमाह रङ्गणस्येति ॥ ७६ ॥

अग्निमाध्यायार्थ इति पञ्चमाध्यायार्थः । अत एवेति सपूर्वशरीरसमाप्तत्वादेव । अन्यथेति उक्त्याधिकारे । आयास इति रङ्गणस्यासः । तदप्ययुक्तमिति, अधिकारित्वात्प्राप्त्यस्यैवव्यर्थ-मप्ययुक्तमित्यर्थः । ततोमिम इति षष्ठाध्याये । सर्वत्रेत्यादि, अत्र प्रथमं वाक्यं त्रयोदश-ध्यायस्त्वम्, द्वितीयं द्वादशाध्यायसमाप्तौ, तृतीयं प्रथमस्यैव शेषमुत्तरम् ॥ ७५ ॥

तज्ज्ञापकमाह अत इति ।

निबन्धः—अतः परोक्षशब्दानां व्याख्यानं पृष्टवान्पुनः ॥

वर्णिते बोध एव स्यान्नाधिकारस्तु सिद्ध्यति ॥७७॥

अतः स्कन्धत्रये प्रोक्तं परोक्षकथनं तथा ॥

प्रकाशः— ननुकार्यावबोधेन हि मुख्योऽधिकारः स च व्याख्यानेऽत्रापि तुल्य इत्यत आह वर्णित इति । यथा कथाचिद्विरहिष्या तादृशीमेव प्रीतिमत्सपत्नीं प्रति 'स्वैरचारी मधुपः सम्पति दहती' इत्युक्ते कथाचिद्वृष्टयाऽन्यथा म्रियपरतया व्याकृतेऽपि न तद्विप्रयोगरसविशेषानुभवोऽधिकाररूपमीत्यावाचित्तस्यायास्तस्याः, न वा मीत्युत्पत्तिः । तथेहापि, किं च, न बोधकृतोऽधिकारः किं तु वैपरीत्यम् । बोधस्तज्ज्ञापकः परमिति भावः । परीक्षार्थमेव तथोक्तिरित्यत्र प्रमाणमाह अत इति, चतुर्थादिव्ये तथा, तत्परीक्षकमित्यर्थः । अधिकारस्त्रिविधो यतोऽतस्तथा ॥ ७७३ ॥

निबन्धः—आदावबोधो मध्ये तु सुगमत्वाद्बुद्धयते ॥७८॥

उत्तमस्त्वधिकारोऽपि तेन कूटनिरूपणम् ॥

रहूगणोत्तमत्वाय व्याख्यानं तेन यत्स्वतः ॥७९॥

प्रकाशः— तथादीं प्राचीनवर्हिषः कर्मासक्त्या हीनाधिकारित्वाद्बोध उक्तः । तत्त्व-जिज्ञासासत्त्वेपि कर्मासक्त्यभावेऽप्यभिमानसत्त्वात्प्रागभावादुपदेशार्थमपि राजसभावेन चलनाच्च रहूगणो मध्यमाधिकारी । सोऽपि 'दुरत्ययेऽवति' 'रजस्तमःसत्त्वे' इत्यादिना सुगमत्वेनोक्तमिति बुद्धवान् । कूटवाक्यबोधे त्वस्य नाधिकारः । ह्यैश्वानां मुक्तादुत्तमाधिकारस्तेन तथा तर्हि व्याख्यानं व्यर्थमत आह रहूगणेति ॥७९॥

निबन्धः—बुद्धं तत्रापि निःशङ्कं तदाकर्ष्यं जगृहे पुनः ॥

भरतस्योत्तमत्वं च तेनैवोक्तमिति स्थितिः ॥८०॥

प्रकाशः— तत्परीक्षितोत्तारतमज्ञापनार्थमित्यर्थः । तेन रहूगणेन यत्स्वतो व्याख्यानं विना बुद्धं तदत्र व्याख्यातमिति योजना । निःशङ्कं मननानपेक्षकमित्यर्थः । शिष्यो-त्तमतोत्तयैव तत्प्रयोजकगुरोरपि तत्त्वमुक्तमेवेत्याह भरतस्येति । यद्वा । तेनैव रहूगणेनैवेत्यर्थः । 'नमो नमः कारण' इति, 'अहो नृजन्म' इत्यादिना चेति शेषः । यद्वा राजजन्मन उत्तमत्वं शुकैर्नैव 'भरतस्तु' इत्यादिनोक्तमित्यर्थः । ननु साक्षाद्भवता वैपरीत्यमिति अधिकारकृतो बोध इति वैपरीत्यम् । नन्वित्यादिनोक्त्यां परीक्षिदधिकारसहायां

सम्पादितदेहस्य भगवद्दर्शनवतो भक्तस्य तत्रापि भगवदङ्गीकृतस्य तादृश्वंशस्य भगव-त्कलापीचस्य वादरायण्यनुग्रहोतत्स्योत्तमत्वेनाधिकारस्कन्धे निरूपणादुक्तबोधधर्म-हितरहूगणाधिकाराख्यनाधिकार इति न सहामह इति चेत्सत्यम् । अयं तु मर्या-दामार्गीयः प्रावाहिकोऽधिकारो सुमुक्तोः तदज्ञानोपयोगी शुश्रूष्यमकारोपापेक्षे । अत एवाविरक्ता एव ते सर्वे पूर्वं मुक्ता अपि ह्यैश्वानाः प्रजायिन एव । एतेषां श्रवणमपि ज्ञानसाधनत्वेन न लीलात्वेन । परीक्षितु लीलाप्रतानरूपश्रवण उच्यमा-धिकारी. अत एव श्रवणात्यर्थमेव "कृष्णाङ्गितेवामधिमन्यमानः" इत्युक्तम् । 'तप्तको वा दक्षत्वलं गायत विष्णुगाथाः' "नेषादिदुःसहा" इत्यादितदुक्तिरपि । तेनासौ पुरुषोत्तमस्वरूपत्वजिज्ञासाया तल्लीलारसे निमग्नोऽपि तत्पदेशमार्गीयकोऽकारि-रसांसारिकवार्तीयपरोक्षवार्त्तानवबोधो न क्षतिः, किं च, गाहैश्वान्यवयवार्था वेदानुभूता वार्ता सा भवेत् 'यस्यामिम' इत्यादिनोक्ता तदा तत्स्मरणे समानधर्म-ज्ञाने सति सम्वादेन बोधः स्यात् । अस्य सिन्द्रियादीनां भगवद्भजनोपयुक्तत्वेन मित्रत्वादिरूपेणानुभूतत्वाद्युक्त एवावबोधः स्यात् । परकीयवस्तुस्थितिविबोधोऽप्रयोज-कोपि शुक्रावेज्ञानमार्गीयब्रह्मज्ञानवत्त्वमप्यस्तीति सर्वज्ञत्वेन तज्ज्ञानमपि । अत एव वस्तुस्थितिरैव परोक्षवादेनोक्ता या वैराग्यजनकत्वमनुभवद्दशायां तु तस्या एव न तथासमिति भगवल्लीलेवेति तज्ज्ञापनाय पक्षः । वस्तुतस्तु यथा यथाऽन्यमार्गीय-वार्तावबोधो भक्तिसामार्गीया एव तस्या बोधस्तथा तथा पुष्टिमार्गं लाधिक्यमेधेति प्रतिजानीमः । एतज्ज्ञापनायैव भगवतैवावबोधप्रश्नो कारित्वाविति निर्गुहाशयगायै-रुक्तमिति स्थितिरिति । ज्ञानमार्गीयमर्यादेतादृशीत्यर्थः ॥ ८० ॥

तज्ज्ञानोक्तिप्रयोजनमाह तस्येति ।

निबन्धः—तस्य जन्मत्रयं तत्र द्वयं व्यर्थं न सर्वथा ॥

अतो जन्मद्वयोक्त्यैस्तस्यैवं विनिरूपितः ॥ ८१ ॥

प्रकाशः—अशुभ्या तद्वैश्वस्यैः, ततोधिकरसत्त्वभक्तिसाधकत्वेन तदभावः ॥८१॥

आद्यन्तयोरुत्तमत्वकथनेन सन्दंशान्यायेन सर्वेषां तथाल्लुक्तं भवतीत्याह तस्य पुत्र इति सार्द्धेन ।

परीक्षितः परोक्षवादाबोधेपि तदधिकारस्य मार्गभेदेनोत्तमत्वं साधयित्वा बोधसामग्र्यभाषस्य तत्र सहकारित्वं वक्तुं सहकार्यमात्रं व्युत्पादयन्ति किञ्चेत्यादि । शुक्रादी व्यभिचाराभावे परिहरन्ति परकीयेत्यादि । नन्वस्त्वेवं शुकै व्यभिचाराभावो विशेषानुग्रहाद्यथापि रावः पुष्टिमार्गीय-त्वाद्भवतीत्येवमज्ञानप्रयोजकमिति तज्ज्ञानार्थं प्रशस्य किं प्रयोजनमत आहुः अत एदे-त्यादि । तथा च पुष्टिमार्गीयत्वादेवायं प्रश्नो न तु तन्मार्गं आवरानुग्रहस्तुत्येत्यर्थः ॥८१॥ आद्यन्तयोरिति आदिः प्रियव्रतः जन्यो विरजस्तयोरित्यर्थः ।

निबन्धः—तस्य पुत्रस्तु पाषण्डेऽप्यत्यन्तं फलदायकः ॥  
कृष्णावेदी गयश्चापि तदंशेऽवततार ह ॥ ८२ ॥  
सर्व एवोत्तमा वंशे ततोऽन्तमकथा मता ॥

प्रकाशः—प्रकरणमुपसंहरन्निमित्तप्रकरणसङ्घटितपथाह एवमिति ।

निबन्धः—एवमष्टभिरध्यायैर्भूमिस्थानाधिपसङ्ख्या ॥ ८३ ॥

प्रकाशः—व्याख्यानास्य पूर्वार्ध्यायरूपताग्रहणप्रकरणत्वाद्यधिपत्युक्तम् । तेषां भूमौभारत्वादेश्चैतस्य चाधिपतितात्पर्यता तावन्निरध्यायैरुक्ता ॥ ८३ ॥  
(प्रथमप्रकरणं समाप्तम् ।)

भूमौ तद्गोप्याः शब्दादयः पञ्चापि सन्तीति तद्गोप्यत्वेन पञ्चभिरध्यायैस्तत्स्थानं निरूप्यत इत्याह । तत इति ।

निबन्धः—ततः पञ्चभिरध्यायैर्भूमिस्थानं निरूप्यते ॥

पञ्चात्मिका गुणैश्चापि तत्रापीयं तु मध्यतः ॥ ८४ ॥

सर्वोत्तमा जम्बूद्वीपरूपा सर्वार्थदायिनी ॥

प्रकाशः—तावन्निरूपणे हेतुन्तरमप्याह गुणैश्चापीति । पूर्वपूर्वभूतमिध्रणात्स्वरूपतः पञ्चात्मिकापि भूतत्वेन तमःप्राधान्येन त्रिविधा रजःसत्त्वप्रधानत्वमसा च द्विविधेति गुणैरपि तथेत्यर्थः । तत्र जम्बूद्वीपस्य चतुर्भिर्निरूपणे हेतुमाह । तत्रापिती । सर्वार्थेति । चतुर्विधपुराणार्थदायिनीत्यर्थः । अतस्तावन्निरध्यायैस्तथा ॥ ८४ ॥

निबन्धः—अतोऽस्य रूपं प्रोक्तं चतुर्भिः क्रमतोऽवनेः ॥ ८५ ॥

परिमाणं स्वरूपं च प्रथमं प्राह तस्य हि ॥

कृष्णस्य कटिरूपत्वाद् ध्यानार्थं तद्वि वणितम् ॥ ८६ ॥

प्रकाशः—अस्य द्वीपस्य अवनेः क्रमत इति च, विभागेन यथा यथास्ति तथा तत्रोक्तमित्यर्थः, भगवद्भजनोपयिक्तत्वेन तथात्वम् । अत एवाऽग्रे देवगानोक्तिः ।

एवं तस्मिन् स्थितिः कृष्णदेवादित्यारम्य भूस्नानाधिपसङ्घेत्येतेरेकोनसप्ततिभिः पञ्चदशाध्यायात्मकं प्रथमप्रकरणं विचारितम् ॥ ८२ ॥

अतः परं चतुर्विंशतिशतनेकादशाध्यायात्मकं द्वितीयप्रकरणं विचारयन्ति प्रकरणमुपसंहरन्निमित्तम् । कालप्रकरणं समाप्त्यन्तरे देशस्य निरूप्यत्वात्प्रत्यास वाच्येयाधारनिरूपकत्वरूपासङ्घटितमप्याहेत्यर्थः । नन्वत्र नवाध्यायैराज्ञा कथा निरूपितेति कथमष्टाध्याया इत्यत आहः व्याख्यानेत्यादि । तथा च योगेश्वरे चतुर्दशस्य त्रयोदशान्तःपातित्वाद्दष्टाध्याया भेदपक्षेपि तस्य ज्ञानप्रकरणत्वाच्च भूस्थानाधिपसङ्ख्या चतुर्दशान्तिसिक्तत्वेत्येवमेत्येति तत्रोक्तमित्यर्थः । ८४ ॥ तथात्वं सर्वोत्तमत्वं ते निरूपित इति 'नियुतव्योवनविशाल' इत्यनेन मान्यः,

तत्र प्रथमाध्यायार्थमाह परिमाणमिति । 'यो वा' इत्यादि'पुष्करपत्रमित्यनेन सामान्यतस्ते निरूपिते । 'यस्मिन्नि'त्यादिना वपैतन्मर्यादागिरितकन्दोन्दकुरादिगिरिनिरूपणेन तन्मग्ननिरूपणेन च विशेषत इत्यर्थः । एवं निरूपणे प्रयोजनमाह कृष्णस्येति । तदर्थमेव पृथगामिति भावः ॥ ८६ ॥

कटिरूपस्यैतन्नामत्वं हेतुमाह जननादिति ।

निबन्धः—जननादेव सर्वापि बुद्ध्ययते निखिलं यतः ॥

जम्बुद्वीपस्ततः प्रोक्तः सर्वदेवसमाश्रितः ॥ ८७ ॥

प्रकाशः—कथाः प्रजननात्मकत्वाद् अस्मिन् द्वीपे उत्पत्तिमात्रेण हेतोपादेयं पुष्कयत इति तथा । धातोर्विकृतस्य ग्रहणेनाऽधिकृतोत्पत्तिमत्तस्यात्वं बोध्यते । अधिकृतत्वं च देवसङ्घमित्यर्थः । अन्यत्र द्वीपे स्वर्गादावपि तादृशानामपि भोगासक्तिरेव न त्वेषामितिभावः ।

सर्वेषां सामान्यतश्चतुर्विधपुराणार्थबोधसत्त्वेपि पुरुषोत्तमतद्गर्भबोधश्च कश्चिद् दृश्यत इति बोधोऽथेत्यस्योक्त्याऽऽधिक्यमस्तीति मात्राधिक्ये बोधवाचकैऽक्षर इति हेतुम् । तेनाऽन्यस्मादुत्कर्ष उक्तो भवति । अत एव सर्वेत्यादि बोधस्य सत्त्वकार्यत्वादिदानां च तथात्वात्तथा । तेन सत्त्वमाधान्यमुक्तं भवति । यदोत्कर्षान्तरमाह सर्वेति । अन्यत्र तत्तद्गुणकार्यत्वमेव, न तु तद्गुणनियामकदेवाधिष्ठितत्वम् । अत्र तु तथेति तथा । तदुक्तं 'नवस्वपि वर्यं भगनाकारायणः' इत्यादिना ॥ ८७ ॥ एतन्मिति ।

निबन्धः—एतदाख्यापकः कश्चिदतोऽत्र न निरूपितः ॥

भूमिरेव स्वतः शुद्धा प्रथमं विनिरूपिता ॥ ८८ ॥

प्रकाशः—किं च । यतोऽग्रे भगवदधिष्ठितत्वेनैवासाधारणोतस्तथेत्यर्थः । प्रथमाध्यायाधिपमुपसंहरति भूमिरेवेति ॥ ८८ ॥  
(अ० १७) आगन्तुकर्षभैरप्युत्कर्षां द्वितीयाध्यायाय इत्याह जलेनेति ।

निबन्धः—जलेनाऽप्युत्तमा सेयमिति गङ्गावतारणम् ॥

सर्वत्र तस्याः सम्बन्ध इति भेदा निरूपिताः ॥ ८९ ॥

प्रकाशः—भेदाः सीतादयः ॥ ८९ ॥

'समवर्तुल' इत्यादिना लक्षणम्, जननं जन्मं बोधनं बुध्, जना बुध् यस्मिन्निति जन्मुत्पृषोदादित्वाद्कारणानां उकारस्य दीर्घं च जाते जन्मूरिति भवतीत्यतिपरोक्षरूपं मनसि कृत्वाऽऽहः सर्वेषामित्यादि । तस्येति जम्बूद्वीपस्य सत्त्वमाधान्यं स्वर्गेपि वर्तते इति तपोक्ष्ये चत्रत्यागमप्येतत् स्थानाकाङ्क्षा न स्थादित्यरुच्या व्याख्यानान्तरमाहः यद्व्यादि । उत्तरीत्वा सर्वदेवाश्रितत्वेभेदत्वात्स्यापकमित्याशयेनाहः एतदित्यादि । एवं त्रिभिः बोधस्य द्वितीयमहाप्रकरणार्थस्यार्थ उक्तः । सार्द्धं बर्हिर्द्वितीयं सप्तदशं विचारयन्ति आगन्तुकैत्यादि ॥ ८९ ॥

सर्वत्र तस्याः सम्बन्ध उपपत्तिमाह ऊर्ध्वेति ।

निबन्धः--ऊर्ध्वपादाद्दिनेष्कान्तं जघने पतति स्फुटम् ॥

चरणस्याधिदैवत्वाच्च दूषणमिहाण्वपि ॥ १० ॥

प्रकाशः-- भूमेर्जयनात्यकलात्तयेति भावः । ननु लोके पादस्य तत्रापि तन्नखस्या-  
म्भोऽधुचीति तादृशेन तेन कथमत्रोरकार्षः । किञ्चान्येषां तत्पात्रियेषु स्वस्य न  
तथा तदिति स्वजघने पातोऽनुचितः । भगवद्भजनोपयुक्तकृतकत्वोत्कर्ष एव न  
पठते । तदोयस्य तस्य तत्रोपयोगानर्हत्वादित्यत आह चरणस्येति । तत्र हि  
सर्वं चरित्रमद्भुतं निरूपितम् यथाण्डकटाहनाश्रकियया तत्स्यापनं तथा चरणनखासम्भ-  
सोऽपि पावनत्वम् । तत्रोपपत्त्येषायां तस्याऽधिदैवत्वमुच्यते । तथा च तत्सम्बन्धि-  
नोप्याधिदैविकत्वेन सजातीयत्वाच्च पूर्वोक्तदोषः । जघनस्य प्रवृत्त्याऽकलात्कालस्थितानां  
संसारनिवृत्त्यसम्भवेन चरणस्यैव च भस्याऽत्यकलात्कालस्थितत्वेन संसारिणां च  
साक्षात्सम्बन्धस्य दूरत्वेन तन्निवृत्त्यसम्भव इति तत्साक्षात्सम्बन्धिन्या आधिदैविकरूप-  
गङ्गाया अत्राऽऽनयनम् । ऊर्ध्वेशुत्वपदसम्बन्धित्वमप्युर्ध्वैरुपगतितदत्वज्ञापकम् । यथा  
चैतत्तथा 'या वै लसद्', इति श्लोकविवरणे पितृचरणैर्विद्वत्तमिति नाऽत्र निगद्यते ।  
एवं सति सेवतां भक्तिदेति परमोत्कर्षः । एतद्विपस्थानामेव युक्तिसम्भवाच्च  
दूषणं किञ्चिदिहेत्यर्थः ॥ १० ॥

भजनानुपयोगिपरिहारायाऽह गङ्गेति ।

निबन्धः--गङ्गाजलेन पूजादि सर्वं कार्यमिति स्थितिः ॥

स्थानं तदेव हि सतां यत्र सम्पूज्यते हरिः ॥ ११ ॥

प्रकाशः--अत्रायं भावः । गङ्गायामस्त्वधिभूतादित्रितयरूपत्वम् । एक जलरूपत्वम्, तेन  
यादृच्छिकव्यवहारयोग्यता । द्वितीयं च प्रवाहारूपतया तीर्थरूपत्वम् । तेन स्नानयानादिभिर्दोष-  
निवर्तकत्वं पुण्यजनकत्वं च । तृतीयं पादादकत्वम् । तेन भगवद्भजनयोग्यदेहसम्पादकत्वम् ।  
इतरन्दीरस्योद्कादीनामप्येतत्सम्बन्धित्वेनैव द्वितीयरूपत्वम् । एतच्च परिमितमेव  
ज्ञेयम् । ब्रह्मकमण्डलुजलस्य तथात्वात् । स्वसम्बन्धेन पावयति परं सर्वम् । तेन तादृश-

तदीयस्येति चरणनलीयस्य । तत्रेत्यादि त्रिविक्रमावतोर सर्वं चरित्रमद्भुतं निरूपित-  
मित्यर्थः । तत्स्यापनमिति 'चकम्भ यः खरंहसाऽस्सलते'त्यनेन द्वितीयस्कन्धे 'विष्णोर्नुकमि'ति  
श्रुत्या चोक्तं तदित्यर्थः । अधिदैवत्वमुपेन्द्रात्मकत्वम् । आधिदैविकत्वेनेति देवत्वत्वेन तदुक्तं  
गोदामाहास्ये 'सर्वजलसारभूतं तत् शिवेन ब्रह्मणे दत्तमि'ति भगवच्चरणसम्बन्धे तु ततोप्या-  
धिकथनेत्यर्थः । पूर्वोक्तदोष इति भजनानुपयोगित्वदोषः । साक्षात्सम्बन्धस्येति साक्षा-  
द्भगवच्चरणसम्बन्धस्य ॥ १० ॥

१ ( अ० ८ स्कं० २ )

जलेनाऽतिपवित्रेण भगवत्पूजादिकं युक्तमिति । अन्यथा भगवन्मन्त्राभिमन्त्रिताश्चा-  
नर्पणमप्ययुक्तं स्यादिति दिक् । न चैवं पादोदकसिक्तवस्त्रेणमसङ्गस्तत्र साक्षात्-  
सम्बन्धिन्वात् । इह तु तदाऽध्यात्मिकरूपदेवताधिष्ठानातीर्थरूपत्वमित्यदोषः । ननु  
भूयश्चानन्तरं हि भूकथात्रोच्यते तद्भोग्यत्वेन । तथा च विषयत्वेन दोषरूपत्वमेव  
भूस्थानस्येति भगवत्पूजादिनिरूपणमयुक्तं तद्भोग्यत्वानोपयुक्ततात्वात् आह  
स्थानमिति । भवेवं यदि ते स्वतो विषयत्वेन भोगं कुर्युर्न त्वेवं किं तु भगव-  
दिच्छानुरोधत्वात्, तादृशानां च तादृशमेव स्थानमुचितमिति तदुक्तमित्यर्थः ॥ ११ ॥

तर्हि तच्चद्वतारेषु तत्राच्चरितनियमकथनं किमर्थम्, पूजामाप्रव्रिये तत्स्थानत्वो-  
पयोगित्वादिति शङ्क्य तत्तार्थ्यमाह अत्रेति ।

निबन्धः--अतोऽत्र नवखण्डेषु पूजां भगवतो जगौ ॥

अत्राऽवतारनिर्धारो भक्तानां च निरूप्यते ॥ १२ ॥

प्रकाशः--अस्मिन्नवतार एतादृशगुणस्यैवाधिष्ठानत्वमिदमेव च प्रयोजनमेव सैत्थता  
चेत्यवतारस्य । ईदृशानामत्रैवैवमेव च भजनमिति 'भक्तानामित्यर्थः ॥ १२ ॥

गुणमार्गेणैव तयोर्निर्द्धारं हेतुमाह गुणातीता इति ।

निबन्धः--गुणातीतास्तु ये भक्ताः पुष्टिमार्गेण ते स्थितौ ॥

अत्रोऽत्र गुणमार्गेण निर्णयो हरिभक्तयोः ॥ १३ ॥

प्रकाशः--मर्यादास्कन्धत्वादस्य तन्मार्गस्य च सगुणत्वात्तादृशयोरत्र निर्णय उक्तः ।  
भगवतः सर्वत्रैव गुणातीतादधिष्ठानस्यैव सगुणत्वात्तत्रापि सगुणत्वोपदेशः । तेन  
तादृशभक्तानां तत्र कश्चिरित्युक्तम् । पुष्टिमार्गोऽप्यत्रागुणातीतभक्तानां त्वधिष्ठानरूपान्त-

अन्यथेति एकवारं भगवत्सम्बन्धेन पुनस्तत्सम्बन्धानर्हत्वे । 'इह लि'त्यादि  
गङ्गायां तु भौतिकजलस्य देवतारूपत्वेन पवित्रीकरणार्थातिकेन सेवाकरणमिति  
साधारणानां बोधायोच्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु प्राथमिकपक्ष एव साधीयान् । अन्यथाऽप्यौ-  
र्ध्वमात्राभ्रतिरिहृषी'ति वाक्याद् भूमिष्ठानां भूमिजानां चानर्पणमापद्येत, वरणसम्बन्धस्य  
तौल्यादिति दिक् । विषयत्वेनेति बन्धकत्वेन । तद्भोग्यत्वानोपयुक्ततात्वात्, वरणसम्बन्धस्य  
सामिप्युक्तत्वात् तद्भोग्यत्वात् । भाव्यदिच्छानुरोधत्वादि भगवत्प्रसादात्वेन द्विविधं हि प्रसाद-  
दानम्, स्वोच्छेषणरूपं स्वानुपयुक्तं चेति लोके प्रसिद्धमेव । तत्रायं जीवस्य यात्रामात्रोपयोगि,  
द्वितीयं तु भगवत्सेवोपयोगोच्चरं तदुपयोगीति भूम्यानां तादृशत्वाच्च कश्चिदनुपपत्तिरित्यर्थः ।  
नदेतदाहुः तादृशानामित्यादि भक्तानां भगवत्सेवोपयोग्येन स्थानमुचितमिति तेषु भगवत्स्व-  
जोक्त्यर्थः । एवं सार्द्धं पठिः सप्तदशस्य द्वितीयमहप्रकरणद्वितीयस्यार्थ उक्तः ॥ १३ ॥

रायराहित्येन साक्षात्कृतं श्रीकृष्णस्वरूप एव स्थितिरिति पुष्टिमार्गेण स्थितौ निरूपणीयायां ते निरूपणीया इति शेषः । अत इति । यतोत्र न पुष्ट्यादि-स्थितिरतो हेतोस्तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तत्र क्रमेण निर्णीतार्थमाह तत्रेति ।

निबन्धः—तत्र या तामसी मूर्तिः सङ्कर्षण इति स्फुटा ॥

तस्या भक्तो महादेवस्तमसा तामसः स्मृतः ॥ १४ ॥

प्रकाशः—‘तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः’ इति मूल एव स्फुटमिति स्फुटेत्युक्तम् । तमसा तामस इति । न रजःसत्त्वविश्रस्तामसः किं तु तमसैव शुद्धेन तथेत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु तमोगुणस्यैव तद्रूपभजनेहेतुत्वे सर्पादीनामपि तत् स्यादित्याशङ्क्य तस्यैव तद्रूपभजने हेतुं वदन्नावश्यकत्वमप्याह अन्यथेति ।

निबन्धः—अन्यथा तद्गुणस्यागः सर्वथा न भवेत् कश्चित् ॥

हयग्रीवो राजसः स्यात्तमसा सेवकस्तथा ॥ १५ ॥

प्रकाशः—सङ्कर्षणस्यैव तमोनियामकत्वात्तन्निष्ठचित्तेनैवेति तदर्थं तं भजत इत्यर्थः । तन्मूलभूतभजनं विना साधनेस्तत्राशौ न सर्वात्मनेत्यत उक्तं सर्वथेति । कश्चिदिति । न केवलं शिव एवैवं किं त्वग्रेऽपि तत्तद्गुणाधिदैविकरूपभजनमृते तत्तद्गुणानाशाभावात्तदर्थं तेषां तेषां तत्र तत्र भजनमित्यर्थः ।

हयग्रीवो रजोयुक्ततमःप्रधानः, सेवको भद्रश्रवा अत्यत एव तादृश एव ॥ १५ ॥

निबन्धः—भद्रश्रवा यतः सर्वे तन्नामव्यपदेशिनः ॥

तत्र तत्र तथा स्तोत्रं मन्त्रश्चापि तथा भवेत् ॥ १६ ॥

प्रकाशः—अस्य तथात्वेऽभिज्ञापकमाह यत सर्वे इति । तामसत्वेनातिमूढत्वेन स्वमुख्य-नाम्नैव व्यपदेश्यन्ते न पृथग्यतोऽतः सोपि तथा तन्मध्यपातित्वात् । राजसत्त्वं स्पष्टम् । अवतारेषु तत्तद्गुणवत्त्वेऽभिज्ञापकमाह तत्र तत्रेति । यत्र यादृशगुणवैशिष्ट्यं तत्र तादृशो मन्त्रस्तदनु रूपं च स्तोत्रमिति ताभ्यामेवाऽवतारस्वरूपज्ञानमित्यर्थः । इतोऽपि सेवकस्वरूपमपि ज्ञायत इति भावः । एतच्च टीकायां स्फुटीभविव्यप्यति ॥ १६ ॥

अतः परं तृतीयस्याष्टादशस्यार्थं नतभिराहुः इयग्रीव इत्यादि, स्पष्टमिति स्फुटित्वात्केयु मियत्र पदयति तथापि शुद्धन्तीत्यादिभिर्न्यायविधिवत्समोहादेः स्वानुपगतधर्मस्य कथनात्स्पष्टमित्यर्थः । टीकायामिति अग्रिममन्थटीकायाम् ॥ १६ ॥

ननु समाधिगिरणोपभावनैर्हि मनोवाक्यैः पूजोच्यते स्तुत्यैव तत्सम्पत्तौ मन्त्रस्य क उच्योगोऽत आह अव्यक्तैति ।

निबन्धः—अव्यक्तकृतनाशाय न समर्थाः शिवोक्तयः ॥

वैराग्याभावतः शोको द्वितीये विनिवारितः ॥ १७ ॥

प्रकाशः—पूजामार्गे हि पूजातुरूपमेव फलम् । एवं सति स्तुतेः प्रकटगुणख्या-पकत्वेन प्रकटदोषनिवर्तकत्वमेव । मन्त्रस्य गुप्तत्वेन तज्ज्ञापस्याऽव्यक्तदोषनिवर्तकत्वमिति तदर्थं मन्मोपीति पूर्वेण सम्भवः । ननु पूजामात्रे निरूपणीये कर्तुः स्त्रीशृणवादी-धनिरूपणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्सात्पर्यमाह अव्यक्तैति । एवं सति देहहीदीपन्या-येनेदं पदशुभयन्नाऽपि सम्बध्यते । अव्यक्तपदं च किञ्चिदर्थमिति हेतुम् । तथा च स्त्रीसत्त्वित्वेन प्रकृतिकृतदोषनाशाय नोक्तयत्तथेत्यर्थः । उत्तरार्द्धसमभिव्याहारात्स्त्री-सङ्गोक्तस्यैवोक्तवैराग्याभावादेव भगवदभिव्यक्तिलक्षणशोकमिच्छिरपि शिवे । अत एव मन्त्रेऽव्यक्ताय नमः’ इत्युक्तम्, भद्रश्रवसाय ‘अहो विचित्रम्’ इत्यादिना वैराग्यनिरू-पणात्तद्भावतः स शोको निवारितः । शिवे पूर्णतमत्वेन शोकस्य तद्रूपत्वेन तन्नि-ष्ठचित्तः सम्भवति । आकल्पं भजने तत्रैव लये सति तन्निष्ठचित्तः परम् । द्वितीये रजोऽज्ञप्रवेशेन तमोऽज्ञस्तावाञ्छित्तो यः सशोक एव तज्ज्ञापको वैराग्यभावः । एत-स्मिन् सति तन्निष्ठचेरत्वस्यकत्वात् । तथाच तत्पूजितेन भगवतैव वैराग्यं दत्त्वा तन्नि-ष्ठचित्तः कृता, न तु रजोऽज्ञप्रभावेणेति ज्ञापयितुं निवारित इत्युक्तम् । एतेन फलतार-तम्यष्टकं हेतुम् ॥ १७ ॥

निबन्धः—सात्त्विको नरसिंहस्तु तमसा तस्य सेवकाः ॥

प्रह्लादस्तादृशः प्रोक्तो ह्यभक्तान् स विनिन्दति ॥ १८ ॥

संन्यासं च हितं प्राह सदाग्रहयुतो यतः ॥

प्रकाशः—सर्वयुक्ततमःप्रधानो नरसिंहः प्रह्लादश्च तथा, तत्राभिज्ञापकमाह अभक्तानिति । ‘न तथेन्द्रियभियः’ ‘हरावभक्तस्य’ ‘हित्वा महात्’ (श्लो० ११)

तत्सम्पत्ताविति वाचिकपूजा सम्पत्तौ । पूर्वमेति ‘तथा भवेदित्थेनन । अव्यक्ते-त्यादेस्तात्पर्यान्तरं वक्तुमाहुः नान्वित्यादि । इदं पदमिति अव्यक्तकृतनाशायिति पदम् । किञ्चिदर्थमिति प्रथमपक्षे अप्रकटमित्यर्थकं द्वितीयपक्षे प्रकृत्यर्थकमिति । तथा चैवं मूलयोजना, मन्त्रः अव्यक्तकृतनाशाय तथा भवेत्समर्थो भवेत् शिवोक्तयः अव्यक्तकृतनाशाय न समर्था इति । उत्तरार्द्धसमभिव्याहारादिति वैराग्याभावत इत्यादि समभिव्याहारात् । यत्स शोक एवेति यावत्तमोऽज्ञस्य शोक एव फलम् । आग्रह इति आग्रहे प्रविश्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

इत्यादिभिर्महानिन्दा। 'मागार' (श्लो० १०) इत्यादि। 'तस्माद्भजः' इत्यादिभिः संन्यासं च हितमाह भगवत्याग्रहवैश्वं। तत्र भक्तपक्षपातसंन्यासहितत्वोक्तिराग्रहे भगवदंशश्च सत्त्वस्य, निन्दाग्रहौ तमसः। यत एवं विधोऽस्तदाह इत्यर्थः ॥ १८३ ॥ रजस्सेति।

निबन्धः—रजसा राजसी लक्ष्मीः कामभोगाभिवेशनात् ॥ ११ ॥  
प्रद्युम्नं कामदेवाख्यमाधिदैविकमाश्रिता ॥

श्रीकामनादिदोषैश्चां स्वोत्कर्षं चाऽऽह भक्तिकृत् ॥ १०० ॥

प्रकाशः—तमसस्तन्मिश्रजःप्रधानेत्यर्थः। तत्र हेतुः कामेति। ज्ञापकमाह स्त्रीति। 'स्त्रियो ब्रतैरित्यादिनाऽन्यस्त्रीकामनादिषु दोषेषुणं प्राहेति सम्बन्धः। भौतिकस्य तामसत्वेन तत्कामनाया अपि तथात्वाद्वाजस्यस्तत्र दोषेषोचिता 'मत्वाप्तय' (श्लो० २२) इत्यादिना स्वोत्कर्षम्, तर्हि तादृश्या भक्तत्वेन गणनाऽत्र नोचितेत्याशङ्कानिर्मुक्तिः 'स त्वं ममेति' श्लोकेनेति, तस्यार्थमाह 'भक्तिकृदिति। तेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहेन भजनात्पूर्वभ्योऽप्युत्तमेति भावः ॥ १०० ॥ रजस्सेति।

निबन्धः—रजसा तामसो मत्स्यो मनुश्चापि तथाविधः ॥

स्वस्वभावानुसार्येव स्तोत्रं तस्यापि वर्णितम् ॥ १०१ ॥

प्रकाशः—आदावुद्देशाद्भजसः प्राधान्यम्। एवमत्रेपि। तमोमिश्रजःप्रधान इत्यर्थः। मनोस्तथात्वज्ञापकं स्तोत्रमेवेत्याह स्वेति। लोकपालनिन्दा तमसः श्रेष्ठं शिष्टस्य ॥ १०१ ॥

निबन्धः—रजसा सात्त्विकः कूर्मो ह्यर्यमा चाऽपि तादृशः ॥

यज्ञात्मको वराहस्तु सत्त्वेनैव तु तामसः ॥ १०२ ॥

भूमिर्भक्ता तथैवास्याः ज्ञानं स्तोत्रे निरूपितम् ॥

प्रकाशः—वराहस्तमोयुक्तसत्त्वप्रधानः। तथैव भूरपि। भूमौ विशेषं वदन् श्लोकार्थानव्याह भूमिरिति। सत्त्वप्राधान्येन ज्ञानप्राधान्येपि मूले 'अस्वलितभक्तियोगेन' इति वाक्याद्भक्तसाद्भक्तिमार्गीनुसार्येव ज्ञानमस्याः स्तोत्रं निरूपितमित्यर्थः ॥ १०२ ॥

निबन्धः—त्रिभिरत्र भजिः प्रोक्ता प्रथमे स्वेकरूपिणम् ॥ १०३ ॥  
द्वितीये षट् तृतीये द्वे ते ग्राह्ये सात्त्विके यतः ॥

एतादृश्या इति स्वस्मिन्नुत्कर्षमभिमन्यमानायाम्। अत्रेपीति कूर्मवतारेऽर्थेऽपि च राजससात्त्विकत्वं तथा मन्त्रस्तोत्रयोश्चेत्यर्थः। शिष्टस्येति रजसः ॥ १०२ ॥

प्रकाशः—अत्र स्तोत्रे त्रिभिः प्रकारैरित्यर्थः। भजनं कर्मज्ञानभक्तिमार्गीयत्वेन त्रिविधम्। तत्राऽऽद्ये योगसाधितं मन एवैकं साधनं निरूपितम्। दिदृश्व इति पदाद्भक्तिमार्गीयत्वम्। 'योगः कर्मसु कौशलम्' इति वाक्यात्कर्ममार्गीयुसारित्वं त्रितीये द्वयाद्विपदसाधनान्युक्तानि। भगवति माया तत्कार्यराहित्यज्ञानं ज्ञानमार्गीयम्, नतिर्वीर्या भक्तिशाधिका। तृतीये माहात्म्यज्ञानं स्वोपकारज्ञानपूर्वा प्रतिपत्तिश्चोक्ता वाक्यद्वयेन। भक्तिमार्गं त्वेत एवोपादेये इत्याह ते ग्राह्य इति। पूर्वोर्णानासाधनवैयर्थ्यात् साधिवक्तव्यम्। यद्वा त्रिभिस्त्रिभिर्गुणैस्तत्रादिभिरित्यर्थः। तामसानां हि बहिरेव दिदृशा। मन एवैकं साधनमुक्तम्। मथनोक्त्या हेतुः द्युचितोऽस्तस्यामसत्वम्। राजसानां कर्ममार्गीयुसारणे भजनमिति पद साधनान्युक्तानि। सात्त्विकानां तु पूर्वोक्तद्वयं साधनमुक्तम्। मर्यादाभक्तिस्वरूपस्य तथात्वाद् ग्राह्यत्वम्, पूर्वोपरोतयात्वाद्द्वयत्वं तदाह ते ग्राह्य इति ॥ १०३ ॥

निबन्धः—रजसा सात्त्विको रामो हनुमत्श्चापि तादृशः ॥ १०४ ॥

अवतारस्तु रामस्य स्थितिश्चाऽऽद्यत्र भारते ॥

प्रकाशः—पूर्वोक्तं हेतुपाह अवतार इति। वासुदेवावतारस्तेन सत्त्वप्रधानत्वम्। कदाचिद्ग्रामः पुरुषोत्तमावतार एवेति पद्मपुराणादवसीयते। तद्व्याहृत्यर्थं तुः। तेनोत्तरूपत्वं युज्यत इति भावः। अयोगोलके यद्विरिच सङ्ग्रहणे ऋषिगुणैः अवतारः। अत्र चाऽधिगुणस्य सत्त्वप्रधानरजोऽरूपत्वात्तथोच्यते। स्थितिश्च भक्तियुष्मत्त्वेन कर्मश्रेयस्त्वेन च सत्त्वप्रधानराजसदेशे। तत्राप्यत्रार्थावर्त्त एव ॥ १०४ ॥

निबन्धः—अतो हनुमता सेव्यो भगवांस्तादृशो मतः ॥ १०५ ॥

जनापवादाभीत्यादिमोहलीलाबहुत्वतः ॥

प्रकाशः—अत एव भक्तोपि विकल्पेन नरजातीयशरीरत्वेन तादृशस्तेन सेव्यं स्वरूपमुक्तव्यमित्यर्थः। अन्येषां सम्प्रदायाऽस्माभिरपि तथोच्यत इति ज्ञाननाय मत इत्युक्तम्। हेतुन्तरमाह जनेति। पूर्वोक्तं सम्बन्धः ॥ १०५ ॥

द्वयादिपट्टिति स्तुतिश्लोके हेतुपदेन क्रियाहेतवो मन्त्राः अयनपदेन देशः ईशपदेन कालो बोध्यः। अस्य प्रकरणस्य गुणस्य गुणप्रकारनिरूपकत्वाद्द्वयं मार्गप्राधान्येन भजननिरूपणं नातीवोपयुज्यत इत्युक्त्या पक्षान्तरमाहुः यद्देव्यादि। एवं नर्वाभस्तृतीयार्थं उक्तं। चतुर्थं विचारयन्ति चतुर्भिः पूर्वोक्तं इति श्रीरामस्य हनुमतश्च सात्त्विकराजसत्वे। अन्येषामित्येव्यादि। तथा च सिद्धान्ते पुरुषोत्तमावतार एवेत्यर्थः। हेतुन्तरमप्याहेति पुरुषोत्तमावतारत्वेपि सात्त्विकराजसभाव इत्यर्थः। पूर्वोक्तेति 'तादृशो' मत इत्यनेन ॥ १०५ ॥



निबन्धः—नारायणो नारदश्च धर्मात्मानस्तथाऽपरे ॥ १०६ ॥  
तस्यैव तपसा सर्वे कृतार्था भारतेऽभवन् ॥

प्रकाशः—धर्मात्मानः शुद्धसात्त्विकधर्मरूपा इत्यर्थः। भगवन्तपःकरणे हेतुमाह तस्यैवेति ॥ १०६ ॥

निबन्धः—जलं चात्र पवित्रं हि ततो नद्यश्च वर्णिताः ॥ १०७ ॥  
सत्त्वसात्त्विकरूपत्वात्स्तुतिः सर्वस्य रूप्यते ॥

प्रियव्रतः स्वयं राज्यं रुद्रकोटोऽश्रुकार ह ॥ १०८ ॥

प्रकाशः—नन्वाऽसुराणामप्युत्पत्तेः कथं साधारण्येन स्तुतिर्न्युज्य इत्याशङ्क्य पूर्वोक्ता या वर्णाश्रमवत्यः प्रजास्ता दृष्ट्वा स्वस्मिन् तथान्वमदृष्ट्वा भक्त्या तल्लेखमेव सर्वे स्तुवन्तीत्याह सर्वैवेति। अत एव 'शुक्लदत्तेषोपपिकम्' इत्युक्तं मूले। यद्वा भोगासक्तानां देवानां कथमेवं स्तुतिस्तत्रापि सर्वपामन आह सत्त्वैति। देवनिष्ठोयं हेतुः। सर्वस्य देवद्वन्द्वस्येति शेषः ॥ १०७ ॥ ॥ १०८ ॥

निबन्धः—अर्बुदं कोटिरित्याहुस्तद्वंशः सकलेन्तरे ॥

प्रकाशः—ननु मन्वन्तरस्य षड्विंशत्वाद्दत्तरीत्या मनुतत्पुत्रयोरपपमे मन्वन्तरत्वं न सम्भवत्यस्येत्याशङ्क्य तयोरेव सप्तवं नाभिमेतमपि तु तद्वंशतोपि तदधिकारसम्पत्तौ च सम्भवत्येत्येवमपि तद्वंश एव सकले स्वायम्भुवमन्वन्तरे तथेति सर्वं समञ्जसमित्याह तद्वंश इति। अधिकारीति शेषः। आन्त मन्वन्तरराज्यं कृतवानिति शङ्काभावात्

नारायणावतारं विचारयन्ति धर्मान्मान इत्यादि। इदं नारायणादीनां त्रयाणां विशेषणम्। तस्यैवेति अनुग्रहायामवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरतीति मूले कथनात् आत्मवतां धर्मादिसिद्धिमैगवचपसैव, अन्यथा भारतस्य कर्मत्वाद्देव जायमानानां शुभाशुभकर्मणां पुनः पुनः प्ररोहेण नैकम्बलक्षणधर्मादीनां सिद्धिः कथमपि न स्यादिति कथमपि कृतार्था न स्युरतस्तथैत्यर्थः। एवं च धर्मरक्षकत्वादनिरुद्धावतारत्वं प्रतिभाति। व्यूहत्रयावतारस्य पूर्वमुक्तत्वादिति ॥ १०६ ॥ ( मूले ) जलं चेति चकारद्वयेन पर्वताः। साधारण्येनेति सर्वस्य भारतवर्षस्येत्यर्थः। पूर्वोक्ता इति भगवदुपसृताः। अत एवेति भारतवर्षस्य सात्त्विकसात्त्विकत्वात्। ननु भारतवर्षे स्थितस्य रामावतारस्याधिष्ठानतन्मन्धेन सात्त्विकराजसत्त्वकथनात्सर्वस्य वर्षस्य सात्त्विकसात्त्विकत्वं न वक्तुं शक्यमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्देत्यादि ॥ १०८ ॥ एवं चतुर्भिरुन्विश्यस्य प्रकरणचतुर्थस्यार्थ उक्तः, तावता जम्बु-द्वीपवर्षविभागो विचारितः। अतः परं प्रायत्किं विभिर्निचारयन्ति नन्वित्यादि। तदधिकारसम्पन्नानिति तदाधिकारकार्यसम्पत्तौ। तथेति अधिकारी। आन्तमित्यादि। स एव

वर्षसद्भवोक्ता। यद्यपि मूल एव सोक्ता तथाप्यर्बुदपदस्याथान्तरकल्पनेनान्तरराज्यकृति-शङ्काऽश्रुदिति तदर्थ उक्तः, अर्बुदकोटिरिति। आहुरिति प्रमाणोक्तिः ॥ १०८ ॥

तद्वंशेऽप्याग्नीध्रवरमस्यैव स्वायम्भुवान्तराधिकारिणी, न त्वन्येषामपीति तेषु विशेषं वर्दस्तेषामन्यत्र विनिर्भोगमाह मन्वन्तरेति।

निबन्धः—मन्वन्तराधिपतयः पुत्रास्त्वन्वये तथाङ्गताः ॥ १०९ ॥  
तथा द्वीपान्तरेक्षानाः कल्पान्तस्थाथिनो मताः ॥

प्रकाशः—उत्तमादयस्त्वस्तथाऽन्ये कव्यादयस्तथा द्वीपान्तरेषा इभजिहादयः। उद्गता राज्यं त्यक्त्वा वने गता अपि कल्पान्तरस्थानि इति योजना, स्वस्वाधिकारं निर्वाह्य भगवद्भजनं ततः कुर्वन्तीति भावः ॥ १०९ ॥

ननु तत्पुत्रस्याऽपि सिद्धत्वादन्यत्राऽधिकारेऽपि 'अधिकं तत्राऽनुपविष्टं न तु तद्दानिः' इति न्यायेनाऽत्रानधिकारित्वं न युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाह तस्मिन् काले इति।

निबन्धः—तस्मिन् कालेऽथवा ते तु तथा चक्रुरितीर्यते ॥ ११० ॥  
दशकोट्यब्दराज्यं हि यथाऽऽग्नीध्रस्तथैव ते ॥

प्रकाशः—यावता कालेन मन्वन्तरसमाप्तिर्भवेचावन्नं कालं यथाविभागं राज्यं कृतोत्तरकाले इभजिहादयस्तथा चक्रुरिति मूल उच्यत इत्यर्थः। मूलेऽस्यार्थस्य स्फुटतयाऽनुक्तौ तात्पर्यमाह यथाऽऽग्नीध्र इति तदुक्त्यैव तेषुक्तमया इति न भिन्नोक्तिरित्यर्थः ॥ ११० ॥

( अ. २० ) अग्निमाध्यायं विचारयंस्तत्र भूविभाजकमपुत्रता तेषां द्वेषुष्य-हेतुमप्यनुक्त्वा तद्विभागवर्णनं प्रतिज्ञानुपपत्तेर्याशङ्क्याह भूविभाजकमिति।

निबन्धः—भूविभाजकमग्ने तु नोक्तमस्ति परं पुनः ॥ १११ ॥  
ज्योतिर्मयत्वात्स रथा यथेच्छं जायते पुनः ॥

वेगाधिक्येन वा तस्माद् द्विगुणं मानमीप्सितम् ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—तुल्यदः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः। तथा च तस्य पूर्वमेव प्रियव्रतात्मन एवोक्ततात्पुनः-

स्वान्तरं निन्दे साधिकोऽकससतिनि, तितृतीयस्कन्धे कथनाद्यथाकसिर्हित्कल्ये' मनुः स्वयमेवा-धिकारं कृतवन्तीत्यादि कल्पान्तरे प्रियव्रतोपीत्याशङ्काभावात्तथैव। एवं च यदा मनुरेवाधिकारं कृतवन्तस्मिन् काले प्रियव्रतो ब्रह्मचारीति प्रतिभाति। एवं सप्तभिश्चतुर्थाध्यायार्थ उक्तः। अतः परं विश्वाध्यायं प्रकरणे पञ्चमं द्वाविंशतिभिर्विचारयन्ति अग्निमाध्यायेत्यादि। प्रियव्रतात्मन इति प्रियव्रतान्तःकरणात् ॥ ११२ ॥

पदं पुनस्त्वयापचैर्नोक्तमित्यर्थः । द्वैगुण्ये हेतुमाह ज्योतिर्मयत्वाविति । यथेच्छमिति पदात्पियत्रोच्छेदं तत्र कारणमित्युक्तं भवति । तथा च तदिच्छयैव रथवक्रस्य द्वैगुण्यात्समुद्धानां द्वैगुण्यमित्यर्थः । एकस्यैवोत्तरोत्तरं द्विगुणभवन उपपत्तिर्व्योतिर्पयत्वादिति, नन्विच्छयैव सर्वोपपत्ती रयद्वैगुण्यमप्रयोजकमित्यरुच्या पदान्तरमाह वेगेति । तावतैव कालेन पूर्वस्माद्विगुणक्षेत्रपरिभ्रमणं वेगाधिक्यं विना न भवति । तथा सति पूर्वस्माद्विगुणे क्षेत्रेऽभियातयिष्येभजक्रियाजननितावपत्तयिभागावश्यम्भावात्तथैत्यर्थः ॥११२॥  
निबन्धः—जम्बूद्वीपस्य सर्वापि दोषो यातो महार्णवे ॥

अतः क्षारस्वमापन्नो दैत्यानां स्थानदायकः ॥११३॥

प्रकाशः—आद्यस्याम्बुधेः क्षारत्वे हेतुमाह जम्बूद्वीपस्येति । तदधिशापकमाह दैत्यानामिति ॥११३॥ फलितमाह अत इति ।

निबन्धः—अत्रोऽत्र भजनं श्रेष्ठं धर्मश्चाप्युत्तमोत्तमः ॥

नामाख्यातिकरो वृक्षः उक्षद्वीपे निरूपितः ॥११४॥

प्रकाशः—निर्दोषत्वात्तथैत्यर्थः । अस्मिन्द्वीपे पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाह नाम्नेति । पूर्वस्य स्वत एवोत्तमत्वेन प्रख्यातत्वात् तथा । तदुक्तं पूर्वं जम्बूद्वीपनामनिरुक्तिपूर्वम् । अत्रातथात्वादन्येन प्रसिद्धिरित्यर्थः ॥११४॥

अत्र भगवद्भजनानिरूपणे हेतुमाह नाऽत इति ।

निबन्धः—नाऽतः परं कर्मभूमिरतो भोगो निरूप्यते ॥

व्यवहृत्यै वर्णसङ्गा सर्वत्रोपासनाऽस्ति हि ॥११५॥

मन्त्रश्च भजनं चैव समं सर्वेषु वर्णिषु ।

स्वरूपस्थितये तद्धि न तु तस्माद्व्रतिः परा ॥११६॥

प्रकाशः—नन्वात्राप्नुयासनोक्तेः कथं न कर्मभूमित्वमाह आह स्वरूपेति ॥११६॥ भगवत्कथयति ।

निबन्धः—भगवत्स्वाय सर्वत्र सप्तभेदा निरूपिताः ॥

पृथिवी पञ्चरूपेति पञ्चस्वेव तथोदितम् ॥११७॥

अस्मिन् द्वीप इति उक्षद्वीपे । स्वरूपस्थितय इति ॥११६॥

प्रकाशः—सर्वत्र भूमौ प्रियव्रतेषु च भगवोस्तद्गुणा एष्वर्थाद्यश्च सन्तीति ज्ञापनाय तथोक्तमित्यर्थः । पञ्चस्वेव च तथोक्ता हेतुमाह पृथिवीति । यथैतत्तथोक्तं पुरस्तात् ॥११७॥

पुष्करद्वीपे सर्वत्र द्वित्वसङ्घायां हेतुमाह सङ्कल्पेति ।

निबन्धः—सङ्कल्पश्च विकल्पश्च मनसो भेदकद्वयम् ॥

अत्रोऽत्र पुष्करे भेदद्वयं पर्वतहेतुतः ॥११८॥

समुद्रावधयः सर्वे तं विना पर्वता मताः ॥

प्रकाशः—जम्बूद्वीपे कर्मन्द्रियमाधान्यं कर्मभूमित्वात् । इतरेषु भोगमाधान्याज्ज्ञानेन्द्रियमाधान्यं पूर्वोच्युपसर्जनानि । अत्र च प्रियव्रतमनसो भूयैश्च भगवन्मनोषिद्धान्तत्वेन तत्प्राधान्यात्तस्मिंश्च सङ्कल्पादेरेव भेदकत्वात्सर्वत्र भेदद्वयमित्यर्थः । अत एव भगवदासनमपीति भावः । अत एव मानसोत्तरनामाऽवलो भेदकः । तस्य वैकल्पाद्वैश्वर्यमेव भवतीत्याह पर्वतैति । पर्वतलक्षणहेतुत इत्यर्थः । भेदे पर्वतहेतुत्वं इति भावयमानो वा । सप्तकृत्व एव परिभ्रमणात्समुद्राः सप्तैवेत्यग्नेतनभूमौ तद्भावेन पर्वता एवाऽवधित्वेन सम्मता इत्येते त एवोक्ता इत्याह ससुद्रेति ॥११९॥

प्रियव्रतकृता स्थितिद्विपसंहरति मयोदिति ।

निबन्धः मर्यादेषाऽत्र परमा यथा भूमिः पुरा कृता ॥११९॥

तथैव पुत्रसम्पत्तिः प्रियव्रतकृतान्वये ॥

आवेशित्वात्तु सर्वस्य वार्ता हरिरिहोच्यते ॥१२०॥

प्रकाशः—तामेवाह यथेति । कृता प्रियव्रतेनेति शेषः । वर्षसप्तसङ्घामात्रपुत्रजननं सत्यसङ्कल्पकृत्व एव भवति तत्रेश्वर एवेतीश्वरकृतमिदं सर्वमित्यर्थः । इदमेव परमत्त्वम् । नन्विष्मनिहृद्युक्तवैवमन्येपीत्यतिदेशेनापि कथनसम्भवे मत्येकवार्तात्किरनधिक्यत्वात् आह आवेशित्वादि । आश्लिष्टचरित्रत्वेनोक्तिरित्यर्थः । अवतारत्वात्प्रावर्त्तनाय तुः । अत्र प्रमाणमाह इति । इह भागवते सर्वत्रासराथैत्वेनापि हरिरेवोच्यते इति तेषामतथात्वे कथनमेव स्यादिति ते तथैवेत्यर्थः ॥१२०॥

जीवस्वरूपे स्थित्यर्थम् । तथोक्तमिति सप्तधा वर्षादिविभजनमुक्तम् । पुरस्तादिति 'भूतप्राणान्यमन्त्रे'तिश्लोके । सर्वत्रेति पुत्रे वर्षे च । मूले तथैवेत्यादि, अन्ये पुत्रसम्पत्तिः प्रियव्रतसङ्कल्पकृतैवेत्यन्वयः । इति तथेति जङ्गमपृथिवीनिष्ठत्वाद् द्वितीयकक्षायां गणितमित्यर्थः ॥१२०॥

सखुद्राणां मिथो बेलक्षये हेतुमाह रसा इति ।

निबन्धः रसास्वत्र पृथिव्यास्तु तत्र तत्र तथोद्भवाः ॥

लवणो राजसः प्रोक्तः सात्विको मधुरो रसः ॥१२१॥

मदिरा तामसी प्रोक्ता कषया बुद्धिनाशिका ॥

घृतं तु सात्विकं प्रोक्तं राजसं पय उच्यते ॥१२२॥

दधि तामसमत्रोक्तं मण्डश्च सुतरां तथा ॥

शुद्धोदकं गुणातीतमेवमत्र व्यवस्थितिः ॥१२३॥

प्रकाशः—रसचक्रेणातिपीडने तत्र तत्र स्थितः स स रसस्तेन प्रकारेणोद्भूत इत्यर्थः । 'ततो हवा' इति पाठे तं तं रसे भूमेहेत्वा तेन तेन स स गर्तः पूरित इत्यर्थः ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

पुनस्तोषामेवोक्तिर्व्यर्थत्वात्सङ्काह जडेति ।

निबन्धः जडजीवविभेदेन पृथिवी तु द्विधा यतः ॥

गुणत्रयमतो भिन्नं द्विधाऽत्र विनिरूपितम् ॥१२४॥

प्रकाशः—सगुणनिर्गुणभेदेन द्विधा सा । सगुणापि स्थावरजङ्गमभेदेन द्विधेः स्वार्थः ।

घृतादित्रयं गवादिनिष्ठो रस इति तथा भगवदासनवत्त्वेन निर्गुणत्वं तद्भूमेः ॥ १२४ ॥

निबन्धः लोकालोकाचलादर्वाङ्मृच्छनी भूमिरुत्तमा ॥

सार्द्धकोटिस्तथा सप्त लक्षणपर्यं तथैव च ॥१२५॥

अन्या भूमिर्न सौवर्णी सौवर्णीत्यपरं जगुः ॥

प्रकाशः—अथ 'ततः परस्ताद्' इत्यादिग्रन्थो विचार्यते । शुद्धोदात्परतो लोका-  
लोकादर्वाङ् सार्द्धषण्णवतिलक्षाधिकनवकोटियानां भूमिवति । तन्मध्ये सार्द्धसप्त-  
पञ्चासन्नृक्षाधिककोटियानां सौवर्णी नान्येति सिद्धान्तो भागवतस्य । अन्यथा याव-  
॥ १२४ ॥ तद्भूमेरिति पुष्करद्वीपभूमेः । इति सिद्धान्तो भागवतस्येति एतद्भोक्तव्यं ग्रन्थं  
किञ्चिद्गुणायते ।

तथा हि, पूर्वं जम्बूद्वीपविचारे 'यो वा अयं द्वीप' इति गये नियुतयोजनविशालः  
समवर्तुल इति मानमुक्तम् । तत्र दैर्घ्यस्यैव न वर्तुलत्वस्य । अन्यथा दैर्घ्यस्य वर्तुलवृत्तीयं-  
शमात्रत्वनियमेन ( ३३३३३ ) त्रयस्त्रिंशत्सहस्रत्रिंशत्तत्रयस्त्रिंशद्योजनानि सपादकोशमेति  
तद्दैर्घ्यापति इलावृत्तदक्षिणोत्तरभागयोर्वैश्वानानां भारतदिक्वर्न्तानां षण्णां नवनवसहस्रयो-

जनविशालानां वर्षाणां विचारे चतुःपञ्चाशत्सहस्रयोजनदैर्घ्यात्तेषां जम्बूद्वीपे स्थितिर्वापिता  
स्यात्, एवं सति यस्मिन्नववर्षाणीत्यभिगद्यारम्भावयं पूर्वगद्य एव सम्बन्ध्यते । नवसहस्र-  
योजनायामानीति स्वधवर्षाणीत्यध्याहारिणाम्यथागुपत्स्या योजनीयम् । अन्यथा षोडशसहस्रं  
मूल आयतस्य मेरोरिलावृत्ते स्थितिरन्येषां च गिरीणां बाधिता स्यात् । एवं सति प्रान्तगानि  
चत्वारि वर्षाणि धनुराकृतीनि नवसहस्रविशालानि मध्यभागे प्रान्तस्तद्गु ह्रस्वानि । रस्यकहि-  
रम्बवहरीर्वर्षिकपुरवाणि सूर्याकृतीनि मध्यभागे तावान्ति, दैर्घ्यं तु तेभ्यो दीर्घाणि । इलावृत्तं  
तु दक्षिणोत्तरयोः षट्चत्वारिंशत्सहस्रवितसं पूर्वापरयोस्त्वष्टाशीतिसहस्रमिति  
दीर्घचतुष्कोणाकृति भवति । न च द्विद्विसहस्रवृथूनं तत्तन्मर्यादागिरीणां विद्यमान-  
त्वाच्चतुस्त्रिंशत्सहस्रविततमिति शङ्क्यम्, तन्मध्यगतस्य मेरोर्भूर्द्धि देशे द्वात्रिंशत्सहस्र-  
विततत्वाकेसरराचलादीनां तद्द्विर्ध्यामाये च तत्तदुपरिविषयमाणस्य गङ्गाप्रवाहपातस्य  
बाधप्रसङ्गात् । अतः पूर्वोक्तमेहेलावृत्तमानम्, तन्मध्ये च षोडशसहस्रं मेरुणाकान्तं मेरोपरितः  
केसरराचलास्वनुकोन्नाहपरिणाह । इति मूले मेरुसंसक्ता एवावष्टम्भगिरीणामुपर्येव द्विसहस्रचतुः-  
शतवित्तीर्णतया एकैकशो दृश्यन्ते, न तु प्रत्येकं पृथक्, अत एवायुतयोजनविस्तारोन्नाहाश्चतु-  
रो मन्दरादीनवष्टम्भगिरीनुचवा तत एव त उक्ताः । एते च सौवर्णा वा गणिमया वा उपरितो  
मेरोर्विद्विष्टाः पादोनतुङ्गा अर्द्धतुङ्गा वेति केसरतुटपतया औचित्यबलेन कल्प्यते । 'अचिन्त्याः  
सखु हे भावास्ताँस्रकैर्णे प्रसाधयेदि'ति मात्स्यादीौ बाक्येन तथा कल्पने दोगाभावात् । 'अलौ-  
किकान्तु ये भावा न ताँस्रैण योजये'दिति निषेधस्यालौकिकविषयत्वेनावाचकत्वादिति ।  
तेषां च शिखरदैर्घ्यं मेरुमुद्धदैर्घ्यादधिकमिति तच्छिखरैस्त्वमे गङ्गाप्रवाहपातकथनादनुमीयते ।  
अवष्टम्भगिरीणामन्तर्भूमिगतो विस्तारोऽयुतादत्यधिको मुद्धेनि ल्वीपदधिक इति मन्दरस्य  
मन्थानत्वात्सत्सादृश्येनानुदीयते । तेषां सौवर्णत्वं च नियतम्, स गिरिस्तत्र 'बहूनमरदानवान्  
चूर्णयामास महता भोरण कनकाचल' इत्यमृतमन्थनेष्टमस्कन्धवाक्यादवगम्यते । तदर्थे  
जरवादयः परित्स्तरणगिरयोर्द्वे द्विसहस्रवृत्तुङ्गा इन्द्रशः परित्स्तरा अष्टादशसहस्रायता मेरोश्चतु-  
र्दिशं रजतमयाः । तेषां राजतत्वं च कैलासस्य राजतत्वप्रसिद्ध्या तत्सादृश्येन कल्प्यते ।  
कैलासकरवीरौ मेरोर्दक्षिणतस्तेन यत्प्रदेशाल्लोभावः, स भागः कैलासकरवीरमध्यगद्यु-  
पत्यकल्पेयति प्रतिभाति । अन्यथा सर्वेभ्योऽलावृत्तस्य क्षयत्वे मेरुर्दीर्घो देवस्थितिर्भौमादीनामैन्द्रा-  
मरादिक्षान्तरणार्थं गमनं च बाधितं स्यात् । अतः 'इलावृत्तं तु भगवान् एक एव  
युमानि'त्यत्रेलावृत्तपदं तावत्पदेकदेशपरमितिनं काचिदनुपपत्तिः ।

अतः परं गङ्गोत्तरणं विचार्यते । तत्र यस्मिन् कल्पे त्रिविक्रमावतारसद्भाषौ  
वापररावे या ध्रुवलोके गङ्गाया अवतरणम्, महता कानेन युगसहस्रौपलक्षेण दिवो

मूर्द्धन्यवतारा यच्च द्विष्णुपदमाहुरिति वाक्यात् । तदभिमे कल्पे मेरुपरिब्रजसदने निपातः । ततश्चतुर्द्धाविभागेन गमने तु सीताचक्षुश्च निपातकृतवेगाद्यत उच्छलन्ती षोडशसहस्रायत् मेरुमूर्द्धदेशगतिक्रम्य केसराचलावष्टमगिरिपरित्तरणगिरिशिखरेषु पतित्वा तत उत्पत्य गन्धमादनमास्थवतोः शिखरेषु यथायथं निपत्य तत उपरतवेगा सती भद्राक्षङ्केतुमालं च प्राप्योदधिं विशति । केसराचलादिशिखरेभ्योऽधोऽधोः प्रधवन्ती गन्धमादनमूर्द्धनि पतिलेति । एवं माल्यचच्छिराक्षिःपतन्ती तत उपरतवेगेति च वाक्यात् भद्रालकनन्दे तु मेरुशिखरे केसराचलाशिखरे निपत्य मेरुमन्दारकुमुदयोवष्टमगिरयोः शिखां विहाय शृङ्गवतः परित्तरणगिरिः कैलासस्य च शृङ्गे पतित्वा तत उत्पत्य यथायथं रम्यकहिरण्मयोः तन्मयोदागिरी, हरिर्बर्ष-किम्पुरुषौ तन्मयोदागिरी च स्वस्था भद्रा तावत् कुरुवर्षमर्यादागिरी शृङ्गवति पतित्वा ततः सुहृन्मवेगेनावस्यन्दमाना कुवर्षे प्राप्योदधिं प्रविशति । 'भद्रा चोत्तरत' इति गद्ये तथा-सिद्धत्वाद्, अलकनन्दा तु हेमकूटपर्यन्तमष्टद्वय हिमकूटानि हिमालयसम्बन्धीनि स्पृष्ट्वा अतिरभसत्तरंरहसा भुवं प्राप्य भारतवर्षं भूलोदधिं प्रविशति । 'तथैवालकनन्दे'ति गद्ये तथा सिद्धत्वादिति । न च दृग्भ्राज्यपरित्तरणगिरौ गङ्गाया अभावः शङ्क्यः, चतुर्थैरकन्धे कैलासवर्षने 'नन्दा चालकनन्दा च सरितौ वाञ्छतः तीर्थेपादपदान्मोजरजसातीवपानन' इति श्रुतिलिङ्गान्यां कैलासे तत्सचा सिद्धावन्यत्रापि तदौचित्यात् । एवं सति भगीरथस्य यो गङ्गा-नयनायोधमः स कैलासे गङ्गाप्रचयकालीनो ज्ञेयः, तन्मया प्रहस्ते सम्भृगुपपादितमिति नाम लिख्यते ।

अतः परं भूमिभागो विचार्यते । तत्र मेरुमध्यादूर्ध्वलक्षयोजनोत्तरं क्षारोदधिः, स तु लक्षमात्रविततः, तदपे द्वीपा उदधयश्च, पूर्वपूर्वस्मात्तुरोत्तरं द्विगुणास्तथा सति मेरु-मध्यान्मानसोत्तरमध्यमपर्यन्तं सार्द्धकोटिः । सार्द्धसप्तलक्षाणि च भूमिर्भवति । मानसोत्तरस्यो-द्भ्रायस्तु तद्विष्णुमध्ये मानसोत्तरं इतिगद्ये 'अयुतयोजनोच्छ्रयायाम' इति कथनावयुतयोजनः । अत्र गद्य 'आयाम'पदेनोच्छ्रयैद्वैधर्म्येव पराशुद्वयं न तु तिरश्चीनम्, तस्य द्वीपवत्परिमण्डलत्वे-नात्यधिकपरिमाणत्वात् । नापि तत्परिणाहपरम्, नवलक्षयोजनविततस्य रविरथस्य तत्र मातृम-शक्यत्वात् । अत उच्छ्रयपरमेव, अतो विस्तारो दश वा द्वादश वा लक्षाणि भवन्तीति ज्ञायते । ततोपे पुष्करद्वीपभागः षड्विंशतिलक्षः । मानसोत्तरमध्यभागानु द्वारिंशलक्षः । ततोपे चतुःषष्टि-लक्षः शुद्धोदः । तदपेऽष्टकोट्येकोनचत्वारिंशलक्षायुष्काञ्चनी भूः । तदपे सार्द्धकोटिः सार्द्ध-सप्तलक्षाणि काञ्चनी भूः । मानसोत्तरमेवन्तरस्य तावत्त्वात् । उभयं मिलित्वा सार्द्धषण्णवतिलक्षा-धिकनवकोटिमाना भूः शुद्धोदलोकालोकोत्तराले भवति । तदेतदुक्तं इति सिद्धान्तो भागवतस्येति । एवं गणनायां मेरुमध्यादारभ्य काञ्चन्या भुवः प्रान्तभागपर्यन्तं सार्द्धद्वादश-कोटयो योजनानां भवति । एतावलोकपरिमाणम्, तदपे लोकालोकोत्तरं अयुतयोजनविततः

न्मानसोत्तरमेवोत्तरान्तरमिति न वदेत् । पुष्करद्वीपलोकालोकोत्तरान्तरमिति बवेदस्ता-वलेव तथा नाऽन्येति आह अन्येति ! अन्यस्मिन् पक्षे लोकालोकाचलाद्-वांगितिपदाज्ञोकालोकिनकटस्था तावती भूः काञ्चनीति ज्ञेयम् । अत एव लोकालोकं निरूप्य काञ्चनी भूमिर्भूय उक्तेति भावः । शैवतन्त्रायतुरोधादन्यामपि भूमि तथा केचिदाहुस्तत्र कल्पभेदा ज्ञेय इत्याशयेनाऽऽह सौवर्णीतीति । अस्मिन् पक्षे यावन्मानसोत्तरत्यादिना कथनं सर्वसम्प्रपिहृताया भूमिः ॥ १२५३ ॥

निबन्धः—तस्याः प्रमाणमेकोनचत्वारिंशन्मितानि हि ॥ १२६ ॥

लक्षाणि हि तथा चाऽष्टौ कोटयः परिकीर्तिताः ॥

मध्यस्थया स्वर्णभूम्या सार्धद्वादशकोटयः ॥ १२७ ॥

प्रकाशः—एवं सति मेरोः प्रतिदिशं लोकलोकान्तरंयथासार्द्धद्वादशकोटिपरिमिता भूरिति पञ्चाशत्कोटिमिता भवतीत्याह मध्यस्थयत्यादिना ॥ १२७ ॥

निबन्धः—एकतस्तु तथा मेरोरपरप्रापि तावती ॥

तावत्येवोभयत्रापि लोकालोकेन संयुता ॥ १२८ ॥

कटाहेन सहेत्येके पृथिव्यावरणं तु सः ॥

पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णस्ततो दश गुणाः परे ॥ १२९ ॥

प्रकाशः—केचिद्विष्णुपुराणसम्मत्या लोकालोकेन सह कटाहेन च तावती भूमि-माहुस्तत्कल्पान्तराभिधायम् । इह लोकालोकोत्तरं मर्यादागिरित्वाज्ञोकालोकाचलस्य कोटियोजनोन्नाहः । इतो भुवलोक एकोनचत्वारिंशलक्षयोजनोपरि तस्यापि गभस्तयो लोकालोको-परिगन्तुं नोत्सहन्त इति तत्परमाण्वा सा र्द्धद्वादशकोटियोजनमिता अलोकभूमिर्गहनान्धकारवतीति तत्र द्विजयुत्रायनार्थं गमने रथमार्गदेशनाय सुदर्शनस्य प्रेषणम् । तदपे जलमनिरुद्धवृन्-सानम् । तदेव मूले 'महद्विर्लोककाञ्चलात्ततः परस्ताधोगोभ्रगतिं विशुद्धाद्यदहरोती'त्ये-नोक्तम् । तदपे ब्रह्माण्डरूपा पृथिवी ।

प्रकृतमनुसरामः । लोकालोकाचलाद्वांगिति निबन्धोक्तौ मानमाहुः अत एवे-त्यादि । शैवतन्त्रोक्तकाञ्चनीभूम्यादरपक्षे, तस्याः परिमाणं निबन्धे आहुः तस्याः प्रमाणमि-त्येकेन । तथा च याऽत्र अकाञ्चनीवेनोका सापि काञ्चनीति तन्मते शुद्धोदपरपरामस्य यावन्नोकालोके काञ्चनीरथः । मूलविरोधाभावाद् अस्मिन्नित्यादि । तथा च मूलोक्तकाञ्चन्यति-रिकाकाञ्चनी आदर्शतलोपमानं भवति, किन्तु मेवादिसेमत्यर्थः ॥ १२५३ ॥ सिद्धं भुवो मानमाहुः एवं सतीत्यादि । विष्णुपुराणपश्चात् श्रीभागवतोक्ते को विज्ञेय इत्याकाङ्गाया-

न भूमध्यपातित्वम् । कटाहोऽपि न तथेत्याह पृथिव्यावरणमिति । स कटाहस्तु पञ्चाशत्कोटिमितः पृथिवीरूपमावरणमेवेति नाऽत्र तत्सहमानः सम्भवतीत्यर्थः ॥१२९॥

निबन्धः—लोकालोकस्य तूच्छायः कोटियोजनसम्मितः ॥

तस्योपरि गजाः पुर्यो भगवोऽथापि वर्तते ॥१३०॥

प्रकाशः—यद्यपि मूले स्पष्टं नोक्तं मानमवलस्य तथापि पुरापान्तरसंमत्योक्तं कोटियो-  
जनेति । तथा चोक्तं विष्णुपुराणे । ‘लोकालोकस्ततः शैलो योजनानुतविस्तृतः ।  
उच्छुश्रूणोपापि तावन्ति सहस्राण्यचलो हि स’ इति । अयुतसङ्ख्यानि सहस्राण्युच्छ्रित्त-  
इत्यर्थः । तत्रैवं गणनाक्रमः, मेरोरेकतो जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत्सहस्राणि तैः सह  
आद्युद्गोदान्तं सार्द्धं त्रिपञ्चाशद्विंशत्यधिकं कोटिद्वयम् । ततः काञ्चीना भूः सार्द्धं षण्णवति-  
पञ्चाशत्कोटिमिता । एवं सार्द्धं दशकोट्यो भवन्ति मेरोरेकतः । एवं चतुर्दश्विंति-  
पञ्चाशत्कोटिमिता भूभवेति ॥१३०॥

निबन्धः—पुरुषस्य कटिर्मध्यं भूर्मूर्धक्षे विभावसुः ॥

ततः सन्वेहराहित्ये मध्ये सूर्यो निरूपितः ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—ननु चतुर्दशलोकात्मकब्रह्माण्डस्याऽतलभूर्मूर्धयोर्मध्यं (मध्यं) भवेत् । तौ च  
पुरुषस्य कटिजयनात्मको । पुरुषस्य च मध्यं कटिरिव भवति । किं च । ‘भूर्लोकः कल्पितः  
पञ्चम्य’ इति पक्षेऽग्निमलोकस्य नाभिरूपत्योक्तैर्भवं आकटित्वं गम्यते । एवं सति  
कटिरुपा भूभवेति । रविश्च भ्रुवो लक्षयोजनान्तरं इति तस्य तन्मध्यं भवति न वेति  
सन्देहः । ऊर्ध्वाधोलोकानां भिन्नो मानवैषम्यदापि न मध्यनिश्चय इति सन्देहहेतुनु-  
वादपूर्वकं तन्निरूपणमयोजनमाह पुरुषस्येति । अर्द्धनानुवादः । यत एवं ततो हेतोयः  
सन्देहस्तद्वाहित्यनिमित्ते तथा । तदेतत् ‘सूर्यं हि’ इत्यादिनोक्तम् ॥१३१॥

माहुः इत्येवादि । तथा च श्रीभागवतपक्षे अयुतविततो लोकालोकैः, मूले  
‘पञ्चाशत्कोटिविगणितस्य यूगोलकस्य तुरीयभागोयं लोकालोकचलः’ (सू० १८) इति योन्तर्विस्तार,  
एतेन ह्यलोकपरिमार्गं व्याख्यातमिति च कथनान्मेरोरेश्वतुर्दिशं लोकालोकस्य परतश्च सार्द्धं-  
द्वादशकोटयो भवन्तीत्ययमचलोधिक इत्येको विशेषः । योगेश्वरगतिस्त्रिंशत्कोटियमपरः ।  
तदप्रपञ्चकटाहः पञ्चाशत्कोटिस्थूल इति तुरीय इत्ययं विशेष इत्यर्थः ॥१२९॥ लोकालोकः क्रिया-  
नित्येषांश्यामाहुः यद्यपीत्यादि । मेरोरेकत इति आलोकालोकाचलादिति शेषः । एवमिति  
लोकालोकपरमार्गस्य सुवमादाय । निबन्धे मूले तस्योपरि गजाः पुर्यो इति । यद्यपि गधे  
पुर्यो नोकास्तथापि गजानुक्त्या अभिमे गधे तेषां स्वभिर्भूतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानां च  
विविधवीर्योपपृक्तिरुक्त्यालोकपालपुर्योपि ज्ञातव्या इत्यर्थः । अतः परममध्यमगतः सूर्य-  
(सू० ४३) इत्यादिग्रन्थं विचारयन्ति नन्वित्यादि । अग्निमलोकस्येति अन्तरिक्षलोकस्य । तस्य  
तन्मध्य इति विराट्पुरुषस्य नमसत्वं मध्यम् ॥१३१॥

निबन्धः—दशसाहस्रगणना पातालादिवु सत्तया ॥

महादेवान्तरं कोटयो येन स्युः पञ्चविंशतिः ॥ १३२ ॥

काञ्चीदाममणिः सूर्यः शक्तिः कुण्डलिनीति च ॥

प्रकाशः—ऊर्ध्वालोकमानवैषम्यधीपरिहारार्थमेव पञ्चविंशतिकोटिमानकथनम् । नन्वेवं  
सत्यधोलोके तावन्मानकथनमनुपपन्नमल्पत्वात्तत्राह दशसाहस्रेति । तावदपि तत्र  
वर्तते इत्यभिप्रायेण तयोक्तिः, ‘अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तद्दानीः, इतिन्यायेन न  
तु तावन्मात्राभिप्रायेणेत्यर्थः । अत्र विनिगमकं सर्वैस्तेषां मानं कियद्वातव्यमित्या-  
काङ्क्षामपि पूरयन्नाह महादेवान्तरमिति । यद्वा न देवः सङ्कषेणः सूर्यो वा, यावता  
तावद्भवति तावन्मानं ज्ञातव्यमित्यर्थः । अधोलोकानां तावन्मात्रत्वे ‘सूर्योऽण्डगोलयोर्मध्ये’  
इति विरुद्धमत इति भावः । तच्छांचार्यैरुक्तकमानं कुतो नोक्तमिति चेद्, अत्राऽयं-  
भावः । ‘सु भूमिचिबराः’ इतिवक्ष्यन्त्याद् ‘भूर्लोकः कल्पितः पञ्चम्य’  
इत्युक्तत्वाच्च भूमध्यपातित्वं तेषामिति विशेषतो नोक्तमिति । विराट्स्थाने कट्युपरि-  
स्थितस्य तस्य स्वरूपमाह काञ्चीति । एतेन भूमकरणे दिविष्टसूर्योक्तिर्न युक्तेति शङ्का  
निरस्ता । अत एवोर्ध्वाधोविभाजकत्वमिति भावः । ‘मृतेण्ड’ इत्यादिव्युत्पादनतात्पर्यमाह  
शक्तिरिति । सङ्घाते हि देहादिसम्बलितो जीवो मृत इव तिष्ठति । कुण्डलिनी-  
प्रबोधे हि सुपुण्यान्ध्रमयैशे क्रमेणाऽमृतत्वमापद्यते । तथा रत्नायुक्तत्वादयं विराज-  
स्त्येत्यर्थः ॥ १३२३ ॥

ऊर्ध्वालोकमानेति ऊर्ध्वलोकश्च अलोकश्च तेषां मानेत्यर्थः । तावन्मानकथन-  
मिति एकैकशो योजनानुतान्तरणामाविशारेणैति मानकथनम् । अल्पत्वादिति अन्तरस्याल्प-  
त्वात् । तावदपीत्यादि । तथा च गधे अन्तरपदमकाशपरम्, नत ते विवरदेशायोजनानुतमितो  
यदन्तरमवकाशस्तेन तावद्विस्तारयामिन तद्दानीनां वासायोपकृताः, ततोन्मो यो  
भागः स तु लोकान्तरगमनमार्गता वर्षमानः स्वस्ववकाशो लोकस्वायाम्य इत्यर्थः । मान-  
मिति दूरतायाः । सङ्कषेणः सूर्यो वैति विष्णुपुराणोक्तपक्षे कटाहस्य पञ्चाशत्कोट्यन्तः-  
पातित्वारसङ्कषेणः, सिद्धान्ते तु सूर्य इत्यर्थः । विशेषतो नोक्तमिति विशेषतो विराट्स्थाने-  
नुपयोगे मूलगधेषु वदेत् सूचयेद्वा तदभावात्, लौकिकपुरुषसंसाधामान्येन तद्दूरत्वैकव्यव्योहार्त्तुं  
शक्यत्वाच्च नोक्तमित्यर्थः । अत एवेति काञ्चीदामस्त्वादिव । एवं त्र्यविंशतिर्निबन्धाध्यायः  
पञ्चमो विचारितः । एतावता सार्द्धानपञ्चाशद्विंशत्प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३२३ ॥

अ० २१ भूमकरणं समाप्याऽग्रिमाध्यायत्रयेण दिवः स्थानं निरूप्यत इत्याह अत इति ।

निबन्धः—अतः परं त्रिभिः प्रोक्ता बुमर्यादा तथाविधा ॥ १३३ ॥

सूर्यस्य च तथाऽप्येषां शिशुमारस्य च क्रमात् ॥

प्रकाशः—त्रित्वे हेतुमाह तथाविधेति । सत्त्वकार्यरूपत्वर्थः । तस्य च शुद्धमिश्रभावेन त्रिविधत्वेनाऽध्यायेष्वपि तथात्ममितिभावः । अध्यायार्थानाह सूर्यस्येति । आद्ये सूर्यस्य । द्वितीये सोमादीनाम् । शिष्टे शिष्टस्य ॥ १३३ ॥

तत्रापि प्रकरणविभागमाह सूर्यस्येति ।

निबन्धः—सूर्यस्य गमनं पूर्वं गतिस्थानं तथाऽपरम् ॥ १३४ ॥

रथस्य साधनस्यान्ते प्रमाणादि च रूप्यते ॥

प्रकाशः—‘यन्मध्यगत’ इत्यारभ्य गमनमुच्यते । ततो गतिस्थानम् । ततो रथस्य । साधनस्येति ह्यारुणादेरित्यर्थः । अन्ते तत्प्रकरणस्यान्ते तस्य तस्य प्रकृष्टं मानं च, एवं नवकोट्य इत्यादि । ‘एवं गृहर्तने’त्यादि । ‘लक्षोत्तरमि’त्यादि ॥ १३४ ॥

ननु पूर्वाध्याय एव रथिनिरूपणात्प्रत्यादिनिरूपणमपि तत्रैवोचितम् । किं च ‘एतावानेवे’त्यारभ्या ‘त्मभासे’त्यन्तग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आह दिव इति ।

निबन्धः—दिवो मानप्रसङ्गेन सूर्यस्यात्र निरूपणम् ॥ १३५ ॥

अतः प्रसङ्गिनं प्राह मानतो ह्यतिवेशतः ॥

प्रकाशः—नाऽत्र प्राधान्येन तन्निरूपणं किं तु दिवः प्रकरणत्वात्तन्माने निरूपयितव्ये तन्निरूपणमेव तथाकृतमित्यर्थः । एतज्ज्ञापनायैव स ग्रन्थ इति भावः । अत इति ।

अतः परमध्यायत्रयात्मकं भूमकरणं सादौर्नमसृतिभिर्निर्धारयन्तः सादौत्रिचत्वारिंशद्भिरेकविंशे प्रकरणप्रथमाध्यायं विचारयन्तीत्याहुर्भूमकरणमित्यादि । तस्येत्यादि प्रथमाध्याये रजोमिश्रभावेन, द्वितीये तमोमिश्रभावेन, तृतीये शुद्धसत्त्वभावेनेत्यर्थः । शिष्टस्येति शिशुमारस्य । ततो गतिस्थानमिति ‘मानसोचरे’त्यारभ्य ‘समागमन्ती’त्यन्तेना । ततो रथस्येति ‘तस्याक्ष’ इत्यारभ्य गमनगतिस्थानप्रकरणस्यान्ते । तथा च ‘यन्मध्यगत’ इत्यत्रोक्तायाः सूर्यगतेर्‘मोमेतस्यैव प्रकरणस्यान्ते ‘एवं नवकोटय’ इत्यादिनोच्यते । ‘तथा मानसोचरे’त्यारभ्योक्तस्य गतिस्थानस्य मानमेतस्यैव प्रकरणस्यान्ते ‘एवं गृहर्तने’त्यादिनोच्यते, तथा ‘तस्याक्ष’ इत्यारभ्योक्तस्य रथस्य मानम् एतस्यैव प्रकरणस्यान्ते ‘लक्षोत्तरमि’त्यादिनोच्यते इत्यर्थः । पूर्वाध्याय इति विंशाध्याये ।

‘एतेन हि’ इत्यनेन सामान्यतो दिवो गानमुक्तं यद्यपि तथाप्यन्यस्य विभाजकस्य वक्तुमशक्यत्वाद्द्विदोषतस्तन्निरूपणं सूर्यगतिविशेषनिरूपणं विना न भवति यतो हेतोः ॥ १३५ ॥

इति श्रीमद्देश्वानरावतारश्रीबल्लभाचार्यात्मज-

श्रीमद्विठ्ठलनाथप्रभुचरणविरचितो-

निबन्धप्रकाशः

सम्पूर्णः ।

तन्निरूपणमिति गत्यादिरूपणम् । तथाकृतमिति एतावानित्यादिभासेत्यन्तग्रन्थेन कृतम् । तथा च पूर्वाध्याये तत्प्रयोजनाभावात् तत्र कृतमत्र तु प्रकरणमानज्ञापनार्थं कृतमिति हेतुव स ग्रन्थो युक्त इत्यर्थः । यतो हेतोरिति अतो हेतोः प्रसङ्गिनं सूर्यं प्राहेति मूलकारिकया सम्बन्धः ।

दृग्द्वयध्वेय प्रभुचरणा निबन्धं प्रकाशितवन्तः ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचर्षणकतानदासानुदासपुरुषोत्तमविरचितस्तत्त्वदीप-

प्रकाशावरणभङ्गः सम्पूर्णः ।

( पञ्चमस्कन्धस्य विशाध्यायः सम्पूर्णः, एकविंशाध्यायस्य प्रारम्भः )

॥ प्रथमो विस्फारः सम्पूर्णः ॥

श्रीमदाचार्यचरणकृतश्रीभागवतनिबन्धस्य प्रकाश एतावन् एव श्रीप्रभुचरणै-  
विरचितः । इतः परमाद्वादशस्कन्धं श्रीमदाचार्यचरणानां मूलकारिका एव  
उपलभ्यन्ते । ता गो.श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचितया योजनया समलङ्कृत्य द्वितीयविभागे  
प्राकाश्यं नेपथ्या इति विषयिद्वया विदाङ्कुर्वन्तु । (चीमनलालशास्त्री)

वरणमेव रादान्तं बोधयन्ती निर्गुणभक्तिमार्गैकप्रवृत्ताः । अत एव तन्मध्ये प्रमाणमूर्त्यं प्रमेयं च भागवतमेव । व्याख्यातं च भागवतमेव । श्रीमन्मन्त्रादिव्याख्यानामपि श्रीभागवतार्थबोधनोपयोगित-  
थैव । न तु भागवतव्याख्यानां वेदबोधाय । अपि तु वेदव्याख्यानां भागवतबोधायैवेति । तदेव  
तदवतारप्रयोजनम् । एवं च श्रीमद्भद्रभुवार्थधरणकृतव्याख्यानादने नामकव्याख्यानां श्रीभागवतार्थ-  
बोधनाभावमिति । प्रथिततरमेवैतत्सुबौधियादिग्रन्थाप्येवगुणम् ।

तदेतद्भागवतं तृतीयस्कन्धे प्रकृतमिति दशलीलाधैरिदिनामपरोक्षम् । प्रथमद्वितीययो-  
रधिकाराख्यानलीलाप्रतिपादकव्याहाराविधलीलासु गणनाभावोक्तिः । निरुपधेयैर्द्विव्यालङ्करोतिस्म  
श्रीभागवतार्थवैतृणां करकमलानि । गौलीकरासि "श्रेष्ठिनारायणदासस्य"  
प्रकृतग्रन्थप्रकाशः ] "श्रेष्ठिजेठानन्दस्य" च संरक्षितद्रुकव्यवस्थापकैः प्राकाशयं नीतः  
श्रीभागवतार्थव्यापार्यः । पूर्वं प्रकाशिनोऽपि भागवतार्थनिरुपधेयैः श्रीकृष्णाय-  
रायाणां दिग्गण्या सम्वलितस्तृतीयस्कन्धार्थे एवार्थं प्रकाशयते नैः ।

स चायं तृतीयस्कन्धः सर्गलीलाधैरकः । ब्रह्मणः सत्त्वादिगुणवैषम्येन, पञ्च महाभूतानि,  
पञ्च तन्मात्राः, इन्द्रियाणि, अन्तःकरणं चैत्येतेषामुपलक्षणकार एवात्र प्राधान्येनोपवर्णितः । भगवतो  
ब्राह्मणतारः कपिलावतारश्चोपवर्णितौ । प्रसङ्गात्सार्ङ्गव्यक्तानं भक्तिव्य  
अत्र प्रतिपाद्या विषयाः ] प्रतिबोध्यते । यथा मुक्तिलीलावबोधक एकादशस्कन्धो विभेचनीय-  
विषयवाहुच्येन चक्रासने तथैवायं तृतीयस्कन्धः विराडूपबोधनेन,  
सृष्टिक्रियाप्रतिपादनं, आसुरसम्पर्कोद्धारिण्या रसानलगमनेन, तदुद्धारणेन, कर्दमस्य तपश्चरणेन,  
कपिलावतारेण, तदुपदिष्टेन साङ्ख्यतत्त्वेन—तत्र प्रसङ्गात्—शाम्भानामासन्नभ्रमदयायज्ञानादिपदार्थप-  
रम्परावेदनपूर्वकभक्तिमार्गोपदेशेनेत्यादि विविधविषयेन विधेयतयति विद्याविलासवेदितां विपश्चिप्रव-  
राणां मानसानि । तदेतन्निलिखितमपि श्रीसुबोधिण्या सुसृष्टं सुविस्तृतं च व्याख्यातं श्रीमदार्चार्थ-  
चरणैः । किन्तु तदवबोधनाग्राक् स्फुटार्थाप्रकरणार्थव्यापार्यानां परमावश्यकतयाऽत्र त एवार्थाः  
प्रकाशिताः । अत्र हि सर्गलीलाप्रतिपादके तृतीयस्कन्धे प्रकरणत्रयम् । ( १ ) अधिष्ठाप्रकरणम्,  
( २ ) बन्धसृष्टिप्रकरणम्, ( ३ ) मोक्षसृष्टिप्रकरणं चेति । तत्रैवाभ्यन्तरप्रकरणानि । अथसृष्टि-  
प्रकरणे—( १ ) गुणातीतसृष्टिप्रकरणम्, ( २ ) सगुणसृष्टिप्रकरणम्, ( ३ ) कालसृष्टिप्रकरणम्,  
( ४ ) जीवसृष्टिप्रकरणं चेति चतुष्कम् । मोक्षसृष्टिप्रकरणे च ( १ ) वैश्वान्तसृष्टिप्रकरणम्,  
( २ ) तत्त्वमुक्तिप्रकरणम्, ( ३ ) कालमुक्तिप्रकरणम्, ( ४ ) साङ्ख्यवदानाम्मुक्तिप्रकरणम्, ( ५ ) साङ्ख्यस्य  
साधनं प्रमाणं च, ( ६ ) सगुणमुक्तिः, ( ७ ) जीवमुक्तिः, ( ८ ) सर्गोद्धारसर्वनिर्धारः, ( ९ ) सर्ग-  
फलप्रकरणं चेति नवकम् । अथाप्यास्तु श्रवणशिरादेव । एतेषां सङ्कलितेवात्र मुख्यः प्रतिपाद्यो विषयः ।

एवमयं तृतीयस्कन्धनिरुपधेयैः सर्वानेवोपकरोति विचारान् विचक्षणोश्च ।

अस्य मुद्रणं श्रेष्ठिनारायणदासस्य संरक्षितद्रुके सञ्जातम् । वैष्णवमङ्गलदासेन धीरज-  
लाल सांस्कृत्यामहाभागस्य प्रोत्साहनेनास्य प्रतिलिपिर्मुद्रणार्हतायां भारतमार्तेश्चश्रीगङ्गालखण्डपुस्तकाल-  
यस्थपुस्तकद्वितयसहायेन सम्पादिता । तदनु धीरजलालमहाभागैरेव विद्वा-  
अस्य मुद्रणम् ] पिता प्रबन्धकाः, निरुक्तश्चाहं तत्संशोधनाय । प्रकाशयते नारायणदासस्य  
जेठानन्दस्य च आसनमलतनुजन्मनोः संरक्षितद्रुकव्यवस्थापकैरेव ।

अत्र मुद्रणे प्रयुक्तं पुस्तकद्वयं पं. श्रीगङ्गालखण्डपुस्तकालयासम्प्राप्तम् । अतस्तदभ्यङ्गानां, प्रति-  
लिपिकारस्य वैष्णवमङ्गलदासस्य, मिथोजकस्य धीरजलालसांस्कृत्यामहाशासकस्य  
च सञ्जाताया उपकृतैरेव भूयो भूयः सख्यमानं स्मरणं परम्पराप्राप्तमेवेति !  
उपकृतिस्मरणम् समापनं च जीवदोषान्मुद्रणालयदोषाद्वा सञ्जातं चैत्यवत्तन् तर्हि क्षमाप्यन्ते विषयप्रवर-  
नीरक्षीरविवेकचतुराः । निरम्यते च—

विदुषा विधेयेन,  
हरिश्चक्रेण ।

स्वामिभ्रते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ॥ २ ॥

सम्भूतिः” इति वाक्यात् । संग्रह लौकिकालौकिकभेदेन द्विविध इति । अलौकिके त्रयस्त्रिंशदशैवाः सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्तीत्यविवादम् । लौकिकेष्वष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतजीवानि कालभ्रते त्रयस्त्रिंशत्प्रकाराः सृष्टिर्भवति । अत एव सतस्य विशेषणमाह स्वामिभ्रते इति । न तु सर्गो यः कश्चित्सृष्टिसाधारणः । तत्र स्वामिभ्रतः पूर्ववृत्ते लौकिकालौकिकभिन्नः । तत्रापि भगवद्भूता सर्वत्रेति विशेषः । तथापि

नेधार्थं तथा भूतादग्निं सृजतीति तेषामपि तत्कारणत्वात् न निरूपणमुचितमित्यर्थः । लौकिकालौकिकभेदेनेति । साङ्ख्यवैदिकभेदेनेत्यर्थः । उभयविधस्यापि त्रयस्त्रिंशदात्मकत्वं साधयन्त्यलौकिक इत्यादिना । अलौकिके । वैदिक इत्यर्थः । त्रयस्त्रिंशदेवा इति । “ स जातोऽपरिच्यत ” इति श्रुतेः ‘ स ’ विराट् पुरुषो ब्रह्मा पूर्वोक्तसहस्रशीर्षादिविशिष्टात् पुरुषात् ‘ जातोऽपरिच्यत ’ अतिरिक्तः समृद्धस्रग्त्रिंशदेवतारूपो जात इत्यर्थः । तथा च ब्रह्मणः सकाशात् जातेन हिरण्यगर्भेण सृष्टा इत्यर्थः । त्रयस्त्रिंशदिति । ‘ देवाश्चेत्कादशाः कल्पयन्त्याश्वाः ’ इति श्रुतेर्वैदिकसृष्टिरुपाख्यः त्र्येकं हिरण्यगर्भैकादशेन्द्रियाधिष्ठानुत्पन्नेनीत्यत्रेति त्रयाणामेकादशविधत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सृष्ट्येत्यर्थः । यज्ञं साधयन्तीति । ‘ देवा यज्ञमन्वते ’ ति श्रुतेरित्यर्थः । तत्रात्रं प्रकाशः, प्रथमतः सहस्रशरीरव्यवस्थापकत्वादिचर्मविशिष्टः परमात्म्य स्वराट्, ततो विराट् कमलाकारेण विशेषेण राजत इति प्रथमः सृष्टो भगवान् नामिकमलात्मकस्ततो विराट् पुरुषो ब्रह्मा ततस्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्तेस्ततो यज्ञ आधिदैविको विराट् पुरुषश्चारीहविर्निष्पायः कालसहितः प्रजापतिरूपः ‘ यज्ञो वै प्रजापतिरिति श्रुतेस्ततो यज्ञात् जातो यः साध्यकृत्त आत्मात्मिको यज्ञस्ततः पृथदात्मं ततो वाक्यया आरण्याः पदावस्ततो वेदा ऋग्यजुः स्यूल्शब्दस्तोति गायत्र्यादीनि तत आधिभौतिकहवीरूपावायुपचितस्तत्स्तेष्वेव ब्रह्मण्डल्यत्मकपुरुषविधानं, “ यत् पुरुषं न्यदुतु ” इति श्रुतेः, ततस्तत्र पुरुषस्य लोकरूपेण कल्पना “ तथा लोका अकल्पयन्ति ” ति श्रुतेः, एवमाधिदैविकात्प्यात्मिकाधिभौतिकभेदमिन्नस्य प्रथमस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधान्याय “ वेदाश्चेत्तं पुरुषं महात्मनि ” त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मविज्ञानं, तस्य च फलं “ एतदेवं विद्वानमृत इह भवती ” त्यादिश्रुतिभिर्मोक्षो निरूप्यत इति मोक्षफलिका वैदिकी सृष्टिः पुरुषसृष्टोक्ता भूया । लौकिकेऽपीति । साङ्ख्यसर्गोऽपीत्यर्थः । चतुर्विधभूतजीवानीति । भगवदात्मरूपणीत्यर्थः । मोक्षदानायाधिकास्मिन्साधयन्त्यस्य भगवदाधिर्भावं तेषामनुष्ठपतेः । कालभ्रते । साङ्ख्यसृष्टिहेतुपुरुषः शुण्डोभकभौतिकविराट्पुरुषचेष्टारूप इत्यर्थः । मूलपुरुषेष्वाशक्तिरूपस्तु “ कालसंज्ञां तदा देवी-वि ” त्यादिना वैदिकसृष्टिष्वेव कल्पस्य इति । अत एवेति । यत् उभयविधोऽपि त्रयस्त्रिंशत्प्रकारकः सर्गो निरूपणीय इत्यर्थः । न तु यः कश्चिदिति । पुरुषसृष्टोक्तस्रग्त्रिंशदात्मकारणत्वात् भिन्न आकाशादिशक्तिकः सर्ग इत्यर्थः । सृष्टिधारण इति । सृष्टिमात्रमेव येन सर्गेण निरूप्यते, न तु पुरुषसृष्टोक्तस्रग्त्रिंशदात्मकत्वं मोक्षफलकत्वं प्राग्व्यस्येव इत्यर्थः । तत्रेति । तेषु नामानिचयसंगोऽभिव्यर्थः । लौकिकालौकिक भिन्न इति । लौकिकं साङ्ख्यमलौकिको वेदस्यान्यां भिन्नः भेदयुक्त इत्यर्थः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवत्सरावांशुभूषितसमृतिश्रीमद्ब्रह्मभावावेषेप्राप्तुमोचिते  
सप्रकाशे तत्त्वदीपनिबन्धे भागवतार्थप्रकरणे

तृतीयस्कन्धार्थः

श्रीमत्कल्याणरायविरचितया शिष्यणा समलभूतः

तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुक्तविवाहितयोः सङ्गविमाह-

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।  
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥ १ ॥  
त्रयस्त्रिंशदर्थध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।

अधिकारिष्विति । अधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः । साङ्गश्रवणविधिरितिः । तृतीयादिदशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं दशानां साधारणमर्थेषु कृत्वा तृतीयस्कन्धार्थमाह-

त्रयस्त्रिंशदधाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने इति । एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्याप्त्यर्थं ‘ त्रयस्त्रिंशदधाध्याया ’ इत्युक्तम् । सर्वेषां सर्गे एवार्थः ‘ सर्गः कारण-

श्रीकृष्णाय नमः

तृतीयस्कन्धार्थनिबन्धविश्रुतो श्रवणविधिरिति । यत्ते निरूपितमित्युक्तेः । सामान्यतो निरूपणमायातोत्पत्त्याशङ्क्य श्रोतव्यत्वेन ‘ तस्माद् भारतें ति विनाशदकरण फलाभावरज्ज्वालयोषधत्तार्थं तपोक्तमित्यर्थः । अत एव “ अपरिच्यतमात्मत्वं ” मिष्वादिना तदकृत्वा प्रथमत एव विन्दाहृतिरिति भावः । श्रोतव्यविषय इति । श्रोतव्यो विषयो लीकारूपः । प्रतिपाद्यते । दशभिः स्कन्धैरिति । एतेन स्कन्धद्वयस्य सर्वैरेव स्कन्धैः सङ्गतिरेव प्रतिपादिता न त्र्येकं प्रतिपादनीयेति बोधितम् ॥ १ ॥

साधारणमिति । श्रोतव्यविषयलीकारूपमित्यर्थः । एकदेश इति । स्कन्धैकदेश इत्यर्थः । तथा सति सम्पूर्णस्य स्कन्धस्य सर्गप्रतिपादाकृत्यं न स्यादिति भावः । सर्वेषामित्येष्व्याजानामित्यर्थः । बन्धि भूतमात्रेन्द्रियभिकजीवकाकलात्वादीनामपि सृष्टिनिरूपणात् न पूर्वोक्तश्रवणकः सर्गः सर्वत्रायाति तथापि ‘ सर्गः कारणसम्भूतिरिति वाक्यादधिकारिभूतादिसृष्टौ मुक्तियोगं तादृशं जीवं सृष्ट्वाऽऽधिदैविकतत्त्वान्पि सृष्ट्वा तादृशमाधिदैविकं मोक्षोपयोगिनमलौकिकं कालमनुष्ठाय भगवात्

१ “ तथा ” इति शब्दः ।



स्वोपयुक्तार्थसहितो मोक्षसिद्धिफलयुक्तः । जीवस्य हि दिवा दृष्टिः; बहिः, स्वरूपे च । बहिः दृष्टिलोकं प्रतिष्ठा । सा हि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात्प्रलयो भवति । अतो मोक्ष एव मुख्यदृष्टिः । अधिकारिदृष्ट्यतिरेकेण स न भवतीति मोक्षार्थद्वयचिरपि निरूप्यते । तत्र गृहस्थस्यैव श्रुक्तिः सन्निग्धेति दम्पत्योश्चैकनिरूपणम् । तत्र गृहस्थस्य

वस्तुतस्तु प्रकारभेदेऽपि भगवद्गीताकार्यवादेक एवेति भावः । तत्रापिति । उभयविधसर्गोऽतीत्यर्थः । भगवद्गुपतेति । सर्गे ये कारणत्विनोक्ता ब्रह्मकर्तृनादयस्तेऽपि भगवतः सर्गं लीलापयोगित्वेन तदङ्गभूता भूमिज्ञानदुमादय इव लीलाख्या इति तेषाम् भगवद्गुपत्वं लीलायाः स्वरूपात्मकार्यवदित्या-नविनम् सर्गो विशेषोऽन्यत्र सर्गाङ्गभूतानां जीवत्वमेवेति भावः । तत्रापिति । स्वं पूर्वोक्तो लीला-रूप उभयविधसर्गः, तत्रोपयुक्तो मोक्षारिरूपोर्धः पुरुषार्थो मोक्षदानार्थमेव भगवता लीलाकण्ठात् तत्सहित इत्यर्थः । नन्वत्र सर्गं लीला निरूप्या तन्मध्ये फलत्वेनापि मोक्षनिरूपणे स्कन्धार्थं सर्ग-लक्षणेऽतिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्याद्दर्शनव्यस्य हीति । जीवा हि भगवतोऽपराशलेन च गुणसंलम्भा उपर्येवावस्थिता न तु भगवत्सन्धेति या प्रपञ्चे बहिः, एवं सति यदा भगवतः सृष्टीच्छा तदा तान-क्षराम्बुकरणाद् विस्फुलिङ्गवद् व्युत्थरितान् स्वस्माद् बहिः स्थूलरूपे प्रपञ्चे पृथक्त्वा स्थापयित्वा स्वप्राप्तिसाधनानि कारयित्वा 'य उ एवे'ति श्रुतेः, पश्चान् स्वात्मन्यतःप्रपञ्चे विषयानुभवमिव स्वान-न्दानुभवं कारयितुमानन्दरूपेण स्वस्मान् जीवान् सृजति प्रपञ्चसर्ग-मोक्षसर्गोऽपीति पूर्वोक्तस्य त्वस्वरूपतेव । तत्र प्रपञ्चेऽक्षरनिष्ठायां ज्ञानमार्गेण पुनरक्षरप्रवेशेन सच्चिदानन्दरूपतासम्भितिरिति व्युत्थानसमये चिदंशत्वेऽपि प्रवेशसमये पूर्वत्र द्रव्यवस्थाप्राप्तिः, भक्तिमार्गेण पुरुषोत्तमनिष्ठत्वे पुरुषोत्तमप्रवेशेनाक्षरोत्तमनिष्ठत्वान्प्रत्युत्थवो विषयमोक्षकारिणः, तथा च येषां स्वानन्ददित्वा यदर्थं लीलाकृतिस्तान् मोक्षसर्गयोग्यान् कर्तुं देवोत्तमान् जीवान् प्रपञ्चेऽधिकारिशरीरनिष्पत्तये सुदृान् करोतीति मुख्यो मोक्षसर्ग एवेति सर्गस्कन्धे तन्निरूपणेऽपि न स्वरूपाध्यात्मनिर-तिभावः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चसर्गः सर्वत्वेन न्यवहित्वाणो मोक्षसर्गहेतुत्वात्पर्यवसानतः सर्गः । पूर्वं तु जीवस्य यत् स्वरूपमक्षरमार्गं तददर्शनहेतुत्वात् प्रलय एवेति न मुख्यसर्गसन्धिति मोक्षसर्गस्य साधनलभ्यत्वश्रयणात् भगवद्गीतात्वमित्याशङ्क्य तस्य उपपत्तिमाहुः गृहस्थस्यैवेति । "त्यागि-केऽप्युत्तममनसु"रिति "सन्ध्यासयोगाद् यत्नः शुद्धसत्त्वा" इति श्रुतेः सन्ध्यासाध्यायात् न गृह-स्थस्य मुक्तिर्दमार्गेण, "गृहस्थ एतां पदवीं"श्रियादिना सतमस्कन्धे पञ्चदशायामे भक्तिमार्ग-प्र-कारेण श्रुतिकथनात् सन्निग्धेयुक्तम् । दम्पत्योरिति । कर्दभेदङ्करोरित्यर्थः । एतेन प्रमाणब-ल-विचारेण मुख्योपयोग्यत्वेऽपि तदर्थं स्वयमेव कपिलरूपेणानिर्भूय मोक्षं दत्तवानित्येतस्य मोक्षस्य भगवद्गीतात्वमिति बोधितम् । ननु निःसाधनस्य मोक्षोक्तौ वेदविरोध इत्याशङ्क्याद्दत्तत्र गृहस्थ-स्येति । गृहस्थस्य मोक्षसाधनरहितस्य श्रुत्यात्मन्येव भगवद्वाक्यरूपत्वे इव भगवद्विधार्थसाध-

श्रुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः । तस्यापि' भक्तिः, ज्ञानं, योगाश्चाऽऽकारणं च । तस्मादेतत्सर्वं समंमध्य इति स्वोपयुक्तार्थेयुक्तम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धिविरोधमाशङ्क्याह—

लोके सर्गविसर्गो हि यादृशो नेह तौ भवौ ॥

किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ॥ ३ ॥

लोके सर्गविसर्गाविति । सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ । तेनैकेना लीला सतन्त्रेति प्रत्येकमेकैकस्कन्धवाच्यता, तेन स्कन्धद्वयविस्तरः ॥ ३ ॥ तत्रापि मैत्रेयविदुरसम्बुदप्रकारेण लीलाकथनमुचितमित्याह—

लीलाद्वयस्य श्रवणात्सिद्धः क्षत्ताधिकारतः ।

किं पुनः सकलश्रीतेत्यतस्तस्य कथा ततो ॥ ४ ॥

लीलाद्वयस्येति ॥ ४ ॥

भिकमत्स्य भगवत्चोष एव मुक्तिप्रयोजक इति परोक्षापरोक्षव्यवस्था वेदसन्तोषाम्नां मुक्ति-दानात् वेदविरोध इति भावः । ननु भगवत्सन्तोषोऽवतारदर्शाय सर्वेषु कथं न जायत इत्याशङ्क्या-हस्तस्यापीति । प्रसुप्तोत्पस्यापि भक्तिः प्रयोजिका " भक्त्येव तुष्टिमन्येती"तिवाक्यादित्यर्थः । ननु भक्तिः कथं सेतस्वतीत्याशङ्क्याद्दर्शनं योग इत्यादि । ज्ञानं भक्तिसाधनं सर्वत्र स्पष्टमेव । बांगोऽपि चित्तवृत्तिनिरोधाम्ना स्वरूपान्वयसहित इति भक्तिसाधनमेव । आज्ञाकरणं कर्मस्थितिः । सापि चित्तशुद्धिहेतुत्वाद्ब्रह्मकृतस्य भक्तिजनकैवेति । एतत् सर्वं स्वभातरमुपदिशतः कपिलस्य तावत्सन्तुहेनावगन्तव्यमिति दिक् । सर्गमध्य इति । मोक्षसर्गमध्य इत्यर्थः । प्रपञ्चसर्गम्ये भक्ति-कान्दानीत्यान्तुपयोग इति भावः ॥ २ ॥

प्रसिद्धीति । लोकप्रसिद्धेर्विरोधमित्यर्थः । लोके मोक्षसर्गत्वेनाप्रसिद्धेति भावः ।

पुरुषार्थपर्यवसायिनाविति । स्कन्धद्वयेनोष्मानी सर्गविसर्गो भगवद्गीतात्वात् पुरुषार्थत्वेन पर्य-वसायिनो पर्यवसानवन्तो स्वतःपुरुषार्थरूपावित्यर्थः । अत एव लोके सार्थकावियुक्तम् । अर्थसहि-तत्वे न तु भेदेनार्थसाधकौ । लौकिके तु तावत्तद्विल्लक्षणविति नात्रनिरूपणीयत्वेन सम्पत्ती भग-वद्गीतास्वरूपाभावादिति भावः । तेनेति । प्रत्येकं पुरुषार्थपर्यवसायित्वेनेत्यर्थः । स्वतन्त्रेति । ऊन्यानुपजीवनेन फलसमर्पकत्वादिति भावः । एकैकस्कन्धवाच्यतेति । स्वफलसहितलीलायाः प्रत्येक श्रोभाभगवतावच्यत्वादित्यर्थः । तेनेति । येन हेतुना सर्गविसर्गयोः सजातीयत्वेऽपि भेदेन स्कन्धेन निरूपणं प्रत्येकं फलसाधकत्वात् तैव हेतुना लीलाभाह्वयवाच्यतेत्यर्थः स्वरूपविविस्तर इत्यर्थः ॥ ३ ॥

लीलाकथनमिति । श्रुत्यस्य तद्वचनेन कथनमुचितं सूतस्यैव स्वततोऽप्युक्तत्वात्, स्वार्थ-श्रया लीलाश्रुत्यमश्रवणैव कृतार्थत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

सर्गलक्षणमाह—

तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।

देवस्य तु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः ।

पञ्चधा सा स्वतो द्वेषा बन्धमोक्षविभागतः ॥ ५ ॥

तत्रेति । “ भूतमात्रेन्द्रियविधां जन्म सर्गं उदाहृतः । ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् ”

इति भूले लक्षणम् । तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात् । ब्रह्मण इति सन्देहामावाप । भगवत इति भूतमात्रेन्द्रियविधौ देहकार्या, कार्या अपि भवन्तीति कारणजन्मदा लीलेत्युक्तम् । एवं व्याख्यानस्याध्यान्तरमभिप्रेतम् । रजोभाजोऽपि लीलासृष्टिर्बुध्व्यब्रह्मणोऽपि लीला । कालत्वेन कालस्यापि सृष्टिर्लीला ।

सर्गलक्षणमिति । तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदेवर्षः । अन्वयः,

भगवत्तत्र प्रपञ्चे स्वात्मनि वा बन्धमोक्षान्यां वा लीला सर्गस्तत्रापि रजोभाजो रजोगुणस्वीकर्तु-  
र्विहारार्थत्वात् सृष्टेस्तत्र तदुपयोगित्वेन रजोगुणस्वीकारत्वावश्यकत्वात् सृष्टिश्च नानाविधा विधेया,  
तत्र लोक इव चित्तविधेयः साधनम्, स च रजोगुणकार्य इत्यतस्तत्स्वीकार आवश्यकतत्रापि  
कारणजन्मदा लीला न तु भूतादिमात्रोत्पत्तिदा, कारणानि तु कालजीवतत्त्वानि वर्तन्त इति  
तेषामपि सद्यो सङ्ग्रहः ॥ ४ ॥

ननु तद्वृक्षणं मूलोच्छ्रणं चन्द्रोच्छ्रणं चन्द्रोच्छ्रणमिति तेन विरोध इत्याशङ्क्याहस्तत्र गुणवैषम्य-

मिति । गुणानां सत्त्वादीनां समभावेन वर्तमानानां वैषम्यसम्पादकः क्षीयकतया रजोगुण इति  
मूलस्वरूपवैषम्यपदेन विवृता तदेतद्भूतो रजोगुण एव गृहीत इति न विरोध इत्यर्थः । रजसैवेति ।  
सत्त्वतप्तयोः स्वतः स्विारत्वादिति भावः । तस्यैवेति । सृष्टिर्हि ममसा, तत्र विशिष्टमेव तस्याधकम् ।  
स च रजोगुणकार्य एवेति गुणमेव स एव तथेत्यर्थः । ननु रजोगुणस्यैव सृष्टिकारणत्वेन प्रसिद्ध-  
त्वाद् ब्रह्मणि संशयः स्वात् साङ्ख्यमत पक्षेऽप्यशङ्क्याह मूलं ब्रह्मण इति । शुद्धब्रह्मसन्देहस्य जगत्का-  
रणत्वेनोक्त्यादित्यर्थः । नन्वेवं मूलोच्छ्रणं चन्द्रोच्छ्रणं चन्द्रोच्छ्रणं च कारणत्वमावापि न गृह्यतया  
ब्रह्मणः, तथा सति जगतो नैककारणत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याहः सन्देहामावाचेति । कारणद्वयमेकस्य न  
सम्भवतीति तच्छ्रवणे सन्देहः एवात् कस्य कारणमिति तदभावात् ‘ रजोभाजः ’ इत्यनेन गुण-  
वान् भगवतश्च कारणत्वेनोक्त इति । तदेवात्र सिद्धमवृद्धिं भगवत् इत्यनेनेत्यर्थः । ननु भूतमात्रे-  
न्द्रियविधामिति यथाश्रुतमपहाय सामान्यभाषया कारणजन्मदेति कथने किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याहः  
कार्यां कर्तव्यादित्यर्थः । भूतमात्रेन्द्रियविधामिति विशिष्टकथने सा अस्पष्टादिसङ्ख्यातेऽप्यप्रतीक्यमानाः कार्या  
अपि भवन्तीति विसर्गमन्वयानामत्र निरूपणात् ‘ सर्गः कारणसम्भूतिरिति वाक्यं विकल्पदेते-  
त्यर्थः । तथा च लक्षणमतिव्यापकं भवेदिति भावः । एवं व्याख्यानस्येति । मूलोच्छ्रणं चन्द्रोच्छ्रणं च

ल्लत आदौदेवते ।

जीवोऽपि कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितिः सृष्टिप्रयोजनत्वेन सर्गमध्यपातिनी  
भवति । अगुणवैषम्याद्ब्रह्मणोऽपि जन्मेति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म घटि  
सम्पद्यतीति व्याख्यानम् । अतः प्रकरणानि विभजते देवस्य तु त्रिरूपत्वादिति ।  
गुणातीतसगुणभेदेन कारणानां तत्त्वजीवानां त्रयो भेदास्तेन पञ्चधा पञ्च प्रकरणानि  
भवन्ति । एकप्राधान्येऽप्यस्य विभूतित्वमिति स्थितिः । यथा तत्त्वसृष्टिगुणातीतविभूतिः,

गुणवैषम्यपदेन गुणानां त्रयाणां वैषम्यं येन रजोगुणेनेति रजोगुणस्तेन तद्वान् लभ्यते तथा ‘ भूत-  
मात्रेन्द्रियविधा ’ इत्यनेन कारणसामान्यस्युच्यते इत्येवं व्याख्यानस्येत्यर्थः । अधोन्तरमिति । प्रौ-  
ढितप्रकाशकारणवशंशयसर्गलक्षणस्यापि परिहाररूपस्यार्थस्योक्त्यादिति भावः । तत्रेवार्थं विशदयन्ति  
रजोभाजइति । हिरण्यभरुक्त्वेण जातस्येत्यर्थः । मुक्तयेति । चतुर्बुद्धोत्पत्तिकारणमूलस्येत्यर्थः ।  
कारणत्वेन सद्गृहीतानामुत्पत्तिमाहः कालत्वेनेति । कालो हि निःसोऽलम्बदृश्यपमानो व्याप-  
कतस्य स्वरूपत उप्यस्तिरनुत्पत्तेति कलनात्मकभ्रमेण तस्यापि सृष्टिः । एतेन लीलायै सर्गं कुर्वता  
भगवान् श्लेच्छारूपे क्रियारूपे वा काले कालमनुपादितमिति बोधितम् । कालस्य कारणत्वं प्रक-  
यन्ते मूढपमावाद्बोधयन् । जीवोऽपीति । जीवस्य मोक्षार्थं मूल्यतया सुखत्वात्, तस्य बन्धमोक्ष-  
संगम्योः कारणत्वमित्यर्थः । तस्यापीति । कालवत् जीवत्वेन धर्मेणेत्यर्थः । किं जीवत्वमित्याका-  
ङ्क्षायामाहः स्वरूपस्थितिरिति । अक्षराशब्देन पूर्वं तदभिज्ञस्य स्वरूपेण स्वस्य रूपेण स्थिति-  
रेव जीवत्वम् । तेन धर्मेण तस्यापि सृष्टिरित्यर्थः । ननु स्वरूपस्थितेः कथं सर्गत्वं पूर्वंभेदेऽपि  
जीवत्वेनेव तत्र सत्त्वादित्याशङ्क्याहः सृष्टिप्रयोजनत्वेनेति । स्वरूपस्थितेः प्रयोजनं सृष्टिरेव  
सृष्टपथमेव स्वस्मात् प्रथमकारणात्तः सा सृष्टिमव्यपातिनीति । तन्मध्यमसृष्टिः । तन्मध्यमसृष्टिः मूलतः इति  
न्यायेन स्वरूपस्थितिरपि सृष्टिरेवेत्यर्थः । नन्वत्र सर्गं भगवदवतारात्कुतो तयोर्मोक्षप्राप्त्यन्वेन जीवा-  
दिवत् कारणत्वमावात् कथं सर्गं प्रवेश उचित इत्याशङ्क्याह रजोगुणवैषम्यादिति । मूलेऽत्रारम्भे-  
षेण गुणवैषम्यपदेन रजोगुणमिन्नेकत्वसर्वोद्धारार्थं भगवद्विच्छामात्रेण ब्रह्मणः श्रुतिसिद्धपराकाष्टाप-  
नस्य जन्म प्राकट्यमित्येवप्रकरणे व्याख्यानार्थं व्याख्यानसिद्धयर्थं टीकायामपि ‘ कारणजन्मदे-  
त्यत्र कारणानां सृष्टिद्वयकारणमूतानां जीवानां जन्म पूर्वजन्म घटि खड्गमति एतादृशी  
सर्वोद्धारार्थं स्वावतारप्रकृतिरूपापि लीलापि सर्ग इति सिद्धयर्थमित्येवमत्रास्माभिर्व्याख्यातमित्यर्थः ।  
अत इति । यतः कारणसामान्यजन्मैव सर्ग इति सिद्धमतस्तानि पुनश्चैषमोक्षार्थभेदेन दशविधानीति  
तथा प्रकरणान्यपि विभज्यन्तइत्यर्थः । देवस्य त्विति । तुशब्देनान्येनां सगुणवैषम्यरूपवैभे-  
त्यर्थः । तेनेति । भेदप्रयत्नेन सृष्टिः पञ्चधैत्यः । पञ्चप्रकरणानीति । सर्गसकथे सृष्टेः पञ्चविधत्वात्  
तथा प्रकरणानि भवन्तीत्यर्थः । नन्वत्र पञ्चविधसर्गोलीले नोच्यते मध्ये मध्ये उच्येतामपि सर्गानां  
कथनात् यथा गुणातीतसृष्टिमध्ये तत्त्वसृष्टिरेवमप्युच्येतामप्यशङ्क्याहरेकप्राधान्येऽप्यस्य विभूतित्व-  
मिति । अत्र हि भगवतः पुरुषोत्तमस्य लीला सर्ग उच्यते न तु परम्परासर्गो वः कश्चित्, स च  
भगवत्स्वरूप एव पाच्यो लीलात्वात् सूर्यकिरणवत् । न हि सूर्यकिरणा अदृशोत्पत्ता भवितुमर्हति ।

यथा सगुणसृष्टिर्विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनामृत्पचिः, यथा वा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिर्मैतान्तर-  
भाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्षविभेदेन द्विरूपा, सगुणस्य मोक्ष-

अत एवैतद्वैतशास्त्रेण भगवद्भूषणसिद्धिरेवं सति ' यो लोकत्रयमाविदप विभर्त्यव्यय ' इति वाक्याद् विभृतिरूपधारणमेव पुरुषोत्तमलक्षणमिति तद्वैतशास्त्रेण सूक्ष्मरूपायै स्वविस्ताररूपविभृतिधारणे वक्तव्यमिति यत्र लीलायां सूक्ष्मभवेन निरूपितायामेव तदनुगत एव विस्तारस्तत्र तद्विभृतिरूप-  
मिति सविभृतिरूपलीलानिरूपणमित्यर्थः । विस्तारस्यैव विभृतिर्त्वं ' विभृतेर्विस्तरो मया ' । नास्त्यन्तो विस्तारस्य म ' इति गीतावाक्येनैव विधीयते यत्रैति पञ्चमाध्याये ' भगवानेक आसेदमत्र ' इत्या-  
दिनाऽप्यायसमातिपर्यन्ता गुणातीतात् पुरुषोत्तमात् साक्षात्सृष्टिरूपा, तस्याः षष्ठाध्याये ब्रह्माण्डो-  
त्पत्तिपूर्वकं तदन्तर्गततत्त्वसृष्टिर्विभृतेर्विस्तार इत्यर्थः । पञ्चमषष्ठाध्यायाभ्यामिदं प्रकरणं समाप्तमिति भावः । यथा सगुणसृष्टिरिति । सप्तमाध्याये ३-७-३० " सृष्ट्यामे महादादीनम् " इत्यारम्भाह-

माध्यायान्ते ३-८-३२ ' तद्वैतं तन्नामिसर ' इति वाक्याद्विस्तारमर्षोपतिपर्यन्तं वा सगुणात् स्वीकृतजोगुणाद् भगवतो विसर्गरूपा " तेभ्यो विराजद्वयुक्त्ये " इति वाक्येन । एतस्याः सृष्टिर्विभृ-  
तिमाह ब्रह्मप्रभृतीनामृत्पचिः इति । अर्थात् सा सृष्टिरिषं विभृतिरित्यर्थः । नवमाध्याये ब्रह्मणो द्विरूप्यगमस्य स्तुतिमभिधाप्य दशमाध्याये सप्रमाणैनाध्यायेन ब्रह्माणमाप्त्य देवासुरसर्गवर्णनमेवासुत्प-  
त्तिसर्गरूपसगुणसृष्टिमित्यर्थः । यथा केवलेन्द्रशास्त्राध्याये ३-११-१ " चरमः सद्विशेषाणा-  
" मित्यास्य " इति ते वर्णितः क्षत्त्रिः" इत्यन्तं कालसृष्टिस्तस्या अने द्वैतशास्त्राध्याये " वेदगमोऽय  
पथात्साक्षाद्दिति " इति वाक्यात् काण्डाध्यायेन द्विरूप्यगमस्य दशविधा लीला तामिहादिसनकादिरुद्र-  
मरीत्यादिवाग्मीहारेदेवधर्मच्छन्दोम्ब्याधुत्पादनरूपा विनैव तपः स्वेच्छया मनभेदादिभ्यऽत्पादनलीलाया  
कालसृष्टिर्विभृतिरित्यर्थः । यथा तत्त्वानामिति । साङ्ख्यप्रकरणोक्तानां लीला तत्त्वैर्नानाविधपर्य-  
सर्जनरूपा साङ्ख्यप्रकरणोक्तानाः पूर्वोक्तसगुणसृष्टिर्भेदाया विभृतिरित्यर्थः । साङ्ख्यप्रकरणोक्तेति ।  
विसर्गरूपसगुणसृष्टिर्भेदायमुक्तमित्यर्थः । जीवसृष्टिरिति । जीवसृष्टिस्त सनकाधुत्पात्तवैकोक्त काल-  
सृष्टिविभृतिरूपेण । अथवा प्रयोदेशाध्याये तत्कारणभूतव्यवहारोपर्यव्यवस्थितनिरूपणमेवैकोक्त  
पुनः षष्ठ्याध्यायं मन्त्रावरभाषया निरूपणं तद्विभृतिरूपमित्यर्थः । बन्धमोक्षभेदेन । पञ्चस्यपि  
प्रकरणेऽप्येवमोक्षभेदेन सृष्टिप्रतिपादानादित्यर्थः । तत्र सर्वत्र बन्धः सर्गः स्पष्ट एव । मोक्षसर्गनि-  
रूपणार्थं तत्साधनसाधकत्वं मोक्षसाधकत्वं च निरूपयति सगुणस्येति । विसर्गरूपस्य सगुणस्य  
सर्गस्य भगवतो मोक्षलीलाया इत्यामिने सर्जनरूपया योगः सम्बन्धः भगवता मोक्षार्थं  
स्वेनोत्पादितानामेव मोक्षलीलासम्बन्धात्, अतो मोक्षलीलास्योर्गो मोक्षे प्रथमसाधनत्वाम्बोक्षरूप  
इत्यर्थः । गुणातीतस्येति । गुणतीतसर्गस्य षष्ठाध्यायान्ते ' यतो प्राप्य निवर्तन्ते वाचभे' तिवा-

लीलायोगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यमिति ।  
तस्मादर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति । तदाह बन्धमोक्षविभागन इति ॥ ५ ॥  
तान् भेदान् स्पष्टयति-

गुणातीतात्सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणाऽपरा ॥ ६ ॥

कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः

गुणातीतादिति । तत्त्वानां वक्तव्यत्वेऽपि नामसृष्टेः परिग्रहायै नामेत्युक्तम् ।  
तेषां पूर्ववत्स्वातन्त्र्यं चारयति तत्रापीशेच्छया भव इति न केवलं कालादेः ॥ ६ ॥  
ननु सर्गे भूम्यद्धारस्य कुजोपयोगस्तदाह-

सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धतिः ॥ ७ ॥

सर्वाधारस्वरूपा या इति । भूम्यद्धारः सर्वेष्वृगुपयोगी सर्वेषामाधारभूतः  
सःधारणः । तेन बन्धलीलान्ते निरूपितः । जीवप्रकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह मुक्तोऽपि

कथं ज्ञानं फलत्वेन निरूप्यत इति तस्यापि मोक्षसाधनत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । कालस्य भक्ति-  
रिति । कालसृष्ट्याव्येकादशाध्यायान्ते ' नैवेशितुं प्रमुभूञ्ज ' इत्यादिवाक्यैः, ' तदाह्वस्वर् ब्रह्मे' तिवा-  
क्यप्रतिपादित्वात्स्यैव भगवद्वाङ्मो महात्म्यप्रतिपादान्माहात्म्यज्ञानमवश्यतो भक्तिः, तैव फलत्वेन  
निरूप्यत इति तस्या अपि, मोक्षसाधनत्वात् तदुपत्वमित्यर्थः । तत्त्वानामिति । साङ्ख्यप्रकरणो-  
क्तानां तत्त्वानां त्वन्ते मोक्ष एव प्रतिपाद्यत इति स्पष्टमेव मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । जीवस्य वैराग्य-  
मिति । जीवप्रकरणे षष्ठिमैतान्तरभाषया प्रतिपाद्यते, तत्र शापान्तरं राजसात्सामुभयविधानां  
संनकादिविजयजयप्रभृतीनां पश्चात्तानेन वैराग्यमेव सिद्धमिति तस्यापि मोक्षसाधनत्वान्मोक्षरूपत्व-  
मित्यर्थः । तस्मादिति । यस्मात् पञ्चस्यपि सर्गेऽपि मोक्षलीला योगज्ञानभक्तिमोक्षवैराग्यरूपणामर्थानां  
मोक्षरूपाणां प्रतिपादानात् पञ्चापि प्रकरणान्याध्यायेन दश भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यानिति । दशभेदान् भूले स्पष्टयतीत्यर्थः । नामसृष्टेरिति । अत्र हि भगवद्गीतारूपः  
सर्गः स च उभयविधोऽपीति नामसर्गोऽपि प्रतिपादनीयस्तत्र नामां शब्दात्मकत्वेन तन्मात्रारूपत्वात्  
तत्रेऽप्येव प्रवेशयोगत्वेन तत्सृष्ट्यैव तत्सृष्टिर्ग्रह इति तत्त्वानां स्पष्टत्वेन प्रतीचमानत्वादस्यार्थानां नामा-  
मेव निरूपणार्थं नामेत्युक्तमित्यर्थः । तेषामिति । गुणातीतसगुणसृष्टिसमुत्पादिततत्त्वानामित्यर्थः ।  
पूर्ववदिति । पूर्ववत् तत्कारणभूतब्रह्मस्वरूपवदित्यर्थः । अतस्तारादितु स्वयैवेशित्वेन पारतन्त्र्याभावादिति  
भावः । न केवलमिति । कालादेरेव न किन्तु गुणातीतसगुणसृष्टिस्थानामादीक्यः ॥ ६ ॥

ननु सर्गे इति । द्वैतशास्त्राध्याये प्रतिपादिते बन्धसर्गं इत्यर्थः । भूम्यद्धारस्य मोक्षसर्गोपयोगि-  
त्वाभावादिति भावः । सर्वसृष्टीति । भूम्येव देहादिनिर्माणत्वं सर्वसृष्ट्युपयोगित्वं भूमावस्वत्पानात्  
सर्गोधारत्वमित्यर्थः । तेनेति । बन्धलीलोपयोगित्वेनेत्यर्थः । जीवप्रकरणमिति । बन्धलीलाभाग इत्यर्थः ।  
मोक्षोत्पत्तयेऽपि जीवसृष्ट्येवोत्पत्तयेण एव कथनीयतादिति भावः । मुक्तोपीति । तत्र प्रकरणे मुक्तानामपि

मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता ॥ ७३ ॥

जायत इति । मुक्तिर्गौणीति केचित् । वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ता एव पूर्वसिद्धज्ञाना एवोत्पन्ना अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात् । तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानामी-  
श्वरेच्छया सम्भवः । अतः शापकथा । एकः कर्ता अपरो विषय इति ॥ ७३ ॥

उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥ ८ ॥

मत्तान्तरेण हि फलं राजसत्वाभिरूप्यते ।

एवं जीवोत्पत्त्यानुपपत्तिरेवोक्ता, न त्वयं प्रकारो भगवताभिमतरस्तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं साहस्यप्रकरणम् । मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुमाह राजसत्त्वादिति ॥ ८ ॥

बन्धनिरूपणाद् बन्धप्रकरण एव तन्निरूपणमिति भावः । मुक्तिर्गौणीति । केचित् मुक्तिं सनकादीनां जयविजयबोधं सगुणां वदन्ति परममुक्तानां पुनर्जन्मकथने श्रुतिविरोधः स्यादिति भावः । वस्तुतस्त्विति । सनकादयोः परममुक्ता एवान्पन्ना नारायणो विवेचामपि ज्ञानोपदेशः स्यात् । बुकबन्ध जन्मान्तरोप्यज्ञानत्वभावाच्च सिद्धज्ञानानामेवोत्पत्त्या तद्वत्सम्बन्धाभावात् मुक्ता एवेत्यर्थः । एतेन ज्ञानमार्गीया मुक्तिरेतेषुक्ता प्रह्लादावतारेण भक्तिं दत्त्वा तन्मार्गीयां मुक्तिं दातुं पुनर्जन्मकरणमिति भावः । तथा वैकुण्ठेति । सनकादिब्रह्मज्ञानामावेऽपि जयविजययोः सेवार्थं भगवद्वोकस्त्वित्या 'मुक्तोपसृप्यपदेशा'दिति न्यायेन मुक्तत्वमेत्यर्थः । एतयोरेपि राजसयोः सगुणत्वे जाते गुणातीत-  
मुक्तिदानाय पुनर्जन्मेति बोध्यम् । ननु मुक्तानां जन्मकथनं 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिविरोध इत्याशङ्क्याहः ईशेच्छयेति । 'यः सर्वज्ञ स सर्वशक्तिरित्यादिश्रुत्या भगवतः सर्वसमर्थत्वेन प्रतिपादनादन्वयाकर्तुं सामर्थ्यमपि श्रुतिप्रतिपादितमिति मर्यादाऽनाश्रित्येव प्रमेयबलेन प्रुष्टया मुक्तानां विशेषानुग्रहेण सेवार्थमाश्रितिरिति न विरोध इत्यर्थः । अत इति । अत उत्यादने भगवदिच्छात एव शापसम्बन्धिनी ज्ञानिनां भक्तयोश्च कथ्येत्यर्थः । अन्वया मुक्तानां शापदातृत्वं रजोगुणसम्बन्धा-  
दनबोधं तथाभूतयोर्वैकुण्ठदाःस्योत्पातद्विषयत्वं न स्यादिति भावः । उन्मेषां शापाम्भवेन कथं कथा-  
वास्तसम्बन्धित्वमित्याशङ्क्य सम्बन्धं विवेचयन्ति एक इत्यादिना ॥ ७३ ॥

एवं जीवोत्पत्त्याविति । एवमेतेन प्रकारेण रजोगुणविभिन्नं ज्ञानं भक्तिं च सगुणां विषय जीवार्थं स्वयमवतरन् विशेषानुग्रहात् मुक्तानपि जीवानुपादयतीति तथा भगवदिच्छारूपोपपत्तिरेव तदुपपत्त्यात्वेति जीवप्रकरणमुपपत्तिप्रकरणमित्यर्थः । न त्वयमिति । कथं मुक्तानामुत्पत्तिरित्यत्र मुक्ति-  
रेवेच्छारूपता मत्तान्तरमावयोक्ता न तु श्रीभागवतस्य समाधिभाष्यकारस्याभिमतोऽयं प्रकारो मुक्तोपपत्तौ किन्तु स्वावतारबलीकार्यं तदुपपत्तानां मुक्तानां स्वभ्यादीनां भगवदिच्छया भागवता सह जन्म न तु शापादिनेत्यर्थः । एतेन प्रकारेणस्यास्य ज्ञानिभिर्भक्तानां शापनिरूपणेन भक्तेरनुकर्ष-  
प्रतिपादनवत् न समाधिभाष्यमिति ब्रह्मम् । तेषामिति । ज्ञानित्वेनास्यारथ्यकृतेकुण्डलिद्वारवर्तिवत्तेन साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाभावात् सगुणत्वाच्च मत्तान्तरायाणां जीवानामित्यर्थः । प्रक्रियान्तरमिति । प्रकारान्तरमित्यर्थः । कः प्रकार इत्याकांश्यायामाहः साहस्यप्रकरणमिति । मारणादिना सच्चातत

तथा सति फलवैषम्यमाशङ्क्याह-

फले हि नास्ति वैषम्यमितीशास्योद्भवामिधा ॥ ९ ॥

उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।

क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ॥ १० ॥

फले हि नास्तीति । यत् ईश एवोद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति । अतोऽस्यां जीवामवतारद्वयम्, क्रियावतारो वराहो, ज्ञानावतारः कपिल इति । ननु छटी किमर्थमवतारस्तत्राह कर्माधीनाऽन्यथाऽभवेदिति ॥ १० ॥

नन्वपूर्वं निरूप्यते यन्मुक्तानां पुनरुत्पत्तिरिति तत्राह-

मुक्तोऽपि यदि नोत्पत्तिरुत्पत्ते मुक्तिरेव वा ।

तदा कृष्णेच्छया मृष्टिरित्यर्थो हि विरूप्यते ॥ ११ ॥

मुक्तेपीति । तदा ईश्वरत्वं व्याहृतं भवेति-त्यर्थः ॥ ११ ॥

छटिः सफलेति स्पष्टयति-

श्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं मृष्टिकृद्भिरः ।

प्राक्करणेनैवैतेषां स्वप्नापणं न तु जीवास्थमक्तनामिव सशरीरानामेव स्वप्नप्रापणमिति भावः । ननु तेषुपि प्रमासीश्वरकथा तथात्वं प्रतीयत इति चेत्, न; तस्या व्यामोहबलीत्वात्वेन तदर्थमेव तथा प्रद-  
सीमात् । अत एव 'नशरं गुह्यमाणं च विद्धि मामामनोमय'मिति प्रमुवाक्यम् । अन्यथा 'ब्रजपु-  
रविजानां धनैर्यु कामदेव'मिति वाक्यं विकृदपेतेति भावः । नन्वेतेषामपि सर्गबलीमप्यपत्तिव्यात् कथं जीवास्थप्रकरणे फलप्रापणमित्यर्थः । ननु शरीरपार्थक्यप्रकरणरूपसाङ्ख्यप्रकारेणेत्याशङ्क्य राज-  
सत्वेन सगुणत्वात् तादृशशरीरवत्त्वेन तथा फलसम्बन्धायोग्यत्वादात्मर्गहोगोपिकावच्छरीरनिवर्तन-  
प्रकरणे फलप्रापणमित्यर्थः ॥ ८ ॥

फले वैषम्यमिति । भगवत्प्राप्तिरूपे फले सगुणदेहत्वेन जघन्याविकारित्वाद् वैषम्याशङ्क-  
कति भावः । यत् ईश एवेति । आविर्भूय फलदाने इच्छेत् प्रयोजिका न स्वधिकार इत्यर्थः । तत्रापिपि  
सगुणदेहवत्सपीत्यर्थः । अत इति । अनोऽवतारं विना क्रोधवतां दैवानां श्रीशरीरस्य देववृत्तिजीवस्य  
च सगुणदेहात् न मुक्त्युत्पत्तिसम्भोऽतोऽत्र क्रियाज्ञानान्ध्यामवतारद्वं वराहकपिलकर्ममित्यर्थः ।  
त्रियावतार इति । व्यामोहकादिति भावः । ज्ञानावतार इति । फलमज्ञानस्यैव देववृत्तिरूपया तद-  
पेण प्रकट्यादिति भावः । ननु छट्याविति । बन्धमोक्षभेदेनोभयविषयस्यमित्यर्थः । किमर्थमिति ।  
अनवतीर्णानुभयविषयकृतेभगवति सम्बन्धादित्यर्थः । कर्माधीनेति । यदि भगवता नाभिर्वेत् तदा  
प्रमेयकञ्चन फलदानाभावादितरुच्छिवदियमपि कर्माधीना फले भवेत्, तथा च सगुणदेहानां  
विपरीतसाधनवतां न मुख्यफलं सेतव्यतीति भावः ॥ १० ॥

अपूर्वमिति । श्रुतावश्रुतत्वादिति भावः । ईश्वरत्वमिति । उच्चतया स्थितानां लेच्छया हीन-  
भाक्करणे तथा स्थितानामुच्चतासम्पदान एवैश्वरत्वमन्यथा तद् व्याहृतं भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

छटिः सफलेति । इयं मोक्षसृष्टिः फलरूपप्राप्त्यभेदेत्यर्थोर्गोनां कुर्वतोऽहं मोक्षसिद्धेर्गोनात्स-

ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति ॥ १२ ॥

तस्मात्सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात् ।

स्त्रीसुंसेति । किमत्र स्कन्धार्थे फलितमित्याशङ्क्याह ऐहिकामुष्मिकफल-  
मिति ॥ ११३ ॥

ननु साहस्यप्रकरणे तदनुसारिणी सृष्टिः कथं नोक्ता, तथाह-

साहस्येन मुक्तिकथनात्सृष्टिः समान्यतोदिता ॥ १३ ॥

तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात्रिधा ।

गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद्गोणत्वान्न विरुध्यते ॥ १४ ॥

साहस्येनेति । सामान्यतो मता या काश्चिद्वक्तव्येत्युक्ता । उच्येनेति  
सन्धिरापैल्यापकः । अत एव गौणी तद्विरोधार्थं निरूपिता ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्य युक्तौ साधनं नोक्तमिति चेत्त्राह-

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता ।

उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात् ॥ १५ ॥

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वादिति । उपदेशेन स्त्रीसृष्टिः ॥ १५ ॥

फलसहितैः । किमत्रेति । मोक्षस्य भोगसाहित्यनिरूपणेन स्कन्धार्थे सर्गलौलारूपे किं फलितं  
फलतः किं निरूपितं जातमित्यर्थः । ऐहिकेति । यो मोक्ष ऐहिकामुष्मिकफलरूपे भोगप्रकरणे  
परमानन्दानुभवरूपस्तं भगवानिव स्वयं प्रीतः प्रयच्छतीति तदमीसुभिर्भगवान् भजनीय इति सर्गे  
पर्ववसानतो भक्तिरेव फलितैः ॥ १२३ ॥

तदनुसारिणीति । तत्रमात्रसृष्टिः साहस्योक्तैवात्र तदप्रकरणे वाच्येति कथं पञ्चकल्पप्रकरणे

सृष्टिनिरूपणमित्यर्थः । सामान्यत इति । साहस्यप्रकरणेन मोक्षसर्ग एव निरूप्यते स बन्धस्योऽतस्त्र  
तथा तापपर्याभावाद् या काश्चित् वक्तव्येति पञ्चकल्पप्रकारिकैः कल्पैः । सन्धिरापैल्यापक इति ।  
सामान्योदितपदबोलाकादिसकः सन्धिरचर्च सर्गः आर्ष इति ख्यापकः आर्षं क्लेशैर्भयः कर्म वा तस्य  
ख्यापक इत्यर्थः । एतेन पयोचितेन 'श्रद्धामात्रं न क्वातीति वाक्याद्यपिणा प्रहणा कृता सृष्टि-  
स्त्रीकान्न न साक्षाद् भगवत्कृता सोक्तैः । ननु मुह्यसृष्टिमपहाय गौणसृष्टिकथने किं प्रयोजनमित्या-  
शङ्क्याद्भूत एवेति । यतः प्रकरणमिदं साहस्यस्य तत्र गौणं तन्मतस्य गुणसृष्टिनिरूपकत्वात्  
तेन सहाविरोधार्थमत्र मुह्यसृष्टिमपहाय गौणी सृष्टिनिरूपकत्व इत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु कर्दमस्येति । बन्धप्रकरणेऽपि बन्धप्रकरणे दैवानां निःसाधनमुक्तिः प्रतिपादितेति, मोक्ष-  
प्रकरणे ससाधना सा प्रतिपादनीयेति देवहूताद्युपदेशसाधनसत्त्वात् कर्दमस्य कथं तत्रोक्तमित्यर्थः ।  
ज्ञानस्येति । पूर्वमेव कृत्युगे 'तावत् प्रत्येको भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे । दर्शयामास तं क्वः  
शान्दं ब्रह्म दधत्पुंसि वाक्साद् भगवत्प्रदत्तं ज्ञानस्य मोक्षसाधनसाक्षात्कारात्मकज्ञानस्य  
सिद्धत्वादिदानो देवहूतसिद्धसाधनमित्यर्थः । उपदेशेनेति । साक्षादवतीर्णकृत्प्रोपदेशसाधनार्थेन,

चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।

अधिकारस्तथा सृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा ॥ १६ ॥

तेन क्रमात्प्रकरणचतुष्टयं भवति । दश प्रकरणानि पूर्वं निरूपितानि ।  
स्थूलानि गणयति अधिकार इति ॥ १६ ॥

पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।

चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः ॥ १७ ॥

अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ॥ १७३ ॥

पञ्चधा सृष्टिः पूर्वमेवोक्ता । चतुर्णामेव दशधात्वमिति । तत्र सृष्टिः पञ्चविधा,  
उपपत्तिर्द्विधा । त्रिधा मुक्तिः । एवं त्रयाणां दश भेदाः । अधिकारस्तु ततो  
भिन्नः, तस्य स्कन्धद्वयोपयोगात्, स्कन्धद्वयमेकं प्रकरणवत्; तेन पृथग्व्यायाः  
सर्गविसर्गयोः । अधिकारे चतुष्टयमिति । भगवतः कला निरूपिता भवन्ति ॥ १७३ ॥

न ज्ञानादिनेत्यर्थः । ज्ञानयोगभक्त्यादिकथनं तु देवहूतेस्तेन मार्गेण मुक्तिः, 'पुष्टिमार्गप्रकरणेन तन्मुक्तः  
' किञ्चित्कार बदने पुत्रविलेखकत्वर'मिति वाक्यात् । अत एव सर्गनिर्गमे पूर्वमुक्तं 'राजवत्  
बुधचित्तं कृष्ण' इति ॥ १५ ॥

प्रकरणचतुष्टयमिति । अधिकारसृष्ट्युपपत्तिमुक्तिभेदेनेत्यर्थः । स्थूलानि गणयतीति ।  
सौक्ष्म्ये सृष्टिप्रकरणान्वेयार्थभेदेन दशविधान्युक्तानीति सङ्ख्यासिद्धेर्न गणना, यतः स्थूलानि  
चतुर्विधानि गणयतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

पूर्वमेवेति । 'गुणातीतात् सृष्टि' रित्यादिनेत्यर्थः । प्रकरणसङ्ख्याविध्याभावाच्च चतुर्णामेवार्थ-  
भेदेर्दशविधात्वमिदं चतुर्णामेवेति । अधिकारादिचतुर्णामेवार्थभेदेर्दशधात्वमित्यर्थः । नन्वधिकार-  
मिश्रणेन सृष्ट्युपपत्तिमुक्त्यावर्धभेदगणन एकादशधात्वमायातीत्याशङ्क्याद्दशधिकारस्ततो भिन्न  
इति । सृष्ट्यादिप्रकरणेभ्यो भिन्नः सर्गविसर्गोऽन्त्यागान् विदुराधिकारस्य सर्वे मात्रे प्रवेष्टो येन  
तत्प्रकरणसङ्ख्या वर्धयत्यतो भिन्न एव प्रकरणेभ्यो वाच्य इति भावः । ननु तृतीयस्कन्धोक्तस्याधि-  
कारस्य कथं चतुर्थस्कन्धोपसत्प्रविसर्गलीलाङ्गवं स्मृत्पभेदाद्युपपत्त इत्याशङ्क्याहः स्कन्धद्वयमेक  
मिति । प्रकाशेदेन कल्पभेदेन चोभाभ्यां सृष्टेरैव प्रतिपादानादित्यर्थः । नन्वेवं स्कन्धभेदोऽनुपपन्न  
एकार्थप्रतिपादात्कादादिति चेत् तत्राहः प्रकरणवदिति । यथा प्रकरणानामेकत्वैवार्थस्य प्रकारभेदेन  
प्रतिपादानेकार्थप्रतिपादानेऽपि भेदस्तथा स्कन्धभेदोपपत्त्यर्थः । तेनेति । अधिकारस्य मिश्रणप्रतिपादाने-  
नेत्यर्थः । सर्गविसर्गोऽपि । तावन्निरैव तद्गुणप्रतिपादानादिति भावः । अधिकार इति । उच्य-  
विधौलाश्रवणधिकारविषये अच्यवचतुष्टयमित्यर्थः । स्कन्धद्वयाध्यायसङ्ख्यासूचितवर्ग्याङ्गभू-  
वत् इति । तथा च कलाज्ञानेन विदुरस्य तद्गुरा भगवद्ज्ञानाद्भूदये सर्वदा भगवत्प्रकाशाः  
सर्वसन्नेहनिदृष्टिश्च भविष्यतीति बोधितम् ॥ १७३ ॥

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारेऽप्यायचतुष्टयमिति तत्र प्रथमाध्याये  
यादृशोऽधिकारः सम्भवत् प्रतिपादयितुमाह—

प्रतिबन्धो गृह्यासक्तिः शुद्धिस्तीर्थघटनं मता ॥ १८ ॥

बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽप्यन्तरी मता ।

कृष्णप्रसादयुक्तश्रेयदधिकारी परः स्मृतः ॥ १९ ॥

प्रतिबन्ध इति । प्रतिबन्धनिवृत्तिः शुद्धिस्तीर्थघटनमिति । भगवदीयत्वेऽपि  
त्रयो गुणा अधिकाः तेन पूर्वस्मादिच्छिष्टो यं प्रथमः । तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेत-  
तोऽप्युत्तमो भवति । तत्राऽप्यान्तरश्रेयद्रवणुणो भवति तदा तृतीयः । भगवत्कृपायां  
चतुर्थं इति । भगवदीयत्वेऽपि चतुष्टयं चैत्परमोऽधिकारी भवति । बाह्या शुद्धिर्दिधा,

प्रकरणार्थमिति । दशविधप्रकरणार्थमिष्यर्थः । अधिकार इति । अधिकारप्रकरण इष्यर्थः ।

तत्रेति । तस्मिन् प्रकरण इष्यर्थः । यादृशोऽधिकार इति । अधिकारे प्रकरणचतुष्टयं द्विविधबाह्यशुद्धिकं  
कथाश्रवणभगवत्कृपाकूपमस्तीति तन्मध्ये यादृक्प्रकारकः प्रथमाध्याये सम्प्रश्नः स प्रतिपाद्यत इष्यर्थः ।  
प्रतिबन्धनिवृत्तिरिति । मूले 'प्रतिबन्ध'पदेन तन्निवृत्तिरुच्यते अधिकारनिरूपणे तन्निरूपणादत एव  
'गृह्यासक्ति'मिति तद्विशेषणं, तस्या मोक्षफलकारणं सर्वथा निर्वर्तनीयत्वात् । न हि गृह्यासक्त  
पारमार्थिकफलार्थं यतन्ते प्रयुताभ्यान् वारयन्ति, भगवच्छ्लाश्रवणं तु त्वत्कृगृहासक्तानामेव सम्भव-  
तीति तथेति भावः । शुद्धिस्तीर्थघटनमिति । गुणाधिका नाह्य शुद्धिरित्यर्थः । अन्यथा प्रतिबन्ध-  
निवृत्तेरिति निवृत्तिरूपशुद्धिचेंन तयोर्किञ्चिद् स्यादिति । भगवदीयत्वेऽपीति । यद्यपि विदुरपरीक्षितो भगो-  
वदर्थसर्वभरित्व्यागाद् भगवदीयत्वव्यतिशिष्टं यद्यपि विदुरे तीर्थोत्सवगृहणान्तरत्वभगवत्कृपाकूपगुण-  
श्रयणमस्तीति तेन गुणत्रयाधिक्येन हेतुना श्रवणदशाद्यवयव प्रथमोऽप्यन्तरश्रवणः पूर्वस्मात् परीक्षितो  
विशिष्ट इष्यर्थः । परीक्षिति तु न तीर्थघटनं नापि श्रवणात् पूर्वमेवोद्भवदवगतगुणस्य विदुरस्येव हृदि  
गुणस्थितिनोपि विदुर इव निरुपाधिका कृपा, किन्तु तन्मातृकृपाया तदुद्धार्यं प्रवृत्तस्य जगति  
भागवत्प्रकाशार्थं च सेति न विदुरसमत्वमिति भावः । तस्येति । भगवत्सर्वसर्व्यागकर्तृभगवदीयत्वे-  
त्यर्थः । ततोऽपीति । अश्रुतभगवत्परिताद भाववदीयादित्यर्थः । एतेन विदुरे भगवदीयत्वं भागवत्-  
श्रवणापूर्वमेव भगवत्कथाश्रवणमस्तीति द्वितीयोऽधिकारीत्यर्थः । तत्रापि । कथाश्रवणोऽपि, यदि ते  
गुणा द्वयेव चसन्ति तदा ततोऽप्युत्तमस्तुतीय इष्यर्थः । 'गुण' इत्येकवचनं तु उद्भवोक्तानां गुणानां  
सर्वानां कुलाश्रमोत्तराधैलेकैकरूपवाचगमार्थैः । भगवत्कृपायामिति । यदने कथनायातिगृह्य-  
भागवतार्थो भगवता मैत्रेयस्यापि उद्भाव्य रूपित इति विदुरे परीक्षितोऽप्याधिका कृपेत्यर्थः । नन्वेवं  
परीक्षितं समाधौ व्यासायापि साक्षात्प्रीत्यागतं भगवता प्रोक्तमिति तस्मिन्नपि तथापिधा सेति  
विदुरे किमाधिक्यमेतदंश इति चेन्न, मैत्रेयो हि नोद्भवश्रावणीयश्रवणाधिकारा प्रुष्टिगार्गवत्वा-  
भावात् । तादृशोऽपि श्रावित इति विदुरकृपायाधिकारायधिकाररूपैरपि भगवतो गतिमि तस्मिन्नेव  
महती कृपेत्यर्थः । भगवदीयत्वेऽपीति । गृह्यस्थितिपक्षेण भगवत्सम्बन्धोऽपीत्यर्थः । चतुष्टयमिति ।

दोषनिवृत्तिरुपा गुणाधायिका च । तत्र प्रथमाध्यायार्थः, गृह्यासक्तिरेव प्रतिबन्धः ।  
अतस्त्विति चिद्विषयैकत्वेति शेषः ॥ १९ ॥

ननु क्षत्रियाद् भगवदीयाच्छुद्धः कथमधिकारी ततोऽप्युत्तमो वा कथं तत्राह—

शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद्वाजिन्यताऽस्य हि ।

तावत्क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता ॥ २० ॥

अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तं तु जीवनम् ।

शतं वर्षाणीति । "शापादशतं यमः" इति वाक्यात् । शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम् ।  
अन्यथा ब्रह्मजीवस्य मुख्यशूद्रत्वं नोपपद्येत, राजत्वायै प्रार्थितत्वात् । क्षत्रियत्वमेव  
पश्चात् । अत एव मन्त्राद्वाहानम् । तस्या शूद्रत्वे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णसभोज्यतेति ।

प्रतिकथनिवृत्त्या चतुष्टयेत्यर्थः । परम इति । सर्वोत्तम इष्यर्थः । एतेन परीक्षिति प्रतिबन्धनिवृत्तिरुपा-  
मेवास्ति नामिदगुणत्रयमस्तीति न तथावमिति बोधितम् । दोषनिवृत्तिरुपेति । शुद्धेः संस्काररूपत्वेन  
तस्य च दोषनिवृत्तिरुपात्वात् तथावमित्यर्थः । अत एवासंस्कृता अशुद्धी इत्युच्यते । पुण्यशुद्धिपक्षे  
गुणाधायिकां तामभिप्रेय यथा 'मन्त्रहृतं जलं पिबे'दित्यादी । तत्रेति । उभयोर्भाषा शुद्धयो रित्यर्थः ।  
प्रथमेति । प्रतिबन्धनिवृत्तिरुपेत्यर्थः । ननु प्रतिबन्धान्तरमत्र कुतो ततोभित्याशङ्क्याद्गृह्यासक्ति-  
रेवेति । सर्वप्रतिकथमूलत्वादिति भावः । अत एव एवकारः तदभावे सर्वेणाप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः ।  
शेष इति । मूलस्य शेषप्रप्तोऽपिमिष्यर्थः ॥ १९ ॥

विदुराधिकारमाक्षिपति ननु क्षत्रियादित्यादिना । क्षत्रियादनुर्जनपीत्रत्वेन भगवत्सम्-  
न्धात् शूद्रोऽपि आतिहीनकुलाश्रमव्यध कथमधिकारीत्यर्थः । ततोऽप्युत्तमो वेति कदाचिद् भगवद्भक्तो  
कुलसम्बन्धे न प्रयोजक इति भावेन तदीयत्वाद् भवेदधिकारितामात्रं उत्तमत्वं जातिर्हास्यस्य कथं  
सम्भवतीत्यर्थः । शतवर्षपर्यन्तमिति । श्रीभागवतश्रवणवसरे शापप्रयुक्तशूद्रत्वस्य निवृत्तत्वादिति  
भावः । अन्यत्वेति । व्यासाद् महाविषेन परशरोत्पन्नत्वेन च ब्राह्मणादुत्पन्नत्वात् शूद्राच्छूद्रां सत्पुत्र  
श्वेतेविधं मूलशूद्रत्वं ब्रह्मजीवस्य नोपपद्येतीति भावः । कदाचित् क्षत्रियत्वं सम्भाव्येत्यत्र हेतुतामाह  
राजत्वायैमिति । व्यासार्थस्य राजत्वायै तन्मात्रा प्रार्थितत्वात् क्षत्रियत्वं सम्भाव्येत्यर्थः ।  
क्षत्रियत्वमेवेति । व्यासस्य राजभावेन राजगुणोत्तरणं प्रवृत्तत्वेन तत् उत्पन्नस्य पक्षाच्छापप्रयुक्त-  
शूद्रत्वनिवृत्त्यनन्तरं क्षत्रियत्वमेवेत्यर्थः । अत एवेति । क्षत्रियत्वाभावे मन्त्रे यद्यपिवाहादावेतस्याहानं  
न स्यादिति भावः । हेत्वन्तरमपीति । यद्यप्यं शूद्रः स्यात् तदा कृष्णः साम्प्रतं क्षत्रकुलावतस्तस्मिन्  
सह भोजनं न कुर्वीत, अतो न शूद्र इत्यर्थः । नन्वेवं शूद्रशूद्रे सेवानी भगवतो गोजनगुणपुत्र-  
भिरिति चेत्, न; सभोज्यता समभावेन भोजनमेव निषिद्धं न वैषम्यभावेन तदन्वलीकारः । अन्यथा  
'यो मे भक्त्या प्रवच्छती'ति सामान्यवचनमयुक्तं स्यात् । अत एव गोवर्धने गोचारणलीलायां पुलि-  
न्द्रीसमर्पितसकल्पदाप्येकीकारः । भक्त्या प्रयच्छतीति भगवद्ग्रहणे भक्तेरेव प्रयोक्तव्यं न वणीदि-  
धर्मोणामिति बोध्यम् । विदुरशूद्रे पूर्वभोजनं तु क्षत्रियापठत्वादिवैयनस्याभावेनावतारधर्मस्यापनार्थ-

अतः क्षत्रियात्वात्क्षयाऽधिकारः ब्रह्मबीजत्वं चाऽधिकप्रयोजनम् । ननु स शत-  
वर्षाण्येव जीवतीत्यभिप्रायेण कथं न शाप इत्याभिप्रायेणाह यथायुक्तमिति । जीवन्  
तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते । स हि धृतराष्ट्रसमानो दुर्योधनसमानो भीमः ।  
ततोऽपि कनिष्ठोऽनुनः । तत्समानः कृष्णः । तत्र च "पञ्चविंशतिभक्षतम्" इति  
वाक्यम् । अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति ॥ २०३ ॥ \*

एवं चतुर्णामर्थयुक्तत्वा प्रथमाध्यापार्थमाह-

अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ॥ २१ ॥

क्षत्वा सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्रितयत्कृद्धरः ।

सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा ॥ २२ ॥

अपमानाद्धि निर्विण्ण इति । स्वतो निर्विण्णः कदाचिदागच्छेदपि । अतो  
हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः, स चेत्त्रिविण्णोऽन्यत्र तिष्ठेत्पुनरासक्तिर्भवेत् । अतस्तीर्थ-

मिति दिक् । नन्वेवं क्षत्रियत्वेनैवोत्तमवसिद्धौ ब्रह्मबीजत्वं विदुरे व्यर्थमित्याशङ्क्याह ब्रह्मबीजत्वाभिति ।  
ब्रह्मबीजत्वमधिकश्रुतराष्ट्रायोपदेशदानरूपं प्रयोजनं यस्य तादृशमित्यर्थः । क्षत्रिस्त्वोपदिष्टत्वाभावा-  
दिति भावः । ननु स इति । 'शतायुर्वै पुरुष' इति श्रुतेर्जीवनं शतवर्षाण्येव भवतीति शतवर्षेण्यन्तं  
शापदानं यावज्जीवाभिप्रायेणेति यावज्जीवं श्राव्यत, कथं पश्चात् क्षत्रियत्वमित्याशङ्क्यर्थः । यथायुक्तं  
त्विति । विदुरस्य जीवनं न श्रुतिसिद्धं किन्तु यथायुक्तं यथा यथावत् युक्तिसिद्धं भगवद्गीतार्थं  
तदुपयोगि भक्त्येवनावतीर्णत्वाद् यावद्गीतादर्शनं तस्मितिरिति न तस्य जीवने श्रुतिसिद्धत्वस्य,  
पुष्ट्या तद्भावात् । अन्येषां तु मर्षादां रूपा सेत्यर्थः । बहुकालमिति । श्रुतिसिद्धजीवनकालाधिक्यात्-  
मित्यर्थः । युक्तिमेवाहः स इति । व्यासस्मैकस्मिन्नेव द्विने धृतराष्ट्रादिनामुपनिषत्सु राजार्थक-  
प्ररोत्पत्यर्थं प्रवृत्तत्वादिति भावः । दुर्योधनसमान इति । 'गदायुद्धे तुल्यवयोवत्' इति वाक्यादित्यर्थः ।  
तत्समान इति । वयसा तथात्वादिति भावः । तत्र चेति । कृष्ण इत्यर्थः । वाञ्छामिति । वाञ्छयत्वा-  
देवमुच्यते । वस्तुतस्तु 'जयति जननिवासा' इत्यादिवाक्ये । स सर्वदैव सर्वलोकादिनिष्ठः सर्वोत्कर्षेण  
वर्तेत इति शेषम् । अतु इति । यतः सपादाशतवर्षेण्यन्तं भगवद्दार्ढ्येन ततः पूर्वं तस्मिन्समवात  
पञ्चविंशति वर्षाणि पुत्रोत्पादनक्षमताहेतुभूतान्यधिकानि भविष्यन्तीति सार्द्धं शतं तस्य जीवन-  
मित्यर्थः । बाह्यद्रोऽन्वारे । कदाचित् पञ्चविंशतित्वस्यैवः पुरेव पुत्रोत्पात्तिसम्भवादिति भावः ॥ २०३ ॥

चेतुर्णामिति । मिलितानां तेषां समुदायेनार्थयुक्तत्वेत्यर्थः । अध्यापार्थमिति । प्रत्येकमाह्वयः ।  
कदाचिदिति । यदा शुद्धिनिशेधोदयेन द्वायुक्त्यतिरिक्तैः । अतु इति । यतः अहेतुपूर्वकमिति पुनरा-  
गमनसम्भावनेत्यर्थः । हेतुपूर्वक इति । निर्वेदस्य किञ्चित् कारणं कल्पनीयमित्यर्थः । नन्वेवं हेतु-  
पूर्वकनिर्वेदे विदुरस्य धृतराष्ट्रोपदेशाय कथं पुनरागमनमिति चेत्, न; हतोद्दुर्योधनस्य निजुत्तलेन तस्य  
च पाण्डवगृहे सरथेन च भगवदीयगृहत्वात् तदागमनमिति जानीमः । साधनीय इति । कथाम्ये  
तिरस्युत्पत्त्या वचनादिकं वक्तव्यमित्यर्थः । स चेदिति । हेतुपूर्वकेनापि निर्वेदेन निर्विण्ण इत्यर्थः ।  
अन्यत्रेति । यदर्थं निर्वेदस्तदसम्भविदेश इत्यर्थः । पुनरासक्तिरिति । भगवदीयत्वे सत्यपि पूर्वोक्त-

\* १ कारिकासकचतुर्षे स्तवकः ।

सर्वैव कर्तव्या । तत्रापि तीर्थे देवताबुद्धिस्तदैव सेवा भवति । तत्रापि कामनाभावाय  
विशुद्ध इति । क्षत्तेति । पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा । सत्सङ्ग उद्धवसङ्गः, तैवैव प्रीतः,  
न तु प्रशार्थम् । तत्र प्रश्रयणं कृतवान् । भगवतः कुशलप्रश्नः सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण  
भगवतः सामान्यप्रश्नश्रितप्रश्नश्चेति । तदाह सामान्येनेति ॥ २२ ॥

उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात्प्रकारमाह-

पुणत्रयासिद्धया मुह्यथाधिकारसिद्धेरित्यर्थः । अत इति । यतस्तीर्थसेवयेव गृह्णासक्तिनिवृत्तिलेधा-  
नतःकारणशोचकत्वादित्यर्थः । मूले 'तीर्थसेवये'ति भिन्नं परं न भिद्युद्धौ कारणबोधकतत्त्वतीर्थसे-  
वया युक्तं भवेदित्यर्थः । अन्यथा कामनाभावरूपविशिष्टशुद्धेस्तीर्थार्थात्ताण्णत्वात् कारणानुपपत्तिः,  
तीर्थानां नानाविधफलजनकताबोधकपुराणवाक्यैः कामनाजनकत्वात् । अत एव महाभारते 'यथा-  
स्तीर्थानि चे'ति वाक्येन यज्ञानां तीर्थानां च समोक्तः । एवकारेण न तत्रान्यतः प्रतिप्रहादिकं  
करोत्यमिति बोधितम् । तत्रापि । तीर्थसेवयामपि तीर्थे देवताबुद्धिर्न जल्युद्धिः कार्या । अन्यथा  
माहात्म्यज्ञानेनानुक्याकृतः सेवेति देवतानुब्रज्यमाये तदभावात् सा न सम्भवेदतः सेवोक्तवैतत्  
मूचितमित्यर्थः । ननु तीर्थसेवयेव शुद्धिसिद्धेः पुनर्विशुद्धौ इति विशेषणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह तत्रा-  
पि । विशिष्टशुद्धिस्त्यागोर्तं तद्विषयककामनाभाव एव । अन्यथा 'मिष्याचारः स उच्यते इति  
वाक्यात् तथाहं भवेदित्यर्थः । पूर्वमेवेति । अधिकारसिद्धौ प्रथमकारणत्वात् । अजितेन्द्रियस्य कामना  
सहलोदायात् निवृत्तिमार्गाधिकारसिद्धिसम्भवाभावादित्यर्थः । उद्धवसङ्ग इति । उद्धवसङ्गस्यैवा-  
धिकारहेतुत्वादित्यर्थः । सत्सङ्गो द्विविधः प्रमेहेतुर्हीनेहेतुश्च । तत्र प्रमेहेतुरधिकारसम्पादकः । तादृशेन  
तेन प्रमेत्यस्य श्रवणाधिकारसिद्धेः । न ह्यनुपपन्नना भगवच्चरितं श्रोतुमर्हति । भक्तिहृदयुपायनेन  
श्रवणादीनां पूर्वं भक्त्यमङ्कुरस्थितिविबोधकत्वात् । ज्ञानहेतुस्तु श्रवणसाधको यथा भ्रैत्रयसङ्ग इत्यर्थः ।  
तेनैवेति । उद्धवसङ्गेन भगवति प्रमेत्याः कर्तेव हीनः भगवति प्रीतियुक्तो जातः । अत एव मूले  
'हरेः प्रश्रुद्धि'त्युक्तम् । अन्यथा स्वसन्देश्वरगार्थकप्रश्नान्तरं कुर्वादिति भावः । न तु प्रशार्थमिति ।  
प्रशार्थं प्रीती प्रश्नमेव कुर्वात् नार्द्धवे गते तद्विरहण । वस्तुतो भगवद्विरहण रोदनं कुर्वातः  
सत्सङ्गेन भगवति प्रीतिः न तु प्रश्नगार्थमिति भावः । भगवतः कुशलप्रश्न इति । 'कश्चित् पुराणो  
पुरुष' किञ्चन भगवत एव साप्रत्यय विशेषेण प्रश्न इत्यर्थः । सर्वेषामिति । 'कश्चित् कुशलाः  
परम' इत्यारम्भे 'सौम्यानुशोचते तमः पतन्त'मित्यन्तैर्बोध्यैः सर्वेषां वदुर्देवप्रसेनादीनां प्रश्न-  
मिषेण सामान्यतो भगवतो भगवत्कुशलमेव पृथं तदकुशलमेव तदीयकुशलात् । चरित्रप्रश्नश्चेति ।  
'सोऽहं दृणा'मिषारम्य 'वार्तां सखे कौतये तीर्थकीर्तौ' रिक्येन चरित्रप्रश्न इत्यर्थः ॥ २२ ॥

क्रमेणोत्तराभावादिति । विशेषप्रश्नस्य भगवद्विषयकस्य पूर्वमेव 'कृष्णयुगलो'त्यादिनो-  
त्तरादन्तिवचनस्य मध्ये कथनात् सामान्यभगवत्कुशलप्रश्नस्य सर्वविषयकस्य चतुर्णाम्येव 'अथ ते  
तदनुज्ञाता' इत्यादिनोत्तरात् नात्र प्रश्नक्रमेणोत्तरमित्यर्थः । प्रकारमाहेति । पूर्वं विश्लेषोचरमन्ते

अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।  
मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारणे वारणम् ॥ २३ ॥

अन्तिमं मध्यतः कृत्वेति । अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरमुक्त्वा सामान्योत्तरमनुक्त्वा मध्ये चरित्रमुक्तम् । "कृष्णद्युष्णिग्निस्लोचैः" इति विशेषोत्तरं "राजैस्त्वयाऽनुष्ठानाम्" इति सामान्योत्तरम् । मध्ये भगवत्चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितमित्यर्थः तत्र हेतुः, सम्बन्धकारणादिति । भगवत्चरित्रमुक्त्वा न्यस्तितरेकेणोत्तरासम्भवात्सम्बन्धे कारणम् । ननु भगवत्चरित्रं नेदं समीचीनं भक्तानां बन्धूनां मारणादतः कथमधिकारसिद्धयर्थं तत्रात्रियुक्तमित्याहुः इत्याह मारणे प्राप्तदोषस्येति । यद्यपीधरत्वाच्च दोषस्तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि तत्सर्वं भक्तस्तेन प्रकारेणोद्धृता इति दोषनिवृत्तिः ॥ २३ ॥

सामान्योत्तरं चरित्रोत्तरमन्तिममपि मध्ये कृत्वैत्यर्थः । मूले स्थानानि निर्दिशति कृष्णद्युष्णिग्न्यादिना । नन्वेक एव प्रश्नो भगवत्तत्तदीयानां भक्तु भगवन्मतस्मै सर्वेषां कृष्णनिरूपणाच्च । चरित्रप्रश्नुत्तरं द्वितीयं इति । प्रश्नैर्विषयकथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्यैतच्छ्रुत्यासम्भविप्रथमस्फुटोक्तं प्रश्नभेदबोधकं वाक्यमुदाहरन्ति, राजैस्त्वयाऽनुष्ठानामिति । 'राजैस्त्वयाऽनुष्ठाना' मित्युपक्रमम् 'निर्गतां विध' इत्यन्तेन वाक्येन तेषां प्रकारान्तरेणोत्तरकथनेन च भिन्नतया प्रश्नविषयकनिरूपणात् । अत्र तद्व्याख्यं निश्चयकं नास्तीति सन्देहः स्यादिति तत्रयथमभिहितम् । द्विविधमपीति । 'यन्मन्दी-लौपकि'मित्याख्यायां 'सैसु नामाजुषमापतन्त'मित्यन्तेन प्रत्येन माहात्म्यबोधकं वसुदेवस्य वाक्यमित्याख्यायाप्यपदन्तं प्रीत्युत्पादकं च चरित्रं निरूपितमित्यर्थः । यद्वावचारासामयिकं व्यामोहकं चाप्युत्पादकं संहारकं चेत्यर्थः । तत्रेति । द्विविधचरित्रनिरूपणमित्यर्थः । उत्तरासम्भवादिति । पूर्वं हि भगवतो भक्तानां च कुशलं तदुत्तरं तेषु विष्णुमानेऽपि तैरेव भवति परोक्षे तु तत्रात्रैव सम्भवतीति विशेषसामान्यभेदेनोत्तरद्वयनिरूपणार्थेणुत्तरद्वयमप्य एकैकस्य प्रत्येकं हेतुवार्धमुभयविधचरित्रं निरूपितमित्यर्थः । सम्बन्धे कारणमिति । प्रश्नोत्तरौतरेण सम्बन्धे चरित्रमत्र कारणं तथा च कारणत्वात् तथा निरूपितमिति भावः । नेदं समीचीनमिति । भक्तानां बन्धूनां लोकसम्बन्धेन सम्बन्धानां चरित्रं 'सज्जहै स्वकुलं'मितिवाक्याद् भगवतैव मारणं तत् 'न मे भक्तः प्रणखर्ता'त्यादिवाक्यैर्बद्धैर्विद्वद् बन्धुनामर्थं स्वयं श्रेयसहनस्य लोकसिद्धत्वाद् भक्तसङ्कमानात् प्रभोभक्तिगामिर्निद्वेदं चेति न समीचीनमित्यर्थः । अधिकारी हि श्रवणादी, स च स्वस्य शक्तत्वेन स्वानुकूलचरित्रश्रवणेन भवति । भक्तसङ्कचरित्रश्रवणेनेति स्वत्येष्टाः प्रपुः श्रोतव्य इति बुद्धयुत्पत्तेः । तथा च नेद्वेदं चरित्रमधिकारसिद्धिप्रतिकूलत्वाद्वाप्तमित्यर्थः । ईश्वरत्वादिति । अनन्य कर्तुं समर्थत्वादित्यर्थः । अत एवैकादशो 'नैवाभ्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कदाचित्' इति भगवद्वाक्यम् । न दोष इति । तेजो-यतां न दोषाच्च' इति वाक्यादिति भावः । प्रतीत्येति । शास्त्रतो दोषामावेऽपि बोधितेऽपि लोकदृष्टया त्वेतः सदोषा चोपाः प्रतीयते घृतकदाहकवद्भाविष्यु, तथा भगवत्पथे तथा दोषसम्भवेऽपीत्यर्थः । नूनं प्रकारेणोपाः । 'शुद्धमूलमुपाविश'दितिवाक्याद् वैष्णवेषु प्रसिद्धमन्तरासामयिकं यथावतालीलासम्बन्ध-मनेन निवर्त्य स्वयं च मूलरूपो भूत्वा तेषां नित्यलीलाख्यानसम्बन्धं कारितवानिति तोऽप्युद्धार एवायमिति मत्तद्विद्वत्कृत्वदोषनिवृत्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

१ ह्यर्थं इत्यावच्छेदेऽपि कथ्यते ।

ननु तथापि विदुरः परीक्षितेरेषया कथमुत्तमो भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह-

सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि ।  
माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम् ॥ २४ ॥  
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासादायिनी ॥ २४ ॥

सेवनादिति । पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता । तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां रसा । विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च । एतदेतद्वयं परीक्षिति नास्तीति ततोऽप्युत्तमः । उत्तमत्वं कुनोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह कृष्णविश्वासादायिनीति । विश्वासास्याभिज्ञापिका निःशङ्कं प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥  
एवं प्रकरणाद्युत्तमपाच द्वितीयाध्यायार्थमाह-

तथापीति । यथ्येवं पूर्वोदितप्रकरणे परमाधिकारी तथापीत्यर्थः । भगवदीत्येति । भाव-प्रधानो निर्देशः भगवदीयत्वस्येत्यर्थः । अत्रायमाशयः । भक्तु भगवदीयत्वमेव तत्तमभावेनाधिकारी न धर्मान्तरसम्भवा 'केवलेन हि भावेनैत्यादिवाक्यानि विरुद्धेभ्यः । तथा च धर्मान्तरसत्त्वेऽपि विदुरे परीक्षिति भगवदीयत्वं तत्तुल्यमिति सम्बन्धमनुचितं कथं तत्तत्तमत्वकथनमित्यर्थः । पूर्वमिति । त्यागता पूर्वं पाण्डवक्रान्तेय भगवत्तः घृतराष्ट्रतमीपमागतो स्वगृहो समुत्थीयं जोजनादितिर्महती दास्य-भावेन सेवा कृतेति भगवदीयत्वेष्याधिक्यमित्यर्थः । परीक्षिति तदभावात् न तथात्वमिति भावः । उदाज्ञाकरणमिति । भावद्वारा विदुरेण पाण्डवस्य लाक्षागृहादी पृष्टत्पन्महापनात् कृता तथा च तस्मिन्नाज्ञादानाद् भगवदीयोत्तमत्वं परीक्षिति तदभावात् तथात्वमिति भावः । विशेषत इति । श्रीभागवतश्रवणतः पूर्वमेवाहमूलादिदानोपेव विशेषतो धर्मभेदेन भगवन्माहात्म्यमिच्छित्वने भावविशेषसम्पादकं विदुरेण श्रुतं न परीक्षितेत्यस्य ततोऽप्युत्तमत्वमित्यर्थः । एतदेतद्वयमिति । पूर्वो-क्तुत्तमहेतुत्वमित्यर्थः । उत्तमत्वमिति । लौलोत्तमत्वं कदाचिदानन्दविशोदयायांपुण्येतापि श्रुत-रुक्तमत्वमन्येषां कुनोपयुज्यत इत्यर्थः । कृष्णविश्वासेति । विदुरस्य निःसाधनस्योत्तमत्वं भगवत्कृतमेव प्रत्येकत्वेन न साधनान्तरकृतं परीक्षितदानमिव क्षत्रियकृतमभ्यस्येत्क्षत्रादिमित्या च तत्कथा-श्रुतानां हरिः सर्वं निजैच्छातः कथिष्यतीति प्रकृत्यास्माकमपि साधनरहितानां सर्वं प्रवृत्त सत्याद-स्थित्यं न साधनान्तरेण सेरपतीत्येवंप्रकाशको विश्वासः एतत्कथाश्रुत्या मविष्णतीति तदेतदुत्तमत्वं उपयोक्तव्य इति भावः । ननु परीक्षितापि भावद्विज्ञासदाधिकेन भगवतैव तत्र गर्भसंभारम्य सर्वसम्पादानात् को विशेषोऽस्यामिच्छाशङ्क्याहविश्वासास्येति, निःसंशयप्रवृत्तिर्हि विश्वासास्यमिच्छा-पिका विचारे मतिगती इति तदभावात् । तथा च परीक्षितचरित्रश्रवणे तदुत्तमत्वं सामाजिकमवगत्य स्वस्य च हीनत्वं निश्चय्य श्रवणेऽपि तदशाधिकारमाभावात् न फलिष्यतीति सर्वेषां प्रवृत्तिर्न भवि-ष्यति । विदुरकथाश्रवणेऽधिकारीत्वमपि भगवतैव सत्यापमिति भगवति विश्वासात् निःसंशया प्रवृत्तिर्विष्णतीति मुख्यतया विश्वाससम्पादकत्वमेतःकथया इति भावः ॥ २४ ॥

एवमिति । प्रथमाध्यायार्थनिरूपणेनापि विदुराधिकारः सर्वोऽपि प्रकरणाथ एव प्रतिपादित

इति च कारिकात्मकः अर्थः सत्यतः ।



द्वितीये तु तथाऽध्याये समान्योत्तरमुच्यते ॥ २५ ॥  
तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च ।

द्वितीय इति । विशेषमाहात्म्यमेव प्रशस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति । तदैवमर्थः । भगवत्प्रभो जीवानां साधारणप्रशः, विशेषप्रशस्तु तत्तत्तत्रा अतो भगवतोऽन्यशेषत्वाच्च विश्वासायं भगवत् आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमम्, पश्चात्कृतं निरूप्यते ॥ २५ ॥

तस्योचाराङ्गत्वमाह-

कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात्सम्बन्धतोऽपि तत् ॥ २६ ॥  
अत्रोक्तं फलसिद्धयर्थमुद्भवप्रेम चोच्यते ।

कृतमिति । तृतीयाध्याये चरित्रमुक्तमिति । तस्मात्मादिदमप्युचरशेषत्वेनोच्यते । कथया कथा सम्बन्धत इति हेत्वन्तरम् । नन्वेवं सति किमत्र कथानिरूपणेनेत्याश-

ङ्कर्षः । ननुत्तरनिरूपकद्वितीयाध्यायादिषु भगवन्माहात्म्यचरित्रादिक्रमेणोच्यते तत्र कथं सामान्यविशेषभावः भगवन्माहात्म्यादेः सर्वदा विशेषरूपत्वात् । नहि भगवन्माहात्म्यं कदाचिदपि सामान्यं सम्बन्धित्याशाङ्क्याहविशेषेति । भगवतो विशेषमाहात्म्यमेव न कदाचित् सामान्यं परन्तु 'समो मशनेन समो नागेन च' इति श्रुतेः 'श्रेष्ठं स्वाम्यं प्रजायेषे' इति श्रुतेः स्वरूपमिव माहात्म्यमप्यन्यसम्बन्धितं सामान्यं भवतीति प्रकृतोक्तिस्तथा प्रश्नाकरणात् 'कुशलं शरगेह' इत्यनेन जीवसम्बन्धित्वेन प्रश्नाकरणात् प्रशस्य जीवपरत्वेन तदुत्तररूपं भगवन्माहात्म्यमपि तत्सम्बन्धितमेव निरूपितं न प्रथमिति तत्तत्त्वर्थः । तदैवमिति । यदेवं व्याख्या तदेवमर्थः । भगवत्प्रश इति 'कश्चित् पुराण'विश्वनेन कृतो भगवत्प्रशोऽपि जीवनसम्बन्धित्वेन प्रश्नाकरणात् जीवानामेव साधारणः समुदायरूपेण सर्वमेव-प्रभो भगवत्कुशलेनैव सर्वेषां कुशलात् सामान्येन विशेषेणेति मूलस्वकरोऽनेवं सङ्गच्छते वस्तुतो भगवान् न पृष्ट एव अन्येषोद्भवः स्वरूपनिधुक्तः स्वरूपमेव साक्षात्स्वभावतुष्यमानं वदेदिति भावः । अन्यशेषोक्तमिति । सर्वसाधारण्येन प्रश्नादिति भावः । तत्रेति । उचर इत्यर्थः । अष्टद्वन्वादाधिक्यगवन्माहात्म्याकथने विदुस्य केवलस्वरूपपरत्वामनेन भगवति सर्वोच्छ्रद्धेनोप्यमाने विश्वासी न भवेदिति भावः । प्रथममिति । चरित्रनिरूपणात् प्रथमं निरूप्यत इत्यर्थः । कृतमिति । चरित्रमित्यर्थः ॥ २५ ॥

तस्योचाराङ्गत्वमिति । चरित्रनिरूपणेनैवानवतारादशायामुत्तरसम्बन्धात् तदङ्गत्वमित्यर्थः । नन्वेमुत्तरमये माहात्म्यनिरूपणं न सङ्गच्छते तदङ्गत्वमात्रादिमाहात्म्याङ्गवद्भवत्साम्यमिति । तृतीयाध्याये तु केवलं चरित्रमेवोक्तं द्वितीयाध्याये माहात्म्यसहितं भगवता वयमेतादृशचरित्रेणाम्स्वरथं कृतेन रक्षिता इति चरित्रत्वसाम्यात् तदप्युचरशेषेणाङ्गसम्बन्धत्वादिति भावः । कथया कथेति माहात्म्यसहितचरित्रनिरूपणे, एतादृशमाहात्म्यसहितो भगवान् देवक्या जातश्चरित्राणि कृतवानिति । कथयोः परस्परं सम्बन्धे हेत्वन्तरमित्यर्थः । किमत्र कथानिरूपणेनेति । अत्र द्वितीया-

इयाह-अत्रोक्तमिति । द्वितीयाध्याये विश्वासायं भगवत्कृतं फलमुक्तम्, तच्चरित्रेऽपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धमुक्तम् । भगवतो वार्ताकथनमध्यायायः । तत्रोचाराङ्गद्वयम् । विश्वासायं माहात्म्यम् । कथाया अपि तयात्वं च । पूर्वाङ्गमेकम् । परमा भक्तिः । अभक्तोके सर्वथा न विश्वास इति उद्भवमेव चोच्यते ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकान् विभजते-

पद्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक्तसमिस्तथा ॥ २७ ॥

दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥ २७ ॥

पद्भिरिति । विशेषस्य कुशलस्य । चतुर्थोऽध्याये उत्तरं श्लोकद्वयेन । तशेषपरिहाराय पुनर्भक्तोद्गारे विंशतिः । अविद्यमाने अभक्तोद्गारे चत्वारि वाक्यानीति

ध्याये माहात्म्यशेषके वस्तुदेवस्य देवक्यामियारम्य केवलकथाकूपचरित्रनिरूपणे किं प्रयोजनं तादृशचरित्रस्य तृतीयाध्याये निरूपणीयावादित्यर्थः । द्वितीयाध्याय इति । द्वितीयाध्याये विदुस्य सर्वोच्छ्रद्धत्वेन बोधनीये भवति विश्वासायंमितादृश एव वस्तुतो भगवानिति निश्चयार्थं भक्तेषु भगवत्कृतं फलमुक्तं तथा च ततो माहात्म्यावगमाद् विश्वास इति भावः । तच्चरित्रेऽपीति । द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधके केवलचरित्रकथनं यथा भक्तेषु भगवत्कृतफलनिरूपणेन माहात्म्यावगमाद् भगवति विश्वास्तया न चरित्रेऽपि भवतीति तदर्थं विश्वासायं केवलचरित्रमपि द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधकचरित्रेण सम्बद्धमुक्तमित्यर्थः । वार्ताकथनमिति । तृतीयाध्याये 'वार्तां सुखे कीर्तये'तिप्रश्नादत्रोत्तर-निरूपकाध्याये वार्ताकथनमध्यायाय इत्यर्थः । तत्रेति । वार्ताकथन इत्यर्थः । विश्वासायंमिति । भगवति विश्वासस्तुके हि तादृशो न वार्तां वाच्यं स च विश्वासी न वक्तुनिष्ठः, श्रोतुनिष्ठोपेक्षस्तत्र श्रोतुविश्वासाय वार्ताकथनस्य पूर्वाङ्कं वक्तुनिष्ठा परमा भक्तिः । अमक्तकथिते स्वयन्तादृशो मद्ब्रह्मनिश्चय-शीति बुद्धयुदायविश्वासायुक्तः । वक्तुनिष्ठासायोचाराङ्गद्वयं श्रोतुनिष्ठमपेक्षितं तदैव वार्ताकथनेन अतो सम्पन्न इति विश्वासीदयात् । तत्र माहात्म्यं भगवदीयं वार्ताप्रवणफलरूपं तच्छब्दे तत्राक्षेपाभावात् । तथा कथया अपि भगवत् इव तादृशमाहात्म्यवत्त्वं स्वरूपसमत्वमिति यावत् । तथा च वार्ताकथनोत्तरं श्रोतुसुदृश्यावगतिसिद्धिं वक्तुः सम्पन्नं वार्ताकथनमिति विश्वासः । एतद्द्वयामने कथितापि सा अकथितैवेति तदभाव इत्यर्थः ॥ २६ ॥

तत्रेति । द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । पद्भिरिति । पद्भिश्चद्वयमेकेनोत्तरं सदृशसमिर्माहात्म्यं दशभिश्चरित्रेभ्यं क्रमेण चत्वारोऽप्यथो निरूपिता इत्यर्थः । विशेषकुशलस्येति । तत्तन्नाया यद्वक्तुश्लो-प्रशस्येत्यर्थः । श्लोकद्वयेनेति । चतुर्थं 'अथ ते तदनुज्ञाता' इत्यारम्य तद्द्वयेनेत्यर्थः । तत्रोचैति । श्लोकसंहितनिरूपदोषपरिहारायैत्यर्थः । अविद्यमानेति । अनतादृशायामपि भगवत्समीपे अविद्य-

तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं वैखलं कृतम् ॥ २८ ॥

विशेषस्योत्तरं तुर्यं श्लोकान्यां विंशतिः पुनः ।

भक्तोद्दारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥ २९ ॥

द्वयोरान्नाप्रसिद्धार्थं पत्र सन्देहवारणे ।

चतुर्भिः सङ्गपञ्चेति षडर्थ्याः क्रमतोदिताः ॥ ३० ॥

शेषः । एकं वियोजकम् । “ इति सह विदुरेण ” इति । उभयोरुद्भवविदुरयोः । सन्देहनिवृत्तिः परीक्षितः । चतुर्भिर्गुरुशिष्यसङ्गमः । विद्यमानो भक्त उद्भवः । अविद्यमानो विदुरः । एतदकथने क्रूरत्वादभजनीयः स्यात् ॥ २९ ॥ ३० ॥

माना ये भक्तास्तानुद्भवमैत्रेयदारोद्धतं तयोस्तयोपदेशाय श्वज्ञानस्यापनवोद्योषाविंशत्युद्भवत्प्रादुर्भावकण्ठे त्वारम्य ‘मर्थेलोकं जिहासते’त्येतानि चत्वारि वाक्यानीत्यर्थः । विद्यमानभक्तानां तु ‘शुद्धमूलमुपा-  
निश’दिति वाक्यात् । स्वप्नेशेनैवोद्भूतत्वेनोपदेशानपेक्षणादिति भावः । एकमिति । ‘इति सह विदु-  
रेण’त्येकं पदं तयोर्वियोजकमित्यर्थः । विद्योन्नप्रयोजनं तु मैत्रेये विदुराय त्वया वाच्यमिति भगवदाज्ञायाः प्रकृषेण सिद्धिरिति बोध्यम् । अन्वयोद्भवसहस्येति परमप्रियोदयेन भगवति भावेन लय इव स्यादिति भावः । उभयोरिति । भगवास्तु स्वकृष्णोद्भवे गुणैर्विदुरे च प्रविष्ट इति न तद्वा-  
तोपरमे न तद्वियोजकं पद्येतदिति भावः । सन्देहनिवृत्तिरिति । परीक्षितः सन्देहसहितता तन्निवृत्तिं ‘निघनमुपगते’ञ्जित्यारम्य ‘हरिमीजे समाधिने’त्यन्तेः पञ्चभिर्वाक्यैरित्यर्थः । गुरुशिष्यस-  
ङ्गम इति । उपदेशानानुद्भवो न गुरुः, किन्तु मैत्रेय एव; शिष्यो विदुरस्तयोः सङ्गमो ‘विदुरोऽप्युद्-  
वाम्बुल्ले’त्यारम्य ‘यत्र मित्रासुतो मुनि’रित्यन्तेऽधतुर्भिर्वाक्यैरेत्यर्थः । नन्वेतच्चरित्रेण भगवता विद्यमानाविद्यमानोभयविधभक्तोद्दारेः कृत इति कथं श्रेयसिमाशङ्क्याद्द्विविद्यमान इति । उभयोरवतार-  
सामयिकभक्तत्वेऽपि तत्समये भगवत्सन्निधौ विद्यमान उद्भवोऽविद्यमान विदुरस्तयोः स्वतो मैत्रेयद्वारा चोद्दारात् तथाभिप्रायो ज्ञातव्य इत्यर्थः । एतेन भगवत्परोक्षवर्तिनां भगवदात्मभगवदौघोपदेश एव साधक इति सूचितम् । एतदकथन इति । भगवति विद्यमानाविद्यमानोभयविधभक्तोद्दार-  
कत्वाकथन इत्यर्थः । क्रूरत्वादिति । परोक्षस्मितभक्तोद्दाराकर्तृत्वेन तेऽु दयाभावात् । क्रूरत्वेनैव-  
नीतनैरभजनीयः स्यात् । तथा च सर्वभजनीयत्वेन सर्वैश्वर्यं भगवति न स्यादिति भावः ॥ ३० ॥

एवं श्रोतुरधिकारं निरूप्य वक्तुरधिकारमाह—

मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम् ॥

अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ॥ ३१ ॥

मैत्रेयस्यापीति । श्रोतर्वैवाऽनुप्रवेशः । ननु वक्तुः प्राधान्याज्ज्ञापनान्मतया निरूपणशक्तिं, तत्कथं श्रोतृश्रेयस्त्वमित्याशङ्क्याह अत एवेति । न हि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो निकटे स्थापितः, किन्तु विदुरकृपया । अतो भगवन्मार्गे मक्त एव भेद्यो नाऽन्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवं चतुर्भिरधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयतीत्याह—  
उभयोर्भेदकमाह—

अधिकारेऽयं संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते ।

तत्त्वकायविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ॥ ३२ ॥

अधिकार इति । तत्त्वकार्यविभेदेनेति । कार्यं पुरुषशरीरम् । गुणातीता द्विधा हि सृष्टिः । अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरूपितम् ॥ ३२ ॥

वक्तुरधिकारमिति । विदुराधिकारे परम उक्ते तद्वक्तृत्वेन मैत्रेयस्यापि तादृशमधिकारमाहे-  
त्यर्थः । श्रोतरीति । विदुरमात्रश्रवणार्थं विदुरं हृदि समानीय मैत्रेये तं भावयित्वा भगवता ज्ञापना-  
दित्यर्थः । प्राधान्यादिति । ज्ञानस्य सिद्धत्वेन श्रोतृमुख्यत्वादित्यर्थः । भिन्नतयेति । तेषामन्यथा-  
वस्तुध्येनेत्यर्थः । श्रोतृश्रेयस्त्वेनेति । गौणश्रेयसेन मुख्यस्य कथनमनुचितमिति भावः । मक्त एवेति ।  
मूले ‘स्वसिद्धय’ इत्यनेन स्वः ह्यीशो भक्तस्तस्य सिद्धय ज्ञानाय प्रयुजा तत्सङ्गकरणान् भक्तिमार्गे  
भक्त एव श्रेष्ठो हीनोऽपि नाप्य उल्लेखोऽपीत्यर्थः । तस्य च भक्तत्वं ‘सेवनात् कृष्णदेवस्य’त्यादिना  
पूर्वमेव निरूपितं मैत्रेये तदभावाद् वक्तृत्वेऽपि गौणत्वमेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चतुर्भिरधिकारमिति । श्रोतृवक्तृत्वेनोभयविधमधिकारमित्यर्थः । मुख्यसृष्टिर्मिति । गुणाती-  
तसृष्टिर्मित्यर्थः । उभयोरिति । गुणातीतसृष्टिकार्यनिरूपकत्वेऽप्युभयोरप्यापयोर्भेदकमर्थद्वयमाहेत्यर्थः ।  
पुरुषशरीरमिति । पुरुषावतारशरीरमेवात्र सृष्ट्याधिदैविकतत्त्वकार्यं न विसर्गरूपभौतिकतत्त्वादिक-  
मित्यर्थः । द्विधा इति । व्यष्टिसमाधिभेदेनेत्यर्थः । तत्त्वानि स्वष्टिस्तन्निमित्तपुरुषशरीरं समाधिरिति ज्ञेयम् ।  
अत्र इति । सप्रगुणसृष्टिर्मित्यर्थः । उभयोरिति । तत्त्वतत्कार्यरूपव्यष्टिसमग्रयोर्मित्यर्थः । कारणत्वे-  
नैवेति । तल्लेः पुरुषशरीरामकभूतनिर्माणं तेन च सर्वत्र प्रविष्टेन क्षोभोत्पादनात् तत्त्वैर्निद्रयमात्राधि-  
भौतिकनिर्माणमुक्तमिति कारणत्वेनेव तद् इत्यत्र प्रकण उक्तमित्यर्थः । एतेनैतद्विज्ञायाः ‘सर्गोः  
कारणसम्भूति’रिति वाक्योक्तं सर्गरूपत्वमपि समर्थितम् ॥ ३२ ॥

तत्र तत्त्वेषु सन्देहमावात्समष्टेः कारणत्वं साधयति—

समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।  
प्रश्नत्रयं तृतीयं तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ॥ ३३ ॥  
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहतिः ।  
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे होक एव तु ॥ ३४ ॥  
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च ।

समेष्टेरिति । एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारमारभते । तत्र प्रथमं विदुरस्य प्रश्नः “सुखाय कर्माणि” ( ३-५-२ ) इति पञ्चदशभिः श्लोकैः । तत्र किं वृष्टमिति विचारणीयम् । उत्तरत्वेन भगवल्लीलामाह उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपम् । ततस्तदनुरोधैकः प्रश्नः कर्तव्य इति भवति तदभावाद्बिचारः । तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः, फलार्थं विहितानि कर्माणि कियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्तीत्येकः प्रश्नः । तत्रांशत्रयमस्तीत्याह कर्माणि प्रति वर्णिनामिति । नैतानि कर्माणि लौकिकानि; किन्तु वैदिकानि ।

तत्त्वेष्विति । व्यष्टिरूपेष्वित्यर्थः । सन्देहमात्वादिति । विसंग्रहसंशयाभावादित्यर्थः । समष्टेरिति । पुरुषशरीरस्येत्यर्थः । एवं प्रकरणेति । प्रकरणस्य गुणतात्स्यैवमनेन प्रकारेणाध्यायं निरूप्य सगुणप्रकरणादी प्रश्ननिरूपकपञ्चदशवाक्यानां सम्प्रभिनं प्रश्ननिर्धारकं विचारमारभत इत्यर्थः । तत्रेति । पञ्चदशसु श्लोकेष्वित्यर्थः । भगवल्लीलामिति । ‘अथ ते भगवल्लीला’ इतिवाक्यादिति भावः । उत्पत्तीति । ‘विश्वस्यसुद्रवाभ्यन्तार्था’ इतिवाक्यादित्यर्थः । ततस्तदिति । तदनुरोधेन लीलास्वरूपीचरानुरोधेन प्रश्नोऽयमेव एव तद्विषयसंशयजनकः कर्तव्य इति विचारे क्रियमाणेषु भवतीत्यर्थः । तदभावादिति । एकप्रश्नाभावादित्यर्थः । तत्रेति । विचारे क्रियमाणे भगवल्लीलोत्तरकं प्रश्नत्रयं सेरस्यतीति तन्मये प्रथममित्यर्थः । विहितानीति । वेदेन फलकारणत्वेन बोधितानीत्यर्थः । तथा च तादृशानां तेषां विपरीतफलसाधकत्वं प्रयत्नासिद्धं न सम्भवतीति भावः । तत्रेति । कर्मविषयकप्रश्न इत्यर्थः । अंशत्रयमिति । कथं सुखार्थं क्रियमाणानां सुखासाधकत्वं बोधित्वं भेदेन दुःखाभावासाधकत्वं कथं वार्थः । तथा च कर्मभिर्बोद्धैरपि ज्ञायमानं सर्गादि सुखमन्दे पातात् न सुखमित्यर्थः । प्रश्नानुरोधेन इत्यर्थः । किन्तु वैदिकानीति मूले । ‘सुखार्थेति चतुर्थ्यां सुखमात्रार्थत्वेन तेषां प्रश्लेषकत्वोक्तः । अन्यथेति । लौकिकमोक्तमित्यर्थः । आन्तस्थेति । लौकिककर्माणि धर्माजनादीनि आन्तस्थे भवन्ति पूर्वं तन्निवृत्त्यर्थमात् । तथा च आन्तस्थ शैवायिर्नो बहो तापार्थिनो जलादी प्रवृत्तस्य यथा फलविषये फलाभावे न किञ्चिद् दूषणं तत्र तत्फलाभावात् तथा लौकिककर्ममात्रस्य भ्रमप्रतिपत्त्यनेन तत्र निष्फले प्रवृत्ते फलाभावे न किञ्चिद् दूषणमित्यर्थः । अत इति । यतो लौकिकेभ्यु कर्मसु सुखहेतुत्वं सम्भावितुमशक्यत्वं विपरीतानुभवदत्तो वार्णितां वैदिकानां तानि वैदिकानि

अन्यथा आन्तस्थ फलविषये न किञ्चिद्व्यथम् । अतो वर्णिनामेव कर्माणि प्रति प्रश्नत्रयम् । कथं सुखं न जायते दुःखाभावो वा उद्वेग्यभेदेन ? कथं वा सङ्कलितं दुःखं जायत इति ? अथ यदि कर्ममात्रं एतादृश एव तदा प्राणिना किं कर्तव्यमित्येन प्रथमः प्रश्नः । तत्र पशुचरं भगवद्भजनं कर्तव्यमिति, तत्रापि भजनमपि कर्मति, येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथयेति द्वितीयः प्रश्नः । अवतारचरितप्रश्नस्त्वृतीयः । अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम्—उत्पत्तिस्थितिप्रलया नामान्त्वमिति । कार्यप्रश्नः पञ्चमः । सर्वत्र भिन्नप्रकारकरणहेतुः प्रश्नः षष्ठः । एवमवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति । एवं सति प्रश्नत्रयं भवति । जीवकर्माणि द्विविधानि, स्वार्थानि भगवद्दर्थानि चेति । भगवत्कर्माणि च तृतीयानि, तत्सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति । एतत्पूर्वं पूर्वैणापि सम्बन्धते वर्णिनामित्यनेन तद् ध्योतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन, साधारण्येन च प्रतिज्ञा । प्रश्नत्रयमिति ।

प्रश्नत्रयभेदेन प्रश्नत्रयं वस्तुतस्त्वेक इत्यर्थः । उद्वेग्यभेदेनेति । उद्वेग्यतावच्छेदकभेदेनैव दुःखाभावात्स्य भिन्नत्वं वस्तुतस्तु सुखदुःखाभावरूपेणैक एव भगवानित्यर्थः । अत एव ‘त यथा यथोपासते तथैव भवती’ति श्रुतिः । असङ्कल्पितमिति । कर्मफले कामः कारणं तत्र तत्रेत्तदनुत्पत्तिप्रयत्नसङ्कल्पस्याप्यभावे कथं तदनुत्पत्तिरित्यर्थः । कर्ममात्रं एतादृश इति । सुखमन्तात् प्रवृत्तानां दुःखसाधक इत्यर्थः । किं कर्तव्यमिति । लौकिकं कर्तव्यमपवा तृष्णीं स्यात्त्वमित्यर्थः । प्रथमप्रश्न इति । अंशत्रयसंहितो वैदिककर्मविषयकः प्रश्न इत्यर्थः । भगवद्भजनमिति । यदि त्वयैवमुत्तरं देयं यथास्ति परमानन्दस्तादृशमपि कर्मास्ति भगवद्भजनरूपं तत्कर्तव्यमिति परं तदपि कर्मति कियारूपं तस्यापि प्रकारो हातयो भजनं वाग्येनान्याग्येन वा पुरुषोत्तमस्य साक्षात् विसृतीनां च कर्तव्यं कीदृशं भगवत्प्रीतिसाधकमिति येन प्रकारेण कृतं तद्भजनमपि फलं जनयति तदप्रकारनिरूपको मांश्च इति ‘तत् साधुषुनिश्च वर्मि शं न’ इत्यनेन द्वितीयः प्रश्न इत्यर्थः । अवतारेति । ‘करोति कर्माणीत्यनेन तृतीय इत्यर्थः । अवतारव्यतिरेकेणेति । प्रपञ्चे समागमनव्यतिरेकेण तदा स्वस्थानस्थितेनैव चरित्रकरणमित्यर्थः । प्रश्नचतुष्टयमिति । ‘यथा ससज्जीमे संस्थास्य वृत्तिं जगतो विषते यथा पुनः स्वे श्च इदं निवेश्य शोत एक एतदनुप्रविशो बहुधा यथासीदिति’त्यादिभिरुत्पत्तिस्थितिप्रलयसंश्लेषमूचितनासाधुविषयकं प्रश्नचतुष्टयमित्यर्थः । कार्यप्रश्न इति । ‘क्रीडन् विद्यत’ इतिश्लोकेन भगवदवतारचरित्रप्रश्न इत्यर्थः । पञ्चम् । भिन्नतया कथनं पूर्वेषां प्रश्नानां कारणनिश्चयकत्वेन सजातीयत्वबोधनात् । सर्वत्रेति । प्रपञ्चे पदार्थेषु भिन्नप्रकारेण कारणं भगवता न लेकेन प्रकारेणैव यो हेतुस्तत्त्वभेदरूपरतद्विषयको यैस्तत्त्वभेदे रित्यनेन कृतः षष्ठ इत्यर्थः । एवमिति । एतेऽनवतारचरित्रप्रश्नाः पञ्चव्यतिरेकेण सहस्रताः सप्त प्रश्न भवन्तीत्यर्थः । एतेन वाचन्यवतारचरितानि तान्यवतीर्षीषी लीलासुष्टो करोतीति बोधितम् । पूर्ववसितमर्थमाहुरेवं सतीति । पञ्चदशस्य श्लोकेषु जीवकर्माणि भगवत्कर्माणि च प्रथानि तत्र जीवकर्माणि द्विविधानि स्वार्थानि स्वफलासाधकानि भगवद्दर्थानि स्वतन्त्रविषयासाधकानि भगवत्कर्माणि त्वचरितानि त्रयाणां मन्त्रात् सामान्यतः प्रश्नत्रयमित्यर्थः । एतत्पूर्वमिति । एतत्त्वचर्यं प्रश्नत्रयमिति पूर्वेषु कर्माणि

दृवीये भगवत्कार्यप्रभे अवतारानवतारभेदेन द्वैविध्यम् । तत्राऽनवतारप्रभे पदभेदाः, स एव प्रथम इति प्रथमे पुनरित्युक्तं । पश्चादवताराः । उद्देशेन ग्रहणसन्देहं वारयति नाऽवतारे हीति । अतोऽनभिव्यक्तमभवत् एव पदप्रश्नाः कृता उपसंहारेऽपि निरूपिताः “यानीधर कीर्तय तानि महम्” (३-५-१६) इति । एहीतावतारस्य च तेन भगवत्कर्मस्त्वेव द्विविधेष्वपि तस्योपसंहार इति तत्रैवोक्तमिति न दोषः । यतः

त्रिवर्णिनाभिव्येनापि देहलोदीपन्यायेन सम्बन्धत इत्यर्थः । नन्वेवं सम्बन्धे को हेतुस्ताडवैर्णिनामिति । वर्णिनां हि कर्माणि त्रिविधानि भवन्ति सत्त्वादिगुणैर्गभेदेन च शूद्रस्य कर्माभावात् स्मार्तानां शूद्रेषु विहितानां कर्मत्वेनागणानात् । तथा च तान्येव त्रिविधानि प्रति प्रश्नप्रथमित्यर्थः । ननु जीवस्वार्थकर्ममात्रविषयप्रश्नत्रयं क्वापि नास्तीत्याकाङ्क्षायाभाद् प्रश्नप्रथमेति । “सुखाय कर्माणीति प्रथमश्लोके सुखामावदुःखामावावदुःखसम्बन्धित्वेन कर्मस्त्वेव प्रश्नप्रकरणमित्यर्थः । सति भगवदर्थकर्मप्रशिक्षित्वाभगवच्चरित्रप्रभेः सह पदं प्रश्ना भवन्ति । तथा च बहुगुणा भगवच्छ्रील्लैव पृष्टति सर्वेषामेकमेवोत्तरं लीलानिरूपणमिति यावः । नन्वेवं प्रश्नत्रयेण तस्यत्रे इति प्रतिज्ञानुपपत्तिरित्याकाङ्क्षाद् साधरभ्येनेति । चत्सर्थः । प्रतिज्ञा तु सामान्यतल्लयः प्रश्ना भवन्तीति साधारभ्येन सामान्यप्रकारेणेत्यर्थः । अत एवाभासेऽपि ‘सामान्यतः प्रतिजानीत’ इत्युक्तम् । नन्वेवं प्रश्नत्रयपक्षेऽपि भगवच्चरित्रस्य द्विविधत्वाच्चावारः प्रश्ना भवन्तीति प्रतिज्ञानुपपत्तिस्तदावस्थैवेति चेत् तत्राद्भरवतारंति । अवतारानवतारभेदेनैव द्वैविध्यं बहुस्तदनुसंगोऽभवत् सत्त्वाद् भगवच्चरित्रत्वेनैकभिव्यक्तत्वेन च पदं प्रश्ना इति । स एवानवतारविषयकप्रश्न एव पश्चादेव स्वच्छेज्जीवोत्साराय श्लेष्या मक्तहपया वा प्राक्तव्यात् प्रथम इत्यर्थः । उक्तमिति । मूल इत्यर्थः । पश्चादवतारा इति । सूत्रार्थं बहुविधपूर्वोक्तलीलाकरणानन्तस्मेत्यर्थः । उद्देशेनेति उद्देशो नाममात्रेण कीर्तनम् । तथा च चरित्राण्येव बहुविधानीति तेषामत्र प्रभेदुं प्रहृष्यमिति यः सन्देहस्तमित्यर्थः । नावतारंति । अवतारे तु दशविधलीलातदवान्तरभेदैश्च चरित्राणामनन्तत्वादिति भावः । अत इति । यतोऽवतारभेदानन्त्यतोऽनभिव्यक्तत्वेन पदं प्रश्नात्र णणामेव चरित्राणां सत्त्वादित्यर्थः । ननु तथापि भगवच्छ्रीला सर्वत्र प्रश्नोत्तरत्वेन न युज्यते प्रथमत एव जीवकर्माणां पृष्टत्वादित्याकाङ्क्षाद् उपसंहारेऽप्येति । भगवत्प्रश्ना एवोपसंहारे निरूपिता इति तस्य प्राक्त्वमिति जीवकर्माणां सुखासाधकत्वं दुःखसाधकत्वं भगवत्कर्मणां सुखासाधकत्वमित्येतदभिप्रायेण तन्निरूपणमित्यर्थः । नन्वन्ते ‘यानीधर’ इतिवाक्यो ‘यानी’-तिसामान्योक्त्या जीवरूपेणापि यत् करोति तत् पृष्टमिति न भगवत्कर्मस्त्वैवोपसंहार इत्याकाङ्क्षाद्-एहीतावतारस्येति । अस्मिन्नेव पद्ये “गृहीतगुणवतारस्त्वेति भगवद्दिशोऽपवादिति भावः । तेनेति येन हेतुना । अनवतारानवतारभेदेन भगवच्चरित्राण्येव पृष्टानीति तेभ्योवोपसंहारादुपक्रमस्यार्थविचारे दुर्बलत्वात् तत्रैव भगवच्चरित्र एवायं ते भगवच्छ्रीला” इत्यादिनोत्तरहृत्कमिति न प्रश्नोत्तरत्वेनप्यदोष इत्यर्थः । ननुप्रक्रमे जीवकर्माणामेव पृष्टत्वात् प्राथम्येनोपक्रमस्य पूर्वमीमांसाभ्यायेन प्रबलत्वाच्च तत्रैवोत्तरदानमुचितमिति तदभावात् प्रश्नोत्तरत्वेनप्यदोषो यथास्थित एवेत्याकाङ्क्षाद्भवैतः साधन इति ।

साधने जीवकर्तृकर्माणि नोपसंहारिताः । हेत्वन्तरमपि द्वयोरपि विभेदेनेति । ‘तदस्य कौषारव’ (३-५-१५) इति । “स विश्वजन्मस्थिती” ति (३-५-१६) । इदानीं प्रश्नात् गणायितुं प्रथम उद्देशप्रकारेण एक एव प्रश्न इत्याह प्रकृते श्लोक एव त्विति । प्रकटोऽवतारः । अप्रकृते पदभेदान् वदति जन्मत्स्य इति । उत्पत्तिस्थिति-प्रलयाः यथा “सप्तजंघ्रे” इत्यादिना । प्रवेशनानात्वे एकत्वेन गणिते । तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः, “येस्तत्त्वभेदैः,” “येन प्रजानामिति” ३-५-१७ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

एवं भगवत्कर्मप्रभेदुं कियमाणेषु पूर्वयोत्तरं न वक्तव्यमिति स्वकथ्या शास्त्रनिर्धारेण च निरूपयतीत्याह-

हेतूतया शास्त्रनिर्धारः परत्त्वज्ञापनाय हि ॥ ३५ ॥

स्वरुचिश्चापि तत्रैव पदसु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धार इति । “कस्तुप्नुयात्” इति (३-५-११) चतुर्भिः

जीवकर्तृकर्माणि साधने भगवत्कर्माणि फलं मोक्षाधिकतन्त्रपुरुषार्थरूपत्वात्, तथा च साधन-फलभोग्यत्वात् फल एवेति मुख्ये फले उपसंहारात् तत्रैव प्राबल्यम् । अनयोर्बलबलविषयेऽर्थबल-बलसत्त्वत्वेन नियामकम् । अग्न्या ‘ब्रह्मक्रियादोति पर’मित्युपक्रम्यान्ते ‘य एवं वेदेऽयुगनिर्दि-त्येनेन जीवे उपसंहारादुपनिषदां जीवपरत्वमेव स्यात् । प्रकृते तु जीवकर्माणां साधनत्वेनोत्तरकृतो हीनत्वात्प्रक्रमे तन्निरूपणे तस्यापि न प्राबल्यमिति भावः । हेत्वन्तरमपीति । अनवतारावतारभेदेन भगवच्चरित्रैवोपसंहार इत्यत्र द्वयोश्चरित्रयोः कथारूपकृतिरूपणे ‘स्तदस्य कौषारव’ ‘स विश्व-जन्मस्थिती’ ति श्लोकाभ्यामन्ते भेदेन प्रश्नादयमर्थको हेतुरस्यथा ‘यानीधर’ इतिसामान्यभाषयैव प्रश्नः कृतः स्यात्, न भेदेनत्यर्थः । इदानीमिति । प्रश्नात् निर्धारं पञ्चदशसु श्लोकेषु कति प्रश्ना इति तान् गणायितुं लीलाकारणोत्तरे सन्देहाभावाय प्रथमे सर्वकारणरूपे सूत्रार्थे स्त एवाभिर्भूते उद्देश-प्रकारेण नाममात्रेण कीर्तनरूपेण एक एव प्रश्नः अन्तर्गोचरित्रामात्रमुत्पत्ति-प्रश्नकर्णादिति भावः । प्रकटोऽवतार इति । एतेन भक्त्या तत्प्रदर्शकतस्य भावेन स्वानन्ददायकत्वलक्षणचरित्रप्रश्नो न भवतीति बोधितम् । अप्रकृत इति अनवतीर्णेन तु परोक्षरसात्प्रभावात्सर्तित इत्यर्थः । प्रवेशनानात्वे इति । प्रबहुपुण्याय तत्र प्रवेशानन्तरमेव भगवत् एकस्य भानात्स्वस्तुटीभावात् कारणकार्यभावेन भूदृष्ट-टाटीनामिव तयोरेकत्वेन गणनेत्यर्थः । प्रकटद्वयेति । “येस्तत्त्वभेदैः,” “येन प्रजानामिति” भाष्यान्व-लोककरणभेदकरणाकारो पृष्टावित्यर्थः ॥ ३५ ॥

एवमिति । उपसंहारे मुख्यतयोभयविभगवच्चरित्रप्रभेदुं कियमाणेष्वित्यर्थः । पूर्वोक्तिरिति ।

जीवानां स्वार्थभगवदर्थकर्मणोरित्यर्थः । न वक्तव्यमिति । श्रोतुमं कथ्यमावापुं छास्त्रनिर्धार-त्वैत्यर्थः । हेतूक्तयेति । ‘परावैश्वर्यं’मित्यनेन स्वस्य भगवच्चरित्रप्रभेदो तुल्यभावात्कथनेन तत्रैवा ऋचिकृता ।

प्रभेदोक्तुः। अनेनैव शास्त्रनिर्धारः। गृहासक्तिद्वैः स्वात्मकं संसारं प्रयच्छति। कर्माणि तु गृहासक्तिकार्याणि। अतो दुःखजनकत्वमुचितमेवेति। ननु स्वयं पशुं स्वयमेव कथञ्चर-  
वतीत्याशङ्क्याह भक्तत्वज्ञापनाय हीति। अतो हि कर्मणामपसारतां ज्ञात्वा भगव-  
दर्धेणु रमते ततः कर्मप्रभस्तस्याऽप्युक्तो भवति। एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वम्। कस्या-  
पीत्याह स्वस्वरुचिश्चापीति। “परावरेयाम्” (३-५-१०) इति श्लोकेन स्वस्वरुचिका।  
‘महाभिः’स्यपसंहारे पि। नन्ववतारचरित्रमपि नोचरे निरूप्यत इत्याशङ्क्याह षट्सु  
सर्वं प्रतिष्ठितामिति। स्थितावताराणां प्रवेशं मन्यते। उच्ये वाऽनुप्रवेशः ॥ ३५३ ॥

‘कल्पानुगाम्’ ‘मुनिर्विशुः’ ‘सा श्रद्धानस्य’ ‘गान् सोऽव्योक्तव्या’ निति षट्भिः श्लोकैः कथा-  
यामेव सुखसाधकत्वपदेदत्तमान्येषां दुःखसाधकत्वमेवेति शास्त्रार्थनिर्द्धारो विदुःस्थेत्वर्यः। ननु गृहं हि  
श्लोकं सुखसाधकं तदासक्तिनिवर्तकमेव कथं कथायाः सुखसाधकत्वमिति हेतुर्वयं भविष्यादीत्या-  
शङ्क्याह गृहसासक्तिरिति। दुःखात्मकमिति। अहन्तामनतयेतरे दुःखत्वात्। अन्यथा जीवोऽस्त्रामक  
इति स्वानन्द च सर्वदातुभवेदित्यर्थः। नन्वेतावता कर्मणां दुःखसाधकत्वं कथं निश्चितमित्याशङ्क्याहः  
कर्माणि स्थिति। गृहासक्तैव कार्यरूपाणि कर्माणि तदभावे विरक्तस्य सर्वव्यागेन मोक्षसाधक-  
वर्त्मनि प्रवेशादित्यर्थः। अत इति। यतो गृहासक्तिमुक्तानि कर्माणीत्यर्थः। उचितमेवेति। दुःखा-  
त्मककारणजनन्यानां तेषां गृहासक्तिकोषकत्वादिति भावः। स्यामः सुखात्मक इति। सुखलोफयमेव।  
दुःखात्मकगृहादे त्व्यागस्य सुखरूपायान्। अत एव ‘व्यागेनेने अमृतत्वमानुशु’ रिति श्रुतिः। नन्वेवं  
सति स्वयमेव पूर्वं कर्माणि किमर्थं गृहवान् पशुं वा किमिति तदुत्तरं दत्तवानित्याशङ्क्याह भक्त-  
त्वेति। ‘सुखाय कर्माणि करोति लोक’ इतिप्रश्नव्याप्त्यर्थं कर्णात् स्वयमेव तदुत्तरदानेन कमेत्य-  
परातावगमवोधानन्वामित्यनेन स्वनिश्चयज्ञापनाच्च स्वस्य भक्तत्वमेव ज्ञापितवन्त्याऽपि भक्त्या  
भगवदीयो न भगवत्परिचरं वदेदिति भावः। ननु भक्त्यभेदानेन कथं ज्ञापितं ज्ञानिनोऽपि कर्मण्य-  
पसाराताप्रणीतिरित्याशङ्क्याह भगवदर्धेणुश्चिन्तितः। भगवदर्धेणु भगवत्कथाश्रवणदिदु मक्ता एव परमानन्दं  
प्राप्नुवन्ति न ज्ञानिन इत्यर्थः। अत एवोक्तमार्च्यैर्निरोधपञ्चणे ‘वे निरुद्रास्त एवात्र मोदसाथा-  
स्तद्वर्तिनामिति। तत् इति। यतोऽयं भक्तोऽस्तस्य स्वनिमित्तं कर्मप्रश्नो न युक्त इत्यर्थः। एवं  
ज्ञापनेनेति। एवमनेन प्रकारेण प्रभस्वरूपज्ञापनेन यद् भक्तं ज्ञापितं तत् न शास्त्रार्थज्ञानेन  
माहात्म्यज्ञानात् किन्तु प्रेरणापीति ज्ञापयितुमाह कृष्णापीति। रुचितु ‘परावरेयाम्’ इति श्लोकेनेवेति।  
तत्रापि प्रेरणा आधिक्यज्ञापनाय शास्त्रार्थज्ञानज्ञापकलोकरुद्रगृहयात् पूर्वमेव रुचिकेति भावः। महा-  
मिति। कदाचिदित्यर्थं प्रश्नोत्तरकथनेऽपि ‘यानीश्वरः कीर्त्तय तानि महा’ इत्यत्रान्तो ‘महा’ मित्यत्रान्तो ‘महा’ मित्यत्रान्तो  
ननु दमयविधमगवत्परित्याग्येव कथयत्वमिप्रणयेण ‘महा’ मिल्युपसंहारोऽपि भक्तत्वज्ञापक इत्यर्थः। ननु  
भेदवैयण्यनवतारसामयिकलीलाषट्कमेवोत्तरे निरूपितमित्यतारचरित्रप्रश्नः स्वार्थोऽपि नोचरित इत्या-  
शङ्क्याहः स्थितामिति। षट्सुत्तरेऽपि स्थितिलोकोक्तं तन्मय एवावतारचरित्रप्रवेशादित्यर्थः।  
अवमभिप्रायः। स्थितामिप्रणयेन भगवदवताराभावे स्थितिर्न भवति। ‘स त्वं त्रिकोक्तसित्ये  
विभर्षी’ ति वाक्यात्। अत एव अगस्त्यित्यर्थं नारायणवतारेण तपःकरणम् ॥ ३५३ ॥

ननु “तत्साधुवर्षादिश बर्त्म शं नः” (३-५-४) इति प्रश्नोऽनुपपन्नः, प्रश्ने  
वा उत्तरे वा समानाभावादित्याशङ्क्य समाचरे-

इष्टे प्रसिद्धान्येहेतोर्भंगश्रीणनेऽपि च ॥ ३६ ॥

उत्तमे पथि संप्रथ आद्यावेतो यथोत्तरम्।

इष्ट इति। इष्टं सुखदुःखाभावे भगवत्कीर्णने वा प्रसिद्धहेतोर्भावादन्वो हेतुवै-  
कल्य इति लोकोपकारार्थं प्रश्न उचितः। अत एवाद्यावेतो सर्वसाधारणो लोकोप-  
कारार्थं स्वायं च यतनीयमिति। नन्वस्योचरानावात्कथं प्रश्न इति तत्राह यथोत्तर-  
मिति। यथायदुत्तरम्। उत्तरवाक्ये प्रथमत एव “लोकान् साव्यनुष्टुत” (३-५-१८)  
इति प्रश्नसाधाः कृतत्वात्। तृतीयोत्तरेणैवाऽऽयोत्तरं यथावदुक्तमित्यर्थः ॥ ३६३ ॥  
तत्र हेतुः-

उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम् ॥ ३७ ॥

अतः समाजने तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः।

उत्तरत्वेन कथनादिति। तदेव स्पष्टयति उत्तरं कर्मणि स्थितम्। भगव-

नन्वेवं ‘तत्साधुवर्षादिशेऽयनेन मार्गप्रश्नो’ इत्यर्थः। कर्मप्रश्नस्य लोकार्थत्वेन स्वस्य मत्त-  
त्वज्ञापकत्वात्। न च लोकार्थमेवायं प्रश्न इतिवाच्यम्। ‘पूर्ववत्कोक’ इति प्रश्नवाच्यं कथनात्  
प्रयुक्तं ‘न’ इति स्वाधिकेन कथनाच्च। न च मार्गप्रश्नो लीलाकार्येणोत्तरेण पृथक्त इति वाच्यम्।  
उत्तरे लीला एव निरूप्यन्त न तु तत्पृथगादि येन प्रश्नोत्तरयोः समानं वाक्यं भवेदतोऽनुपपन्न  
एवायं प्रश्न उत्तराभावात्। इष्ट इति। सुखदुःखाभावोरूपे इष्टे लोकानां प्रसिद्धो वो वेदादी  
कर्मरूपो हेतुः स तु प्रयत्नविरोधान् च सम्भवतीत्यस्य एव तत्र हेतुर्वाच्यस्तथा भगवत्प्रत्ययेऽपि  
तस्य ‘भक्त्येव तुष्टिमयेति’ ‘भक्त्या तुतोष भगवान् गज्युपपाये’ विद्वान्कथेत्तः कर्मपरा भगव-  
न्यामार्गज्ञानात् कथं सुखवन्तो भविष्यन्तीति तेषु दयया तदर्थं तदन्तरतमव्यवधानेन मार्गप्रश्न  
इत्यर्थः। अत एव सर्वोपप्राप्तेण ‘न’ इति बहुवचनम्। अन्यथा चरित्रप्रश्ने महाभूमिति वदन्नापि एक-  
वचनमेव वदेदिति भावः। अत इति। प्रश्नवाक्यविचारेण सर्वार्थवैधैती प्रत्यायितास्तस्येत्यर्थः।  
आद्यावेतामिति। भगवत्कृतानां दशावृत्तेन ‘यथमयोपकारविचारस्योचित’ इति अर्थः। लोकोपका-  
रार्थमिति। तदैव दयासिद्धेरिति भावः। स्वार्थं चेति। स्वार्थं प्रयानामावे स्वामिनि कर्णानां सिद्धे-  
रिति भावः। अत एव ‘वृद्धेमाद्य’ मिति श्लोके ‘आद्ये’ इत्यनेन तस्यात्वात्तिस्युक्तम्। अस्त्येति।  
लोकार्थप्रत्ययेत्यर्थः। उत्तराभावात् इति। उत्तरे लीलाकथनरूपे भगवन्मार्गज्ञानादित्यर्थः। कथं  
प्रश्न इति। अत्रियार्थं प्रश्नकर्त्तुं विदुःऽतिसुत्तरे न सम्भवतीति केन प्रकारेण प्रश्न इत्यर्थः। यथाव-  
दिति। प्रश्नो यथा येन प्रकारेण तदन्वैवेत्तत्निरूपणात् प्रथमत एव ‘लोकान् साव्यनुष्टुत’-  
तिप्रश्नासारकाचारत्रिनिश्चयकतृतीयप्रश्नोत्तरेण लीलाकथनरूपेणैव श्रीभागवतरूपत्वेनोक्तं लोको-  
पकारोत्पत्कारत्वप्रकारणोत्तरं निरूपितमित्यर्थः ॥ ३६३ ॥

तत्रोत्ति। उभयोपकारकथनमित्यर्थः। उत्तरत्वेनेति। पृष्टस्य सर्वस्य निःसिद्धत्वात्ता वा असिद्धी

चरित्रकथने पर्यवसितम् । अत एव स भाजनम् । तदुच्यते च आद्ययोरप्युच्यते चरित्रमिति ।  
दुःखाभावः सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव । तेनैव भगवानपि तुष्यति ॥ ३७ ॥

ननु भक्तानां स्तुतिः कुत्रोपयुज्यते तत्राह-

कार्यमृष्टौ स्वन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः ॥ ३८ ॥

विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोऽपि सुदुष्करम् ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः ॥ ३९ ॥

कार्यमृष्टौ स्वतन्त्रमिति । पीत्रोत्पत्तौ पुत्राणां भवितुं प्रकृते तेषानां स्वतन्त्रता । ननु सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि भातादाश्रयत्वाच्चक्षुतत्वादिस्वाङ्ग्याह विशेषतस्तु कथनमिति । तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनं तत्राह श्रवणादिप्रसिद्धयर्थमिति । श्रवणकीर्तनादेर्विषय एतादृश इति ज्ञानार्थः ॥ ३९ ॥

लीलाकथनस्योत्तरत्वमेव न स्यादिति भावः । तदेवेति । उत्तरत्वमेवेत्यर्थः । भगवच्चरित्रकथन इति । भगवत्स्वरूपत्वेन भगवच्चरित्रे कथिते सर्वेषामिषोपकाराहोक्रियविषयकस्वविषयकप्रश्नयोर्तरं भगवच्चरित्र एव पर्यवसितमित्यर्थः । अत एवेति । यतः प्रश्न एतादृशः कृतो यत्र भगवद्गीलातिरिक्तं नोत्तरत्वेन वक्तुं पतत्यतः 'साधु गृह'मित्यनेन प्रश्नकृतैः सामाजनमभिमन्दनमित्यर्थः । तदेव विदुष्वन्ति तदुच्यते चेति । चरित्रप्रश्नोत्तरणैवेत्यर्थः । आद्ययोरपीति । कर्मभगवन्मार्गविषययोः प्रश्नयोरित्यर्थः । आद्ययोरुत्तरं येन प्रकारेण भवति तं प्रकारमाहुर्दुःखाभाव इति । उत्तरत्वेन निरूपितेन तत्कृत्यनं सिद्धमर्थात् तथा च लीलाश्रवणमेव दुःखाभावसुखकर्मोभयपुरुषार्थाधिकं स एव च मार्ग इत्युभयो-  
रुत्तरमन्वेन जातमित्यर्थः । ननु लीलाश्रवणस्य कर्म मार्गत्वमिवाशङ्क्याहस्तेनैवेति । श्रवणेनैव भगवान् तुष्यति 'शृण्वतां स्वकथा' इति वाक्यादिमर्थः ॥ ३७ ॥

नन्वत्र प्रकरणे देवतारूपाणां पुरुषशरीरकारणभूतत्वानां स्तुतेः कुत्रोपयोगः सृष्टानुपयोग-  
गादित्वाशङ्क्याः पीत्रोत्पत्तादिति । यथा पीत्रोत्पत्तौ पीत्रोत्पत्तिविषय पुत्राणां भवितुं स्वानुत्पन्नं न पितृस्त्वपुत्रेण स्वेच्छया पुत्रोत्पादनफलकरणात् तथा तत्वानामपि स्वकार्योत्पादने स्वात्तन्त्र्यं मन्त्रियतीति शङ्का स्यात् तदभावाच्च स्तुतिनिरूपणमेव तदर्थान्तरमनुकूलमित्यर्थः । प्रकृतोपयोगीति । प्रकृतं गुणातीतसृष्टिसाधुपयोगि सामान्यतो निरूपणं एतावद् यावदत्रोच्यते तावत् भारत-  
विश्वपुराणादावपि श्रुतत्वाद् तत्र विशेषतो निरूपणं कर्तव्यमित्यत्राशयानाशङ्क्यर्थः । ब्रह्मणोऽपि । मूले ब्रह्मणश्चतुर्मुखत्वात्तदुक्तसामर्थ्यवशेऽपि भगवद्गीलाया अनन्तत्वाद् यावदुच्यते तावत् स्वल्पमेवेति तत्त्वापि विशेषतो निरूपणं सुदुष्करमित्यर्थः । तर्हीति । विशेषतो निरूपणाभावे कथयत्येवात्र किं प्रयोजनं सामान्यतो निरूपणस्य सर्वत्र भारतादिषु सत्येन तत एव श्रवणसिद्धिरित्यर्थः । श्रवणकीर्तनादेरिति । 'तस्माद् भारते'तिषु श्रवणादिविधिः प्रतिपादितस्तत्र श्रवणादेर्विषयः सर्वादिरेतादृशः श्रीभागकतोक्त एतदानुपूर्वीविशिष्टो न भारतात्कृत्स्न लीलास्वरूपत्वेन सर्गादीनाम-  
प्रतिपादनादतस्तद्विषयस्वरूपज्ञापनार्थो भवेत्यस्यैवं प्रकरणे समकथनाभिप्राय इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अतश्चरित्रस्याऽनन्तमौषमाशङ्क्याह-

सर्वावतारवीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा ।

गुणातीतात्सृष्टिलीला द्वयेनैव निरूपिता ॥ ४० ॥

सर्वावतारवीजत्वाविति । अध्यायद्वयार्थद्वयसंहरति गुणातीताविति ॥ ४० ॥

सगुणां तु त्रयेणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।

ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥ ४१ ॥

सगुणा तु लीला त्रिभिः । सृष्टिमगवतोमध्ये गुणानामधिकारत्वात् । ते हि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धा निरूप्यन्त इति ज्ञापयितुमाह पूर्व-  
पक्षाधिकत्वत इति । अत्रापि कारणसम्भूतिः कार्यसम्भूतिरित्यध्यायद्वयम् । तत्र

अतश्चरित्रस्येति । उत्तरे बहुविधलीलानिरूपणे स्थितावताराणां तद्वेतुत्वानन्तमौषोऽ-  
वतारचरित्रस्य साधुपत्राणदुष्टविनाशहेतोर्मुक्तादिरूपस्य तु कुत्रान्तर्भावः, मुक्तिदातृत्वेन प्रथमे स्थितशरीरादिनाशान्न स्यितानुपुत्रस्य धर्मसहितस्य रक्षणे चान्तर्भावोभावस्यत्वात् । अत एव नानावर्काम्यप्रकारेभ्यः प्रकारादिप्रश्नविषयचरित्रे च नान्तर्भावः । सर्वेति । 'पुरुषेणामृतमेव वीर्यमाधत्त वीर्यम्' इति श्लोके पुरुषनिरूपणं कृतं तत्कथा च मायायां वीर्याधानरूपोक्ता । तथा च स सर्वाव-  
तारवीजोऽतजानावताराणां' इति वाक्यादतस्तत्करानिरूपणेन सर्वावतारकथा निरूपितेति भावः ।  
अध्यायद्वयार्थमिति । पञ्चमपद्याध्यायार्थमित्यर्थः ॥ ४० ॥

त्रिभिरिति । लक्ष्यैरित्यर्थः । नन्वत्र पूर्वसर्गात् कौ विश्वोऽप्रापि भगवत एव मूलवप्रातिपा-  
दनादित्वाशङ्क्याः सृष्टिर्भगवतोऽपि । सृष्टिः कार्यं भगवान् कर्ता तथास्यैव 'भगवानेक  
आसेद' इति वाक्यात् नोऽपि स्थितः । पूर्वसृष्टेः भगवत एवासृष्टायकर्तृत्वादेतत्सृष्टे इति गुणा एव  
भगवतः कर्तृत्वेऽधिकारकथा इति तदस्वीकारे केवलस्य कर्तृत्वामावादादिति गुणत्वं सृष्टिप्रयोगकमेति  
पूर्वसर्गाद्विशेष इत्यर्थः । ते हीति । मतान्तरभाषया साङ्ख्यव्याख्यासिद्धा गुणा निरूप्यन्ते वेदे  
भागवते च समाधिभाषया भगवति गुणसम्भ्रम्ययानुत्तज्जात तैऽपि पूर्वपक्षवाक्येभ्येव निरूप्यन्ते न  
सिद्धान्तवाक्येषु तेषां परमतस्यसिद्धज्ञापनार्थेभ्यः । ननु तथापि 'सेयं भगवतो मायै'त्यादिनामे  
माषया भगवच्छक्त्या गुणसम्भ्रम्यस्य सिद्धान्तवाक्येषु वक्तव्यत्वेन तदुच्यन्तात् पूर्वोत्तरगुणातीतसृष्टि-  
निरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्याः पूर्वपक्षाधिकत्वत इति । अत्र प्रकरणे सगुणमृष्टावपि पूर्वपक्षा-  
णामेवाधिकत्वं न सृष्टेर्विसर्गरूपसगुणसृष्टिवत् साङ्ख्य इव मायागुणैः मृष्ट्यानेरूपणात् किमु  
भगवद्गुणावतारब्रह्मरूपरजोगुणासाहित्यमेवेति गुणातीतसृष्टिसामान्यत्वेन, सगुणत्वोक्तिस्तु स्मृणुजः-  
प्रकृत्येन तस्मादित्येवादातेत्यर्थः । अयमर्थः । एते यतोऽपि सत्त्वादयः सच्चिदानन्दानामेवाभूता भगवत  
एव, तत्र सति सर्वं, चित् रजः, तन आनन्दे, तेषामेवावतारा ब्रह्मविष्णुशिवः प्रथमे फलदानाय

कारणं ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत् । तत्कालशेषत्वेन निरूपणीयमिति स्तोत्रमेव कार्य-  
त्वेन निरूप्यते सफलम् ॥ ४१ ॥

एवं सामान्यतत्त्वयाणामध्यायानामर्थो निरूपिताः । अधुना विचार्यन्ते ।  
नन्विषं लीला विसर्गे न सग्रे इत्याशङ्कयाह-

एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता ।  
साधारण्यैः कथनं प्रकृते नोपयुज्यते ॥ ४२ ॥  
अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।  
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्वि विविच्यते ॥ ४३ ॥

त एव बहुविधसंगेषु मायासृष्टौ कदाचिन्मायया परिगृहीतास्तदुणा उच्यन्ते यथा भगवत्  
ऐश्वर्यादयो विभूतिरूपेषु स्थितास्तदुणास्तथा च तस्युष्टौ न मूलभूतसृष्टित्वमुच्यते विभूतिकार्येषु  
मूलभूतकार्यत्वमिव, वस्तुतस्तु ब्रह्मवादे सर्वं मूलकार्यं तथापि लीलायां भेदस्तदुपेण करणात् प्रकृते  
तु सर्गलीलेषु मूलरूपेण भगवच्छब्दाच्येनोच्यते श्रोतव्यत्वेनेति न तादृशसगुणमृष्टिरूपकत्वमस्य  
प्रकरणस्येति पूर्वपक्षरूपेणैव तेषां गुणानां निरूपणमिति भावः । अत्रापि । अस्मिन् सगुणप्रकरणेऽपि  
गुणातीतप्रकरणवदेव कारणकार्यसृष्टिर्बोध्यते न विदग्धरूपा सगुणसृष्टिरित्यर्थः । तत्र विभूति-  
रूपानां सत्त्वादिभेदेन सनकादिमरीच्यादिमहादेवादीनां त्रिगुणानामेव सुधैर्निरूपणीयत्वादिति भावः ।  
कारणं ब्रह्मेति । रजोगुणसहितो भगवानित्यर्थः । स्तोत्रमेवेति । यथापि ब्रह्मकार्यं सर्वमेव त्रिगुण-  
त्मकं जगत् तथापि तदत्र कार्यत्वेन न निरूप्यते विसर्गनिरूपणपत्रेतस्तत् सृष्टिकारणरूप ब्रह्म-  
स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते, तदप्र तद्विभूतिरूपणार्थं काशप्रकरणे कारणभूतकाशशेषत्वेनैव  
तदधीनात् ब्रह्मणो निरूप्यत इति न कुत्रापि मुख्यविसर्गनिरूपणमिति सर्वप्रकरणेषु सर्गनिरूपणं  
निष्प्रयुद्धं सौत्यतीति भावः । ननु स्तोत्रस्य कार्यत्वोक्तिस्तदुपपन्ना ब्रह्मणा कृतत्वेऽपि न जगत्सृष्टि-  
रूपत्वमित्याशङ्क्याहः सफलमिति । स्तोत्रमात्रमेव नात्राप्याप्ये निरूप्यते किन्तु तत्कथने क्रिय-  
माणजगत्प्रकाशनं 'व्यज्येदं कृत्वा नामास्तितोदध' इति वाक्यानिरूप्यत इति सूत्रप्रकारेण सर्वोपि  
सृष्टिर्ब्रह्मणो हृदयागतता निरूपितेति तद्विचारं स्तोत्रं सृष्टिकारणात् कार्यरूपमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

त्रयाणामिति । सप्तमाध्याये पूर्वपक्षत्वेन गुणनिरूपणं मायाया भगवच्छक्तिव्यनिरूपणं नाम्य-  
गुणसम्बन्ध इति तदंशस्य जीवस्य विशेषणनिरूपणमा मायया विशेषणत्वं तद्गुणसम्बन्धे 'स वै निरु-  
क्तिर्मणे'त्यादिना तस्मिन्तर्कोपायान्मगककृतमत्स्यदिक्तमुक्तं तथाप्ये कारणभूतब्रह्मोत्पत्तिरुक्ता  
नकमे तत्कार्यरूपं सृष्टिसहितं स्तोत्रमुक्तमिति सामान्यतत्त्वयाणामध्यायानामर्थो निरूपिता  
इत्यर्थः । अधुना विचार्यन्ते इति । एते त्रयोऽप्यर्थः पूर्वोक्तसर्गरूपत्वद्वीकरणया पूर्वपक्षसिद्धान्तात्मां  
विचार्यन्त इत्यर्थः । इयमिति । एतत्प्रकरणोक्त्यर्थः । विसर्गमद्य इति । कारणभूतब्रह्मस्वरूपनिर्णय-  
पूर्वकं चतुर्भूतोत्पत्तिनिरूपणेऽपि सृष्टिर्ब्रह्मताया एव निरूपणमदित्यर्थः । प्रथमभूतस्वरूपमिति ।  
'एतच्छब्देन नामिभक्तस्मितब्रह्मसहितं सर्वजगत्समस्मिन्निरूपं तदारम्कं मूलभूतसृष्टिकारणरूपमुच्यते,

एतद्विभूतिरूपत्वादिति । एतदिति प्रथमसृष्टिस्वरूपपुरुषरूपमुच्यते । अन्येषां  
ब्रह्मादीनामस्मिन् विभूतित्वं, ब्रह्मादीनामस्मिन् च विसर्गता । उभयोः किं प्रयोजन-  
मित्याकाङ्क्षाधामाह साधारण्येन कथनमिति । भागवतं हि सारोद्धारात्मक-  
द्वयमाधिकारसहितं च । तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम् । तर्हि  
विसर्गो न वक्तव्य इत्याशङ्क्याह यादृशो हि विसर्ग इति । तस्य न विभूतित्वं  
सम्भवित्यतीति भावः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

गुणातीता सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वत एव निरूपिता भगवदाज्ञया । तावता

तथा च तत्कार्यभूतानां करणत्वेनोक्तानामपि ब्रह्मादीनां मूलभूतविभूतिरूपत्वमेवेति विभूतिरूपवि-  
सर्गनिरूपणमेव न मुख्यविसर्गनिरूपणमित्यर्थः । अत एवान्येषां ब्रह्मप्रकृतीनां विभूतिरूपत्वं न  
ब्रह्मण इत्याशङ्क्य तस्यापि मूलरूपविभूतित्वमेवेत्यभिप्रायेणाह ब्रह्मादीनामिति । ननु ब्रह्मणः सर्व-  
कारणस्य कथं विभूतिरूपत्वमित्याशङ्क्याह इति चेति । गीतायां विभूत्यध्याये 'यथापि सर्वभूतानां  
बीजं'मिति वाक्यमेव तस्यापि तत्त्वेन निरूपणादिति भावः । ननु विभूतित्वेऽपि कार्यरूपत्वाभावात् कथं  
विसर्गता स्वत एव जातत्वादित्याशङ्क्याह विसर्गतेति । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं'मिति वाक्यात्  
तथात्वपर्ययर्थः । उभयोर्गतिः । यदि ब्रह्मादीनां विसर्गत्वं तदा सगृह्यते सर्गविसर्गो निरूपणे  
किं प्रयोजकमित्यर्थः । भागवतं हीति । 'सर्वदेवतिहासानां सारं सारं समुक्तं'मिति वाक्यात्  
भागवते सर्गादीनां सारोद्धार इति सर्गोद्दिपुः । सारोऽः साक्षात्पुरुषोत्तमलीलाकारो मोक्षरूपस-  
र्गदिरूपः स गृहीत इति स यादृशः स्वविभूतिसहितो भगवानेव तादृशोऽत्र निरूप्यत इति  
पुराणान्तरे सर्गादीनां यत् साधारण्येन स्वविभूतिं विद्याय केशवं तन्मात्रनिरूपणं तत्रोप्युच्यत  
इत्यर्थः । किञ्च श्रोत्रनिकारवैशिष्ट्यादपि न साधारण्येन कथनं घटत इत्यभिप्रायेणाह चत्मा-  
धिकारसहितं चेति । अत्राधिकारी परमोत्तम एव प्रतिपादितः परीक्षितद्विरुद्धाभ्यां निरूपणं  
त्वेतदुत्तमातावाग्यर्थमिति तादृशेषु सर्वोत्तमेषु सर्गोदिकं वक्तव्यमित्यर्थः । तेनेति । येन हेतुना भाग-  
वतं सारोद्धाररूपमधिकारश्रोतमस्तेन न पुराणान्तरसमतया सर्गोदिकं निरूपयमित्यर्थः । विस-  
र्गत्वेनेति । किन्तु सर्गविभूतित्वेनेत्यर्थः । तर्हि विसर्ग इति । विसर्गस्य सर्गविभूतित्वे तस्यात्र  
निरूपणाद्युत्तरं स्वतन्त्र्येण तस्मिन्निरूपणं न कार्यमित्यर्थः । यादृशो हीति । विसर्गोऽपि सर्ग-  
वत् साक्षाद्गवहलीलाकारः विभूतिकाः, तस्य अर्थादेवः पुरुषार्थो विभूतवत्तथा च तत्सहितव्युत्प-  
न्नत्वे चतुर्भिः प्रकारैर्निरूप्यत इति तस्य स्वविभूतिसहितत्वात् न विभूतित्वं सम्भवित्यत्र  
तु तदनिरूपणम् विभूतिरूपत्वमेवेति भावः ॥ ४३ ॥

ननु मैत्रेयेण भागवतं तु सप्तमाध्यायमारभ्योक्तं यथापि कौत्सयाम्बु यथामति यथाशुभ-  
मिति वाक्यात् । तथा चाध्यायव्यथीयकथा न भागवते प्रवेक्यतोऽयाशङ्क्याहः स्वत एवेति । विशिष्य-  
विदुःप्रश्नात्वेऽप्यनुचितत्वमप्यन्याभिः भगवदाज्ञयोर्द्वयव्यवहारात्मकप्रताया स्वत एव भगवदुक्त-  
गुणातीतसर्गरूपा पराकाशपन्ना लीलोक्तेति भगवदुक्तत्वाद् भागवत एव प्रवेक्यतीति भावः । ननु  
तथापि कथनमुचितं प्रश्नाभावे स्वस्य सापेक्षतादीपसम्भवादित्याशङ्क्याहस्तावतीति । न हि सामा-

विदुरस्याकाङ्क्षायां असमाप्तौ सर्वसन्देहवारकं भागवतमेवेति सूतवत् शुक्रवद् भागवत-  
मेधोपक्षिपति । तत्राऽस्य परम्परा शेषात्सङ्क्षेपात् । तथा सति ब्रह्मादिकमेव नाऽऽग-  
तमिति कथं भागवतमित्याशङ्क्याह—

कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।

अयमर्थस्त्वन्यमुखात्रोद्भविव्यति कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

कृष्णोक्तमिति । भगवता प्रोक्तं भागवतम् । गीतादीनामपि भागवतत्वमेव,  
परं न पुराणत्वम् । न ह्यन्यो भगवद्गीतां जानातीत्यभिभाषेणाऽऽह अयमर्थः  
इति ॥ ४४ ॥

न्यतोऽप्यश्रुते भगवत्पाकाङ्क्षा श्रोतुरिति तदाकाङ्क्षोपादानार्थमेव भगवदुक्तं, सूक्तमतं भागवतमुक्तं  
तदपि भगवदक्षेपेति वस्तुतो भगवतैवोक्तमन्यथा 'तद्विस्ताररूपभागवतश्रवणाकाङ्क्षा न भवेदस्तथा-  
ना गुणातीतसर्गनिरूपणेन तस्याकाङ्क्षायांमये भागवतनिरूपणं सत्स्वतीति तदुत्तरार्थमेव तस्मि-  
रूपणान् मेत्रेयस्य सापेक्षतादोषः सम्भविव्यतीति भावः । अत एवाग्निप्रकरणम्मे साकाङ्क्षता-  
ज्ञापिकैः विदुरस्य पूर्वपक्षकृतिरन्यथोपेक्षेव कृता स्यादिति भावः । समाप्तमिति । गुणातीतकरण-  
समाप्ताधिक्येः । सर्वसन्देहवारकमिति । एतच्छ्रवणेन विदुरस्याकाङ्क्षोत्पन्नेत्यवगत्य भगवदुपमेव  
भागवतं ' भित्तव हृदयप्रन्धि'पिति श्रुतेः सर्वसन्देहवारकं न जीवद्भिरिति तदेव वक्तव्यत्वेन  
विदुरस्याग्रे ' अथापि कीर्तयामीति वाक्येनोपसिपति समीपे उपप्रापयतीत्यर्थः । ननु स्वातन्त्र्येण  
कथने काण्वादीनामिव स्युद्धिपरिकल्पितान्यमेव भवेत् भगवदुपमेवमित्याशङ्क्याहः सूतवत्शुक्रव-  
दिति । ' सोऽहं वः प्राविविष्यामि ' ' एवमेतत् पुरा पृष्ठः ' ' अथोतवान् द्व्यपारादां विद्यादि-  
वाक्यैः सूतशुक्रान्यां यथा न स्वातन्त्र्येणोक्तं तथा मेत्रेयेणापि न स्वातन्त्र्येणोक्तमित्यर्थः । ननु  
तथापि मेत्रेयोक्तव्यं न भागवतत्वं शेषपरम्परयाऽप्राप्तत्वात् । ब्रह्मादिपरम्परा प्रास्तस्यैव तत्कादिक्या-  
शङ्क्याहभगवता प्रोक्तमिति । ' भागवत'शब्दो न रूढः पुराणविशेषे किन्तु यौगिकः । तथा च  
तेन प्रोक्तमित्यधिकाराकाण्डप्रत्ययेन भगवदगोक्तत्वं तस्य शब्दस्यार्थः । अतः सर्वोद्य परंपरासु भगव-  
द्गोक्तत्वमेतन् व्यभिचरतीति मेत्रेयोक्तस्य ब्रह्मपरम्परातिरिक्तपरम्परागतस्यापि भागवतत्वमित्यर्थः ।  
नन्वेवमस्य शब्दस्य यौगिकत्वे तमादाय गीतादिभ्यपि तथा व्यवहारः स्यादित्याशङ्क्याहभगवत-  
त्वमेवेति । अन्यथा तद्विस्तारत्वमपर सर्वथा भेदे न स्यादिति भावः । नन्वेवं व्यवहारो न द्रष्टव्ये  
गीतादिभ्यस्त्विति रूढ एवायं शब्दो निरूप्यतामित्याशङ्क्याहभगवतपुराणत्वमिति । गीतायां वस्तुतो  
भागवतत्वमेव तत्सूक्तमरूपत्वात् तथापि पुराणगणनायां विस्पष्टतया पुराणरूपेऽस्मिन्नेव भागवतशब्द-  
प्रयोगेण तत्रैव व्यवहारो गीतायां पुराणरूपत्वाभावेन न तथा व्यवहार इति भावः । वस्तुतस्तु व्यव-  
हारेऽपि तथा न दोष इति ज्ञेयम् । ननु व्यासोक्तोऽस्मिन् मूलतो भगवत्प्रोक्तव्यमादाय भागवतशब्दो  
निरूप्यते तथा च रूढो व्यासस्य भगवद्वक्तारत्वेन तज्योक्तत्वाद् यौगिको वा सर्वपुराणस्युत्तिसा-  
धारण उच्यतमित्याशङ्क्याहृदयमर्थ इति मूले । न ह्यन्य इति व्यासो हि कलावतारः पुरुषोत्तम-

नन्वत्र परम्परायां पराशरान्त्रैयस्याध्ययनम् । तत् तु विष्णुपुराणमाहेति प्रसि-  
द्धिस्तस्मादस्य न भागवतमित्याशङ्क्याह—

वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।

सर्वतोमुखमेमद्धि तदर्थं शेषतः कथा ॥ ४५ ॥

अर्थमात्रप्रधानत्वात् दूषणमिहाऽण्वपि ।

वैष्णवादिपुराणानीति । " त्रयोविंशति वैष्णवम् " इति । त्रयोविंशतिसहस्र-  
परिमितं पुराणं भिन्नमेव, तस्यासौचैव कृतम् । " अष्टादशपुराणानाम् " इति चाख्यात् ।

धर्मवैतैव तद्वर्द्धनाभावतारवाञ्छा स्वरूपेया चागतं लीलाभिरूपकपुरुषोत्तमस्वरूपमेवेति तस्मिन्-  
रणं ' स्वयामात्मनामिति वाक्यात् तच्छ्रेयं कर्तव्यमिति मूलभूतभगवत्प्रोक्तव्यमादायात्र भागवत  
शब्द इत्यर्थः । अत एव पूर्वमुक्तं निबन्धे ' ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बलं भजनाद् कृतं ' इति ॥ ४४ ॥

ननु तथापि मेत्रेयोक्तस्य न भागवतत्वमावाति एतत्परम्परायां पराशरतोऽप्यवनेन तेन च  
लोकप्रसिद्धयै विष्णुपुराणव्यापनात् पुराणमेतत् विष्णुपुराणं वैष्णवमेत्यर्थः । प्रसिद्धिरिति ।  
लोकप्रसिद्धिरित्येवार्थः । वस्तुतस्तु पराशरसहिता भिन्नैकेमेव वाच्यमिति भावः । तच्छेषाणीति ।  
पुराणसङ्ख्यागणनप्रस्तावे त्रयोविंशतिसहस्रलोकपरिमितं विष्णुपुराणं पराशरोक्ताद् भिन्नमेवै-  
तस्याण्वत्वात् । अत एव तद्विस्तारोऽप्यत्र रूपधर्मेण जातस्तस्माद् व्यासकृतमेव न पराशरकृतं  
लोकप्रसिद्धित्वात् अमात् । तथा च वैष्णवादिस्वेषां व्यासकृतानि पुराणानां दशलक्षणलक्षितश्रीमा-  
गदीयपञ्चलक्षणप्रतिपादकत्वात् तच्छेषमेव भागवतम् भगवत्परम्परासिद्धत्वाभावात् मुख्यव्य-  
मित्यर्थः । अन्यपुराणानां परम्पराप्रारम्भत्वाभावात्तद्व्यासोत्तमेव कृतमिति । व्यासेन स्वज्ञानकलेन  
प्रादुर्भावितमित्यर्थः । अन्यथा प्राणितं न स्यात्, पुरा न नवं पुराणमिति निरुक्तेः । श्रीभागवतं तु  
तेनापि तथापि परम्पराया प्रामाण्ये स्वज्ञानसामर्थ्येन कृतावादन्येषां पुराणानां तच्छेषत्वं दुष्प्र-  
त इति भावः । ननु विष्णुपुराणे तु लोकप्रसिद्धया पराशरेण परम्परा प्रास्तमेवास्तु तस्य व्यासकृतत्वे  
किं प्रामाण्यमित्याशङ्क्याहृदयमिति । एतस्य व्यासकृतत्वाभावि'ष्टादशपुराणानां'मिति वाक्ये सङ्-  
ख्यासुपपत्तेः । नन्वेवमष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेन श्रीभागवतस्यापि व्यासकृतत्वमेवावातीति सर्वस्य-  
हृदयव्यसिद्धिरिति चेन्न महाभारतात्तर्गतगीतावद्दशपुराणान्तर्गतत्वेऽपि मुख्यत्वोपपत्तेः । दशल-  
क्षणश्रितित्वाच्च । नन्वस्याष्टादशपुराणांन्तर्गतत्वोपासम्भवि महाभारतकरणानन्तरमेतत्करणत्वात्  
पुराणानामष्टादशानां तु भारतात् पूर्वमेवा'ष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुत ' इति वाक्येन कर्त्ता  
प्रादित्ति चेन्न अष्टादशस्यैव भागवतमिति सूक्तं ह्यवदुक्तवोपेतवादिच्छणं परं तत् पञ्चलक्षणमे-  
वेत्यस्माद् भिन्नम् । अत एव तत्र धर्मविस्तारवर्णनमुक्तं प्रकृते तु भक्तिः प्रतिपाद्यत इति मूलरूप-  
स्यावताररूपे प्रवेशाद्येतस्यापि परम्पराप्राप्तस्याधिकलक्षणमुक्तव्यं तत्र प्रवेश इति न भेदो नाप्यभेद



इयं तु पराशरसंहिता भिन्नैव । पराशरो हि आगवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथा बोधितवान् । तस्मात्तदपि आगवतमेवेति न कोऽपि विरोधः । ननु तथापि परम्परा भिन्नैवेति कथं आगवतमिति चेत्त्राह सर्वतोमुखमिति । भगवतो हि स्वरूपं ( भगवतैव )

इति सर्वसुपपत्तेः सङ्ख्यादिकमिति न वाक्यविरोध इत्यर्थः । ननु तथाप्येककर्तृत्वमेवावधारिते कथमेतन्मुख्यतोपपत्तिरिति चेत् कृष्णावतारे मूलरूपप्रवेशेन सर्वावतारसुखयवकवदेतत्पर भगवदाविष्टदवतारस्यासकृत्तत्पर तत्र प्रवेशेन तन्मुख्यत्वसिद्धेः । कृष्णावतारेऽनेपप्रसिद्धीतिवदत्राप्यनेपप्रतीतिः । अत एवाचार्यैः प्रथममेव ' भक्तिजनिकां संहितामारभमाण ' इति संहितात्वमेवोक्तं पश्चादेव पुराण-प्रवेशात् पुराणत्वं, खिलस्य हरिवंशस्य भारतप्रवेशाद् भाव्यत्वमिव । किञ्च सर्वेवाग्नेय पुराणानां धर्मप्रतिपादकत्वमेव स च धर्मो वैदिको वाक्यानि च तत्र स्वासिद्धिकाम्यबोधिनिबन्धानि, नापूर्वचना । तथा च स्त्रीशुद्रादीनां धर्मानधिकारिणां न तैः कार्यरिद्धिस्त्रीषी तु श्रुतिगोचरा न भवतीति कथं भवतिस्त्रिंशत्वं भविष्यतीति कृपया स्त्रीशुद्रादीनामर्थं सर्वेदादीनोंपवृत्तिं लौकिकव्यतिरेकस्य न त्वनवतारसामयिकभगवच्छीलारूपवेदार्थसंगीदिपञ्चलक्षणबोधकं भारतं कृतवान्, ततोऽपि कलौ न विस्तरो धर्मज्ञानेऽपि कलौ देशादिपृष्ठाभनाभावान् धर्मासिद्धेः । अत एव व्यासस्य शोकः सर्वोद्धारार्थं पुराणभारताधुपायकारणेऽपि कलौ तदनुद्धारत् तथा चावतारदशायां निःसाधनजनोद्भूतत्वे भक्तादुःखेन मूलरूपप्राकृत्यवदत्रापि व्यासदुःखेन परमकृपासुः श्रीभागवतरूपेण स्वप्राकृत्यं कृतवान् परं त्ववताररूपे तदवशावदत्रापि पुराणरूपे तस्मिन् प्रवेश इति नातुपपत्तिः काचित् । अत एवाचार्यैर्मङ्गलाचरणीयप्रमथल्लोके ' भक्तिवज्र स्वतन्त्रं शास्त्रं रूपं च लोके प्रकथ्यति य ' इत्युक्तम् । एतद्वेदानवगमात् तद्वाक्यमात्रमवलोक्य भ्राम्यन्ति विद्वांसोऽपीति सर्वमेवधम् । अत एवेतस्याध्वर्युपशुभोक्तिसिद्धिवाक्ये शुक्रप्रोक्तत्वं लक्षणमुक्तम् । ' वेदोच्छ्रयते भ्रमण्यमित्येनेन मुक्तितावकत्वं चोक्तम् । अन्यस्य तु व्यासकृतत्वमेव न शुक्रोक्तत्वम् । अन्यथाऽन्यथावर्तकं ' शुक्रप्रोक्त 'मिति विशेषणं न वदेत् । अत एवास्तोत्रिः कौरवदर्शनाभावेन शम्भुमात्रानुवादिनैव अर्थप्राकृत्याय जतएवास्य-दाचार्यवर्णितारः । भगवद्वाक्यत्वादवताररूपस्य व्यासस्य भजनाभावान् पूर्वं तदुद्धारनयोचितः । अत एव परीक्षिच्छ्रवणावसरे भजनसिद्धयर्थमेव श्रोतव्यम् । एतेन व्यासस्य कौरवस्य श्रवणसमये स्वकृतत्वस्फूर्तिरपि नासीदिति सूचितम् । इयं स्थितिः । पराशरेण मैत्रेयं प्रथमपिहित्वा भगवतार्थनिरूप-यिका संहितेत्यर्थः । ननु पराशरसंहिताया भगवतार्थत्वेन किं विनिगमकर्मियाशङ्क्याहः पराशरो हीति । साङ्ख्यात्मन्यवदानाधनन्तपरम्पराप्राप्तं आगवतं श्रुत्वेव मैत्रेयाय पराशरसंहिताकथनान् तथा-त्वमित्यर्थः । तत्रेति । आगवतार्थत्वेन तस्मै पराशरो बोधितवान्यित्यर्थः । ननु तथापि नास्य भगवतत्वं भगवच्छ्रद्धाच्येन परमकाष्ठापनेन प्रोक्तत्वाभावादित्याशङ्क्याहन्तं कोऽपीति । सङ्कर्ष-णस्यापि तदिदृशित्वेन भगवत्त्वादिति भावः । परम्परामिच्छेति । तथा च कारणभेदात् कार्यमपि भिद्येतेति परम्पराद्वयसिद्धयोर्भोगवतयोरेपि भेदः स्थादिति भावः । भगवतो हीति । लीलाविशिष्टं भगवत्स्वरूपं यव निरूप्ये तत्र यादृशं रूपं निरूपणीयं तादृशरूपेण भगवतैव तद् वक्तं

आगवते वक्तव्यम् । तद्भगवान् स्वयमेव कदाचिद्वदति । कदाचित्सङ्कर्षेणो वासुदेवस्यैव तत्त्वं वदति, " तन्वमतः परस्य " इति वाक्यात् । ननु तत्र वाक्यानुपूर्वीं विसरह्यो तत्कथमनयोरेकत्वं तत्राऽऽह अर्थमात्रप्रधानत्वमिति । सर्गादयोर्था यादृशा भगवते विविक्षितास्त एव पराशरवक्तृणोऽपि सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । ४५५ ॥

केचित्पुनः सूक्ष्मं भागवतं भगवद्भद्रसम्पादपरम्पराया समागतं द्वितीयस्कन्ध-मात्रम् । स्थूलं तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतमिति । तं पक्षं दूषयति—

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मुषैव तत् ॥ ४६ ॥

पञ्चमादन्यवत्कृत्वा तथा शास्त्रविरोधतः ।

स्थूलेति । पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरेणोक्तं, नापि व्यासः पराशराच्छ्रुत्वा

शक्यमिति । स्वतः स्वविभूतिरूपो वा भगवानेव वदतीति भगवत्प्रोक्तत्वेन भगवत्त्वमेवत्यर्थः । स्वयमेवेति यदा मूलरूपं तद्वैलाविशिष्टं परोक्षे भक्तानां बोधाय वक्तुमिच्छति तदा स्वयमेव तादृ-शाधिकारिणो वदति, यथाऽऽह । यदा पुरनवताररूपविभवा तदा तद्दुप्रेण, यथा नारायणो ब्रह्मणे । यदा वा विभूतिरूपमुक्तिदानादिकांविभवा तदा विभूतिरूपेण, यथा सङ्कर्षणः सनकु-माराय । तथा च सर्वत्र तत्तदूर्पमेवगानेव वक्तुं सर्वथास्य भगवदोक्तत्वंमेवत्यर्थः । कदाचिदिति । यदा ' तत्त्वगतः परस्यै 'तिवाक्यात् सङ्ख्याद्वयप्रतिपत्तयः वस्तुतोऽपि तदंशत्वात् परस्य वासुदे-वस्य तत्त्वं विवक्षितं भवति तदा ' सात्त्विकेण तु कल्पेण यः शोते सल्लिह्ये हरिः । वासुदेवः स विक्षेयस्तस्यऽशोन्नत उच्यते ' इति वाक्यात् तस्य सङ्कर्षणादित्येन तत्त्वस्य तदंशभूतेन सङ्कर्ष-णेन वक्तुमुचितत्वात् तदा तद्वारेव वदतीत्यर्थः । ननु तत्रेति । पराशरसंहितायामेतन्मुख्येनोच्य-मानायामित्यर्थः । विसरह्योति । विलक्षणेत्यर्थः । कथमनयोरेति । पराशरसंहितारूपमैत्रेयोक्तंमाग-वतमित्यर्थः । सङ्कर्ष इति । श्रीभागवतम् । सङ्कर्षवेदोमयविधस्य पूर्वं हृदये भगवत्स्मित-किन्दानरूपफलद्रव्यभानान् भक्तिसुखफलत्वेन तद्वर्षाकार्यस्यैव प्राधान्यं भगवद्भजनवत्, तथा च श्रीभागवते सर्गादयः पुरुषोत्तमलीलाखरा अथो यावद्भेदभिन्ना विवक्षिता वस्तुमिष्टास्तदृशा-एव पराशरवक्तुके तत्संहितारूपे भागवते सन्तीत्यर्थस्याहुर्मौषेयमित्यर्थः । शम्भुवेदस्य वेद-शब्दवदस्यापि फलवित्तवधोभयाना । अत एव पूर्वमुक्तितद्विद्वाराणामपि कृष्णो भवतीति हेतुः । इति । यथा वेदधारणेन नारायणता तथैतद्वारेण कृष्णता भवतीत्यर्थः । तथा चावाप्तारफलं परमफलं श्रीभागवतादेव भवतीति परोक्षे प्रकृतो भगवानेवेदमिति भावः । एवं भगवदुक्तस्य श्रुती-कृतस्य सङ्कर्षणोक्तस्य च भागवतस्य सूक्ष्मता सूतोक्तशुक्रोक्तमैत्रेयोक्तानां तद्विस्तीरुणाम् स्थूल-रूपतेति सिद्धम् । ४५६ ॥

केचिदिति । ब्रह्मोक्तं द्वितीयस्कन्धमात्रं स्वांशसहितं सूक्ष्मं स्कन्धमात्रप्रतिमितत्वात्प्रे दशस्क-न्धात्मकमेवमेतत् पुरा श्रुते मैत्रेयो भगवान् किञ्चित् तृतीयारभ्ये शुक्राक्षयाद् ब्रह्मोक्तस्यस्य मैत्रेयोक्तं स्थूलमिति तथोक्तमर्थः शुक्रेणानुवादार्थं स्थूलसूक्ष्मविभागमाहुरित्यर्थः । तं पक्षमिति । पूर्वोक्तं ' केचित्त्वित्यारभ्योक्तं पक्षमित्यर्थः । पञ्चमस्कन्धेति । स्वानादिर्लीलानिरूपकं पद्यमपारस्य स्तम्भा-

पञ्चमार्दिकं कथयति । तथा सति ' कस्मै येन पुरे ' ति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्परा विरुध्यते । मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात् । अतः सर्वतोमुखत्वत्प्राधान्यमेव अर्थप्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपितेति निश्चयः ॥ ४६३ ॥

एवं दूषणसमाधानमुक्त्या प्रकृते सङ्गतिमाह-

गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽतिगोप्यतः ॥ ४७ ॥

कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वात् स्वतन्त्रता ॥

गुणातीतादिति । एतत्पराशरशुक्लात् श्रुतमिति किञ्च मूलमित्याकाङ्क्षायामाह कृष्णाज्ञया तन्मुखत इति । अनेन मैत्रेयस्य कृष्णसुखादेव भागवतश्रवणमिति

दृक्कमित्यर्थः । न पराशरेणेति । मैत्रेयकथनेन ब्रौजं हि पराशराच्छ्रवणं, तत्र पराशरेण तु स्वसहिताः सर्गविस्मयवोक्तौ न रसानादिकमिति तच्छिष्यस्य तद्बुक्तानुवादादयं मैत्रेयस्य कुतः स्थानादिकवक्तव्यमिति मैत्रेयोक्त दशरुक्थात्मकं श्रीभागवतं स्पृष्टुमित्युक्तिः परोषं न घटत इत्यर्थः । ननु व्यासस्य पराशरोत्पन्नस्य तत्र एव श्रुत्या स्थानादिकथनमिति तेषामपि पराशरोक्तत्वात् तच्छिष्यत्वेन तत्रापि मैत्रेयकथनं सम्भाव्येतेति पूर्वोक्तैव स्पृष्टुस्मृत्तन्वयैवाशङ्क्याद्गोपीति । व्यासोऽपि न पञ्चमस्कन्धात्मकं पराशराच्छ्रुत्या वदति । अन्यथा ' कस्मै येन पुरा प्रोक्तं त्यनेन द्वादशस्कन्धे श्रीभागवतसमाप्ते ब्रह्मनारदपरम्परा व्यासोक्तावुच्यमाना बाधिता भवेत् । अतो न व्यासोक्तौ न पराशरपरम्परेत्यर्थः । मध्ये चेति । यदि व्यासः पराशरादुपश्रुय वदतीत्युच्येत तदा व्यासोक्तत्वेनैव सम्पूर्णस्य पराशरकृतकत्वं भविष्यतीति तदर्थं मध्ये मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात्, व्यासैवेव तत्कार्यकारणादित्यर्थः । अत इति । यतोऽप्रीभागवते परम्परात्राडुच्यन्तः श्रीभागवतस्य सर्वतोमुखत्वं भागवत इव सर्वतः प्रादुर्भावस्यं तद्व्याजानं बहुमुखमित्यर्थः । ननु सर्वतोमुखत्वं भागवतोऽपि न मूलरूपेण तस्य स्वैवैव निरूपणात् स्वत एव प्रादुर्भावकरणत्वात् कुतः पुनस्तदुपस्य श्रीभागवतस्य सर्वतोमुखत्वमित्याशङ्क्याद्यर्थप्राप्त्येति । अर्थस्य श्रीभागवतार्थस्य प्राधान्यं मुखत्वं तद्विद्वक्षया मूलत्वेनास्यामपि परम्पराया शेषस्य सङ्कथनस्य कथा निरूपितेत्यर्थः । अन्यथास्यैव तथागणत्वे जीवत एव परम्परा प्रोक्ता स्यादिति भावः । तथा च यथा हिच्यमनोऽन्ततो वा बहुमिर्मुखैः पूर्वं वेदमथादि तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनायाव्यस्य तद्वक्तव्यासम्भवात् स्वयमेव तथा निरूपितवार्तया भगवानपि भागवतार्थमप्यौक्तिकं स्वयमेवाव्यक्तव्यासम्भवात् स्वभिभूतिकहेस्तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनायोक्तवामिति भावः ॥ ४६३ ॥

प्रकृते सङ्गतिमिति । गुणातीतकथायाः स्वत उक्तत्वेन भागवतोक्तवाभावात् प्रकृते भागवते सङ्गतिर्न स्यादित्याशङ्क्य तामाहित्यर्थः । स्वत उक्तंति । मूले गुणातीतसृष्टिकथायाः परम्पराभावादिगोप्यत्वेन गृह्यार्थे सामान्यतोऽपि ज्ञानाभावेन प्रथासम्भवात् कृष्णाज्ञया प्रथमावेऽपि सा स्वत उक्तैत्यर्थः । ननु तथापि मैत्रेयस्य कथने भगवदाज्ञासत्त्वाद् दोषाभावेऽपि कथनेतस्य भगवत्प्रोक्तवाभावेन कथं भागवतत्वमित्याशङ्क्य इहमेनेति । ' आशुभक्तो मा'मित्युद्धवाक्याद् भिदुरा' भगवता मैत्रेयो भागवतं श्रवित इति भगवन्मुखतः श्रुतत्वेन तत्प्रोक्तत्वाद् भागवतत्वमित्यर्थः । कृष्णसुखादेवेति । प्रथमतः सूक्ष्मरूपश्रीभागवतश्रवणे भगवन्मुखात् सम्पन्ने पश्चात् तद्विस्ताररूपस्या-

निरूपितम् । भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच, अवतीर्थं तु मैत्रेयोद्वाभ्याम् । उद्धवात्परम्परा न स्पष्टा । मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ॥ ४७३ ॥

इदमत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकम् । विदुरस्तु वैवधिश्च इत्याह-

अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नाऽप्येक्ष्यते कश्चित् ॥ ४८ ॥

इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्वस्तीति संशयः ।

न्यतः श्रवणं श्रुतश्रवणभिव्यवश्रवणेभ्येयमिन्द्रायेणैवमुक्तमित्यर्थः । अतः परमवतीर्णानिक्तीर्णस्वरूपमेदेन सर्वत्र भागवते भगवत्प्रोक्तत्वं विशदयति भगवानिति । आदिरूपेणेति । येन रूपेण जगत्कारणभूतेन ब्रह्मणे वेदमवादीत् तत्रैव रूपेण श्रीभागवतमनुक्तवानित्यर्थः । एतेन श्रीभागवते तुल्योत्पत्तिकत्वात् वेदतुल्यत्वमपि सूचितमिति भावः । अवतीर्थं त्विति । अनवतीर्णैव केवलत्वेनासाङ्ग्यकरणे वेदतुल्यत्वात् तदुपयुक्तानां द्विजानामेव तदुपयोः स्यात् तथा चास्य न सर्वोद्धारकत्वं सिद्धयेदिति स्वयं निःसाधनात् स्त्रीशुद्धानामर्थं मूलरूपेणावतीर्थोपि भागवतं मैत्रेयोद्वाभ्यामुक्तवानित्येतस्य सर्वोद्धारकत्वसिद्धिरित्यर्थः । भागवता तस्ययोः कथनं साक्षात्परम्पराया श्रीभागवतेन सर्वोद्धाराय तत्र मैत्रेये परम्परोद्भवे साक्षात् तथाकरणमिति ज्ञेयम् । अत एवोद्भवं प्रथमो मद्रयुजं लोकं प्राहयन्तिह तिष्ठ'त्वितिभगवदात्म्यम् । न स्पष्टेति । विदुरार्थं मैत्रेयमित्र शिष्यं भगवानुद्भवं नाहापितवान् कथाकर्ण्यं सर्वलोकाधिनेनोद्वाहापानुद्भवैः श्रीभागवतं स्वहृदय एव स्यादप्यति कल्याणमे न वदति तादृशमन्विष्य स्वतः कृपया कथनाद् ये श्रुयन्ति ते मूढाकारत्वात् स्वल्पेवानुभवन्तीति नोद्भवपरम्परा स्पष्टैत्यर्थः । वस्तुतस्त्वं स्वयं भगवानाविष्टो भक्तिजीवशरणमेति सद्गती बीजानामपि तदुपापैस्तत्रात्कुरोपापित्वद्वैकजगज्जगद्दये उद्धवताश्रवणेन तदागतौ भक्तिजीवापि भगवद्गुणश्रवणादिभिःप्रायेभैरुक्तकुरोपेनाप्युत्तरितिति नोद्भवस्य साक्षादुपदेष्टृत्वं किन्तु हृदये प्रविश्य भगवद्भक्तितत्त्वरूपप्रकाशकत्वमिति न परम्परा स्पष्टेति भावः । अत एव ' नोद्भवोऽपि मन्मूत्' इत्यनेन सर्वथा स्वसमत्वमभिधायामे स्वज्ञानप्राहकत्वमुक्तं ' अतो मद्रयुजं लोक'मित्यनेन; तथा च यथा भगवतः स्वप्रकाशकत्वं तदुद्भवं प्रविश्य तथैवास्पातीति भक्तिरूपेणावतीर्णो भगवानेनोद्भव इति साक्षाद्वाद्भक्तत्वं तस्मिन् युज्यत इति भावः । अत्र परम्परां स्पष्टयति मैत्रेय इति ॥ ४७३ ॥

ननु भागवतं सर्वसन्देहनिवृत्तिकरूपफलजनकमिति भगवन्मुखाच्छ्रवणे मैत्रेयस्य सन्देहाभावकमैत्रेयद्वयं विदुरस्य न सन्देहाभावः प्रयुत संशयोत्पत्तिरिति कथमुत्तमत्वकुमुलाकर्णितमपि भागवतं न फलजनकं जातमित्याशङ्क्य श्रोतरि सच्छ्रवणमात्रेण मुख्यबोधजनकाधिकारान्यततामाह नैवं विचिं इति । यथा मैत्रेयः परमशुद्धचित्तो व्यानोहकलीलाकरणोयुक्तप्रमुखस्वरूपदरर्नेऽव्यथायुग्यः स्वस्थचित्तया भगवद्बुक्तश्रवणात् तयोद्भवतादृशकारित्रश्रवणेपि शोकविश्रवान् विदुरः शुद्धचित्त इति श्रीभागवतमपि न तस्य सच्छ्रवणमात्रेण सर्वसन्देहनिवृत्तिकरूपफलजनकं जातमित्यर्थः । अत एवास्मदाचार्यैः श्रीभागवतमुह्याधिकारनिरूपणे पूर्वं विपरीतादिभाजनादिति इत्युक्तं ' विरागोको

अत्यन्तशुद्धचित्तस्येति । अनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम् । भगवदीयो यः कश्चिद्भगवता भोक्तं कथयति तदेव भागवतमिति, सामान्यलक्षणम् ॥४८३॥

युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः । भागवतार्थस्त्वलौकिक इति । तथाऽप्यधिकाराभावे सोऽर्थो न स्फुरतीति सन्देहे जाते तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम् । तत्र यावता यो भवत्येव तथा तस्मै निरूपणीयमिति स्थितिः । तथा मैत्रेयोऽपि विदुरबुद्धिमाशित्य समाश्रये । तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तब्रह्म-

गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४९ ॥

कार्यकारणवैजात्याल्लोकहंतोरभावतः ।

निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ॥ ५० ॥

विपरीतादिभावनाहितः सुहृदि' ति लोको । तथा च विदुरे श्रवणात् पूर्वं सर्वथा विपरीतभावना न निवृत्तेति फले विलम्बो युक्त्यादिकथनलक्ष्णो बन्धुप्रसासश्च जात इति भावः । सुहृत्वं तुल्ये सर्वोपकारकवादपदकारित्येभ्रजानुहकारकरणं विदुरे च ज्ञेयम् । विपरीतभावनायाः पूर्वमनिवृत्तेरुद्धवतो 'युनता । अत एव पुनर्भूतराष्ट्रोद्धारार्थं गतो विदुरो ' नावदेवत, सकलम्' इतिवाक्यादियं वार्ता शोकजनिकेति स्वयं तथा ज्ञात्वा युधिष्ठिरादिभ्यो नोक्तत्वास्तथा च कश्चिदंशो विपरीतभावनायाः स्थित एव । अत एव तस्य प्रमाते शोकहेतुभूते देहपरिणाम अलौकिकशरीरनिष्पत्त्यर्थकः, अन्ययोद्धव इवानेनैव देहेन हृदि प्रमुमुनभवन् विद्योगेन सर्वदा तिष्ठेदिति भावः । अनेनेति । परमराजपचकनेनेत्यर्थः । तथा च यथा भगवान् नो यथा वदति यथा वा ध्यायति तथा भवति नानावादसुरो-किवाद् ' यथाद्रिये'तिवाक्याच्च तथा भागवतमपि तत्तदधिकारानुसारेण तत्र प्रकटीभवतीति भगवत इयं कवेऽपि तस्या बहुरूपत्वमिति भावः । सिद्धं सामान्यतोर्थाद्भ्रमं गवदीय इति । अनेन भागवतार्थः शब्दान्तरेणापि निरूपितो भगवदीर्भागतत्वर इति बोधितम् । अत एव पराशर-सहितायां भागवतत्वम् सामान्यलक्षणमिति । विशेषलक्षणं तु शब्दात्मकत्वे सति सर्वोद्धारप्रकट-साकारभगवत्स्वरूपत्वमित्यर्थः ॥ ४८३ ॥

लौकिक इति । खनुद्धया ज्ञाननिरूपणमित्यर्थः । 'तं त्वौपनिषद्'मिति श्रुतेस्त्वस्य वैदेकसम-धिगम्यत्वादिति भावः । अलौकिक इति । व्यासहृदयेऽपि भगवत इव समायावेव प्रकटत्वादित्यर्थः । ननु मैत्रेयः किमिति ज्ञाततत्स्वरूपो लोकातीतानुसृत्य युक्तिस्तस्य संशयं निराकृतवानित्याशङ्क्याद्भ्र-स्तथापीति । अधिकाराभाव इति । विदुरस्य तथा चित्तशुद्धयभावानुसृत्याधिकाराभाव इत्यर्थः । सोऽर्थ इति । यो मैत्रेयहृदये भासते मुद्रयाधिकारात् स इत्यर्थः । अवश्यमिति । भगवता विदुरार्थं स्वस्याज्ञतत्वाज्ञोपेक्षणीय इत्यर्थः । ननु तथापि समाहितं विदुरस्य भगवदुक्तं किमिति संशयः कियते मन्तव्यमेवेति । प्रकारेण कुतो न कृतवानित्याशङ्क्य श्रोतवक्तोर्लोकै रीतीरीदश्या मुद्रयार्थस्वरूप-

गुणातीतादिति । यथा बालः पुरुषस्य निषेकाज्जन्माज्ञात्वा भोजनमेहनावेव पश्यन्, तथापि कथां कल्पयन्, तदप्यनुपपन्नमिति संशयी भवति । तत्र वक्ता बालं यथाक-थञ्चिद्विदोषयति, वस्तुतस्तु न स सिद्धान्तः । किन्तु, यथा निरूपितं "भगवानेकं आसेदम्" ३-५-२३ इति स एव सिद्धान्तः । विदुरस्य संशये हेतुनाह कार्यकारणवैजात्या-दिति । कारणं गुणरहितम् । कार्यं सगुणमिति । लोकहेतुश्च कामः । एवं गुणातीते सन्देहद्वयम् ॥ ५० ॥

भावेन युक्तिभिरनिरूपणे तस्याविधासः स्यादिति ज्ञापनाय लोकस्थितिं निरूपयन्ति तत्र यावतेति । यावता निरूपणेन योऽधिकारी येन प्रकारेण भवत्येव ज्ञानाति तावता तस्मै तेन प्रकारेण निरूपणीयमित्यर्थः । तथेति । लोकरीत्यनुसारेणेत्यर्थः । विदुरबुद्धिमिति । गुणातीतस्य वस्तुत उपा-धिसम्बन्धाभावे न सगुणत्वं सम्भवतीति पूर्वपक्षकर्तृविदुरस्य बुद्धिस्तामिवाश्रित्य ' सेषं भगवतो माये'त्यादिनां पक्षिसम्बन्धं वदन्नेव तस्या भगवच्छक्तिर्भवेत् तदभेदात् नियसम्बन्ध एव, न जीववद् व्यामोहार्थं, भवतः सकाशात् प्रकटाया भेदेन व्यामोहिकायाः संसारसिद्धये आगत्युक्तः सम्बन्ध इत्यनया रीत्या समाश्रित इत्यर्थः । अन्यथा शुद्धब्रह्मवादप्रकारेण भगवच्छक्तेश्चैवासात्तदुपलम्बेव वदे-दिति भावः । तत्रेति । सगुणप्रकरण इत्यर्थः । ननु तथापि पूर्णज्ञानो मैत्रेयः स्वज्ञानानुसारेणैव किमिति नोक्तवान् । कुतस्तद्बुद्धिमाश्रित्येव्याशङ्क्य बालदृष्टान्तेन विदुरस्य तथा कथनश्रवणानधिकारं निरूपयन्ति स्येति । अज्ञात्वेति । बालकस्य निषेकज्ञानाभावादित्यर्थः । भोजनमेहने एवेति । यथा बालः भोजनं तथा मेहनं जमहेतुभूतेन्द्रियं च प्रायश्चतः स्मिन् पश्यन् निषेकज्ञानात्वा तथापि पितृर्षपि तथा तयोरेव पुरुषोत्पत्तौ कारणत्वं कल्पयन् स्वतः पुरुषोत्पत्त्यभावात् संशयी भवति, को वद भवति कारणं न वेति, तथा विदुरोऽपि सर्वमिति संशयं भवत्यसामर्थ्येन जायत इत्यज्ञात्वा स्वस्मिन् प्रत्येन गुणसम्बन्धं च पश्यन् सर्वत्र तयोरेव कारणत्वं कल्पयन् भगवतो गुणातीतत्वे कथं कारणतेति तत्र संशयी जात इत्यर्थः । तथा च बालकानुभवसंशयो यथाऽज्ञानकृतौ तथेतरापि शुद्धब्रह्मवा-दानुभवकृतत्वेति भावः । यथा कथाञ्चिदिति । निषेकप्रकारो बालस्थाने वक्तव्य इति वक्ता तत्स-माधानं मुद्रयवार्तामन्याय तथा मैत्रेयोऽपि लोसम्बन्धव्याप्यासम्बन्धेन सर्वमुपपत्त इतिप्रकारेण कोरति, शीघ्रं तु भगवत्सामर्थ्यं तदुत्तरं वाऽनुसृत्याधिकारित्याज्ञा वदतीत्यर्थः । वस्तुतस्त्विति । बालोऽधकसङ्कोचितवाक्याप्रतीतार्थवचनार्थं मुद्रयः सिद्धान्त इत्यर्थः । स एवेति । यो गुणातीत-प्रकरणे ' भगवानेक आसे'त्यादिभिः सर्वेकारेण भगवानेवैदं भेदे तु कर्तव्यं कार्यत्वमिति तदमा-वात् ' स एव सर्व'मिति यः सिद्धासतः स एवेत्यर्थः । ननु च कर्तव्यमवास्तवमेवापाति तथा सति कर्तव्यबोधकानन्तश्रुतिस्मृतिविरोध इति चेन्न स्वस्य मूलस्य परमानन्दरूपस्य लीलयानुभावीत् तद्विज्ञानस्वरूपप्रत्यक्षरूपेण प्रकटीकृतसमात् वत् । अत एव श्रुतिः ' अस्तद् वा इदमम आसीत् ततो वै सजजायत तदहमानं स्वयम्कुण्डल तस्मात् वत् । तु हतमुद्रय' इति 'यद् वै तदुक्तव्य' 'सो वै सः रस्य देवायं लब्धवानन्दी भवति' एतदर्थस्तु इदं परिहरयमानं जगद् वै निश्चयेन तदभिन्न-

तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिक एव जगत्कृतो निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति । तथापि तदेव न सम्भवतीति तृतीयो दोषः समायातीत्याह—

त्वादिरे प्रथममणेच्छातः पूर्वमसत् भेदेनाविद्यमानमासीत् ततः प्रथममणेच्छातः सत् भेदेन विद्यमानमजायत । नन्वेवमसतः सत्ता 'कथमसतः सज्जायेते'ति श्रुत्यन्तरि विद्वा कथं घटत इत्यासक्त्याहुस्तद् 'सामान'मिति । तद् ब्रह्मैव स्वयं मायाद्यसहायमेव 'कदाचित् सर्वमायैव भवतीह जगदीदं' इति न्यायेनात्मानं स्वस्वरूपमेवाकुर्वत स्वकिंवाशक्तिं स्वस्मिन्नेव योजितवान् स्थूलरूपभवनयो यस्मात् तस्मादेतौस्त्वं ब्रह्मैव सुष्ठु समीचीनं सुतरमाधिक्येन वा कृतं यत्प तादृशमुच्यते । न ह्यन्यः स्वक्रियां स्वस्मिन् योजयितुं शक्तः । नन्वेवं स्वस्य स्थूलरूपकरणे किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह 'रसो वै स' इति व आत्मानं स्वयामुक्त्वत् प्रपञ्चरूपेण स रसात्मा स्वाभिभावरूपः अतः स्वस्वरूपानन्दानुभवार्थं रसस्य साधिष्ठानस्वैवानुभवयोग्यात्साधिष्ठानं प्रपञ्चरूपं स्वात्मानं कृतवान् तत्र स्वांशान् जीवान् नाथिका इव स्थापितवान् ततस्तेषां स्वरूपभूतानामेव पत्नीवदर्थशरीररूपाणां रसात्मकस्वरूपप्रवेशनेन स्वानन्दानुभवं कारितवान् । अत एव ततः 'पतिश्च पत्नी चाभवता'मिति श्रुत्यन्तरेण स्वस्वैवोभयरूपत्वमुक्तम् । तथा च सर्वसामग्रीसहितं रसात्मकं स्वस्वरूपमेव क्रीडेच्छया प्रकटितवानित्युक्तम् । ननु प्रपञ्चप्रकट्यमसत् परं तस्मिन् रसात्मकमूलरूपप्रदुर्भावे किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह रसः हीति । अयमंशभूतस्तिरोहितानन्दोऽयंवाशब्देनाल्पत्वादहत्यानन्दस्त्वंदोऽहमिति स्फूर्तिं जनिता नन्दवान् जीवो रसं स्थापिमावरूपमेव लब्ध्वा प्रकटं प्राप्यैवानन्दी भवति भगवत्समानः पूर्णानन्दवान् भवति । योवेव सर्वसौहृदेव सत्यपि पुरुषसममुपैति स्वसमानतासम्पादनेन पुष्टिमागीच्यमुक्तिद्वानार्थमेव सर्वरूपेण स्वात्मकरणमिति भगवतो मुख्यवर्गक्रीडेवं मोक्षरूपैरर्थः विदुरस्य संज्ञश्च इति । गुणातीतस्य कर्तृत्वमुपपद्यते न चेत्येवंरूप इत्यर्थः । कारणं गुणारहितमिति । गुणातीतस्यप्रकृतेरुपकरणे तथैव प्रतिपादितत्वादित्यर्थः । कार्यं सगुणमिति । जगतस्त्रिगुणायत्करवत्स्य प्रतीतिसिद्धत्वादित्यर्थः । लोकोद्देशितमिति । यत् कामयते जनस्तत् करोतीति कामस्यैव लोके कार्यविषयकोचमहेतुत्वेन सिद्धत्वादित्यर्थः । एवमिति । कार्यं कथं कारणविजातीयं कथं वा हेत्वभावे कार्यमिति गुणातीते कारणमूले कारणव्यविषयकं सन्देहद्वयमित्यर्थः ॥ ५० ॥

तत्परिहारार्थमिति । एतत्सन्देहद्वयपरिहारार्थमित्यर्थः । सोपाधिक एवेति । मायावादिरीत्यर्थः । तथापीति । सोपाधिकत्वानुपगमे सन्देहपरिहारेऽपि तदेव ब्रह्मैवोपापिसम्बन्धे तन्मत्तरीत्यापि न सम्भवति किन्तु तदा जीव इति जगत्कर्तृत्वविकवापत्तिरूपस्तृतीयो दोष आयातीत्यर्थः । दोषद्वयं तु तस्मिन्नकारणत्वाकर्तृत्वरूपं सन्देहद्वयेन पूर्वमेव निरूपितमिति भावः । एतस्येति । जगत्कर्तुः

सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति ।  
तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ॥ ५१ ॥

सोपाधित्व इति । एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् तृतीयो ब्रह्मणः सिद्ध इत्युक्तम् । इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेऽपि ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भेगत्वादिकं सम्भवतीति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्यं च निरूपयितुं शक्ये सति भवतीत्याह—  
मायासम्बन्धकार्ये हि परिश्रयं तयोः क्रमात् ।  
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ॥ ५२ ॥

मायासम्बन्ध इति । एवमेका शङ्का नष्टया अपरा जीवगति । पूर्वपक्षं

सोपाधित्वे जीववापत्तिरूपस्य दूषणस्यैरर्थः । समाधानाभावादिति । मायासम्बन्धेन ब्रह्मणो जीवभावं वदतो मायावादिनो न समाधानस्य दूषणस्य तदंशजीववादिनस्तु मायायास्तच्छक्तिवेन तत्सम्बन्धेऽपि न तस्य जीवभावंऽशिक्षावादिनि समाधानस्य सत्त्वादतस्तन्मये परिहारभावाद् बल्लेपावितौऽयं दोष इति सिद्धमित्युक्तमित्यर्थः । इदमेवेति । गुणातीतप्रकरणे 'आत्मेच्छानुगतत्वात्माना नानामन्युपलक्षित' इति वाक्येन तस्वैवात्मानामात्मनो भगवतः स्वेच्छ्यात्मानवमुक्तं तथापि ब्रह्मणो जीवभावे सोपाधिकत्वं सिद्धयेदिति ब्रह्मवैवेन न स्यादिति पूर्वोक्तमेव दूषणमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

मायासम्बन्ध इति । जीवेऽपि ब्रह्मभेदतोऽब्रह्मवापत्तिभिया मायासम्बन्ध एव कर्तुं शक्यस्तस्याज्जात्वादिहेतुत्वेनाब्रह्मवापादकत्वात् तथा च तदभावे ब्रह्मण एव जीवभावे तस्मिन् मायासम्बन्धकार्यं दुर्भेगत्वकर्मश्रेष्ठत्वादिकं च कथं सम्भवति । अतो ब्रह्मजीवयोरभेदे मायासम्बन्धो ब्रह्मणि जीवे मायाकार्यसम्बन्धोऽनयोः क्रमेण परिधीयत्वमन्योभयोर्ब्रह्मवत् न स्यादिति भावः । सन्देहद्वयस्य विषयभेदं निरूपयन्ति एवमिति । एकैति । जगत्कर्तृत्वव्यय मायासम्बन्धे ब्रह्मवत् न स्यादित्यर्थः । जीवगति । तस्मैव जीवभावे तदभिन्नत्वेन मायाकार्यस्य तत्रावकत्वत्वाद् दुर्भेगत्वादिकं कथं सम्भवतीति ब्रह्मणि जीवे च शङ्काव्यमित्यर्थः । पूर्वपक्षमिति । पूर्वपक्षस्तु गुणातीतसर्वं हि सर्वस्य ब्रह्मत्वकतोक्ता सा न घटते । जडस्य सगुणत्वेन कारणविजातीयत्वाद्, न हि विजातीयं तदात्मकं भवति पटस्य घृदात्मकतापत्तेः । ब्रह्मणः कार्यसजातीयत्वात् सोपाधिकत्वस्वीकारे मायासम्बन्धेनाब्रह्मत्वापत्तिः । तादृशतदात्म्येऽपि न ब्रह्मात्मकतापत्तेः । मायासम्बन्धस्य तस्याब्रह्मत्वात् । जीवस्य ब्रह्मत्वकत्वे मायाकार्यदुर्भेगत्वाद्यनुपपत्तिः । तदर्थं तत्र मायासम्बन्धस्वीकृतौ ब्रह्मत्वासिद्धेः । जीवब्रह्मणोर्भेदस्वीकृतावशांशभावेन तदात्मकत्वसिद्धावपि क्लेशाद्यनुपपत्तिः । ब्रह्मांशस्य स्वतः क्लेशाद्यसम्भवात् । मायासम्बन्धे तु स्वीकृत्यमाणो ब्रह्मात्मकत्वमेव तस्य न स्यात् । तस्माद् गुणातीत-

निरूपय सिद्धान्तं निरूपयति प्रथमस्य परीहार इति । “ सेयं भगवतो माया यन्न-  
येन विकल्पते ” ३-७-८ इति भगवतो मायायाश्च नित्य एव सम्बन्धः षष्ठ्या  
निरूपितः ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सति भगवत्त्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह-

भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।

असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ॥ ५३ ॥

भगवत्त्वाविरोधित्वमिति । भगवत्पदेनेत्यर्थः । ननु विशेषशक्तिपक्षेऽपि  
भगवत्त्वाविरोध उपपद्यत इत्याशङ्क्याह असमासात्प्रधानत्वमिति । भगवतो  
मायेति पदद्वयस्याऽसमासादिकार्यत्वाभावः । तेन न मायाविशिष्टार्थं भगवतः, किन्तु, सा  
वृथगेव दासीवचिष्ठतीत्युक्तम् ( भवति ) ॥ ५३ ॥

एवं भगवति परिहारस्युक्त्वा जीवे परिहारमाह-

द्वितीयस्य परीहारे विरोधात्कार्यवाधानम् ।

विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं दृशिर्यतः ॥ ५४ ॥

द्वितीयस्येति । भगवतो मायेति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः । द्वितीये पक्षे  
विकल्पयति विरोधात्कार्यवाधानं, आहोस्विद्विरोध एवेति । आद्ये समाधानं सेयं

मृष्टिः स्वात्ममृष्टिः सर्वेषानुपपन्ना । किञ्च कर्तृत्वमपि तादृशोऽसम्भवि । कामाभावात् । तत्सत्त्वे  
सगुणत्वापत्तेः । तदभावे लोक इव प्रथमानुपपत्तिः । अतः सगुणस्यैव कर्तृता वाच्या न शुद्धब्रह्मणः ।  
नित्य एवेति । भगवदाकारत्वेनैव जलशैवालकासर्वदा तिष्ठतीति तथेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भगवत्त्वहानिरिति । मायावृत्ते कार्याग्राह्यतुल्यरूपवदसमर्थत्वं स्यादित्यर्थः । प्रकृत्येति । न  
हि भस्मना वृत्तो यद्विहराहसमर्थो भवति । तदपसारणे सर्वदाहसामर्थ्यत्वं तद्वदत्रापि भगवत्पदेनैव  
सामर्थ्यं वाच्यमित्यर्थः । विशेषेति । ननु भगवत्त्वं विशेषशक्तिपक्षेऽप्युपपद्यते । तद्विशिष्टेऽपि स-  
दोषोऽपि राजराजैतिवत् शक्त्या तथात्वेऽपि न भगवत्त्वं विरुद्धत इति चेन्न; एतदुपपत्तावपि न  
प्रधानत्वोपपत्तिः । उभयोर्विशिष्टेन समभवात् । आवरणपक्षे तु दूरे स्थितदासीवदानीवर्त्तति  
प्रधानत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

विरोधादिति । ब्रह्मरूपे जीवे मायाकार्यस्य दुर्गन्तवादिर्विरोधात् कार्यमेव मिथ्याभूतमिति  
कल्पेत । जगदप्रतीतिप्रसङ्गात् । न च कुक्तिजतन्नमायया सेति वाच्यम् । अविषया जीवत्वमिति  
जीवानां तदप्रतीतिनिवारयितुं शक्यत्वात् तदपगमे जीवत्वमेव नेति न प्रतीतिः । ननु प्रतीतमेव

दृशिर्यत इति । कार्यवाधानं कर्तुं न शक्यते संसारस्याऽसिद्धत्वात् । नन्वेतदेव न  
स्यादित्युच्यत इति चेद्भगवन्मायया तदुपपत्तिरिति बुध्यताम् ॥ ५४ ॥

तथापि युक्तिविरोध इति द्वितीयपक्षे समाधानमाह-

द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।

विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ॥ ५५ ॥

द्वितीय इति । कथं भूषणमित्याशङ्क्याह विरुद्धकार्यसम्बन्ध इति ।  
मायया हि विरुद्धं कार्यं दृश्यते । शिरश्लिष्यते जीवति । अत्राणि निष्कात्यन्ते  
स्वस्थेति ॥ ५५ ॥

नन्वत्रापि कोपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह-

विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।

दर्शनं ज्ञानिनोऽप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ॥ ५६ ॥

इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।

तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ॥ ५७ ॥

विरोधोऽपि प्रतीत्यैवेति । सर्वेभवनसमर्थत्वाद्ब्रह्मणस्तच्छक्तिव्याप्त्यामायायाश्च  
तथात्वम् । अयमात्मविपर्यय ईश्वरस्य कापेण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यतीत्याशङ्क्याह  
दर्शनं ज्ञानिनोऽप्येवमिति । यस्तु जीवे ज्ञानी जीवस्वरूपाभिः जीवस्वरूपं तु  
सर्वोवस्थासु भासत एव, ईश्वरस्वरूपमेव परं ज्ञासते । अतः स्वप्नदृष्टा भगवानेवेति तेन  
सह स्वस्याऽभेदज्ञानात्स्वशिरश्लेदः स्वमे ग्रासते । वस्तुतस्तु जीवस्वाप्रशरीरस्य शिरश्लेदः  
ईश्वरेण दृश्यते, स्वयं च तदभेदात्पश्यति । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेददर्शनम् । शारी-  
रात्मा प्राज्ञेनाऽत्मना सम्परिष्वक्तोऽन्वाह इति भेदेन निरूपणात् । ब्रह्मविदस्त्व

निषिद्धत इति चेत् संसारस्येति । सिद्धत्वादादिसिद्धत्वात् । कथमनादिसिद्धत्वमिच्छाः  
नन्विति । एतदेवेति । सिद्धत्वमेवेत्यर्थः । भगवन्माययेति । प्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूल्या सर्वभवनसमर्थ-  
रूपया माययैव संसारः सम्पादितो जीवनामिति तद्विषयसिद्धयर्थं भगवत्पदेन कार्यतामुपादितमिति  
न तद्वयः कर्तुं शक्यः ॥ ५४ ॥

द्वितीय इति । जीवे मायया युक्तिविरुद्धकार्योत्पादनं स्वस्वरूपप्रकाशकत्वेन भूषणमेवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥  
स्वप्नदृष्टा भगवानेवेति । स्वमे जीवस्य प्राज्ञेनात्मनासम्परिष्वक्त्वादित्यर्थः । समुत्सर्गे वा  
न वा भेदो बोधितः । वस्तुतस्तु नामेदः परिष्वक्त्वादित्यर्थः । तेन सहैति । अभेदज्ञानादिति ।  
अभेदाप्यासादित्यर्थः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

भेदेनाऽनुभवः । अन्यस्य त्वबोधस्तदाह इति दृष्टान्तान् इति । स्वमदृष्टान्तेन सत्ये भगवत्स्वरूपे देहाद्भेदो निरूपितः । तत्र दृष्टा भगवानेवेति । तर्हि शिरो जीवस्येत्यत्र किं प्रमाणम् ? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमस इति । यस्तु देहादिसंसारे जलप्राये अहमिति मन्यन्ते तस्यैव कर्मादिने स्वाकाशस्थस्य । अतो भेदेऽपि जीवस्यैव तच्छिरः । अस्याऽनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो भवतीति तन्निरूपणाय उच्यते इत्याह तन्निरूपितप्रतिकार इति, “स वै निवृत्तिधर्मण” (३-७-१२ इत्यादिना ॥५६॥५७॥ मार्गद्वेपेनानर्थनिवृत्तिः भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च । तत्र प्रथमे शनैस्तिरोभाव इति शैवेयाभिप्रायः । सर्वैतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे । तदा न स्वमदर्शनम् । जागरणेऽपि न देहादावात्मबुद्धिः, किन्तु सुषुप्तिवत्सर्वाद् ब्रह्मानन्दानुभवः । तत्र प्रथमपक्षे मुक्तिर्वैकल्पिके शैवेयः कैमुतिकन्यायेन “अशेषसंश्लेशशमम्” ३-७-१४ इति लोकेन निरूपयतीत्याह-

निदर्शनं सुलभं साधनं च गृहा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ।

तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या ॥ ५८ ॥

निदर्शनं सुलभमिति । दृष्टान्तोऽत्र सुलभः । सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात् । साधनं च सुलभं सर्वत्र सतां भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात् । चकारास्त्राद् देशाद्यपेक्षा । नन्वेवं सति कथं न सर्वेषामनर्थो निवर्तते तत्राह गृहा सूक्तिरिति । समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः, गृहा गुणा । तेनैव हि भगवत्प्रकाशः स च दुर्लभ इति न सर्वश्रुतिः अत एव भक्तिमार्गो दुर्लभ इति तदर्थेनश्रुतम् । ज्ञानमार्गो उक्तः । तदपि तदेव दर्शनम् । यन्न भेद्यमात्मनो भेदं न भासयति । एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः । भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यते इति । सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित्कृता । इयमाद्या प्रथमत एव कर्तव्या । पश्चाद्भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

अयं सिद्धान्तो ज्ञातव्य इत्येवाभिप्रेत्य सर्वे पृष्टमित्याह-

तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः ।

अतोऽपि न विसर्गतमन्यशेषाद्यधीयसाम् ॥ ५९ ॥

तदर्थमेवेति । अनेन समस्तमेव समर्थितमित्याह अतोऽपि न विसर्गतत्वमिति । यदीयसां ब्रह्मादीनां श्रुतिकर्तुर्भगवतो विभूतिशेषत्वात् । एवं पूर्वेपक्षाध्याये विभूतिज्ञानार्थं प्रश्नः समर्थितः ॥ ५९ ॥

तत्र प्रथमपक्ष इति । ज्ञानपक्षे शनैस्तिरोभावे श्रुतिक्रमो वक्तव्य इत्यर्थः । कैमुतिकन्याय इति । यत्कथमेवं तस्साक्षात्कारः कथं नेत्यर्थः ॥ ५८ ॥

१ एतावत्येवोपक्रमेणैव वि०५५ ।

श्रीकृष्णः ।

परिशिष्टम्-(२)

द्वितीयतृतीयचतुर्थस्कन्धानामवशिष्टं निबन्धकठिनांशविशेषचनम् ।

आविभूते प्रथमे भागे यावद्द्विगतमिदं विवेचनं तावच्चाविर्भावितम् ।

परमवशिष्टं परिशिष्टं प्रकटीकितवते ।

अतोऽत्रे विवेचनं पूर्णतयाविष्कृतमिति मन्यामहे ।

(स्कं. २) का. ३४. ७४तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

अमे नवमाध्यायाथोक्तौ ब्रह्मणोपि हरिर्भूतमितिकारिकाध्याख्याने एषा उपपत्तिः कथागता इति, ब्रह्मणा हि नारदं प्रति यन् निरूपितं तत् न स्वतः किन्तु वैकुण्ठे सर्वे भगवति दृष्ट्वा भगवदुपदेशं च प्राप्य निरूपितमिति ब्रह्मवाक्यानां स्वस्य ब्रह्मणश्च भगवद्भावनं भगवांश्च मूलमित्येवं कथयाऽस्मिन् प्रकरणे निरूपणादस्य प्रकरणस्योपपत्तिरित्यर्थः ।

(स्कं. ३) का. ८२, ११०तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

तृतीयस्कन्धे दशमाध्यायाथोक्तौ यथैक एव पञ्चकल्प इत्यादि । नवमाध्याये सात्त्विकत्वमार्थान्निरूपकश्लोके ‘यथाह सध्यामि पूर्ववदिदमि’तिवाक्यात् पूर्वमपि ब्रह्मणा चतुर्मुखेनैव सर्वं जगत् दृष्टमितिज्ञानेते, तस्य पूर्वदृष्टस्य पुनः परो लयः, अतो निरूप्यमाणानपि कल्पात् पूर्वं पञ्चकल्प एव, अतः अनेन लोकान् प्राक् लीनान् अनेन पुनः कल्पितास्तीत्येवमर्थः पूर्वोक्तवाक्यैकवाक्यतयाऽवतीर्यते, अतः पञ्चकल्पेकत्वे इदं वाक्यं नोपपद्यतेऽत एतद्वाक्यसमर्थनाय पञ्चकल्पबहुत्वं निरूपितम्, पञ्चकल्पबहुत्वसमर्थकेन तथा-ज्ञानकथनेन किं सिद्धमिति पुनः शङ्का, तस्या उत्तरं पद्यतः सर्वसम्भेदमुक्तवानिति पूर्व-प्रलयोपि पश्चात्, अमे सर्वोत्पत्तिरपि ब्रह्मणस्तथा ज्ञानमपि पद्यं दृष्ट्वितिपथादेव सर्वसम्भेद-कथनार्थं द्वितीयपञ्चकल्पकथोक्तैर्यथाः ।

(स्कं. ४) का. ८५. १९३तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

चतुर्थस्कन्धे अष्टमाध्यायाथोक्तौ धर्मार्थमवतीर्णोपिति कारिकातात्पर्यं प्रकरण-दाधैवैतन्निरूपणेन पूर्वोक्तं निवृत्त्युपयोगित्वं समर्थितमिति, श्रिया जडीकृतेन पित्रा ध्रुवाक-माननिरूपणेन ध्रुवस्य पित्रादिषु तद्वाये च न स्वीयत्वाग्रहः, किन्तु, स्वस्यालौकिकलौकिकार्थ-साधके भगवति तद्भजेन च स्वीयत्वाग्रहः, एवं निवृत्त्युपयोगित्वम् ।

(स्कं. ४) का. ११८. २०४ तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

अमे त्रयोदशाध्यायाथोक्तौ कल्पोत्पत्तौ तस्य पुत्रौ इतिकारिकाभासे-ननु ज्येष्ठपुत्रोर्वेरायो को हेतुरिति भ्रुवस्य प्रथमा स्त्री शिशुमारुची अमिस्तस्या ज्येष्ठपुत्रः कल्पः, द्वितीया स्त्री वायुपुत्री इला, तस्या ज्येष्ठपुत्र उत्कलः, एवमुभयोर्येष्ठत्वं, न तु अमिपुत्राद् वत्सरादु-त्कलस्यापूर्वजत्वेन ज्येष्ठत्वम्, तथा सति मध्ये राज्यदशायां‘मुत्पन्नो वत्सर’इतिवाक्यं विरुद्धयेत ।

(स्कं. ४.) का. २२४. २५३तमे पृष्ठेनुसन्धेयम् ।

अग्रे एकोनत्रिंशत्तयाप्यार्थोक्तौ मनसानुभवाच्चापि कर्मास्तित्वं विनिश्चित-  
मिति कारिकाव्याख्याने एकेन मनोनिरूपणं त्रिभिरनुभवस्येति, श्रीभागवतस्थेन एकेन  
श्लोकेन 'मन एव मनुष्यस्ये'त्यनेन । अग्रे जन्म प्राप्स्यतः मोक्षं प्राप्स्यतश्च मनुष्यस्य  
पूर्वरूपशंसकत्वेन मनोनिरूपणम्, तेन मनोनिरूपणेनापि कर्मास्तित्वस्यैव निश्चयः, संसारावेश-  
भगवदविशरूपकर्मणैव पूर्वरूपज्ञापकत्वं यतस्तस्य, न तु केवलस्येति । अभिमैस्त्रिभिः श्लोकैर-  
दृष्टमश्रुतं चे'त्यादीर्मनसोऽनुभवो निरूप्यते, तेनापि कर्मास्तित्वस्य निश्चयः, मानसानु-  
भवस्यापि कर्मोपस्थापितत्वात् । तथा हि, ननु पूर्वजन्मसु इन्द्रियैरनुभूतानामेवाध्यानां स्वमे  
कर्मणानुभवो मनसि भवतीत्युक्तं तन् न सम्भवति, स्वमेऽत्यन्तासतामपि कर्मणां मनस्य-  
नुभवसम्भवान् न तेनेन्द्रियैः पूर्वजन्मस्त्वनुभवः साधयितुं शक्यते, इदानीं कर्मणा भ्रान्तिमात्रेण  
मानसानुभवेपि अनुभवविषयाणामत्यन्तासत्त्वादित्याशङ्क्य इदानीन्तनमानसानुभवेन पूर्वजन्मी-  
नानुभवं पूर्वोक्तं दृढीकर्तुं युक्त्याऽनुभवविषयपरार्थसत्तां साधयति नारदः—अष्टहेत्यादि,  
अदृष्टाश्रुतवस्तुनः काचित्केन मानसानुभवेन वस्तु यादृमनुभूतं तादृशमस्तीत्यनुमन्त-  
व्यम् । ननु तादृशवस्तुनः अत्यन्तासत्त्वे कथमनुमानं स्यात् तत्राह 'देशकाल-  
क्रियाश्रय'मिति स्वदेशे एकपादानां मनुष्याणामभावेपि क्वचित् तादृशा अपि सन्ति,  
कालेषु अनुत्पद्यमाना अपि वर्षाकाले विचित्रजीवा उत्पद्यन्ते, मनुष्यैर्षटके निधाय साक्षात्  
हस्तितोलनासम्भवेपि कयाचित् क्रियया तदपि सम्भवति । यथा वा पीतश्यामयोर्हस्त्रिं-  
कञ्जल्योर्थेयौ हस्तिवर्णः । एवमेकेन श्लोकेन पूर्वानुभवविषयवस्तुनः सत्त्वे तदनुभवे च  
साधिते, इदानीं मानसोऽनुभवः कर्मणोति सिद्धम्, एवं पूर्वानुभूतानां मानसानुभव उक्तः ।  
द्वितीयश्लोकेन 'सर्वे क्रमानुरोधेने'त्यनेन इदानीमनुभूतानां कर्मणां मानसोऽनुभव उक्तः ।  
एवं द्वाभ्यां लौकिकं कर्म साधितम् । तृतीयश्लोकेन 'सत्त्वैकनिष्ठे' इत्यनेन युगपदलिल-  
जगदनुभवो मानसः अलौकिककर्मणेत्युक्तम् । अत्र राहुचन्द्रद्वन्द्वेन दूरत एव सर्वं  
जगदनुभूयते न तु मनसि जगतः सङ्गः, तस्य सत्त्वैकनिष्ठत्वेन भगवत्पार्श्ववर्तित्वात् ।  
एवं कर्मसाधनार्थं त्रिभिर्मानसोऽनुभवो निरूपितः ।

इति श्रीभागवतार्थनिबन्धकठिनांशविशेषचनम् ।

॥ इति प्रथमं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

॥ श्रीवल्लभपादपयरेणुः शरणम् ॥